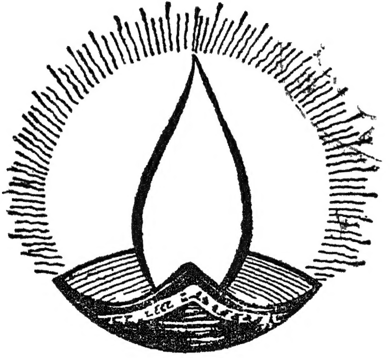
# 'पातञ्जल-योगसूत्र' का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन

आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत
शोध प्रबन्ध



लेखिका
डा० नलिनी शुक्ला एम ए, पी-एच. डी (संस्कृत)

विजयादशमी,
सम्वत् २०३१ विक्रमीय



प्रकाशक

शक्तियोगाश्रम

एव

श्रीमती डा० नलिनी शुक्ला

लम्बोदर सकलसुन्दरमेकदन्तम्,

रक्ताम्बर त्रिनयन परम पवित्रम् ।

उद्यद्दिवाकरकरोज्ज्वलकायकान्तम्,

विघ्नेश्वर सकलविघ्नहर नमामि ॥

मोहान्धकारभरिते हृदये मदीये,

मात॰ सदैव कुरु वासमुदारभावे ।

स्वीयाखिलावयवनिर्मलसुप्रभाभि

शीघ्र विनाशय मनोगतमन्धकारम ॥

# प्राक्कथन

नमो योगाय, योगेश्वराय, योगसंभवाय,

योगपतये, योगाधिराजाय नमो नम

आदरणीया डा० नलिनी शुक्ल ने वर्षो एकाग्रचित्त से परिश्रम कर पातजलयोग सूत्र का जो अध्ययन किया है, प्रस्तुत ग्रन्थ उस अध्ययन का प्रशसनीय फल हैं। इस ग्रन्थ मे व्यासभाष्य के तात्पर्य को अपेक्षाकृत सरल भाषा मे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। सरलता के साथ साथ शास्त्रीय विचार की विशदता भी इस ग्रन्थ मे पाठकों को मिलेगी। इस सर्वतोमुखी व्याख्यान के लिये लेखिका धन्यवादार्ह हैं।

प्राचीन टीकाओ के आधार पर मुख्यतया यह ग्रन्थ लिखा गया है, पर मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई है कि लेखिका ने आधुनिक मनीषियों द्वारा विरचित योगपरक ग्रन्थो का भी सफल उपयोग इस ग्रन्थ मे किया है । स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, स्वामी ओमानन्द तीर्थ आदि वर्तमान कालिक योग-विचारको के विचारो को इतनी स्पष्टता से इस ग्रन्थ मे रखा गया है जो देखते ही बनता है। स्थान-स्थान पर हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग आदि योग सम्प्रदायो के मतो का जो प्रतिपादन किया गया है, उससे पातञ्जल योग को समझने मे पाठको को सुविधा होगी—ऐसा मेरा दृढ निश्चय है। चक्र आदि पर लेखिका ने जो विस्तृत विचार किया है, वह अवश्य ही उनके मनन का ज्ञापक है।

हमे यह देखकर हर्ष होता है कि परिश्रमशीला लेखिका ने आधुनिक मनोविज्ञान का भी उचित उपयोग अपने व्याख्यान मे किया है। प्रतीच्य मनोविज्ञान का अत्यधिक उपयोग योग विज्ञान के क्षेत्र मे होना चाहिए, इससे योग के अनेक तथ्य स्पष्टीकृत होगे, ऐसी आशा है। पाञ्चभौतिक जगत्-सम्बन्धी जडविज्ञान की कुछ मान्यताओ को योगविद्या के मतो के उपवृंहक के रूप मे भी कही-कही दिखाया गया है। योगविद्या कितनी व्यापिका है—यह इस प्रकार के विचारो से ज्ञात होता है।

कि ग्रन्थ लेखिका व्यासभाष्य को सामने रखकर उसके मतो को (भाष्यगत क्रम को मुख्यतया अवलम्बन कर ) श्रोताओ को समझाने के लिये अपनी स्वतत्र रचना के रूप मे कहती जा रही है। इस सजीव शैली के कारण ही यह ग्रन्थ दार्शनिक पाठको को भी रुचिकर लगेगा। योगशास्त्र पर जिसका पूर्व अध्ययन नही के बराबर है. वह भी इस व्याख्या को पढकर बहुत दूर तक योगशास्त्र को समझ सकेगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

लिखने के समय पाठको की रुचिविभिन्नता पर लेखिका ने समुचित ध्यान रखा है। योगशास्त्र के बाह्यरुप मे ही प्रधानतः रुचि रखने वालो के लिये उन्होने इस शास्त्र का एक ऐतिहासिक विवरण भूमिका मे प्रस्तुत किया है, जो बहुत ही सुखपाठ्य है। चूॅकि लेखिका को इतिहास लिखना नही था, इसलिये यह भूमिका सक्षिप्त है। कुछ अशो मे यह भूमिका अपूर्ण है। प्रत्येक व्याख्याकार के निजी मतों की समीक्षा करना आवश्यक है जो यहॉ नही की गई है। हम चाहते हैं कि इस ऐतिहासिक पक्ष पर लेखिका एक नया ग्रन्थ प्रस्तुत कर इस अभाव की पूर्ति कर दे । पातंजल योग-शास्त्र सम्बन्धी वाङ्मय का पूर्ण परिचय इस भूमिका मे नही है—

यह परिचय आवश्यक है—[१]

लेखिका का व्याख्यान कितना व्यापक तथा स्पष्ट है, यह निम्नाकित प्रसगो के व्याख्यानो के अध्ययन से जाना जा सकता है—पॉच वृत्तियॉ, वैराग्य, ईश्वर-प्रणिधान, अविद्या, कर्माशय, प्राणायाम, परिणाम, वासना तथा समापत्तियॉ अपने पक्ष के समर्थन के लिये पुराण आदि से जितने वचन उद्धृत किये गये है, उनसे भी लेखिका के अध्ययन की विशालता ज्ञात होती है।

मेरा विश्वास है कि यह ग्रन्थ नवीन शिक्षितो के लिये अत्यन्त उपादेय होगा। यदि लेखिका इस ग्रन्थ का एक अग्रेजी रूपान्तर शीघ्र प्रकाशित करे तो अहिन्दी भाषी योगेच्छु-विचारको को बहुत ही लाभ होगा।

---

१. उदाहरणार्थ Alberuni कृत किताब पातजल का परिचय। हर्ष का विषय है कि इस इस ग्रन्थ का अशत प्रकाशन (अग्रेजी अनुवादमात्र, टिप्पणी मे आवश्यक समीक्षा के साथ ) Bulletin of the school of oriential and African studies, University of London, Vol, XXIX Part2, 1966 मे हुआ है ( प्रथम प्रकरणमात्र ) लेखक है—Ehlomo Pines तथा Tuvia Gelblum

प्रेरणा देगा—इसमे अणुमात्र सशय नही है । हिरण्यगर्भ आदि महायोगियो का आशीर्वाद उनके लिये है । हम चाहते है कि इस मार्ग मे लेखिका अधिकतर प्रशसनीय कार्य भविष्य मे भी करती रहे ।

नवरात्रारम्भ
८।१०।१९७२
१३।१०३ सोनारपुरा बाराणसी

बिद्वज्जनानुचर
( रामशंकर भट्टाचार्य )
एम० ए०, पी० एच० डी० व्याकरणाचार्य

श्री :

डा० नलिनी शुक्ला एम० ए०, पी० एच० डी० के द्वारा लिखे गये पातजल योग सूत्रो का विवेचनात्मक एव तुलनात्मक अध्ययन नामक निबन्ध के तत्तदशो को मैने देखा । यौगिक क्रियाओ का विश्लेषण सिद्धियो के परिणाम आदि महत्वपूर्ण विषयों का तुलनात्मक विचार इस निबन्ध मे स्पृहणीय है । योग शास्त्र के अध्येताओ के लिए यह निबन्ध अत्यन्त उपकारक सिद्ध होगा ।

इस उत्तम कार्य के लिए डा० नलिनी शुक्ला को धन्यवाद देते हुए मैं लेखिका का अभ्युदय चाहता हूँ ।

( वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी )

पट्टाभिराम शास्त्री
१९-९-७२



श्री हरि

अनन्त श्री विभूषित सनातनधर्म सम्राट, श्री ११०८ हरिहरानन्द सरस्वती
श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज का शुभाशीर्वाद

योगदर्शन भारतीय वेदो, उपनिषदो तथा अन्य आर्ष साधना-मार्गों के आपेक्षिक मन समाधान का प्रतिपादन करता है यद्यपि इसका मूल वेद एव उपनिषद् ही है फिर भी उसकी अपनी विशेषताये भी है योगभाष्य तत्ववैशारदी आदि द्वारा उसकी विशद व्याख्या हुयी है । डा० नलिनी शुक्ला ने इस विषय मे बडे मनोयोग से अनुसधान किया है उससे बहुत से विषयो का बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण हुआ है यह ग्रन्थ जिज्ञासुजनो के लिये उपयोगी है । लेखिका के साथ सदैव मेरा शुभाशीर्वाद है ।

करपात्र स्वामी

रहा है उसे मैने ध्यान पूर्वक पढा । श्रीमती डा० नलिनी शुक्ला ने इस विषय पर शोध ग्रन्थ लिखा है वह सर्वथा स्तुत्य है। बहुत ही सरल और हृदयग्राही है। इस ग्रन्थ के लिये मै अपनी शुभकामना भेज रहा हूँ।

शम्भूनाथ शुक्ल
कुलपति अवधेश प्रताप सिह विश्वविद्यालय
रीवा ( म० प्र० )

१००८ अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शकराचार्य काशीस्थ ऊर्ध्वाम्नाय सुमेरु पीठाधीश्वर स्वामी श्री महेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज की शुभाशसा।

श्रीमती नलिनी शुक्ला ने योगदर्शन के अनेक व्याख्यानो पर मनन करते हुये सर्वदर्शन कान्तार केशरी श्रीवाचस्पति मिश्र जी के योग सम्बन्धी विचारो का तलावगाहन करते हुये पातजल योग सूत्र पर इस पुस्तक की रचना की है। यह पुस्तक इनके पी० एच० डी० उपाधि के शोध कार्य का सुपरिणाम है। यद्यपि शोध के अनेक ग्रन्थ प्रतिवर्ष उपाधि के लिए स्वीकृत होते है, परन्तु प्रकाशन सभी के भाग्य मे नही होता अधिकाश विश्वविद्यालयो की शोभा की वस्तु बने रहते है, प्रस्तुत शोध ग्रन्थ जनता जनार्दन को समर्पित हो रहा है यह हर्ष का विषय है। आशा है विद्वानो मे इसकी चर्चा होगी।

जहाँ तक इसके प्रतिपाद्य विषय का प्रश्न है यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि श्रीमती नलिनी शुक्ला ने इस विषय का पर्याप्त चिन्तन श्रम पूर्वक किया है, वे इसकी समुचित रूप से यशोभागी हो, यह शुभाशसा है।

भाद्रपद शुक्ल १० सोम, २०२८ महेश्वरानन्द सरस्वती

# आमुख

यह रचना सर्व प्रथम मेरे पास आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये शोध-प्रबन्ध के रूप मे परीक्षण के लिये आई थी ! बाद मे लेखिका के अनुरोध पर मैंने उसमे कई सशोधनो के सुझाव दिये, जिन्हे विदुषी लेखिका ने ग्रन्थ को वर्तमान रूप मे प्रकाशित किया है। आशा है यह ग्रन्थ विद्वज्जन तथा दार्शनिक मर्मज्ञो के लिये सन्तोषावह व महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकेगा।

( योगवासिष्ठ ) मे चित्तनास अर्थात चितादर्शन प्रयुक्त शुद्धात्मदर्शन के दो ही उपाय बतलाए गए है योग तथा ज्ञान।

''द्वौ क्रमौ चित्तनाशाय योगो ज्ञान च राघव।
योगस्तद् वृत्तिरोधश्च ज्ञान सम्यगवेक्षणभ् ॥

इनमे योग निरोध मार्ग है और ज्ञान सम्यगवेक्षण शुद्धात्मतत्व के यथार्थस्वरूप का साक्षात्कार है और यह शुद्धात्मतत्व की निर्विकल्पक तथा अखण्ड अनुभूति समस्त अनात्मवृत्तियो के निरुद्ध हो जाने पर ही हो सकती है ।

जब तक अनात्मवृत्ति प्रवाह बना रहता है और चित्त का अलातचक्र या चित का द्वैतेन्द्रजाल चलता रहता है तब तक अनादि और निबिड अविद्या से निगूढ शुद्धात्म-स्वरूप का अधिगम नही हो सकता। आत्मतत्व स्वय-प्रकाश चैतन्यस्वरूप अनाद्य-विद्या से आवृत तथा अनात्मग्कारा चित्त-वृत्तियो से अच्छादित रहने के कारण साक्षात्कारगोचर नहीं होता। अत उस साक्षात्कार के दो ही उपाय है। अनादि अविद्या का अपसारण तथा अनात्माकारा चित्त-वृत्तियो का निरोध। चरमतत्वज्ञान से अनाद्यविद्या की निवृति होती है। और समाधि के द्वारा अनात्माकार चित्तवृत्तियो का निरोध होता है। ज्ञान-मार्ग मे निदिध्यासत का जो स्थान है वही योगमार्ग मे समाधि का है। मैत्रायणीय शाखा आदि मे इसका स्पष्ट निरूपण बडे सुन्दर ढग से मिलता है —

"लयबिक्षेपरहित मनः कृत्वा सुनिश्चितम्।
यदा यात्यमनीभाव तदातत्परम पदम ॥

एतज्ज्ञान च मोक्षश्च शेषास्तु ग्रन्थ विस्तरा ॥

उपर्युक्त वर्णन असम्प्रज्ञात समाधि का है इसमे जब मनका भी अमनीभाव हो जाता है। अर्थात मन प्रवेशकृत विशेष भी आत्मा मे मिट जाता है तभी केवलसाक्षीज्ञान होता है दूसरे शब्दो मे प्रमिति प्रमातृ भेद भान भी निरस्त हो जाता है। कहा गया है—

यत्रोपरमने चित्त निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मान पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि मे शुद्धात्मतत्त्व का दर्शन हो जाता है द्वैतभान प्रयुक्त आनन्दाल्पता दूर हो जाने के कारण नित्य निरतिशयानन्दरूप शुद्धात्मतत्व का भान होता है। ब्रह्मानन्द ने निदिध्यासन की समानता योग से निम्नलिखित रूप से की है:—

( १ ) निदिध्यासन की पूर्वावस्था=सम्प्रज्ञात समाधि।

( २ ) निदिध्यासन की चरमावस्था=असम्प्रज्ञात समाधि।

यह निदिध्यासन मधुसूदन सरस्वती के शब्दो मे विजातीय प्रत्ययानन्तरित सजातीय प्रत्ययप्रवाहरूप है।

इसकी पूर्वावस्था "अह ब्रह्मास्मि" इत्याकारक प्रवाह रूप है और सम्प्रज्ञात समाधि भी मन और देह आदिसे भिन्नसाक्षिज्ञानप्रवाह रूप है और सम्प्रज्ञात समाधि भी सकल वृत्तिशून्य निरोधरूप मे परिणत अमनीभूत शुद्धमन प्रतिभातकेवलात्मज्ञान प्रवाहरूप है। इस प्रकार दोनो मार्गो मे साधना का पर्यवसान शुद्धात्मतत्व दर्शन मे ही है। सुषुप्त्यवस्था तथा समाधि मे अन्तर यही है कि यद्यपि दोनो मे मनोवृत्तिभानाभाव समान है तथापि प्रथमअवस्था मे मनोवृत्ति बनी रहती है किन्तु दूसरी अवस्था मे इसका भी सर्वथा निरोध हो जाता है। सुषुप्त्यवस्था मे मन सविषयक रहता है और योगावस्था मे मन निर्विषयक हो जाता है सारांश यह कि सर्वथा प्रमात्रादि भानशून्य असम्प्रज्ञात्त समाधि होती है और निदिध्यासन का भी चरम उत्कृष्ट स्वरूप यही है।

मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है —"प्रमिति प्रमात्रोर्महावाक्यार्थ-बोधे भानमस्तम्। असम्प्रज्ञात=समाधे' श्रुतिस्मृति सिद्धात्वाच्च"।

वस्तुतः निदिध्यासन और समाधि एक दूसरे के पूरक हैं। प्राधान्या प्र
दोनो मार्गों के व्यावर्तक है। यदि समाधिसम्वलित ब्राह्माकार=प्र
निदिध्यासन है, तो ध्यान (अर्थात् निदिध्यासन) सहकृत समस्त चित्त-चैत्तवृ
समाधि है। इसीलिये श्वेताश्वतर उपनिषद् मे ब्रह्मसाक्षात्कार का उपाय कह
ध्यानयोगानुगता अपश्यन्"

योग दर्शन का अध्ययन दो प्रकारो से किया जाना चाहिये—

(१) मनोवैज्ञानिक अध्ययन।

(२) दार्शनिक अध्ययन।

प्रत्येक दर्शनशास्त्र के अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है। योग दर्शन के अ
'मनोवैज्ञान' लिखने का प्रयास मैं कर रहा हूँ। Epistemolgy और psy
logy दोनो का पृथक् विवेचन योग दर्शन का आवश्यक अग है।

विस्तार मे न जाकर 'योग' के स्वरूप के विषय मे दो शब्द लिखना उप
होगा। श्रीमद् भगवद्गीता मे योग का लक्षण "समत्व योग उच्यते" इन शब्दो
किया है। पातञ्जल योगदर्शन मे योग का लक्षण ( योगश्चित्त-वृत्ति निरोध." लिखा

वायुपुराण, ब्रह्माण्ड पुराणो आदि मे भी योग और उसके अगो के लक्षण और
विस्तार के साथ-साथ वर्णित किये गए हैं। विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करने
लक्षणो की शब्दावलियों मे भेद होने पर भी सभी लक्षणो का तात्पर्य एक ही है
द्वैत तद्वृत्ति प्रतिभास सत्त्वादिक त्रिविधगुण वैषम्यमूलक है और वृत्तिनिरोध सम
रूप या अमनीभाव रूप है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

ब्रह्माण्डपुराण मे योग का फल व्यक्ताव्यक्त परित्याग तथा देहजाल समुच्छेद बत
लाया है। व्यक्ताव्यक्त प्रतिभासनिरोध ही व्यक्ताव्यक्त परित्याग है इससे भी यह
निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ताव्यक्तरूप द्वैतदर्शनाभाव अर्थात् निरोध ही योग है
वायुपुराण मे प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि का विस्तार के साथ
विवेचन किया गया है।

प्राणायामस्तथा ध्यान प्रत्याहाराऽथधारणा ।
स्मरण चैव योगेऽस्मिन् पञ्चधर्मा॰ प्रकीर्तिता॰ ॥
प्राणाना निरोधस्तु प्राणायामसज्ञित ।

प्राणायाम के प्रयोजन तथा फल —

प्रयोजनानि चत्वारि प्राणायामस्य विद्धिवै।
शान्तिः प्रशान्तिर्दीप्तिश्च प्रसादश्च चतुष्टयम् ॥

अन्तिम प्रयोजन या फल का स्वरूप—

इन्द्रायाणीन्द्रियार्थाश्च मन पञ्च च मारुतान् ।
प्रसादयति येनासौ प्रसाद इति सज्ञितः ॥

यही पातञ्जल योगदर्शन मे 'चित्त सम्प्रमाद' शब्द से कहा गया है ।

( २ ) सवृतास्योऽवबद्धाक्ष उरो विष्टभ्य चाग्रतः ।
पार्ष्णिभ्यां वृषणैच्छाद्य तथा प्रजनन तत ॥
किञ्चिदुन्नामितशिर शिरोग्रीवास्तथैव च ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रस्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

(३ ) निवृत्तिविषयाणान्तु प्रत्याहारस्तु सज्ञितः ।
युञ्जीत परम ध्यान योगी ध्यानपर सदा ॥
यस्तुप्रत्याहरेत् कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वतः ।
तथात्मरतिरेकस्य पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥
पूरयित्वा शरीर तु सबाह्याभ्यन्तर शुचि॰ ।
आकण्ठनाभियोगेन प्रत्याहारमुपक्रमेत् ॥

( ४ ) मनसा धारणाश्चैव धारणेति प्रकीर्तिता ।
धारणाद्वादशायामो योगो वैं धारणाद्वयम् ॥

ऊपर अमनीभाव की चर्चा के प्रसङ्ग मे कहा गया है कि आत्मा मे मनः प्रवेशकृत विशेषराहित्य ही अमनीभाव है । इमी का रूपान्तर से वर्णन धारणा के प्रसग मे योग मे किया गया है—

तथा मनो धारयता मनः सूक्ष्म प्रवर्तते ।
मनसा सर्वभताना मनस्तु विशते हि स ॥

बुद्ध्वा बुद्धि यदा युञ्जेत्तदा विज्ञाय युज्यते।
योग का अवान्तर फल ऐश्वर्य है॥

"अणिमालघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेवच। प्राकाम्य चैव सर्वत्र ईशित्वं चैव सर्वत वशित्वमथ सर्वत्र यत्र कामावसायिता।" ये सब स्वतः प्राप्त सिद्धियां योग के लक्ष्य नही है। किन्तु जैसे जैसे ये फल प्राप्त होते जाते है, वैसे-वैसे योगी इनमे संसक्त न होकर इनका परित्याग कर देता है और ऊपर उठता चला जाता है। "परित्यजति मेधावी स बुद्ध्वा परम व्रजेत्।" ऐश्वर्य राग का कारण है। अतः उनसे वैराग्य होने पर अन्त मे समाधि के द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति होती है।

परित्यजति यो बुद्ध्वा स पर प्राप्नुयाद्विजः।
ऐश्वर्याज्जायते रागो विराग ब्रह्म उच्यते॥
विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्ग च महेश्वरम्।
प्रधान विनियोगज्ञः पर ब्रह्माधिगच्छति॥

ब्रह्माण्ड पुराण मे आगे योगाङ्गो का और भी स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है।

यमैं सनियमैश्चैव शुद्धदेहः समाहित।
वशीचकार पवन प्राणायामेन देहगम्॥
जितपद्मासनो मौनी स्थिरचित्तो महामुनि।
वशीचकार चाऽक्षाणि प्रत्याहारपरायणः॥
धारणाभिः स्थिरीचक्रे मनश्चञ्चलमात्मवान्।
ध्यानेन देवदेवेश ददर्श परमेश्वरम्॥
स्वस्थान्त करणो मैत्रः सर्वबाधाविवर्जितः।
चिन्तयामास देवेश ध्याने दृष्टवा जगद्गुरुम्॥
ध्येयावस्थित चित्तात्मा निश्चलेन्द्रिय देहवान्।
आकालावधि सोऽतिष्ठन्निवातस्थ प्रदीपवत्॥
ततः स निष्कल रूपमैश्वर यन्निरञ्जनम्।
पर ज्योतिरचिन्त्य यद् योगिध्येयमनुत्तमम्॥
नित्य शुद्ध सदा शान्तमतीन्द्रियमनौपमम्।
आनन्दमात्रमचल व्याप्ताशेषचरा चरम्॥

इस प्रकार अन्त मे योग के द्वारा नित्य शुद्ध, शान्त, निष्कल, निरञ्जन, आनन्दमात्र परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। यही शुद्धात्मतत्व दर्शन है।

अद्वैत दर्शन के अनुसार ज्ञानमार्ग मे प्रपञ्च विलयन औरतत्-त्व पदार्थ शोधन की चर्चा मिलती है और योगमार्ग मे वृत्तिनिरोध की। साधनभेद है किन्तु दोनो का लक्ष्य एक ही है। दूसरे शब्दो मे चरम तत्त्वज्ञान के द्वारा अविद्या व तत्प्रयुक्त समस्त द्वैतव्रात का बाध हो जाता है। समाधियोग के द्वारा विवेकख्याति और समस्त प्राकृतिक परिणामो का निरोधमात्र। शुद्धात्म-दर्शन और कैवल्यज्ञान दोनो मे समान है।

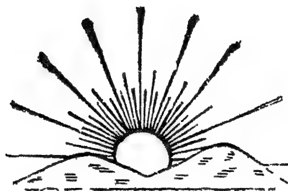
इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता मे कहा है—

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थान तद्योगैरपि गम्यते।"

अन्त मे सक्षेपतः इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि योगदर्शन पर अनेको ग्रन्थो के प्राप्त रहने पर भी इस ग्रन्थ की भी सेवा विद्वत्समाज मे श्लाघ्य मानी जायेगी।

अभ्युदयाभिलाषी
वीरमणिप्रसाद उपाध्याय
(एम ए. बी. एल. डी लिट्)
साहित्याचार्य

भूतपूर्व अतिरिक्त शिक्षा निर्देशक (सस्कृत) बिहार, प्रोफेसर एव विभागाध्यक्ष सस्कृत, पाली एव प्राकृत इत्यादि गोरखपुर विश्व-विद्यालय यू० जी० सी० अनुसधान प्रोफेसर बनारस विश्व विद्यालय एव अवैतनिक निर्देशक भारतीय अनुसन्धानपीठ वाराणसी



श्री गणेशाय नमः ।
श्री सरस्वत्यै नम ।

# लेखिका का नम्र निवेदन

'पातञ्जल योगसूत्र' भारतीय दर्शन साहित्य अथवा समस्त भारतीय साहित्य ही नहीं, अपितु विश्व साहित्य मे अप्रतिम एव शिरः स्थानीय है। महर्षि पतंजलि ने 'योगसूत्र' मे जिन आत्मकल्याणोपयोगी प्राचीनतम सिद्धान्तों का निरूपण किया है, वे आज भी नित्य नवीन है और सर्वदा नवीनतम स्फूर्ति एव प्रेरणा के प्रदायक रहेगे। जीवन के उच्चतम क्षेत्र से लेकर साधारणतम स्तर तक यौगिक सिद्धान्तों की उपयोगिता है। योगोक्त मैत्री, मुदिता सदृश उदार भावनाओ के बल पर ही समग्र विश्व, बन्धुत्व के पावन सूत्र मे बन्धन की कल्पना करता है। आयुर्वेदशास्त्रगत वात, पित्त और श्लेश्मा का मूल आधार भी सांख्यसम्मत सत्व, रज, तम की मान्यता ही है। मनोविज्ञान के क्षेत्र मे भी साख्ययोग की महती उपयोगिता है। अस्तु केवल आध्यात्मिक क्षेत्र मे ही नही, विविध बाह्य विषयो मे भी समस्त विश्व सांख्य और योग का चिर-ऋणी है। सांख्य के चिन्तना-क्षेत्र से पातञ्जल योग के व्यावहारिक क्षेत्र मे उतर कर जीवन की सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

आध्यात्मिक अभिरुचि मुझे आस्तिकता से ओतप्रोत मातृपक्ष से प्राप्त हुई, जिसमे स्नेहमयी माँ का विशेष हाथ है। भक्तिभाव की सजीव मूर्ति, परमकल्याणी जननी का दुग्धामृत ही मेरे अन्दर आध्यात्मिक अभिरुचि का स्रोत बन गया। शास्त्रो के अनुसार स्त्रीधन की अधिकारिणी विशेषत कन्या ही होती है। आध्यात्मिक रुचि भी मुझे मातृ-सम्पत्ति के रूप मे मिली। उनके द्वारा गीता आदि मोक्षशास्त्रों एव विविध स्तोत्रो के साथ 'सौन्दर्यलहरी' के सस्वर पाठ ने इस हृदय मे योग के प्रति जिज्ञासा को उद्बुध कर दिया। प्रारम्भिक अध्ययन काल से इण्टरमीजिएट तक सस्कृत पढने का सुयोग न मिल पाने पर भी, अध्यात्म विषयो का रत्नकोष संस्कृत भाषा मे ही सुरक्षित रहने के कारण हृदय मे सस्कृत के प्रति सदैव से अनुराग रहा है। एम० ए० ( सस्कृत ) के पाठ्यक्रम मे निर्धारित दर्शन के प्रश्नपत्रो के अध्ययन से अन्त करण मे दार्शनिक रुचि विशेष के स्फुरण के साथ योगदर्शन ही विशेष रुचिकर लगा। विषय अत्यन्त जटिल होने पर भी इसमे अत्यधिक अभिरुचि ही प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रेरणा का मूल स्रोत है।

गृहस्थी का कार्यभार, शिशुपालन एव विविध आधि-व्याधिसकुलता के कारण व्यग्रतावश हतोत्साहिता मुझे इस निबन्ध का लेखन कार्य असम्भव-सा प्रतीत होने लगा था, किन्तु आ० डा० सत्यनारायण पाण्डेय तथा अन्य शुभचिन्तको ने बारम्बार प्रोत्साहन देकर इससे विमुख नही होने दिया।

मूलतः यह ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय की डा० ऑफ फिलॉसफी की उपाधि के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। आधुनिक युग की आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुए, प्रस्तुत प्रबन्ध मे विवेचनात्मक एव तुलनात्मक अध्ययन के साथ-साथ, विषय को सुगम बनाने के लिये, भौतिक विज्ञान-पद्धति के अनुसार आधुनिक दृष्टिकोण भी अपनाया गया है। साथ ही विविध दार्शनिक दृष्टिकोणो मे समन्वय-स्थापना का भी प्रयास किया गया है।

इस प्रबन्ध के परीक्षको ने इसकी प्रचुर प्रशंसा करके तथा विशेष रूप से दर्शन के श्रेष्ठ मर्मज्ञ विद्वान् डा० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय ने कृपा पूर्वक आमुख भी लिख कर, मुझे जीवन मे नवीन प्रेरणा एव उत्साह प्रदान किया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के वर्तमान स्वरूप प्रदान करने मे मुझे जिन सज्जनो, सुधीजनो का योगदान मिला है, उन सब के प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। सर्व प्रथम आदरणीय पितृतुल्य स्वर्गीय डा० सत्यनारायण पाण्डेय ( भूतपूर्व अध्यक्ष सस्कृत विभाग, वी एस. एस डी कालेज, कानपुर ) के प्रति मैं परम आभारी हूँ, जिनके योग्य निर्देशन मे यह सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ।

वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसथान-सस्थान सदस्य परम विद्वान् डा० रामशकर भट्टाचार्य ने समय-समय पर मुझे अमूल्य निर्देश देकर अनेक समस्याओ का समाधान किया है। उनके ग्रन्थो से भी मुझे विपुल सामग्री प्राप्त हुई है। प्राक्कथन लिख कर भी उन्होने मुझे अनुग्रहीत किया है। अस्तु उक्त दोनो ही महानुभावो के प्रति मै चिरऋणी रहूँगी।

विद्वद्वर श्रीयुत प० बल्देव उपाध्याय, विद्वच्छिरोमणि महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज के प्रति भी मैं श्रद्धावनत हूँ, जिन्होने मुझे अल्प समय मे ही बहुमूल्य निर्देश तथा आशीर्वाद प्रदान करके उत्साहित किया है। श्री स्वामी करपात्री जी महाराज ने भी इस गूढ विषय की अनेक ग्रन्थियाँ सुलझा कर मेरा उपकार किया है तथा उनका आशीर्वाद सदैव मेरे साथ रहा है। अतः उनकी भी मैं परम कृतज्ञा हूँ। कानपुर के सस्कृत भाषा के प्रकृष्ट विद्वान् एव कवि आचार्य केशवदेव शुक्ल से भी जो सहयोग एव आशीर्वाद मिला है, उसके लिये हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन भी मेरा परम कर्त्तव्य है।

दिवगत स्वामी हरिहरानन्द अरण्य, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन एव वर्तम आई० के० टैमनी, स्वामी ओमानन्द प्रभृति समस्त विद्वान् लेखको के प्रति मै आभारी हूँ जिनके ग्रन्थो से मुझे प्रचुर सहयोग प्राप्त हुआ है।

परमपूज्य पिताजी ( श्वसुर ) की मै सपरिवार परम आभारी हूँ, जिन्होन अत्य स्निग्ध भाव से मुझे शोधकार्य करने की स्वीकृति एव सहायता प्रदान की है।

स्थानीय नानारावघाटस्थ शक्तियोगाश्रम श्री विद्यापीठ का सत्सङ्ग भी यौगि शोध की जिज्ञासा का उद्बोधक बना। इसकी अनेक शाखाएँ योग प्रशिक्षण त क्रियात्मक साधनाओ का प्रसार करती रहती है। अस्तु उसी के सहयोग से "पातञ् योगदर्शन का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन' का प्रथम प्रकाशन प्रस्तुत कि जा रहा है। इसके लिये मैं योगाश्रम के सस्थापक परम आदरणीय श्री शीत प्रसाद शुक्ल शास्त्री जी के आशीर्वाद व अनुकम्पा के लिये परम कृतज्ञा हूँ। आर से स्वय प्रूफ न देख सकने के कारण ग्रन्थ मे कुछ अशुद्धियाँ रह गई है जिनके लि सुधीजनो से क्षमाप्रार्थना है। भावी सस्करण मे इसका पूरा ध्यान रखा जाएगा।

इस ग्रन्थ के प्रणयन एवं प्रकाशन मे उक्त सज्जनो के अतिरिक्त जिन, किन्ही से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे मुझे प्रोत्साहन अथवा सहायता प्राप्त हुई है उन सभी के प्र मैं आभार प्रकट करती हूँ।

दुर्ज्ञेय विषय पर लेखनी उठाने के कारण अज्ञानवश इसमे जो स्खलन एव अपूर्णत है, आशा है उदार हृदय विद्वज्जन 'बालादपि सुभाषितम्' उक्ति को चरितार्थ क हुए, उन त्रुटियो को क्षमा कर गुणग्राहिता का वरण करेंगे। प्रस्तुत प्रबन्ध के वि मे विद्वानो से प्रार्थना है कि वे इसके आवश्यक परिमार्जन एव पूर्णता की दृष्टि मुझ पर अपने विचार प्रदान की कृपा व कष्ट करे। मै उन सशोधनो का सहर्ष स्वाग करूँगी जिससे भावी सस्करण मे तदनुकूल सशोधन हो सके।


प्रवक्ता आचार्य नरेन्द्रदेव
महिला महाविद्यालय
कानपुर

बुधजन पथानुगामि
विनयावनता
*नलिनी शुक्ला*
११०/५१, रामकृष्णनग
कानपुर

॥ श्रीः ॥

डा० नलिनी शुक्ल प्राध्यापिका स० विभाग, आचार्य नरेन्द्रदेव, कॉलेज, कानपुर, द्वारा लिखित शोध प्रबन्ध की भूमिका मे भारतीय दर्शनो का महत्त्व तथा उनमे योगशास्त्र का महत्व'' देखने का मिला ।

लेखिका ने इसमे प्राच्य एव नव्य विभिन्न दार्शनिको के मत का उद्धृत करअपने मनोहर ढङ्ग से तुलना की है । साथ साथ योग दर्शन का महत्त्व एव सब दर्शनों का अन्तरङ्ग साधनता तथा सर्वोपादेयता का पूर्ण प्रयास किया है । इसमे दिखाई गई युक्तिया विद्वानो को मर्म स्पर्शी अवश्य होगी । किन्तु वाचस्पति योग साधक नही थे यह मान्य नही है ।

विषय वस्तु के समाधान एव समन्वय मे लेखिका ने अथक प्रयास किया है इसमे सन्देह नही ।

मैं लेखिका की सर्वाङ्गीण उन्नति एव लेखशैली की उपादेयता की शुभ कामना चाहता हूँ । इतिशम् ।

दिनांक १३ । १२ । १६७२
व्याख्याता (Lecturer)
राजकीय सस्कृत महाविद्यालय, कलकत्ता
एव कलकत्ता विश्वविद्यालय ।

पं० श्री महानन्दठाकुर
व्याकरण-न्याय-वेदान्त साहित्याचार्य
वेदान्तरत्न



[ पद्मभूषण डा० भीखनलाल आत्रेय का शुभाशीर्वाद । ]

विश्व की भावी सस्कृति के लिये भारत की बहुत बडी देन उसका योग है। योग पर बहुत से ग्रन्थ प्राचीन काल मे तथा आधुनिक काल मे लिखे जा चुके हैं। क्योकि उसके बहुत से प्रकार हैं किन्तु योग का सबसे अधिक प्रामाणिक तथा मौलिक ग्रन्थ 'पातञ्जल योगसूत्र' है। प्राचीन काल मे इस ग्रन्थ की बहुत सी व्याख्याएँ हो चुकी हैं, जिनमे से कुछ तो सर्वसाधारण को उपलब्ध ही नही हैं और कुछ ऐसी कठिन भाषा मे लिखी गई है जिनका समझना साधारण पाठक के लिये बहुत कठिन है। अभी तक योग पर कोई ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ था जिसमे सभी व्याख्याओं का सार तुलनात्मक तथा आलोचनात्मक दृष्टि से दिया गया हो। डा० श्रीमती नलिनी शुक्ला ने योग के विद्यार्थियों के लिये बडे उपकार और सेवा का कार्य किया है। उन्होने प्राःय सभी उपलब्ध व्याख्याओ का गहरा और तुलनात्मक अध्ययन किया है और इस पुस्तक पर उनको आगरा विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की डिग्री भी प्राप्त हुई है जिसमे पुस्तक की महत्ता स्वत सिद्ध है। प्रस्तुत पुस्तक मे केवल योग सूत्र पर व्याख्याओ का ही तुलनात्मक अध्ययन नही है अपितु योग के सिद्धांतो का भी स्पष्ट विवेचन हैं। मुझे आशा और विश्वास है कि यह पुस्तक प्रकाशित होने पर योग के सभी विद्यार्थियो के लिये बहुत उपयोगी साबित होगी। मैं यह भी आशा करता हूँ कि भविष्य मे श्रीमती शुक्ला योग का और भी अधिक विस्तृत रूप से अध्ययन करके प्राचीन और आधुनिक योग को परिपाटियो पर कुछ तुलनात्मक दूसरी पुस्तक लिखेगी जो कि उनके लिये डी० लिट् डिग्री का शोध प्रबन्ध हो सकेगा। मेरी भगवान से प्रार्थना है कि वे स्वस्थ रह कर और योगाभ्यास करके अपने अध्ययन को और भी आगे भविष्य मे चालू रक्खेगी।

भी० ला० आत्रेय

३०-१०-७१



Padmabhum, Knight Commander, Darshanacharya

Dr B L Atreya
M A. D L.

Fellow of the International Council of Psychologists
Hon. Member of the International Institute of Philosophy
Formerly University Professor of Philosophy and Head of the Departments of Philosophy, Psychoogy, and Indian Philosophy & Religion, and the first Provost

BANARAS HINDU UNIVERSITY

Hony Director, Child Guidance clinic, Varanasi :
Hony, Director, Research Institute of Philosophy, Psychology & Psychical Research, Rajpur, Deharadun
Editor Darshana International

Psychics International and Gaveshana
Atreya Niwas, Lanka, Varanasi 5 (U P ) India



श्री गणेशायनम ।

श्री सरस्वत्यै नम ।

नम परमर्षये ।

**व्यास तथा अन्य व्याख्याकारो के आधार पर 'पातंजल-योगसूत्र' का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक-अध्ययन**

# विषयानुक्रमणिका

## प्रथम अध्याय १-७२

## द्वितीय अध्याय ७५-१६६



## तृतीय अध्याय १७३-२६१



## चतुर्थ-अध्याय २६५-३८६



# भूमिका



## (१) भारतीय दर्शनों का महत्व तथा उनमें योगशास्त्र का स्थान

### (अ) अन्य-देशीय दर्शनो से भारतीय दर्शनो की तुलना तथा अविच्छिन्नता

पाश्चात्य एव पौरस्त्य दर्शनो की तुलना से पूर्व दर्शन क्या है—यह जानना आवश्यक है।

'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जिसके द्वारा देखा जाय, वह दर्शन है। वस्तु के तात्विक स्वरूप का आन्वीक्षिकी पद्धति से ज्ञान ही दर्शन-द्वारा दर्शनीय या ज्ञेय है। हम कौन है ? क्या है ? कैसे उत्पन्न हुए है ? यह जगत् क्या है ? समस्त जड-जगमात्मक जगत् का मूल क्या है ? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? जगत् का स्रष्टा जड है या चेतन ? वास्तविक सुख की उपलब्धि किस प्रकार हो सकती है, इत्यादि समस्याओ का समुचित समाधान दर्शन का मुख्य लक्ष्य है।

पाश्चात्य देशो मे दर्शन के लिये 'फिलासफी' शब्द का प्रयोग होता है। फिलॉस (प्रेम या अनुराग) तथा सोफिया (विद्या)—इन दो ग्रीक शब्दो से निर्मित—फिलासफी की व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ विद्यानुराग है। अतः दर्शन के प्रति, पाश्चात्य एव पौरस्त्य विचारको के दृष्टिकोण भिन्न है। भारतीय दर्शनो (मोक्ष दर्शनो) के लक्ष्य एव पाश्चात्यो की फिलॉसफी के लक्ष्य मे भी भेद है। पाश्चात्य दर्शन जिज्ञासा की शान्ति मे ही पर्यवसानलाभ करते है। वे ज्ञान के लिये ही ज्ञान की खोज मे निरत है। प्राचीन युग के प्रधान तत्वज्ञानी प्लेटो दर्शन का मूल 'आश्चर्य' को मानते है। '(फिलॉसफी बिगिन्स इन वन्डर)'। सम्पूर्ण यूरोपीय दर्शन उस आश्चर्य की तृप्ति के प्रति ही अग्रसर है।

भारतीय दर्शनो मे तत्वज्ञान दर्शन का चरम लक्ष्य नही, अपितु चरम लक्ष्य मुक्ति है। क्लेश-सकुल ससार से मोक्ष ही सम्पूर्ण भारतीय दर्शनो का एकमात्र लक्ष्य है।

तत्वज्ञान उस मुक्ति की प्राप्ति का अनिवार्य साधन है। विविध भारतीय दर्शन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से उस एक ही लक्ष्य की पूर्ति हेतु प्रयत्नशील है।

फिलॉसफी 'विचार-प्रवीण विद्वानो का मनोरजक साधन है।'[1] विराट् विश्व के विचित्र विन्यास का देखकर मानव विस्मित हो उठता है। अत उस विस्मय की शान्ति के लिये जगत् के रहस्यो की जिज्ञासा से फिलॉसफी का उदय होता है। पाश्चात्य दार्शनिक केवल अपने कौतूहल की शान्ति के लिये मनमानी कल्पना का आश्रय ग्रहण करके, वस्तुतत्व का विवेचन करते है। उस विवेचना-द्वारा किस निष्कर्ष पर पहुँचेगे, इसका उन्हे पहिले से ज्ञान नही होता है।

भारतीय दार्शनिक सर्वदा एक निश्चित प्रणाली-द्वारा एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चलते है। उनकी वस्तु-तत्व-विषयिणी जिज्ञासा दुःख-त्रयाभिघात से ही उत्पन्न होती है और आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन तीनो दुःखो की आत्यन्तिक निवृत्ति या मुक्ति ही उनकी प्रेरणा का कारण है। भारतीय दर्शन-पथिक का विवेचन-मार्ग पूर्व निर्दिष्ट एव गन्तव्यस्थल मोक्ष सुनिश्चित होता है। भारतीय दार्शनिक को पथ-भ्रष्ट होने की किंचित्मात्र भी आशका नही रहती।

पाश्चात्य एव पौरस्त्य दोनो ही दर्शन सत्यान्वेषण मे व्यस्त है, किन्तु उनके उद्देश्य पृथक्-पृथक् है। इस वैषम्य के रहने पर भी उनमे अनेकशः साम्य है। अतः द्विविध दर्शनो की तुलना से पूर्व पाश्चात्य दर्शनो के श्रेणी-विभाग का सिहावलोकन आवश्यक है।

पाश्चात्य दार्शनिक विचारधाराओ को मुख्यतः छः भागो मे विभक्त किया जा सकता है :—

## (१) मेटाफिजिक्स :-

मेटाफिजिक्स का अर्थ है—तत्वमीमासा। 'सत्' का विवेक ही इस दर्शन का मुख्य विषय है। पदार्थ दो प्रकार के होते है :—

(अ) वस्तुतः सत्य।

(ब) प्रातीतिक सत्य।

---

१. कुल्पे कृत 'इन्ट्रोडक्शन टु फिलॉसफी' के प्रथम परिच्छेद मे फिलॉसफी शब्द का अर्थ एव प्रयोग विषयक विवरण द्रष्टव्य है।

प्रातीतिक सत्य (प्रतीति) से वास्तविक सत्य (सत्) के पृथक्करण मे यह दश विशेष उपयोगी है। भौतिक एव मानसिक दशाएँ ये दो ही निश्चितरूप से सत् माननीय है। जो दार्शनिक भौतिक पदार्थमात्र को सत् एव मानसिक दशाओ क उनका आभासमात्र मानते है, वे भौतिकवादी (मेटीरियलिस्ट या नेचूरलिस्ट) कहला है। इसके विपरीत केवल मानसभावो को सत् और भौतिक पदार्थों को उनक प्रतीति मानने वाले प्रत्ययवादी या आइडिअलिस्ट है। भौतिक एव मानसिक द्विवि पदार्थों की सत्ता स्वीकार करने वाले द्वैतवादी (ड्युअलिस्ट) कहलाते है। प्रत्ययवा का विरोधी सिद्धान्त वास्तववाद कहलाता है। इनमे वास्तववाद ही विप्र-प्रया एव वैज्ञानिक माना जाता है।

## (२) एपिस्टोमोलोजी :—

यह प्रमाण-मीमासा है। ज्ञान का स्वरूप, उसकी सीमाएँ एव प्रामाणिकता सत्या-सत्य का निर्णय इत्यादि इस दर्शन के आलोच्य विषय है। साथ ही इस दर्शन मे अनुभवगम्य एव अनुभवातीत पदार्थों का विवेचन भी प्राप्त होता है। अनुभति पर आश्रित पदार्थ एपोस्टिओरि (अनुभवजन्य) तथा अनुभव-स्वतन्त्र पदार्थ ए-प्राओरि (अनुभवाजन्य) कहलाते है। इस दर्शन मे इनकी विशद विवेचना की जाती है।

## (३) लॉजिक ( तर्कशास्त्र ) : —

ज्ञान की व्यावहारिक प्रक्रिया का विवेचन तर्कशास्त्र का विषय है। किसी तर्क की प्रामाणिकता एव सत्यता के परीक्षण-हेतु विशिष्ट नियमो का विस्तृत विधान लॉजिक का विषय है। इसके दो विभाग है—

(अ) डिडक्टिभ ( निगमन ) सामान्य से विशेषानुसधान की पद्धति और

(ब) इन्डक्टिभ—विशेष दृष्टान्तो से सामान्य सिद्धातो का अन्वेषण। इनमे से प्रथम पद्धति मे केवल वैध सत्य अनिवार्य है। द्वितीय मे वस्तु की भौतिक सत्यता पर बल दिया गया है। तीनो की सामूहिक सज्ञा थियोरेटिकल फिलॉसफी अर्थात् कल्पनात्मक दर्शन है।

## (४) एथिक्स (कर्त्तव्यमीमांसा अथवा आचारशास्त्र) :—

इस दर्शन का प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः आचरणो या कर्त्तव्यो की मीमासा करना है। मानवजीवन का क्या लक्ष्य है? जीवन मे वास्तविक कल्याण की प्राप्ति का

क्या मार्ग है ? कर्त्तव्य क्या है ? वह कितने प्रकार का है ? कर्त्तव्य के निश्चय का क्या आधार है ? इस प्रकार की समस्याओ का समुचित उत्तर एथिक्स मे दिया गया है। जीवन को अधिकतम उपयोगी बनाने की समस्या मानवमात्र के लिये महत्व की है। जगत् के विषय मे प्रायः दो दृष्टिकोण पाए जाते है। एक के अनुसार ससार दुःखबहुल है। सृष्टि मे जिन उपकरणो से सुखानुभूति होती है, वे भी अन्ततः दुःखजनक एव अविश्वसनीय है। जगत् के प्रति यह दृष्टि निराशा की ही जननी है। अतः इसे नैराश्यवाद 'पैसिमिज्म' कहते है। दूसरे दृष्टिकोण से मानव-जीवन निसर्गतः शोभन है। दुःख बीच-बीच मे यदा-कदा ही उत्पन्न होता है। अतः दुःख के कतिपय क्षण जीवन को सर्वथा विषादाच्छन्न करने मे असमर्थ है। दुःख नष्ट हो जाता है और अन्ततः आनन्द ही विजयी होता है। इस दृष्टिकोण को आप्टिमिज्म अर्थात् आशा-वाद कहते है। एथिक्स हर प्रकार के व्यक्ति के लिये जीवन की उपयोगिता का विधान करता है।

## (५) एस्थेटिक्स-सोन्दर्यमीमासा :—

१८ वी शताब्दी मे यूरोपीय दर्शनो मे सौन्दर्य-मीमासा की विशेष प्रवृति जागृत हुई। इससे पूर्व सौन्दर्यमीमान्सा दर्शन का स्वतत्र विवेच्य विषय नही था। सौन्दर्य-शास्त्र के अर्थ मे 'एस्थेटिक्स' शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम जर्मन दार्शनिक बाउमगार्तेन ने किया। अतः एस्थेटिक्स को दर्शन की एक स्वतन्त्र शाखा बनाने के श्रेयभाजन ये ही है। इस दर्शन के दो विभाग है—

(अ) सौन्दर्य-निर्णय और
(ब) व्यावहारिक सौन्दर्य।

### (अ) सौन्दर्य निर्णय :—

इसके अन्तर्गत मुख्यतः तीन प्रश्नो का यथोचित् उत्तर दिया गया है—

(क) किसी वस्तु का सुन्दर क्यो माना जाता है ?
(ख) किसी वस्तु को देख कर सुख एव दुःख किस प्रकार उत्पन्न होते है।
(ग) सौन्दर्य की तात्विक व्याख्या क्या है ?

### (ब) व्यावहारिक सौन्दर्य :—

इस विभाग का मुख्य विषय कला का विवेचन है। सौन्दर्य किस प्रकार कला मे परिवर्तित होता है ? चित्र एव चित्रणीय पदार्थ का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ?

कलाकार मे कल्पना, प्रकृति एव स्मृति आदि किन-किन गुणो की आवश्यकता है, जिनके द्वारा वह सामान्य वस्तु को कला का रूप प्रदान कर देता है। कला सम्बन्धी इस प्रकार के समस्त प्रश्नो का इस विभाग मे समुचित उत्तर प्राप्त होता है।

### (६) साइकोलॉजी—(मनोविज्ञान) :—

मनोविज्ञान के अन्तर्गत मन की विभिन्न प्रवृत्तियो का शास्त्रीय विवेचन प्राप्त होता है। मनोविज्ञान आज विश्व भर मे ख्यातिप्राप्त एव जनप्रिय विषय बन गया है। इसकी अत्यधिक उन्नति को देखकर अधिकाश आलोचक इसे विज्ञान के पक्ष मे निक्षिप्त करते है। वर्तमान युग मे विविध प्रयागो द्वारा प्रयोगशालाओ मे मानसिक अवस्थाओ का शास्त्रीय एव यथार्थ विवेचन किया जाता है। अपने मौलिक अन्वेषणो के बल पर डा० फ्रायड्स ने मनोविज्ञान की एक नूतन शाखा साइको-एनेलिसिस (मानसिक विश्लेषण) का प्रवर्तन किया है। इसके प्रवेश से दार्शनिक क्षेत्र के बाहर भी महत्वपूर्ण क्रान्ति उत्पन्न हो गई है।

## भारतीय दर्शनों की कुछ विशेषताएँ :—

### (१) स्वतन्त्र सत्ता--

भारतीय मस्तिष्क मे भगवतत्व की प्रकृति, जीवतत्व का तिरोभाव तथा आत्मा और विश्वात्मा का सम्बन्ध आदि प्रश्न सदैव से उद्‌घोषित होते रहे है। दर्शनपरक रुचि का स्फुरण भारतीय प्रकृति की देन है। अन्य देशो मे नित्यप्रति के जीवन की जटिल समस्याओ से अवकाश पाना ही दुष्कर है। अतः पाश्चात्य विचारक उन्हीके निराकरण मे व्यस्त है। जगत् के महत्वपूर्ण तत्वो का अन्वेषण पाश्चात्यो के जीवन के आकस्मिक उन्मेप है। पाश्चात्य देशो मे दर्शनशास्त्र कोई स्वतन्त्र विषय नही रहा है। ग्रीस मे विचारशास्त्र के उत्कर्पकाल—प्लेटो और अरिस्टोटल के युग—मे भी दर्शन का अध्ययन, आचारशास्त्र अथवा राजनीति के सहायक विपय के रूप मे ही किया जाता था। मध्ययुग मे इसका अध्ययन क्रिश्चियन धर्म के साथ हुआ तथा उन्नीसवी शताब्दी मे दार्शनिक तत्वान्वेषण इतिहास, राजनीति एवं समाजशास्त्र के साथ किया गया। यद्यपि भारत मे भी दर्शन धर्म से सम्बद्ध है, फिर भी दर्शन-परक विचार धर्म से स्वतन्त्र एव जीवन का महत्वपूर्ण विषय रहा है। साथ ही अन्यान्य विद्याओ की प्रगति मे वह सहायक रहा है। वह स्वय किसी विद्या का अग कभी नही बना।

## (२) दर्शन एव धर्म का गाढ सम्बन्ध एव उदारता :—

भारतीय दर्शन एव धर्म एक-दूसरे के पूरक है। दर्शन द्वारा पूर्व निर्दिष्ट आध्यात्मिक तथ्यो की नीव पर ही भारतीय धर्म का सुदृढ दुर्ग प्रतिष्ठित है। अन्य देशो मे दर्शन तथा धर्म मे सामजस्य का प्रायः अभाव ही दृष्टिगत होता है, किन्तु भारत मे विचार-शास्त्र एव धर्म, तत्वज्ञान तथा दैनिक जीवन परस्पर दृढता से सम्बद्ध है। पाश्चात्यो की भॉति यहॉ आश्चर्यमयी आकस्मिक घटनाओ से दार्शनिक प्रवृत्ति का उद्भव नही होता, वरन् व्यावहारिक जीवन मे भोग्य दुःखत्रय के निवारण की प्रेरणा से दार्शनिक रुचि का स्फुरण होता है। भारतीय दर्शन आत्मिक उन्नति का साधन है और जीवन का ही एक सोपान है। पाश्चात्यो की भॉति केवल विचार-विज्ञ विद्वजनो के मनो-विनोद का साधन नही। सिद्धान्त और अभ्यास मे समन्वय होने के कारण, ऐसा दर्शन जो कि व्यापक रूप मे जीवन की कसौटी पर पूरा न उतर सके, उसके लिए यहा कोई स्थान नही है।

भारतीय धर्म भी कोई रूढ वस्तु नही, अपितु तर्क-सगत सिद्धान्तो का समन्वय है, जो दर्शन की प्रगति के साथ नवीन धारणाओ को ग्रहण करता चलता है और विचारो की प्रगति के साथ पदनिक्षेप करने की चेष्टा करता है। सुप्रचलित आलोचना कि बुद्धि पर बल देने के कारण भारतीय दर्शन धर्म का स्थान ग्रहण कर लेते है—भारतीय धर्म की तार्किकता को स्पष्ट कर देती है। कोई भी धार्मिक आन्दोलन दार्शनिक आधारशिला के बिना यहॉ प्रादुर्भूत नही हुआ। मिस्टर हैवेल का कथन है—"भारत मे धर्म रूढ वस्तु कहा ही नही जा सकता। वह मानव-आचारो का एक व्यावहारिक समन्वय है, जो कि आत्मपरक विकास की विभिन्न श्रेणियो के अनुरूप विभिन्न श्रेणियो मे ढला है और जीवन के प्रत्येक पहलू को समेटता है।"[1] इन सब बातो से भारतीय दर्शन एव धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता, व्यावहारिकता, उदारता एव व्यापकता ही प्रकट होती है।

## (३) विवेचनात्मकता :—

भारतीय दर्शनो की प्रवृति उदार, व्यापक एव व्यावहारिक होने के साथ साथ सदैव विवेचनात्मक रही है। धार्मिक परम्पराऍ दर्शन की प्रगति मे कभी भी अवरोधक

---

१ इडियन फिलॉसफी—( राधाकृष्णन् )
पृष्ठ २६—वाल्यूम १।

नही बनी। जब भी इसने किसी सम्प्रदाय-विशेष के रूप मे बद्ध होने की चेष्टा की तभी आत्मिक पुनरुत्थान के रूप मे दार्शनिक प्रतिक्रियाएँ हुई, जिन्होने धारणाओ और मान्यताओ को आलोचना की कसौटी पर ला रखा, जिसमे सत्य का कांचन ही अवशिष्ट रहा और व्यर्थ की कालिख भस्म हो गई।

यूरोप मे मध्ययुगीन ईसाई धर्म के प्रवाह ने दर्शन को निष्प्राण कर दिया। उसके तर्क विरुद्ध, अनैसर्गिक सिद्धान्तो के पुष्टीकरण की प्रवृत्ति ने यूरोपीय तत्वज्ञान की प्रगति को अवरुद्ध कर दिया। भारतीय तत्वज्ञान की रुझान सदैव से समीक्षात्मक रही है। ईश्वर जैसे महान् विषय को भी भारतीय दर्शनो ने स्वतन्त्रता पूर्वक तार्किक कसौटी पर परखने मे सकोच नही किया। तर्कों द्वारा सिद्ध न कर पाने से ईश्वर के विषय मे सांख्य ने मौन धारण ही उचित समझा।[1] योग क्लेश-कर्मादि से अस्पृष्ट पुरुष-विशेष के रूप मे ईश्वर की सत्ता मान कर भी, उसे नैयायिको की भाँति, विश्व का नित्य कर्त्ता स्वीकार नही करता।[2] कर्मवादी मीमांसक मत मे ईश्वर के निरूपण का अवसर न रहने[3] से उसमे तद्विषयक ज्ञान का भार वेदान्त पर डाल

---

१. ईश्वरासिद्धे (सा० सू० १/९२)।

टिप्पणी—इस सूत्र से यह नही समझना चाहिए कि सांख्य ईश्वर की सत्ता ही अस्वीकार करता है। लौकिक प्रत्यक्ष से अज्ञेय होने के कारण ही यह सूत्र प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रसग मे साख्य-सूत्रो मे उक्त हुआ है। विज्ञानभिक्षुकृत 'साख्य प्रवचन-भाष्य' (१/९७ तथा ३/५७ की व्याख्या) से भी यही सिद्ध होता है कि वह (साख्य) अनीश्वरवादी नही है। ईश्वर योगी द्वारा ही साक्षात्कारणीय है। अत योगीजनो—द्वारा ही साक्षात्कारणीय होने से, लौकिक प्रत्यक्ष से ईश्वर सिद्ध नही होता। इसी दृष्टि से ईश्वर के विषय मे साख्य मौन है।

२ 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर' (यो० सू० १/२४)।

३. जगत्कर्त्ता अथवा वेदो के रचयिता (न्याय सम्मत) के रूप मे ईश्वर का मीमासा मे खंडन किया गया है। जगत् की मूल सृष्टि और प्रलय वे स्वीकार नही करते। मीमासक मत मे जगत् सत्य है—'तस्माद्यद्गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा। तत्तथैवाभ्युपेतव्य सामान्यमथ वेतरम् ॥' (श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ४०४)

वेदो को मीमासक नित्य एव अपौरुषेय मानते है। शुभ-अशुभ कर्म जन्य अपूर्व से पुण्य-पाप का फल स्वत मिल जाता है। अत उसके लिए भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। कर्म-काण्ड ही मीमासा का मुख्य विषय है अत ईश्वर—निरूपण का अवकाश इसमे नही है। इसीलिए ईश्वर की सिद्धि नही की गई है। पर इससे उसे ईश्वर मे अविश्वासी नही माना जा सकता। कुमारिल ने स्पष्ट ही कहा है—

दिया गया है।[1] हीन मतानुयायी बौद्ध तथा जैन सम्पदाय ईश्वर मे किंचित्मात्र भी आस्था नही रखते। प्रत्यक्षवादी चार्वाक डके की चोट पर ईश्वरीय सत्ता को निराकृत करके, वैदिक क्रिया-कलापो को, तर्कहीन, अनैसर्गिक कह कर स्पष्ट शब्दो मे हँसी उडाते है।

इतने पर भी भारतीय दार्शनीक इतिहास मे, नास्तिक चार्वाक मत उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना वेदानुयायी नैयायिको का। ईश्वरीय सत्ता मे मौनधारी सांख्यमत उतना ही श्रद्धास्पद है, जितना ब्रह्मवादी वेदान्त। भारतीय तत्वज्ञान प्रत्येक मतावलम्बी का आलिगन करता है और प्रत्येक प्रणाली की विशद एव युक्ति पूर्वक विवेचना करता है। अन्य देशीय दर्शनो मे ऐसा उदार, व्यापक और मनोरम विवेचन अलभ्य है।

**व्यापकता :—**

सत्यानुसन्धान के प्रति श्रद्धालु दृष्टि भी भारतीय दर्शनो की अपनी विशेषता है, जो उसकी व्यापकता की परिचायिका है। भारतीय विचारको के दृष्टिकोण कितने ही भिन्न क्यो न हो, वे परपक्षी के मत के प्रति श्रद्धाभाव रखते है तथा उनके बेमेल सिद्धान्तो का समुचित समाधान किये बिना स्वाभिमत मत का प्रतिपादन नही करते। प्रत्येक दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थो मे अन्यान्य मतो का पूर्वपक्ष के रूप मे उल्लेख किया जाता है। पुनः युक्तिपूर्वक परमत का निरसन एव स्वमत-स्थापन किया जाता है। अन्यान्य सम्प्रदायो के समान एव उत्कृष्ट सिद्धान्तो के प्रामाण्यरूप से भी यदा-कदा उद्धरण मिलते है। किसी भी भारतीय दर्शन मे तदतिरिक्त भारतीय दर्शनो के ही नही, अपितु पाश्चात्य विवेचको द्वारा विवेचित सिद्धान्तो की भी आदरपूर्वक समीक्षा की गई है। इस प्रकार समस्त भूतल की विचारधाराओ का उररीकरण भारतीय दर्शनो की उदार, व्यापक एव सर्वाङ्गीण दृष्टि का परिचायक है।

इनके अतिरिक्त भारतीय दर्शनो की व्यावहारिकता, उनकी लोकप्रियता, मनोवैज्ञानिकता, अविच्छिन्नता आदि अनेक विशेषताएँ है, जिनका यत्किंचित् निरूपण पहले भी किया जा चुका है, विशेष विवरण आगे दिया जाएगा।

---

१. 'इत्याहनास्तिक्य निराकरिष्णुरात्मास्तितता भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोध प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥'
(श्लोकवार्तिक—आत्मवाद, १४८)।

भारतीयो की भॉति पाश्चात्यो ने भी तत्वान्वेषण बडी लगन एव अध्यवसाय-पूर्वक किया है। प्राचीनकाल से सत्यानुसधान की विशेष प्रवृत्ति भारत एव यूनान दो ही देशो मे हुई। इन दोनो ही देशो ने, इस क्षेत्र मे महत्वपूर्ण खोजे की। पाश्चात्य देशो मे, दर्शन का प्रथम उद्गमस्थल होने से, ग्रीस या यूनान गुरु स्थानीय माना जाता है। भारतीय एव अन्य-देशीय दर्शनो मे उद्देश्य का पार्थक्य पहले प्रदर्शित किया जा चुका है, फिर दोनो तत्वान्वेषी सत्य की ही खोज मे निरत है। अतः उनमे अनेक साम्य भी है। आत्मा, जीव, जगत्, सृष्टि का कारण, वस्तु-तत्व की समीक्षा, प्रमाणमीमांसा, वास्तविक-कल्याण की प्राप्ति, मानवजीवन का लक्ष्य, मनोविज्ञान, कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का निर्णय इत्यादि दोनो ही दर्शनो के सामान्य विवेच्य विषय है, यद्यपि उनकी विवेचना-प्रणालियॉ एव विचारसरणि भिन्न-भिन्न है।[1] अनेक वैषम्य होने पर भी पाश्चात्य तत्वज्ञो के निष्कर्ष भारतीयो के लिये भी महत्वपूर्ण एव प्रभावोत्पादक है, जो अपने वैशिष्ट्य व मूल्य रखते है।

भारतीय दर्शनो का स्रोत जब से फूटा है तब से अब तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रहा है। उसकी गति मे अवरोध कभी अनुभूत नही हुआ। अन्य देशो मे दार्शनिक प्रवाह अनेकधा रुद्धप्राय हो गया। अन्यदेशीय दर्शनो से भारतीय दर्शनो की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीनकालिक है। वैदिककाल से वर्तमानयुग तक भारतीय दर्शनो ने अविरल प्रगति की है। पाश्चात्य दर्शनो की उत्पत्ति वि० पू० सप्तम शतक के लगभग मानी जाती है।[2] किन्तु उसकी धारा बहते-बहते रुक गई। पुनः किसी युग-विशेष मे किसी दार्शनिक का जन्म होने पर उसके प्रभाव मे तत्वज्ञान ने फिर कुछ श्वास भर कर शीश उन्नत किया, जब तक उसका प्रभाव रहा, तभी तक पाश्चात्य-दर्शन भी पनपा और उसका प्रभाव नष्ट होते ही वह पुनः अवरुद्ध हो गया। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शनो की गति बारम्बार विच्छिन्न होती रही है, किन्तु भारतीय दर्शनो ने अविच्छिन्न प्रगति की है। साथ ही अन्य देशीय दर्शनो से स्वयं अप्रभावित रह कर उन पर व्यापक प्रभाव डाला।

यूनान के प्रमुख विचारक पाइथेगोरस के धर्म, दर्शन एव दार्शनिक सिद्धान्तो पर भारतीय दर्शनो का प्रभाव सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है। सूफियो पर तन्त्र एवं

---

१. S. N Das गुप्त कृत "दि स्टडी आफ पतञ्जलि" के प्रारम्भिक पृष्ठो मे पातञ्जलदर्शन-गत कुछ मान्यताओ तथा अरिस्टोटल, स्पिनोजा और हीगेल के विचारो की तुलना प्रस्तुत की गई है।

२. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय—पृष्ठ १४।

वेदान्त की विशिष्ट छाप पडी। उपनिषदो का अनुवाद करके—दाराशिकोह ने उनका अपने धर्म मे प्रचार किया। फारसी से यह अनुवाद लैटिन मे किया गया। इस प्रकार यूरोप आदि मे भारतीय दर्शन प्रसूत हुए। इस अनुवाद को पढ कर सुविख्यात दार्शनिक शोपेनहावर मुग्ध होकर कह उठे कि 'उपनिषद् मेरे जीवन एव मृत्यु के सतोषप्रदाता है।'[१] आधुनिक युग मे भारतीय दर्शनो के महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रायः विश्व की सभी भाषाओ मे अनूदित हो चुके है—जो भारतीय दर्शनो के महत्व, उत्कर्ष एव व्यापकता के परिचायक है।

अनेक सघर्षों के मध्य भी भारतीय सस्कृति ने सर्वदा अपना शीश उन्नत बनाए रखा। प्रोफेसर गिलबर्ट मरे के शब्दो का भाव प्रस्तुत करते हुए—'प्राचीन भारत को कितने ही भयानक तथा निम्नतम स्तरो से सघर्ष करने का दुःखान्त श्रेय प्राप्त हुआ हो, फिर भी वह उच्चतम शिखर पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा रहा।'[२]

भारतीय दर्शनो का इतिहास मानव मस्तिष्क के चिर सनातन एव चिरनवीन अन्वेषणो का अपूर्व दिग्दर्शन है।

## (१) (ब) भारतीय दर्शनो की व्यावहारिकता एवं लोकप्रियता—

प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन मे अनुभूत दुःखत्रय के निवारणार्थ तत्व-ज्ञान की जिज्ञासा ही भारतीय दर्शनो का मूल है। इस तथ्य का ज्ञान ही भारतीय दर्शनों की व्यावहारिकता का पर्याप्त परिचायक है। यहॉ दर्शन कोई रूढ वस्तु नही है, अपितु तर्क सगत सिद्धान्तो का अपूर्व समन्वय है यहॉ तक कि जीवन मे न उतारे जाने योग्य, केवल शुष्क ज्ञान पर आश्रित, साख्य-दर्शन द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक सिद्धान्त-एक उत्साहवर्द्धक दृष्टान्त के रूप मे समक्ष आना है और मानव हृदय को आप्लावित करके उसे क्रियाशील बनाता है।

रूढिवादी परम्पराएँ जन-जीवन को हतोत्साह, प्रेरणाशून्य एव बोझिल बना देती हैं। किन्तु भारतीय दर्शनो मे ऐसे रूढिवाद के लिये कोई स्थान नही है। इसीलिये डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है—'भारत के इतिहास मे हम बारम्बार देखते है कि जब परम्परागत मान्यताएँ अल्प रह कर कालान्तर मे झूठी सिद्ध हो जाती हैं और समाज उन्हे वहन नही करता, तो किसी नवीन दिग्दर्शक की प्रतिभा लेकर कोई बुद्ध या महावीर, व्यास या शकर प्रादुर्भूत होते है—जो आध्यात्मिक जीवन की

---

१. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय—पृष्ठ १५।

२. इण्डियन फिलॉसफी—(राधाकृष्णन्) वाल्यूम १—पृष्ठ ८।

गहराइयो को पुनरुद्घाटित करते है। भारतीय दर्शन के इतिहास मे निश्चित रूप से ये ही बहुमूल्य क्षण होते है, जिन पर दर्शन की अग्नि-परीक्षा होती है।'[1] जब आत्मा की पुकार पर पता नही कहाँ से शखनाद हो उठता है और सामान्य जन-जीवन के लिये नया स्रोत प्रस्फुटित होकर, नवीन दिशा की ओर चल पडता है। यही दर्शन के सत्य एव व्यावहारिक जीवन का समन्वय है। व्यावहारिक क्षेत्र मे दर्शन की उपयोगिता से ही उसकी वास्तविकता एव सजीवता सिद्ध होती है। भारतीय दर्शन कतिपय मान्य शास्त्रज्ञो के विचार का विषय नही, अपितु जन-साधारण के जीवन मे अनुस्यूत रस है।

व्यावहारिक जीवन के क्षेत्र मे योग-दर्शन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अतः भारतीय दर्शनो की व्यावहारिकता का विशेष विवरण इसी शीर्षक के (स) विभाग मे योग के प्रकरण मे द्रष्टव्य है। दनिक जीवन मे दर्शन की उपयोगिता ही उसकी लोकप्रियता का प्रमुख रहस्य है। वैसे भारतीय दर्शनो का विचार-स्वातन्त्र्य, उसकी उदारता, व्यापकता, विवेचनात्मकता, तार्किकता, मर्मस्पर्शिता, धर्म एव जन-जीवन से अविच्छिन्नता सभी कुछ उसकी लोकप्रियता के कारण है, जिनका पिछले विभाग (अ) मे वर्णन हो चुका है।

## (१) (स) योगदर्शन को उदारता, व्यापकता एव विवेचनात्मकता

योग सम्पूर्ण सम्प्रदायो एव मत-मतान्तरो के पक्षपात से शून्य सार्वभौम धर्म है, जो स्वय अनुभव द्वारा तत्वसाक्षात्कार करना 'सिखा कर'[2] मनुष्य को अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता है। योग भारतीय दर्शनो की सर्वाधिक प्राचीन एव अधिकतम समीचीन सम्पत्ति है। इसकी महत्ता के विषय मे कोई भी विप्रत्तिपत्ति अथवा विवाद नही है। यह सर्वसम्मत एव अविसवादि मन्तव्य है कि योग ही मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है। मनुष्यमात्र जिन उद्देश्यो को समक्ष रख कर अग्रसर होता है, उन धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय मे—मोक्ष ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। ईश्वर की प्राप्ति हेतु विभिन्न दर्शनो ने अपनी प्रखर ज्ञान-रश्मियो के द्वारा हमारे मोक्ष-मार्ग को स्वच्छ कर दिया है, किन्तु औषध के नामोच्चारण मात्र से रोगी

---

१. 'इडियन फिलॉसफी'—राधाकृष्णन्—
प्रथम खण्ड—पृष्ठ २६।

२ 'पातञ्जल-योगसूत्र' मे किसी भी मत-मतान्तर का उल्लेख एव खडन नही किया गया है, किन्तु बाद के आचार्यो ने स्पष्टनामोल्लेखपूर्वक परमत खडन किया है।

रोगमुक्त नही हो जाता। उसके हेतु व्यावहारिक उपचार करना अनिवार्य है। इसी प्रकार केवल क्रियाहीन ज्ञान हमारे लक्ष्य की प्राप्ति मे कथमपि समर्थ नही हो सकती। काल्पनिक तत्वज्ञान का व्यावहारिक जीवन मे उपयोग करने का विधान पतजलि के योगसूत्रो मे किया गया है। प्रत्येक भारतीय दर्शन, जो कदाचित् योग के प्रधान आदि पदार्थो से असहमत है, उनका भी योगोपदिष्ट प्रक्रियाएँ पूर्ण मान्य है। समस्त भारतीय दर्शन एक ही परमात्म-तत्व का विविध दृष्टियो से विवेचन करते है।

जब तक विषयोन्मुख इन्द्रियो को, विषयो से विरत करके, अन्तर्मुखी न बनाया जाय, तब तक सच्चे कल्याण की उपलब्धि नही हो सकती। सत्य मार्ग पर चलने के लिये आत्मसयम एव चित्तशुद्धि परमावश्यक है। इनके हेतु योगदर्शन मे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एव समाधि, इन अष्टागो का विधान है। इनके समुचित अनुष्ठान से शरीर, चित्त एव इन्द्रियाँ शीघ्र ही निर्मल होकर तत्व-साक्षात्कार हो जाता है।

योगाभ्यास के बिना असमाहित मन रहने पर केवल 'तत्वमसि' एव 'जीवो ब्रह्मैवनापरः' इत्यादि महावाक्यो के पठन-पाठन से, अपरोक्ष आत्मज्ञान असम्भव है। अतः चित्त को एकाग्र करने तथा तत्वासाक्षात्कार-हेतु योग-साधना अत्यन्त आवश्यक है।

प्राचीन ऋषियो की अपूर्व अन्तर्दृष्टि एव प्रातिभ ज्ञान का मूल योगाभ्यास ही है। ससारानल-सतप्त जीवो को परमात्मा से मिलाने मे योग, भक्ति एव ज्ञान का, सहायक है। इसीलिये, क्या धर्म-प्रचारक, क्या दार्शनिक, सभी एक स्वर से योग की महत्ता एव उपयोगिता स्वीकार करते है।

योगदर्शन की महत्ता एव योगनिर्दिष्ट प्रक्रियाओ का वर्णन श्रुति, स्मृति, पुराणादि धार्मिक ग्रन्थो मे पर्याप्त रूप से उपलब्ध होता है। वैदिककाल भारतीय सस्कृति का प्राचीनतम समय माना जाता है। सहिताओ एव उपनिषदो आदि मे योग का विशद वर्णन देखने से उसकी अत्यन्त प्राचीन काल से ही व्यापकता प्रकट होती है। ऋग्वेदीय सहिताओ मे योगाभ्यास-सूचक मन्त्र-बहुलता से उपलब्ध होते है और उसी प्रकार अथर्ववेद मे भी।[1] ब्राह्मण एव आरण्यको मे भी योग-सम्बद्ध वर्णनो की कमी

---

१. ऋग्वेद्—१०/११४/४, १/५०/१०, ३/५२/१०, १०/१७७/१ ।
अथर्ववेद—१०/२/३१-३२, १०/८/४३ इत्यादि ।

नही है।[१] 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' प्राचीन योग-विद्या का ग्रंथ है। इन साहित्यिक साक्ष्यो के अतिरिक्त पुरातत्व-विद्या से भी योग-विद्या की प्राचीनता सिद्ध होती है। मोहनजोदडो की खुदाई मे योगमुद्रावस्थित मूर्तियो की उपलब्धि से भी उसकी प्राचीनता द्योतित होती है।[२] 'महाभारत' 'भागवत', 'विष्णु पुराण', 'याज्ञवल्क्य-स्मृति', 'योगवासिष्ठ' आदि मे योग का विस्तृत विवरण मिलता है। शिक्षा-ग्रथो मे भी योगमूलक विषय वर्णित है।[३] शब्द विद्यामर्मज्ञो का योगवेत्तृत्व प्रसिद्ध है। वैयाकरण शब्द-ब्रह्मोपासक होते है। अतः उनका योगी होना निःसन्दिग्ध है। समस्त योगसाधन एकमात्र अपौरुषेय वेदो पर ही आधारित है। शैवागम के अन्तर्गत तथा व्याकरण, आगमो मे भी वाग्योग अथवा शब्दयोग नामक योग प्रणाली का उल्लेख मिलता है। भर्तृहरि की 'वाक्यपदीय' की व्याख्या के अनुशीलनकर्त्ता वाग्योग से परिचित थे। व्याकृत शब्द की वैखरी दशा से मध्यमा पार कर के पश्यन्ती दशा मे आना इस योग का मुख्य उद्देश्य है।[४] निरुक्त मे यौगिक विषय स्पष्टत. स्वीकार किये गये है।[५]

बौद्ध-ग्रन्थो मे योग का विशद वर्णन मिलता है। बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धान्त 'धर्म-चक्र प्रवर्तनसूत्र' मे है जिनमे अष्टांगयोग (आर्य अट्ठगिक मार्ग भी है)[६]

---

१. ऐतरेय आरण्यक—२/१७, ३/१, ३/४, ३/६, ३/१, १/३/२, २/३/४। तैत्तिरीय आरण्यक—२/२, २/७, २/६। शतपथ ब्राह्मण—१/४/४/७, १४/३/२/३। तैत्तिरीय ब्राह्मण—३/१०/८/६, १/२/६।

टिप्पणी—सहितादि मे योग विषयक वर्णनो का विशेष विवरण श्री राम शकर भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित 'पातञ्जल-योग-दर्शन' की भूमिका मे है।

२ द्रष्टव्य—भा० स० इति०—सत्यकेतु विद्यालकार—पृ० ६६।

३ नारदीय शिक्षा—१२।

४. इदमाद्य पदस्थान सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इय सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धति ॥ (वाक्यपदीय १/१७)
अपि च—
'तस्माद्य शब्दसंस्कार सा सिद्धिः परमात्मन।
तस्यप्रवृत्तितत्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ॥' (वाक्य प० १/१३२)

५. निरुक्त अध्या० १३-१४।

६. द्रष्टव्य—हिन्दू० स० (पृ० २३८) तथा 'पातञ्जल-योग-प्रदीप' (पृ० ३५३-३६३)

प्राचीन बौद्धग्रन्थो मे 'पातजलयोगसूत्र' का शब्दशः अनुकरण लक्षित होता है।[1] बुद्ध ने योगनिर्दिष्ट आसन, प्राणायामादि पूर्वक समाधि-साधना की थी, जिनमे समाधि को उन्होंने मोक्षोपयोगी सर्वोत्कृष्ट साधन माना है। काम, क्रोध, भय, निद्रा एव श्वास आदि का निरोध करके ध्यानावस्थित होना साख्ययोग का साधन है और यही भगवान् बुद्ध ने भी किया था। बुद्ध की मार-विजय प्रसिद्ध है, जिसका अर्थ काम, क्रोध एव भय पर विजय ही है। जैन दर्शन-गत योग के भी पाँच यम ही मुख्य साधन है, जिनको अनुव्रत कहते है। महावीर स्वय प्रसिद्ध योगी थे और उनके जैन-दशन मे योग का विशिष्ट वर्णन है। जैन-ग्रन्थो मे भी योगसूत्रो से अनेक स्थलो पर शब्दशः साम्य है। हरिभद्रसूरिकृत 'योग-बिन्दु' तथा यशोविजयकृत 'अध्यात्मसार' मे तो पातजल-योग का स्पष्ट उल्लेख है।[2] जैन ग्रन्थो मे सम्यक्-चारित्र्य-' हेतु यम-नियम एव ध्यान को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। पातजल योगोक्त अहिसा के महाव्रत से जैन सम्मत अहिसा का स्वरूप बहुत मिलता है।[3] जब वेद-बाह्य बौद्ध, जैन सदृश अनार्ष दर्शनो मे ही योग का इतना महत्वपूर्ण स्थान है, तब भारतीय आर्ष[4] दर्शनो मे योग सर्वत्र व्याप्त है—इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

भारतीय आर्ष दर्शनो मे से न्यायमत मे षोडष-पदार्थों द्वारा सम्पूर्ण बाह्यान्तर यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही तत्वज्ञान है। वैशेषिब दर्शन के अनुसार छः पदार्थों-द्वारा तत्व-निर्धारण होता है। इन दोनो ही दर्शनो मे आत्मा एव परमात्मा के अस्तित्व, प्रमाण एव लक्षण-सिद्धि के अनन्तर न केवल आत्म-प्रत्यक्ष हेतु, अपितु अतीन्द्रिय जड पदार्थो के भी स्वरूपसाक्षात्कार हेतु, योग की अपेक्षा स्वीकार की गई है, जिसकी साधना के हेतु इन दोनो ही दर्शनो मे अनेक प्रमाण मिलते है। यथा—

'समाधिविशेषाभ्यासात्'[5] अर्थात् समाधि विशेष के अभ्यास से (तत्वज्ञान होता

---

१. द्रष्टव्य—भू० पा० यो० द०—पृ० ४२ (स० रा० श० भ०)।

२. द्रष्टव्य—श्री राम शकर भट्टाचार्य कृत— 'पातञ्जल-योग-दर्शन' की भूमिका मे 'बोद्ध एव जैन ग्रन्थो मे पातञ्जल योग-प्रसग।'

३. कल्पसूत्र—४४-४५।

४. न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा एव वेदान्त ये षड्-दर्शन आर्ष कहलाते हैं।

५. न्याय० ४/२/४२।

है )। 'अरण्यगुहापुलिनादिषु योगभ्यासोपदेशः'[१] 'तदभावश्चापसग।' 'तदर्थयम नियमाभ्यामात्मसस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः'[२] अर्थात् उस मोक्ष के हेतु यम, नियम, अभ्यासादि उपायो द्वारा आत्मसस्कार करना चाहिये, अर्थात् योग के अवरोधक मल, विक्षेपादि आवरणो को नष्ट करना चाहिये, इत्यादि न्याय के वाक्यो मे, तथा वैशेषिक के—

**'आत्मन्यात्ममनसो सयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम्'**

आत्मा मे आत्मा के सयोग-विशेष से आत्मा का साक्षात्कार होता है। यहाँ पर सयोग-विशेष का अर्थ योग समाधि-द्वारा आत्मा और मन का सयोग-प्रत्यक्ष है।

इसी प्रकार 'तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम्' अर्थात् इसी रीति से अन्य ( सूक्ष्म, अतीन्द्रिय ) द्रव्यो का प्रत्यक्ष होता है'

तथा—

**'असमाहितान्तः करणाः उपसहृतसमाधयस्तेषां च'[३]**

अर्थात् मुक्त योगियो को, जो समाधि पूर्ण कर चुके है, उन्हे ( अतीन्द्रिय द्रव्यो का ) समाधि के बिना भी साक्षात्कार होता है, इत्यादि वैशेषिक-सूत्रो मे योग की शिक्षा दी गई है।

वेदान्त दर्शन मे ज्ञान के आन्तरिक साधन के रूप मे योग-सम्मत यम-नियमादि का विधान है। यद्यपि उनके लक्षणो मे कुछ भिन्नता दृष्टिगत होती है।[४] मीमासा दर्शन वेदान्त का ही कर्मकाण्ड है। वेदान्त उसका ज्ञानकाण्ड। इसीलिये मीमासा को पूर्व-मीमासा तथा वेदान्त को उत्तर-मीमासा कहते है। मीमासादर्शन मे कर्म-काण्ड का विशद वर्णन है। अतः उसमे योग के विवरण का अवसर नही है, इसी दृष्टि से योग विषयक चर्चा स्पष्टतः नही की गई है। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि मीमासको को योग की महत्ता अस्वीकार्य है। अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादि बाह्ययज्ञो का अन्तर्योग से भी सम्बन्ध है, जो गुरु-परम्परा से ही ज्ञेय

---

१ न्याय० ४/२/४५।

२ " ४/२/४६।

३ वैशे० ९/१/१२, ९/१/१३, ९/१/१४।

४ द्र०—'आसीन सम्भवात्' 'ध्यानाच्च' इत्यादि ब्रह्मसूत्र (४/१/७-११)

है। पूर्वमीमासा के सूत्रकार जैमिनि महान् योगी थे। वेदान्त के ब्रह्मसूत्र मे जैमिनि का मत उद्धृत हुआ है,[1] उससे यह निश्चित हो जाता है कि वे भी ब्रह्मविद्या के ज्ञाता थे। अतः मीमासक मत-योग-विरोधी कथमपि नही हो सकता। वस्तुतः पूर्व-मीमासा एव उत्तर-मीमासा के आत्मज्ञान सम्बन्धी तथ्यो मे विशेष भिन्नता नही है।

'शास्त्र-दीपिका' के अनुसार मीमांसक मत मे मोक्ष की परिभाषा है—'प्रपचसम्बन्ध विलयामोक्षः' पुनः 'त्रेधा हि प्रपचः। पुरुष बध्नाति तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयोमोक्ष.' अर्थात् इस जग के साथ आत्मा के ( शरीर, इन्द्रिय एव विषय रूप ) बन्धनत्रय के सर्वथा अभाव का नाम मोक्ष है। यही साख्य-योग सम्मत सम्प्रज्ञात समाधि का चरम लक्ष्य है।

वस्तुतः साधना चाहे किसी भी ढग से की जाय, जब तक विषय, शरीरादि मे आत्माध्यास निवृत नही होता—मन समाहित नही हो सकता। जब तक मन समाहित नही होता, तब तक शुद्धात्मतत्व का स्फुरण नही हो सकता। शुद्धात्म तब मे प्रतिष्ठा प्राप्त किये बिना दुःखो की आत्यतिक निवृत्ति एव मोक्ष-प्राप्ति नही हो सकती। आत्मोपलब्धि-हेतु मल-विक्षेपादि के निवारणार्थ कुछ उपाय अवश्य अपनाने पडेगे। वे उपाय ही यम है— नियम है। जिस किसी भी प्रकार मन समाहित हो वही अवस्था समाधि है, ( एकाग्रता विशेष ) योग है। यही कारण है कि ईश्वर-प्राप्ति के हेतु जितने भी कर्म गीता मे बतलाए गए है, उन सबको योग नाम से अभिहित किया गया है। इस प्रकार मीमासा और वेदान्त मे भी योग के तत्व व्याप्त है। वास्तव मे साख्ययोग व वेदान्त की मान्यताएँ लगभग एक सी ही है। नाम-भेद के अतिरिक्त उनके तथ्यो मे अल्पभिन्नता ही है।

साख्य और योग तो उदरपृष्ठवत सम्बद्ध है। अतः साख्य मे यौगिक प्रक्रियाओ की स्वीकृति स्वतः सिद्ध है। इनमे तत्वकाण्ड या ज्ञानकाण्ड की सज्ञा साख्य एव उसके व्यवहार पक्ष का अभिधान योग है। साख्य और योग दो अलग नाम होने पर भी—इनकी अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए गीता मे कहा गया है :—

**'साख्ययोगो' पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।**
**एकमप्या स्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥**

---

१. 'परमजैमिनिर्मुख्यत्वात्' (४/३/१२)

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थान तद्योगैरपि गम्यते ।
एक सांख्यं च योगं च यः पश्यति सःपश्यति ॥[१]

'योगवासिष्ठ' मे भी कहा गया है—

'द्वौ क्रमौचित्तनाशाय योगो ज्ञानं च राघव ।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञान सम्यगवेक्षणम् ॥
असाध्यः कस्यचिद्योगो ज्ञान कस्यचिदेव च ।
प्रकारौ द्वौ ततौ साक्षात् जगादपरमः शिवः ॥

अतः सांख्य और योग अभिन्न है साथ ही प्राचीन भी जैसा कि 'महाभारत' मे लिखा है—

सांख्यस्यवक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते ।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ॥[२]

षड्दर्शनो के अतिरिक्त तन्त्रो मे योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है । नाथपथियो के हठयोगादि प्रसिद्ध है । हठयोग राजयोग का ही साधनमात्र है—"केवल राजयोगाय हठयोगोऽपदिश्यते ।"[३] यह अवश्य है कि तान्त्रिक दृष्टि से मुक्ति के स्वरूप मे तथा कैवल्य के स्वरूप मे भेद है । तन्त्र मुक्ति मे शिवशक्ति अथवा विष्णु—शक्ति आदि के नित्य मिलन एव आनन्दरूपता को स्वीकार करते है ।[४] भगवद्गीता जैसा जगत्मान्य एव 'प्रस्थानत्रयी' का विशिष्ट ग्रन्थ योग की भूरि-भूरि प्रशसा करने मे व्यस्त है । गीता ने तो जीवन के हर क्षेत्र मे योग की उपयोगिता बतलाई है । उसमे कर्मयोग, कर्मसन्यास योग, भक्तियोग, सांख्ययोग इत्यादि कोई भी ऐसा अध्याय नही है, जिसके नाम मे योग शब्द का समावेश न हो । यहाँ तक कि अर्जुन के विषाद से सम्बद्ध प्रथम अध्याय का नाम भी 'विषादयोग' रख दिया गया । मन्त्रयोग, लययोग आदि तो प्रसिद्ध ही है । ये सभी पातंजल-योग मे पर्यवसित होते है ।

पाश्चात्य देशो मे भी योग के प्रति तृष्णा दृष्टिगत होती है । धर्म से अतृप्त जन-समुदाय योग का अनुधावन करता है । जैसा कि श्रीमती कोस्टर की—'Yoga

---

१ गीता, अ० ५, श्लोक ४-५ ।

२. ३४६/६५ शान्तिपर्व ।

३ 'हठ्योग प्रदीपिका, श्लोक २' इस विषय मे इसी ग्रन्थ का श्लोक ३/२६ भी द्रष्टव्य है ।

४. 'द्वैततान्त्रिक साधना मे कैवल्य का स्थान' शीर्षक मे श्रीयुत् गोपीनाथ कविराज ने बतलाया है कि वैष्णव तान्त्रिको की दृष्टि मे कैवल्य की स्थिति, पतिपरित्यक्ता पत्नी के तुल्य है । (द्रष्टव्य—भा० स० सा०, प्र० ख०, पृ० १७०) ।

is of practical interest and value to those for whom religion in the ordinary sense of the world has no appeal"— इस उक्ति से सुस्पष्ट है।

जन-साधारण के व्यावहारिक क्षेत्र मे भी योगदर्शन की उपादेयता अतुलनीय है। अन्यान्य दर्शन-सम्मत दुखःत्रय चाहे जन-सामान्य को बोधगम्य भी न हो, किन्तु योगोक्त पंचक्लेशो की व्यापकता सर्वविदित है। अविद्या, अस्मिता, राग द्वेषादि क्लेश एव प्रमाण, विपर्यय, निद्रा आदि वृत्तियाँ हमारे व्यावहारिक जीवन के अभिन्न अग है। योग में इन सबका ग्रहण एवं उनकी समीक्षा, उसकी व्यावहारिकता का ज्वलत उदाहरण है। चित्त एव उसकी वृत्तियो की सुदृढ नीव पर ही योग एव मनोविज्ञान का विशाल दुर्ग प्रतिष्ठित है। किन्तु पाश्चात्य मनोविज्ञान जहाँ समाप्त होता है वहाँ से भारतीय मनोविज्ञान का श्रीगणेश होता है।[1]

योग मे चित्त की एकाग्रता पर सर्वाधिक बल दिया गया है। एकाग्रता मनस्तत्व की समग्र शक्ति का सयम है। इसके लिये दृढ सकल्प शक्ति परमावश्यक है। प्रत्ययैक-तानता=सदृश ज्ञान प्रवाह रूप ध्यान की प्रकृष्टावस्था मे एकाग्रता का उदय होता है। उक्त एकाग्रता पारमार्थिक तत्वज्ञान-हेतु ही नही अपितु सम्यक् भौतिक प्रगति अथवा लौकिक अभ्युदय के क्षेत्र मे भी अपरिहार्य है। फलतः सफल एव समृद्धिमय जीवनयापन हेतु तथा सवेगो के एकीकरण की दृष्टि से योगमनोविज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

चित्त की विभिन्न शक्तियो के भेद से उसकी मन, बुद्धि और अहकार सज्ञाएँ है। पाश्चात्यमनोविज्ञान मे अब तक इस प्रकार का वैज्ञानिक अध्ययन नही हुआ है, परन्तु इन विभिन्न सत्ताओ के प्रति वह आस्थाशील है। पाश्चात्य मनोविज्ञान अर्धचेतन एव अचेतन मन की सत्ता मानता है परन्तु अतिचेतन अथवा ऊर्ध्वचेतन मन की सत्ता मे आस्था नही रखता। एक दो पाश्चात्यो ने ऊर्ध्वचेतन मानसिक विज्ञानके रेखाङ्कन का प्रयत्न किया है, किन्तु वह अत्यन्त अपूर्ण ढग के आध्यात्मिक उपान्त का स्पर्शमात्र करता है। भारतीय मनीषियो ने योगमनोविज्ञान के माध्यम से इस विज्ञान को उन्नतम आध्यामिक स्तर तक पहुचाया है।

योग मे चित्तवृत्तियों के निरोध के उपदेश से कतिपय आधुनिक मनोविज्ञान विदो का कथन है कि इससे स्वाभाविक प्रवृत्तियो का दमन होता है और इस दमन से तीव्र अहकार की उत्पत्ति होने के कारण मन मे उत्तरोत्तर सघर्ष एव तनावपूर्ण स्थिति समुद्भूत होगी। किन्तु आज अनेको आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगो द्वारा भी यह सिद्ध

---

१. द्र० 'योग एण्ड वेस्टर्न साइकोलॉजी'—पृ० ८८।

हो चुका है कि योगाभ्यास से उत्तरोत्तर तीव्र अहकार जैसी अवांच्छनीय वृत्तियों की निवृत्ति, उत्कृष्ट मानवीय शक्तियो का विकास तथा मानसिक सघर्षो का ह्रास होता है। सयमविहीन इन्द्रियस्वच्छन्दता से मनुष्य का व्यक्तित्व अव्यवस्थित होता है। गैस्टाल्ट के अनुसार तो "अतीन्द्रिय सुख की इच्छा मानव की प्रमुख मूलप्रवृत्ति है" और अतीन्द्रिय सुखोपलब्धि इन्द्रिय-सयम के बिना अलभ्य है।

योगदर्शन मे चित्तवृत्तियो के एकीकरण के हेतु विभिन्न उपाय वर्णित है तथा शारीरिक एव मानसिक उभयविध अनुशासन के सिद्धान्त निरूपित है। योग के अत्यन्त प्रारम्भिक साधन यम-नियमो मे ही, न केवल उत्कृष्ट नैतिक प्रशिक्षण की शिक्षा दी गई है, अपितु विक्षुब्ध, सवेगो को किस प्रकार उनके विरुद्ध विधानात्मक एव रचनात्मक प्रवृत्तियो मे परिणत करके शान्ति प्राप्त की जा सकती है इसका भी विधान है। इन यम-नियमो की साधना से स्नायु सस्थान मे अपूर्व शक्ति का सवर्धन होता है। इसी भॉति आसन एव प्राणायाम भी स्नायुपेशीय सस्थान की विश्रान्ति एव मानसिक विक्षोभो के निराकरण के उत्कृष्ट साधन है। आधुनिक मनोविज्ञानविदो ने भी स्नायुसस्थानीय विश्रान्ति की आवश्यकता का अनुभव किया है। पर उनके द्वारा निर्दिष्ट मानसिक विश्रान्ति के उपाय योगोक्त उपायो की भॉति गम्भीर व प्रभावशील नही है। पातञ्जल योग के अन्तिम चार साधनो से तो मनोविज्ञान का अत्यन्त निकट सम्बन्ध है।[1]

पाश्चात्य दर्शनो मे मनोविज्ञान ने आज विश्वव्यापी महत्वपूर्ण क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। किन्तु महर्षि पतजलि के पूर्ण निश्चित, अकाट्य एव नितान्त मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का पाश्चात्य विचारक भी लोहा मानते है—आधुनिक पाश्चात्य विदुषी श्रीमती जी० कोस्टर ने अपने उद्गार प्रकट करते हुए लिखा है कि पूर्व के मनोवैज्ञानिक मानव—मस्तिष्क एव भावनाओ के विषय मे—हमलोगो की तुलना मे कही अधिक विशद एव निश्चत जानकारी देते है तथा उसके विषय मे कार्यकारणात्मक सम्बन्ध की व्याख्या करते है। इस विषय मे जितने भी प्रश्न गिनाये जा सकते है उनमे से किसी के भी विषय मे उनके पास सुस्पष्ट और सम्पूर्ण उत्तर विद्यमान है, जो उन्हे सन्तुष्ट करता है और जिसको वे स्वय ही प्रयोग द्वारा-अनुभव भी कर सकते है। साथ ही जिसका दूसरो ने भी सतत अनुभव किया है। पौर्वात्य मस्तिष्क के लिये यह सब इतना सुलभ और सुपरिचत है कि वे उसे सिद्धान्तरूप मे

---

१. द्र० यौगिक पावर्स एण्ड गॉड रियलाइजेशन पृ० ६४।

वर्णित कर सकते हैं। पतंजलि के सूत्र इन्ही सिद्धान्तो पर आश्रित है। पतजलि के लिए कार्य-कारण-सम्बन्ध से परे भवितव्य नाम की कोई वस्तु नही है। क्योकि इस सिद्धान्त को वे सर्व व्यापी और सूक्ष्म-स्थूल द्विविध क्षेत्रो मे अवश्यम्भावी मानते है। वे पुनः लिखती है कि मानस विवास की व्यावहारिक पद्धति का नाम योग है। चिकित्सानिदानवत् यह व्यावहारिक है। अत्यन्त विज्ञमानस चिकित्सक आज भी जिन तथ्यो का अन्वेषण करते है, योत्रसूत्र मे उनका पूर्व से ही उल्लेख है। जो प्रायोगिक है।[1]

वस्तुत: सांख्ययोग मे उपदिष्ट ज्ञान एव शील के द्वारा अब तक भूतल पर मानव-समाज जितना अविक अलोकित एवं साधुशील हुआ है, उतना अन्य किसी भी धर्म या दर्शन से नही। सांख्य-निर्दिष्ट सत्व, रज एव तम से ही भारत मे वैद्यक शास्त्र का उद्भव हुआ, जैसा कि महाभारत की निम्नलिखित उक्तियो से स्पष्ट है—

'शीतोष्णे चैववायुश्च गुणाराजन् शरीरजाः।
तेषा 'गुणाना' साम्य चेत्तदारुः स्वस्थलक्षणम्॥
उष्णेन बाध्यते शीत शीतेनोष्ण च बाध्यते।
सत्व रजस्तमश्चेति त्रयमात्मगुणाः स्मृताः'॥

सत्व, रज एव तम से शरीर के बात, पित्त और श्लेष्मा (कफ) का आविष्कार हुआ। इस प्रकार वैद्यक विद्या का प्रवर्त्तन एवं उसका प्राच्य से पाश्चात्य देशो मे प्रचार हुआ।

'नाभिचक्रे कायव्यूह ज्ञानम्' विभूतिपाद के इस सूत्र मे शरीरविज्ञान के तत्व निहित है।'[2] 'व्यासभाष्य' मे इसकी विवृति करते हुए शरीर विन्यास-क्रम वर्णित हुआ है। योयशास्त्र मे षड्चक्रवर्णन पाया जाता है। स्थूल दृष्टि से भी उनका उपयोग करने पर शारीरिक स्वास्थ्य एव नीरोगता प्राप्त होती है, यह अयोगियों का भी अनुभूत सत्य है। योग के अङ्गभूत आसन, मुद्रा आदि सभी शारीरिक बलवर्द्धक एव स्थिरता के उत्पादक है। इनका विवरण भी शरीरविन्यासक्रम के ज्ञान से ही सम्बद्ध है।

---

१ द्र० योग एण्ड वेस्टर्न साइकोलाजी पृ० २४५—२४६।

२ इस विषय मे ब्रजेन्द्रनाथ कृत 'दि पॉजिटिव साइन्सेज ऑफ़ एन्शेन्ट हिन्दूज' ग्रन्थ भी द्रष्टव्य है।

महर्षि पतजलि अथवा उनके व्याख्याकारो ने षट्चक्र निरूपण नहीं किया है, क्योकि यह विषय गुरुपरपरागम्य ही है। फिर भी 'नाभिचक्रे' 'हृदयपुण्डरीके' इत्यादि शब्दो के प्रयोग से षट्चक्रो की मान्यता सूचित होती है।

(३) योग-विद्या के सिद्धान्त चित्त से सम्बद्ध रोगों के अपाकरण मे भी अत्यन्त उपयोगी हैं। अधिकाश रोग मानसिक होते है और उनके प्रभाव से शरीर मे भी विकार उत्पन्न होते है, इस विषय मे प्राच्य एव पाश्चात्य सभी विद्वान एकमत हैं। स्नायविक रोग तो मन से पूर्णतः सम्बद्ध है। अधिकांश रोग यत चित्त (मन) से सम्बद्ध है, जैसा कि फ्रायड-सम्प्रदायी मनो विश्लेषण वादी भी भानते है, अतः निराकरण बाह्य शारीरिक चिकित्सा से नही अपितु मानसिक चिकित्सा से ही सम्भव है, आधुनिक मनोविज्ञान के चेतन एव अचेतन मन, अस्वाभाविक मन, दूरदर्शन, स्पर्शन विषयक सिद्धान्त भी योग के क्षेत्र के अन्तर्गत ही है। इस विषय मे जी० कौस्टर का 'योग ऐण्ड वेस्टर्न साइकोलांजी स्प्रिग एण्ड गोज'[1] का 'योग फोर टुडे' ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

डा० के० टी० बेदानन ने 'योग' नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि योग तथा मनोविश्लेषण दोनो ही मानवीय चिकित्सा पद्धतियॉ है किन्तु उन दोनो मे योग उच्चतर है—"Yoga and Psycho-analysis are both therapentic systems. Yoga goes much further then that"

(४) जड-विज्ञान-वेत्ताओ की यह नवीनतम खोज कि जगत् का मूलभूत द्रव्य मनोजातीय है—योग-दर्शन द्वारा अनुमोदित ही है। योगसिद्धि मनोबल के अधीन है। मानसबल की वृद्धि के तारतम्यानुसार प्राणायामादिक अनुष्ठानो मे सफलता मिलती है। बाह्य विषयो द्वारा आन्तरिक चित्त किस प्रकार परिणत होता है, इस बात को भौतिक वैज्ञानिक अब तक नही समझ सके है। अध्यात्म तत्त्वो ने यह तथ्य भली भाँति हृदयगम किया है। साख्ययोग की दृष्टि मे सम्पूर्ण जगत् चित्त की क्रीडा मात्र है। समस्त भौतिक प्रपच का मूल पञ्चभूत। पचभूत का उपादान पंचतन्मात्र और तन्मात्राओ का उपादान अस्मिता है। एतावता विषयो के मूल मे अस्मितारूप

---

१ चैप्टर १, ३, ५ तथा लन्दन मे स्थित रामकृष्ण वेदान्तकेन्द्र से प्रकासित "Vedant for the East and West" के ८९ वें सीरीज (मई, जून १९६६) के अन्तर्गत डा० एच० एल० शर्मा कृत 'दि सुपर कोन्शेस' लेख द्रष्टव्य है।

अन्तःकरण है। वैषयिक क्रिया का स्वरूप अज्ञात है परन्तु उस क्रिया से अन्तःकरण मे होने वाला विकार शब्द, स्पर्शादि के रूप मे ज्ञात होता है। अतः शब्दस्पर्शादिमय यह जगत् अन्तःकरणमूलक है। विषय बोध एव भोग रूप ससार की प्राप्ति भी चित्त एव उसकी वृतियो के कारण ही होती है। इस प्रकार वस्तु के कारण एव कार्य रूप दोनो पक्षो मे अन्तःकरण कार्यशील है। अतः साख्ययोग की दृष्टि मे सम्पूर्ण जगत् चित्त की क्रीडामात्र है। इस विषय मे आधुनिक ज्ञानिको का भी यत्किचित् प्रवेश देखा जाता है।

(५) आधुनिक भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत योगानुमोदित सत्कार्यवाद को स्वीकार किया गया है। विज्ञान के सूक्ष्मतम सिद्धान्तो मे सत्कार्यवादान्तर्गत शक्ति-परिणामवाद को ही मान्यता प्रदान की गई है, विवर्तवाद अथवा आरभवादादि को नही।

(६) भूमि की माप, सवत्सर के विभाजन, अन्तरिक्ष का मानचित्र, सूर्य, चन्द्र तथा विभिन्न नक्षत्रो के पथ का निर्णय, पदार्थों की रचना का विश्लेषण, पशु-पक्षी आदिको की प्रकृति एव भाषा का विज्ञान, खगोल-शास्त्र इत्यादि अनेक विज्ञानो के बीज योगशास्त्र मे विद्यमान है। हमारे प्राचीन मनीषियो ने योग द्वारा इन विषयों का साक्षात्कार करके ही तत्-तत् विशिष्ट शास्त्रो का प्रणयन किया था। इसलिये बाह्यविज्ञानो के क्षेत्र मे भी भारत की पहुँच अगाध है।

(७) वैयक्तिक जीवन की सुख-शान्ति के लिये यम-नियमान्तर्गत शीलो का अभ्यास नितान्त उपयोगी है। राष्ट्रविद्या, समाजविद्या आदि का आधार शील ही है। मनुजी ने सर्वविध लौकिक कार्यो की सिद्धि मे अध्यात्मज्ञान को अत्याज्य बतलाया है।[1]

वस्तुत योग जैसा व्यापक, तर्क सम्मत व्यावहारिक एव अविसवादि अन्य कोई भी दर्शन नही है। क्योकि इसमे अन्य दर्शनो की भाँति परमत खडन करके, स्वमत मडन के हेतु युक्तिवाद ग्रहण न करके, केवल परिमित शब्दो मे स्वसिद्धान्तनिरूपण ही किया गया है। 'योग-सूत्र' मे ग्रन्थकार ने स्वाभाविकरूप से अपने सिद्धान्तो को प्रमाणित करने के लिये शकाएँ एव उनका समाधान किया है। यथा-'न तत्स्वाभास

१. ध्यानिक सर्वमेवैतद् प्रदेतदभिशब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ (मनुस्मृति ६/८२)

दृश्यत्वात्' इस सूत्र के अन्तर्गत जो शका स्वभावतः उठ सकती है, उसी का निराकरण किया गया है। इस प्रकार की शका अन्य किसी सम्प्रदाय का ही मत हो, यह आवश्यक नही। भाष्यकार व्यास ने सूत्रो का तात्पर्य ग्रहण करके अनेक स्थलो पर अपने समय मे प्रचलित बौद्धादि मत-परिहार भी किया है, किन्तु सूत्रकार ने स्वाभाविक न्यायदोष का परिहारमात्र किया है।

योगविद्या का प्राप्त प्राचीनतम ग्रन्थ 'पातञ्जल-योगसूत्र' है। 'योगसूत्र' और इस पर व्यासकृत 'योगभाष्य' जैसे विशुद्ध, तर्क-सम्मत, गम्भीर और पूर्ण दार्शनिकग्रन्थ आज विश्व भर मे अप्राप्य है। पतजलि के न्यायानुरूप लक्षण युक्तिश्रृंखला, प्राञ्जलता, उनके सिद्धान्तो की व्यावहारिकता और अकाट्यता सभी कुछ अतुलनीय है। योगभाष्य जैसा सारयुक्त विशुद्ध न्यायपूर्ण एव गभीर दर्शनग्रन्थ सर्वथा दुर्लभ है। इस प्रकार योगदर्शन के रत्नकोषस्वरूप यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय दार्शनिक गौरव का अवशिष्ट सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

योग-दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनो का यत्र-तत्र खंडन मिलता है, किन्तु योग के समक्ष समस्त दर्शन नतमस्तक हो जाते है। जीवन के हर क्षेत्र मे योग के सिद्धान्तो की महत्ता है। जिस प्रकार योग का ज्ञान उच्चतम है, उसका न्याय जितना ही पक्षपातरहित एव अन्ध विश्वास-विहीन है, उसी प्रकार उसमे उपदिष्टशील भी विशुद्ध, उदार एव पावनतम है। अहिसा, सत्यादि की अपेक्षा स्वच्छशील तथा मैत्री, करुणा, मुदिता आदि से अधिक उदार और पवित्र भावना अकल्पनीय है। बौद्ध योग के इसी शील को अपनाने से आज सम्पूर्ण विश्व मे समादृत हैं।

योग-दर्शन केवल भारत मे ही नही, अपितु विदेशो मे भी व्याप्त है। इसकी उदारता, व्यावहारिकता एव वैज्ञानिकता तथा अलौकिक सिद्धियो ने विदेशो को भी आकर्षित किया और वे भी भारत मे आकर योगविद्या का अभ्यास करते है।

अमेरिका के साधुओ का ऋषीकेष आदि मे आकर योगाभ्यास करना और रूस आदि देशो मे, भारत के कतिपय योगियो का बुलाया जाना, योगविद्या की महत्ता एव व्यापकता का ही परिचायक है।

लन्दन, अमरीका आदि मे लगभग डेढ सौ योगवेदान्त-केन्द्र है। रामकृष्ण मिशन आश्रम, हालीउड का शान्ति आश्रम, सेक्रेमेन्टो-आश्रम केलीफोर्नियाँ आदि सुप्रसिद्ध है। ये केन्द्र प्रयोगशालाओ के रूप मे खुले है तथा इनमे भारतीय योगियो व

सन्यासियो के शिष्यत्व मे, वहाँ के निवासी भारतीय साधना-पद्धति से आसन, प्राणायाम, ध्यानादि का अभ्यास करते है।[1]

स्वामी शिवानन्द, विवेकानन्द एव विष्णुदेवानन्द जैसे योगी जगत्प्रसिद्ध है। उनके योगपरक अनेक ग्रन्थ विदेशो से भी प्रकाशित हुए है। स्वामी विष्णुदेवानन्द (प्रोफेसर योगवेदानन्त एकेडमी ऋषीकेष) ने ऋषीकेष मे रह कर सहस्त्रो भारतीयो और पाश्चात्यो को योगाभ्यास की शिक्षा दी, देश-विदेश मे भ्रमण करके योरुप, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि मे भी बहुत से मनुष्यो को योगविद्या प्रदान की। स्वामी विष्णुदेवानन्द कृत "दि कम्लीट इलस्ट्रेटेट बुक आफ योग" पुस्तक की भूमिका मे डा० मार्कस बाच (Marcus Bach) ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। ग्रन्थ के अन्त मे प्रकाशक ने ग्रन्थकार के विषय मे जो कुछ लिखा है, उससे भी उपर्युक्त बातो की पुष्टि होती है।[2]

---

१. इन सब बातो के विषय मे लन्दन से प्रकाशित "Vedant for the East and West" के विभिन्न सीरिज द्रष्टव्य है। योगवेदान्त पर इग्लैण्ड आदि से "Vedant for the West" आदि अन्यान्य पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती है। योग और मनोविज्ञान के अतिरिक्त भी पाश्चात्यो के अन्यान्य योगपरक ग्रन्थ, योग के विश्वव्यापी प्रचार के परिचायक है। प्रस्तुत प्रबन्ध के परिशिष्ट मे कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थो के नाम है। वर्तमानकालीन क्रिस्टोफर ईशेर-वुड (Christopher Isherwood), एलडस हग्जले (Aldous Huxley) और जीराल्ड हर्ड (Jerald Herd) सुप्रसिद्ध हैं। ये तीनो हालीउड शान्ति आश्रम मे, स्वामी प्रभवानन्द के शिष्यत्व मे, यौगिक प्रक्रियाओ का, भारतीय पद्धति से, अभ्यास कर रहे है। उन्होने भारतीय वेषभूषा मे रह कर आजीवन योगाभ्यास का निश्चय किया है।

१. "Swami Vishnudevananda is a proffessor of Hath Yoga at the Yoga Vedant forest academy Rishikesh Himalayas and is a disciple of the great Swami Shivanand He has trained thousands of Indian and Western students to achieve the goals of Yoga and has travelled extensively throughout the world participating in the reserch conducted at many European, Canadian and American Universities He is considered by many authorities to be the foremost exponent of Hatha Yoga in our time"

## (२) योगशास्त्र का उद्भव और विकास

### (अ) योग के आदि प्रवर्तक हिरण्यगर्भ, अनुशासनकर्त्ता महर्षि पतजलि एव उनका 'योग—सूत्र'—

योगशास्त्र पर प्राप्त साहित्य मे महर्षि पतंजलि—कृत 'योगसूत्र' सर्वाधिक प्राचीन है किंतु 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के निर्देशानुसार तथा 'महाभारत' के 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः'[१] इस वचन के प्रमाण के आधार पर हिरण्यगर्भ योग के आदि प्रवर्तक है। 'पातजल योग' के प्रथमसूत्र 'अथयोगानुशासनम्' के अनुशासन पद से भी स्पष्ट है कि महर्षि पतजलि योगदर्शन के सूत्रपातकर्त्ता नही है, क्योकि 'अनुशासन' का अर्थ है—पूर्व-प्रतिपादित सिद्धान्त का पुन. उपदेश। शकर प्रभृति अन्यान्य अनेक विद्वानो ने स्वरचित ग्रन्थो मे हैरण्यगर्भ योग के वचनो को स्मरण किया है। अतः महर्षि पतजलि से पूर्व भी हिरण्यगर्भ का योग सुप्रचलित था। 'विष्णु-पुराण' मे—

'सम्मानना परा हानिं यौगर्धेः कुरुते यतः।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥
तस्माच्चरेत वै योगीसता धर्ममदूषयन्।
जनायथावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सगतिम् ॥[२]

उक्त दो श्लोको के बाद 'हिरण्यगर्भवचन विचिन्त्येत्थम्' इत्यादि उक्ति है। इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त श्लोकद्वय हैरण्यगर्भ योगशास्त्र से उद्धृत किये गए है। 'हिरण्यगर्भशास्त्र' के अन्य वचन सनत्सुजातीयशांकरभाष्य मे पाए जाते है।[१]

वैष्णव दृष्टि से 'हैरण्यगर्भयाग' का एक विशद विवरण 'अहिर्बुध्न्यसहिता' मे प्राप्त होता है। इसके साथ 'योगसूत्र' की न केवल अर्थत अपितु शब्दतः समानता लक्षित होती है। अतः 'पातञ्जलयोगशास्त्र', 'हैरण्यगर्भयोगशास्त्र' का अनुगामी है। हिरण्यगर्भ का योगशास्त्र परम्परा से प्रसिद्ध तथा विस्तृत था। कालान्तर मे अनेक सवादादि से मिल कर वह अत्यन्त विस्तृत हो गया था। अतः योगसूत्रकार ने उससे

---

२ महाभारत (शान्ति० ३४९/६५) तथा योगि याज्ञवल्क्य १२/५।

३. विष्णुपुराण—(२/१३ ४२-४३)

२. द्रष्टव्य—भूमिका 'पातञ्जल योगदर्शनम्'—पृष्ठ २८। (स० श्री रामशकर भट्टाचार्य)

सारस्प नवनीत निकाल कर 'पातञ्जलयोगसूत्रो' का निर्माण किया। 'अहिर्बुध्न्य-सहिता' के विवरण से ज्ञात होता है कि इस योगशास्त्र मे 'निरोधसहिता' और 'कर्मसहिता' नामक दो काण्ड थे। 'निरोध-संहिता' के १२ भेद थे, 'कर्म-सहिता' के ४ तथा उसमे ईश्वर प्रणिधान का भी अनुशासन किया गया था।' इस विषय का विस्तृत विवरण अन्यत्र भी प्राप्त होता है—ऐसा श्री भट्टाचार्य ने लिखा है।[2]

योगशास्त्रकार हिरण्यगर्भ कौन थे, इस विषय मे भी मत भेद है। किसी-किसी विद्वान् के मतानुसार कपिल ही हिरण्यगर्भ है। भास्वतीकार हरिहरानन्द आरण्य अपनी प्रारम्भिक 'भास्वती' टीका मे लिखते है—'हिरण्यगर्भोऽत्रपरमर्षेः कपिलस्य सञ्ज्ञाभेदः। यथोक्त विद्या सहायवन्तमादित्यस्थ समाहितम् भगवत. कपिलस्यापि धर्मज्ञानादीनां सहजातत्वात् .. स श्रद्धावद्भिर्ऋषिभिः हिरण्यगर्भाख्यया पूजित इति तस्यापि हिरण्यगर्भसञ्ज्ञा। भगवता कपिलेनैव प्रवर्तितौ सांख्ययोगौ।'[3]

---

३ "विष्णु सकल्प रूप च महद्योगानुशासनम्।
हिरण्यगर्भाद् उद्भूत तस्यभेदानिमान् शृणु ॥३१॥
आदौ हिरण्यगर्भेण द्वे प्रोक्ते योगसहिते।
एका निरोधयोगाख्या कर्मयोगाख्ययापरा ॥
सहितातु निरोधाख्या तत्र द्वादशधा स्मृधा ॥३२॥
अगतन्त्रमथाद्यन्तु दोषतन्त्रमत परम्।
उपसर्गाभिध तन्त्र तथाविष्ठानक परम् ॥३३॥
आधारतन्त्र योर्ग च बहिस्तत्वाविकारवत्।
रिक्तयोगाख्यतन्त्र च पूर्णयोगाख्यमेव च ॥३४॥
सिद्धियोगाख्यया त्रीणि मोक्षतन्त्रमत परम्।
इति द्वादशभेदास्ते निरोधाया प्रकीर्तिता ॥३५॥
ब्रह्मणागदितास्तस्त्र चतस्र कर्मसहिता ॥
नाना कर्ममयी प्रोक्ता परात्वेका क्रियामयी।
बाह्याभ्यन्तररूपेण द्वे अपि द्विविधे स्मृते ॥३६॥
योगानुशासन शास्त्रमिति षोडष विस्तरम्।
सुदर्शनमय विष्णोरुदित तत् प्रजापते ॥३६॥" (अहिर्बुध्न्यसहिता (अ० १२/३१ ३७)
द्रष्टव्य—भू०—'पात० यो० द०'—पृ० ३३ (स० रा० छा० भ०)

कापिलाश्रमीय 'पातञ्जलयोगदर्शन' की भूमिका मे भी भास्वतीकार ने 'महाभारत' शान्तिपर्व की—

**'यमाहुः कपिल सांख्याः परमर्षिः प्रजापतिम् ।**
**हिरण्यगर्भा भगवानेषच्छन्दसि सुष्टुतः ॥'**

इत्यादि उक्तियो को उद्धृत करके लिखा है कि इन प्रमाणो के आधार पर ज्ञात होता है कि कपिल ऋषि प्रजापति है तथा हिरण्यगर्भ नाम से उनकी स्तुति की जाती है ।[1]

कुछ अन्य विद्वानो के मतानुसार, सृष्टि के आदि मे हिरण्यगर्भ ब्रह्मा ने स्वाध्याय-शील ऋषियो को योगविद्या का उपदेश दिया था अथवा उनकी प्रेरणामात्र से स्वाध्यायी ऋषियो को नैसर्गिक सस्कारो की प्रतिभा से योगविद्या प्राप्त हो गई । अतः 'स्वाध्यायादिष्ट-देवता सप्रयोगः'—यह सूत्र सार्थक ही है । हिरण्यगर्भ से लौकिक ज्ञान अप्राप्य है, अतः ऋषियो ने योगज ज्ञान ही प्राप्त किया यह समझना चाहिये । जन्म-सिद्धि के विषय मे कोई-कोई विद्वान् हिरण्यगर्भ की भी गणना करते है ।[2]

अपर विद्वानो के अनुसार हिरण्यगर्भ नाम के कोई ऋषि थे । सर्व प्रथम उन्होने योगविद्या का उपदेश किया । इतिहास, पुराणादि के द्वारा इस मत की पुष्टि नही होती ।[3] इस विषय मे विद्वत्समाज के विभिन्न दृष्टिकोणो पर विचार करने से ऐसा आभासित होता है कि योगगम्य समस्त मूलभूत अर्थ साख्य-शास्त्रीय ही है । अतः साख्य और योग अविनाभावी है ।

योगसूत्रो के लिये 'सांख्य प्रवचन' नाम का व्यवहार होता है । 'जयमगला' टीका मे योगसूत्रो के उद्धरण सांख्य प्रवचन नाम से दिये गए है ।[4] 'व्यासभाष्य' मे भी प्रत्येक पाद के अन्त मे 'साख्यप्रवचने योगशास्त्रे' ऐसी उक्ति है । अतः इन प्रमाणो से साख्य और योग की अभिन्नता सिद्ध होती है । सांख्य के अहकार, पचतन्मात्र, भूतादि तत्व योग-जन्य चित-स्थैर्य का आलम्बन ग्रहण करते है । योगज प्रज्ञा के द्वारा, उन तत्वो का साक्षात्कार होता है, यह सिद्धान्त प्रवचन पद से स्वय प्रकट होता है । अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि योगसूत्रो का मूल स्रोतभूत 'हैरण्यगर्भ-योगशास्त्र' भी साख्य से सम्बद्ध था । साख्यीय ज्ञान को धारण

---

१ पात० यो० द०—(हरि० आ०)—पृ० ८ ।

२ द्रष्टव्य—भूमिका—पात० यो० द०—पृ० २६३ (सम्पा० रा० श० भ०) ।

३ वही

४. वही पृ० २८

करने वाले भगवान् नारायण है। अतः साख्य के अविनाभावी योग के आदि प्रवर्तक हिरण्यगर्भ नारायण है, यही उचित प्रतीत होता है। जैसा कि महाभारत शान्तिपर्व के निम्न श्लोको से स्पष्ट होता है।—

'साख्य विशाल परम पुराण महार्णव विमलमुदारकान्तम्।
कृत्स्न च साख्य नृपते महात्मा नारायणो धारयतेऽप्रमेयम्॥
एतन्मयोक्त नरदेव तत्व नारायणो विश्वमिद पुराणम्!
स सर्गकाले च करोति सर्ग सहारकाले च तदतिभूयः॥
सह्हित्यसर्व कृत्वाप्सु शेते जगदन्तरात्मा॥'[1]

कुछ भी हो, साराश यह है कि योगविद्या के प्रथमप्रचारक हिरण्यगर्भ थे। चाहे वे हिरण्यगर्भ ब्रह्मा हो या कपिल अथवा स्वय नारायण ही हो। योग विद्या उस काल मे ग्रन्थबद्ध नही थी। गुरुशिष्य-परम्परा-द्वारा ही उसका ग्रहण, धारण एव पठन-पाठन होता था। यह भी सच है कि मानवसमाज मे योग विद्या का विशेष रूप से सोपपत्तिक प्रवर्त्तन महर्षि कपिल के द्वारा ही हुआ। पहले यह विद्या ऋषि-परम्परा से ही प्रचारित रही। बाद मे उस विद्या के आश्रय से कुछ योगियो ने हैरण्यगर्भ योग-विद्यापरक ग्रथो का निर्माण किया। पुनः अनेक सवादादि मिल जाने से, जब वह योग विद्या अत्यन्त विस्तृत एव जटिल हो गई, तब उस विद्या के सरक्षण-हेतु भगवान् पतजलि ने, उसे योगसूत्रो के रूप मे ग्रन्थबद्ध किया।

अनेक विद्वान् 'पातजल योगसूत्र' को ही योग के मूलग्रन्थ के रूप मे स्वीकार करते है। श्री उमेश मिश्र, श्रीसतीशचद्र चट्टोपाध्याय व धीरेन्द्रमोहन दत्त ने 'पातजल-योगसूत्र' को योग का आदिम ग्रन्थ माना है।[2] किन्तु 'योगसूत्र' मूल ग्रन्थ नही है, क्योकि यदि सूत्रकार योग के प्रथम प्रवर्त्तक होते, तो उनके लिये योग के प्रत्येक पारिभाषिक शब्द का अर्थ कहना आवश्यक हो जाता। 'योगसूत्र' मे 'विराम,' 'सवेग' 'कुम्भक', 'आशय' आदि अनेक पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया गया है, पर अर्थ नही बताया गया है। 'योगसूत्र' 'हैरण्यगर्भयोग' पर आश्रित है, यह स्फुटतः प्रदर्शित किया जा चुका है। इस विषय मे श्री रामशकर भट्टाचार्य लिखते है—'योगसूत्र' मे 'व्युत्क्रम' शब्द प्रयोग मिलता है ( १-४६ ), जिससे सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ किसी

---

१ महाभारत (शान्ति० ३०१/११४-११५)

२ भारतीय दर्शन—उमेश मिश्र—पृ०

'भारतीय दर्शन'—श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एव धीरेन्द्र मोहन दत्त—पृ० १८६।

अन्य ग्रन्थ पर आधारित है। वह ग्रन्थ सामान्यतया 'हैरण्यगर्भ योगशास्त्र' कहा जा सकता है।[1] स्वामी ओमानन्द तीर्थ ने 'पातजलयोगप्रदीप' के भूमिकान्तर्गत 'षड्दर्शनसमन्वय' मे लिखा है कि पतजलि ने हिरण्यगर्भसूत्रो के आधार पर 'योगसूत्रो' का निर्माण किया है।[2] पातजल योगसूत्रो का आधार 'हैरण्यगर्भयोग' अवश्य है, किन्तु 'हैरण्यगर्भयोग' सूत्रबद्ध था, इस विषय मे कोई प्रमाण नही मिलता। हिरण्यगर्भीय योग के जो वचन यत्र-तत्र उद्धृत मिलते है, वे श्लोकबद्ध ही है, सूत्रशैली मे नही। अतः जब तक 'हैरण्यगर्भ-योग' के कुछ सूत्र प्राप्त न हो, तब तक स्वामी ओमानन्द जी के उक्त मत को प्रामाणिक नही माना जा सकता है।

आज हमारे समक्ष 'हैरण्यगर्भ-योग' अप्राप्त होने पर भी साड्गयोग-दर्शन के सूत्रपात का महनीय श्रेय भगवान् हिरण्यगर्भ को ही है।

माधव का मत है कि महर्षि हिरण्यगर्भ के आदिम आचार्य होने से 'योगसूत्रो' की प्राचीनता को कोई आघात नही पहुँचता।[3] योग के उपलब्ध ग्रन्थो मे 'योगसूत्र' प्राचीनतम है।

योगसूत्रकार एव व्याकरण-महाभाष्यकार पतजलि एक ही व्यक्ति है, इस विषय मे भी मतभेद है। भारतीय विचारधारा के अनुसार ये दोनो ग्रन्थ एक ही पतजलि की कृतियाँ है। विवरण' टीका के अन्त मे निम्नलिखित श्लोक प्राप्त होता है—

'योगेन चितस्य पदेन वाचा, मल शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत प्रवर मुनीना पतजलि प्राजलिराननतोऽस्मि ॥'

इससे यह ज्ञात होता है कि महाभाष्यकार, योगसूत्रकार और चरक के टीकाकार ये तीनो पतजलि एक ही व्यक्ति है। १८ वी शती मे उत्पन्न, 'पातजलचरित' के लेखक रामभद्र दीक्षित ने १८ वी शती मे ही 'वासवदत्ता' के टीकाकार शिवराम ने तथा (११ वी शती मे) चरक के टीकाकार चक्रपाणिदत्त ने योगसूत्रकार और महाभाष्यकार पतजलि एक ही व्यक्ति माने है। साथ ही महर्षि पतजलि को उन्होने शेषावतार भी माना है। इसी आधार पर अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने भी दोनो पतजलियो की एकता स्वीकार की है।[4]

१ द्रष्टव्य—भूमिका—'पात० यो० सू०'—भोज० राज० स०। पृ० १६। (स० रामशकर भट्टाचार्य)

२ 'पात० योगप्रदीप'—ओमानन्द—पृ० १२८।

३ 'इडियन फिलॉसफी'—(राधाकृष्णन्) वा० २—पृ० ३४१।

४. द्रष्टव्य—'योग-फिलॉसफी'—एस० एन० दास गुप्त—पृ० ५४-५६।

इस विषय मे सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने लिखा है—योगसूत्रकार एव महाभाष्यकार, दोनो के द्वारा 'स्फोटवाद' का स्वीकार किया जाना ध्यान देने योग्य विषय है। 'तत्वमीमासा' के अधिकाश सिद्धान्तो मे समानता होने पर भी, साख्य स्फोटवाद का खडन करता है, योग मडन, योगसूत्रकार एव पाणिनीय 'महाभाष्यकार' की एकता सिद्ध करने मे यह भी एक ध्यान देने योग्य विषय है। एक वैयाकरण स्फोटवाद का खडन कैसे कर सकता है? इन दोनो ग्रन्थो का, 'अथयोगानुशासनम्' और 'अथ-शब्दानुशासनम्'—इस एक ही रूप से प्रारम्भ होना भी दोनो व्यक्तियो की ऐक्य-सिद्धि मे सहायक है।[1]

प्रोफेसर वुड्स, अपनी 'इन्ट्रोडक्शन टु दि योग सिस्टम' मे वैयाकरण पतजलि तथा योगसूत्रकार पतजलि की एकता के विरुद्ध समस्या उठाते हुए लिखते है—'उक्त दोनो कृतियो की भाषा एव सिद्धान्तो मे कोई विशेष साम्य नही है। इसके अतिरिक्त बडे-बडे वैयाकरण-भर्तृहरि, कैय्यट, वामन और नागेश ने—महाभाष्यकार और योगसूत्रकार की एकता के विषय मे कुछ भी नही लिखा है।[2] पर यह आवश्यक नही है कि उक्त विद्वानो ने, यदि महाभाष्यकार एव योगसूत्रकार की एकता के विषय मे कुछ नही लिखा, ता वे एक व्यक्ति हो ही नही सकते।

इसके अतिरिक्त वुड्स ने दोनो पुस्तको मे प्रयुक्त 'द्रव्य' शब्द के दार्शनिक अर्थ-विषयक मतभेद को भी लक्षित किया है। किन्तु अलग-अलग प्रकरण-ग्रन्थो मे एक ही शब्द के विभिन्न अर्थ ग्रहण करने से लेखक के व्यक्तित्व मे अन्तर पडना, न अनिवार्य है, न आवश्यक, पाणिनि ने अपने नियमो मे द्रव्य के वे दोनो ही अर्थ बतलाए है। अतः इस दृष्टि से भी यह भिन्नता सिद्ध नही होती।

दूसरी ओर प्रोफेसर वुड्स के मत के सर्वथा विपरीत डा० एस० एन० दासगुप्ता के अनुसार-इन दोनो पुस्तको के पूर्ण अध्ययन एव परीक्षण के उपरान्त ऐसी कोई भी बात नही मिलती—जो दोनो पतजलियो की एकता मे बाधक हो। वे दावे के साथ लिखते है—

"I have assured myself by an examination of the Mahabhashya that there is nothing in it which can warrant us in saying that the two Patanjalis cannot be identified"

( Yoga Philosophy, page 57 )

---

१—२ इडियन फिलॉसफी—(राधाकृष्णन् ) भाग २—पृ० ३४१।

वे पुनः लिखते है—इन सब तथ्यो के आधार पर हम इसी निकर्ष पर पहुँचते है कि यदि हमको दोनो पतञ्जलियो की एकता सिद्ध करने मे प्रचुर प्रमाण नही मिलते तो दूसरी ओर उनके भिन्न-भिन्न व्यक्ति होने का कोई भी ठोस प्रमाण नही मिलता है। अतः इस मत का खडन नही किया जा सकता।[1] पुनः यदि प्रोफेसर वुड्स के तर्कानुरूप दोनो ग्रन्थकारो की एकता न भी सिद्ध हो सके, तो इसका तात्पर्य यह नही है कि योगसूत्रकार का समय बहुत बाद का होगा, पहले का हो ही नही सकता।

कुछ विद्वानो ने 'योगसूत्र' की रचना का समय विक्रम पूर्व द्वितीय शताब्दी स्थिर किया है। अन्य विद्वान् उसका रचनाकाल इससे भी बहुत बाद, ईस्वी पश्चात् चतुर्थ शतक मनाते है। परमाणुवाद (१-४०) सौत्रान्तिक का क्षणक्रमवाद (३-५२), स्फोट-वाद (योगभाष्य ३-१७), बौद्धो का आदर्शवाद (४-१५-१७)[२] इत्यादि विषय योगसूत्र मे आये हैं।

इसके अतिरिक्त 'योगसूत्र' मे वसुबन्धु के आदर्शवाद की आलोचना की जाने से प्रोफेसर वुड्स 'योगसूत्र' की प्राचीनतम सीमा ईस्वी पश्चात् चतुर्थ शती स्वीकार करते है,। उनका यह विचार इस तथ्य पर आधारित प्रतीत होता है कि नागार्जुन ने अपनी 'कारिका' मे योग का उल्लेख नही किया है, किन्तु नागार्जुन के चीनी अनुवाद 'उपाय-कौशल्य हृदयशास्त्र' मे आठ दर्शनो मे से एक दर्शन योग भी है—इस स्वीकृत तथ्य की दृष्टि से प्रोफेसर वुड्स का उक्त तर्क हमे बहुत दूर तक नही ले जाता है।पुन बौद्धो का आदर्शवाद, बसुबन्धु और असंग से भी प्राचीन है। अतः चतुर्थ पाद (४-१४-१५) मे विज्ञानवाद का खडन प्राप्त होने पर भी 'योगसूत्र' की प्राचीनता के सिद्धान्त को आघात नही पहुँचता। क्योकि एक तो 'विज्ञानवाद' मैत्रेय और असग से कही अधिक प्राचीन है। इसके अतिरिक्त 'विज्ञानवाद' का खंडन भी सामान्यरूप से उठने

1. "Thus though we cannot accept the tradition of later commentators as a sufficient ground to identitfy the two Patanjalis, we cannot at the same time discover anything from a comparative critical study of the Yogasutras and the text of Mahabhashya, which can lead us to say that the author of the Yogasutras flourished at a later date than the other Patanjali"

(Yoga Philosoyhy, page 59)

२. चतुर्थ पाद के इन सूत्रो की व्याख्या मे 'व्यास-भाष्य' मे विज्ञानवाद का निराकरण किया

वाली शंका के समाधानरूप मे ही हुआ है, किसी मत-विशेष के नाम-निर्देश पूर्वक नही। प्रो० जेकॉबी के विचारानुसार, योगमत ई० पूर्व तृतीय शतक मे वर्तमान था, क्योकि उमास्वामी का 'तत्वार्थसूत्र' (२-५२), योगसूत्र (३ ५२), का उल्लेख करता है। उमास्वामी—जिनको अपने भाष्यकार सिद्धसेन (पॉचवी ईसवी) से अवश्य प्राचीन होना चाहिये--सामान्यतौर पर ईसा के तृतीय शतक मे उत्पन्न माने जाते है। अतः पतञ्जलि ई० पू० तृतीय शती से अधिक बाद के तो माने ही नही जा सकते है।'[1]

एस० एन० दासगुप्त के अनुसार यह भी बहुत सम्भव है कि द्वितीय या तृतीय ई० मे लिखित 'किताब-पातञ्जल' के रचियता पतञ्जलि से धोखा खाकर, इन विद्वानो ने उसे (किताब पा० को) योगसूत्रकार की ही रचना समझ कर, उनका स्थितिकाल बाद मे निश्चित किया हो। किताब-पातज्जल' को अलबरूनी ने 'इडिया' नामक पुस्तक मे बहुत ही प्रसिद्ध बतलाया है तथा उसका अनुवाद भी उन्होंने किया था जो प्राप्त है। इस पुस्तक मे गुरु-शिष्य के मध्य कथोपकथन के रूप मे योग का ही विषय वर्णित है। यह पुस्तक 'योगसूत्र' पर आधारित है। अधिकाश मे योगसूत्र से समानता होने पर भी इसमे कतिपय भिन्नताएँ भी है। 'योगसूत्र' के सिद्धान्तो पर आश्रित होनेपर भी' किताब पातञ्जल' मे वेदान्तिक एव तान्त्रिक ढग अपनाया गया है। यह पुस्तक क्रिश्चियन युग के प्रारम्भिक २००-३०० वर्षो के बीच लिखी गई थी।[2]

पतञ्जलि अनेक हुए है। योगसूत्रकार के कालनिर्णय के प्रसग मे श्री सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त एव राधाकृष्णन् ने अनेक विचारधाराओ का उपन्यास एव उनका साधक-बाधक दृष्टियो से गम्भीर विचार भी किया है।[3] उनमे से अधिकाश का निर्देश किया जा चुका है। उन सब का सविस्तार प्रदर्शन यहॉ सम्भव नही है।

श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि 'साख्य स्फोटवाद' का खडन करता है और योग मडन। इस भेद के अतिरिक्त प्रमाणो के आधार पर दोनो पतञ्जलियो का अभेद स्वीकार्य है।[4]

श्री रामशकर भट्टाचार्य ने 'पातञ्जल-योग-दर्शनम्' की भूमिका मे पतञ्जलि नामक दस शास्त्रकारो का उल्लेख किया है।[5] यथा—

---

१ 'इ डियन फिलॉसफी'—राधाकृष्णन्—वाल्यूम २—पृ० ३४१।

२ योग-फिलॉसफी—एस० एन० दासगुप्ता—पृ० ५४ से ६६ तक।

३ द्रष्टव्य—इ डियन फिलॉसफी—(राधाकृष्णन्) तथा योग फिलॉसफी (योग एण्ड पतञ्जलि) (एस० एन० दासगुप्ता) के अन्तर्गत 'पात्तञ्जल-योग-प्रकरण ।

४. 'भारतीय दर्शन'—बलदेव उपाध्याय—पृ० ३६७।

५. भूमिका—पात० यो० द०—पृ० ३० सम्पादक रामशकर भट्टाचार्य।

(१) सामवेदीय पातञ्जलशाखा-प्रवक्ता ।

(२) सामवेदीय निदानसूत्र प्रवक्ता ।

(३) योगसूत्रकार ।

(४) महाभाष्यकार ।

(५) चरकसहिता के प्रवक्ता, चरकव्याख्याता अथवा चरक-वार्त्तिककार ।

(६) ३/४४ व्यासभाष्यधृतद्रव्यलक्षणकार ।

(७) युक्तिदीपिकाधृतपतञ्जलि नामक आचार्य ।

(८) लोहशास्त्रकार ।

(९) रसशास्त्रीय ग्रन्थ विशेषकार ।

(१०) वातस्कन्धादि वैद्यक के ग्रन्थकार ।

श्री भट्टाचार्य ने 'महाभाष्यकार', योगसूत्रकार, चरकवार्त्तिकार अथवा लोहशास्त्रकार पतञ्जलि की एकता के प्रतिपादक विद्वानो का मत भ्रमपूर्ण बतलाया है, जिसका आधार नाम का साम्यमात्र है।

योगसूत्रकार को उन्होने आर्षकालिक पुरुष बतलाया है। साथ ही यह भी लिखा है कि 'मत्स्यपुराण' के 'गोत्र-प्रवर-प्रकरण' मे आगिरस को पतञ्जलि के रूप मे स्मरण किया गया है। साम-शाखा के प्रवक्ताओ के मध्य भी पतञ्जलि का नाम लिया जाता है। यही पतञ्जलि योगसूत्रकार भी है।

पतञ्जलि नामक अन्यान्य शास्त्रकारो के साथ योगसूत्रकार की एकता के प्रतिपादक मतान्तरो का भी श्री भट्टाचार्य ने युक्तिपूर्वक निराकरण किया है। इसके अतिरिक्त यह भी प्रतिपादित किया है कि आरण्यको एव उपनिषदो की भाषा से 'योगसूत्र' की भाषा मे पूर्ण साम्य लक्षित होता है।[1]

योगसूत्र एव सामवेद मे घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह अनेक प्रमाणो से सिद्ध किया जा सकता है।

भक्तिमार्ग का सामवेद मे विशेषरूप से प्रतिपादन किया गया है। नारद, शाण्डिल्यादि भक्त्याचार्य सामप्रवक्ता के रूप मे स्मरण किये जाते है। ईश्वर प्रणिधान के प्रकरण मे 'योगसूत्र' मे भी भक्तियोग को विशेष महत्व प्रदान किया गया है।

---

१ द्रष्टव्य—भूमिका—'पा० यो० द०'—पृ०३१-३२—सम्पादक रामशकर भट्टाचार्य ।

भक्त्याचार्य नारदादि योग विद्या मे भी निष्णात थे। 'महाभारत' शान्तिपर्व मे नारद को योगविद्या-विद् बतलाया गया है। साङ्ख्ययोग-सम्बन्धी अनेक प्रश्नोत्तर भी 'महाभारत' मे प्राप्त होते हैं।[1] अपर भक्त्याचार्यों के विषय मे भी यही बात घटित होती है।

'अहिर्बुध्न्यसंहिता' मे 'हैरण्यगर्भ योगविद्या' का विवरण प्राप्त होता है। यह संहिता वैष्णवी है और वैष्णवी भक्ति सामवेदीय है। इससे हिरण्यगर्भ योग भी सामवेद से सम्बद्ध सिद्ध होता है। वही विद्या पातञ्जलयोग का उपजीव्य है, यह पहिले भी बताया जा चुका है।

सामवेद के जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण' मे—'प्रतिबोधविदित मतम्' ऐसी उक्ति है।[2] पातञ्जल योग दर्शन मे यही बात 'बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष' इन शब्दो मे कही गई है। इस स्थल पर दोनो ग्रन्थो मे मतैक्य के साथ-साथ शब्द-साम्य भी स्पष्ट ही लक्षित होता है। पुराणादिको मे भी 'योगसूत्र' का अपने स्थलो पर प्रसग आया है। इन सब प्रमाणो के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि सामवेद की कुछ शाखाओ मे योग उपदिष्ट हुआ है। उसी के आश्रय से सामशाखा प्रवक्ता महर्षि पतञ्जलि ने न्यायसगत युक्तिपूर्ण 'योगसूत्र' का प्रणयन किया। अतः 'योगसूत्र' अत्यन्त प्राचीन-कालीन है।

'योगसूत्र' के रचनाकाल के विषय मे इतने प्रवाद है कि उन सब को देख कर, उसके काल का सम्यक् निरूपण करना सम्भव नही प्रतीत होता।

जैसा पहले भी प्रदर्शित किया जा चुका है, आधुनिक विद्वानो के मतानुसार ई० पू० प्रथम या द्वितीय शताब्दी मे 'योगसूत्रो' का प्रणयन हुआ। अर्वाचीन विद्वानो की दृष्टि से 'योगसूत्र' की रचना का प्राचीनतमकाल ई० पू० द्वितीय से चतुर्थ शताब्दी तक माना जा सकता है,[3] परन्तु 'योगसूत्र' बौद्धादि मतो से भी प्राचीन है। आधुनिक विद्वानो का कथन है कि 'योगसूत्र' मे बौद्धादि मतो का खडन पाया जाता है। अतः उसका प्रणयन बौद्ध-धर्म के प्रचार के बाद हुआ है, किन्तु यह मत समीचीन नही प्रतीत होता। 'योगसूत्र' मे परमत-खडन की प्रवृत्ति कही भी लक्षित नही होती।

---

१ द्रष्टव्य—भूमिका—पात० यो० द०—पृ० ३३—सम्पादक, रामशकर भट्टाचार्य।

२ महाभारत (आदि० ७५/७-८—शान्ति० ३२९-३३१—अ० २७५, अ० २८७ अ०)

३ द्रष्टव्य—इडियन फिलॉसफी—(राधाकृष्णन्) तथा 'हिस्ट्री ऑफ इडियन फिलॉसफी'—(सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त) ग्रन्थो के अन्तर्गत पातञ्जल-योग-प्रकरण।

'न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात' अथवा 'न चैकचित्ततन्त्र वस्तु तदप्रमाणक तदाकिस्यात्' इत्यादि सूत्रो मे स्वसिद्धान्त निरूपणार्थ पूर्व प्रसगत स्वाभाविक शकाओ का ही समाधान किया गया है, किसी मत विशेष का खडन नही। यह बात अलग है कि वे शकाएँ किसी सम्प्रदाय विशेष का मत भी हो। पर 'योगसूत्र' के निर्माणकाल मे बौद्धमत का प्रचार नही हुआ था। प्राचीनतम बौद्धग्रन्थो मे भी 'योगसूत्र' का अनुकरण किया गया है। बौद्धग्रन्थो मे योग के प्रकरण मे अनेक स्थलो पर 'योगसूत्र' के समान शब्दावली व्यवहृत हुई है। किसी-किसी स्थल पर अज्ञानवश भ्रान्ति हो गई है। यदि पतञ्जलि ने ही बौद्धो का अनुकरण किया होता तो 'योगसूत्र' मे भी उस प्रकार की भ्रान्तियाँ होनी चाहिये थी, जो नही देखी जाती है। 'योगसूत्र' मे वैष्णवादि मतान्तर भी कही लक्षित नही होते है। अतः 'योगसूत्र' अन्यान्य सभी सम्प्रदायो के विकास से पूर्व ही निर्मित हुआ है और अत्यन्त प्राचीन है, केवल यही कहा जा सकता है। श्री रामशकर भट्टाचार्य के अनुसार 'योगसूत्र' महाभारत के युद्ध से भी प्राचीनकालिक है, किन्तु यह आश्चर्य है कि 'महाभारत' मे पतञ्जलि का कही भी नाम नही है। 'महाभारत' के 'शान्तिपर्व', 'अश्वमेधपर्व', तथा 'अनुशासनपर्व' मे योग का बहुलता से वर्ण न प्राप्त होता है। उसमे हैरण्यगर्भ योग की भी चर्चा है। योग के प्रसग मे उसमे 'योगसूत्र' के समान उक्तियाँ भी प्राप्त होती है। यथा 'महाभारत' की 'सन्तोषः परमं सुखम्'"[१] इस उक्ति से, 'सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः', पतञ्जलि के इस सूत्र का स्पष्ट साम्य लक्षित होता है। शान्तिपर्व के १९५ अध्याय मे ध्यानमार्ग का जो वर्णन है, वह भी पतञ्जलि-द्वारा वर्णित ध्यानमार्ग के अनुरूप है।

विविध पुराणो, वैष्णव ग्रन्थो, न्याय ग्रन्थो, व्याकरण, 'वेदान्तसूत्र' शाक्तग्रन्थो, विविध योग शास्त्रो तथा बौद्ध-जैनादि ग्रन्थो मे भी 'योगसूत्र' का प्रसग एव प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।[२] इससे 'योगसूत्र' की अत्यन्त प्राचीनता ही सिद्ध होती है।

पतञ्जलि का योगसूत्र' विद्वत्परिषद् मे एक मौलिक ग्रन्थ के रूप मे समादृत है। यह अत्यन्त स्वच्छ तर्क-सम्मत, गूढार्थ एव अपनी कोटि का अद्वितीय ग्रन्थ है। इसके अन्तर्गत स्वल्प शब्दो मे अत्यन्त प्रवीणतापूर्वक-यौगिक-प्रक्रियाओ के निरूपण के साथ साथ आत्मकल्याण का मार्ग प्रदर्शित किया गया है, जैसा कि 'योगसूत्र नाम से ही

---

१. वनपर्व—२/४६।

२. द्रष्टव्य—भूमिका—पात० यो० द०—पृ० ३९-४० ४१-४२-४३। सम्पादक—रामशकर भट्टाचार्य।

ज्ञात होता है। सूत्र अभिधान ही उसका है, जिससे अल्प अक्षरो मे सारगर्भित, महान्, गम्भीर, अनिन्द्य एव असदिग्ध ज्ञान हो—

"अल्पाक्षरमसदिग्ध सारवद्विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्य च सूत्र सूत्रविदो विदुः ॥"

'योगसूत्र' चार पादो मे विभक्त है। प्रथम 'समाधिपाद' मे योग के स्वरूप, भेद, उद्देश्य, चित्त, चित्तवृत्तियाँ एव उनके निरोध के उपाय वर्णित है। साथ ही वितर्कादि विविध समाधियो तथा समाध्यवस्था मे चित्त की दशा का भी वर्णन है। यह पाद समाहित चित्त से युक्त उत्तम अधिकारियो के लिये है। 'समाधिपाद' नाम के अनुरूप ही, इसमे मुख्यतया योग (समाधि) के स्वरूप का ही सविस्तार वर्णन है।

द्वितीय 'साधनपाद' मे विक्षिप्त चित्त-युक्त मध्यम अधिकारियो के लिये समाधि की साधना-हेतु साधन बतलाए गए है। इसमे क्रियायोग, क्लेश, कर्म, विपाक, तदनुसार जाति, आयु, भोगादि की व्यवस्था, क्लेश-निवृत्ति के साधन, हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय तथा अष्टांगयोग के पच बहिरग साधन आदि विषय वर्णित है।

तृतीय 'विभूतिपाद' मे सबीज समाधि के अन्तरग साधन (धारणा, ध्यान एव समाधि) का वर्णन है। पुनः योग मे श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये तथा असमाहित चित्त वालो की चित्तस्थिति-हेतु-योगाभ्यासजन्य सिद्धियो एव उनमे अनासक्ति आदि विषय वर्णित हुए है।

चतुर्थ 'कैवल्याद' मे पचविध सिद्धिजन्य निर्माण चित्त, समाधिसिद्धि, कैवल्योपयोगी चित्त, चित्तविषयक शकाओ का समाधान, योग की सार्थकता की सिद्धि-हेतु विज्ञानवाद का सयुक्तिक निरसन और प्रसगवश आत्मा आदि विषयो का वर्णन है। अन्त मे कैवल्य के स्वरूप का निर्धारण किया गया है।

विभूतिपाद के अन्त मे 'इति' शब्द के प्रयोग तथा चतुर्थ पाद मे विज्ञानवादादि के खडन से कतिपय विद्वानो का मत है कि प्रथम तीन पाद ही महर्षि पतञ्जलि-प्रणीत है। बाद मे किसी श्रद्धालु ने चतुर्थ पाद को रचकर—'योगसूत्र' मे जोड दिया है।[1] सभवतः दार्शनिक सिद्धान्त की पूर्ति के हेतु भाष्यकार व्यास ने अन्तिम पाद की रचना की है। किन्तु इस मत की पुष्टि मे अब तक कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नही है। 'भाष्य-

---

१. 'योग फिलॉसफी'—पृ० ५१ एण्ड 'हिस्ट्री ऑफ इडियन फिलॉसफी'—पृ० २३०—एस० एन० दासगुप्ता।

विवरण' मे प्रत्येक पाद के अन्त मे 'इति' पद का प्रयोग हुआ है, फिर भी विवरणकार तृतीय पाद के अन्त मे लिखते है—'इतिशब्दः समाप्त्यर्थः।' वाचस्पति के अनुसार 'इति' शब्द सूत्रान्तर्गत है, जो सूत्र समाप्ति का सूचक है। ( इति सूत्र-समाप्तौ तत्व० वै०) किन्तु इस कथन से श्री वाचस्पति का कोई विशेष तात्पर्य नही है। भिक्षु के मत मे 'इति' पद सार्वत्रिक नही है। वे लिखते है—कही पर सूत्र मे इति 'शब्द' है और वह हानोपायव्यूह की समाप्ति का सूचक है।'[1] अत 'इति' शब्द के बल पर उक्त मत की पुष्टि नही हो सकती है। यदि 'इति' शब्द का पाठ प्रामाणिक भी माना जाये तो भी यह सिद्ध होता है कि मूलग्रन्थ की रचना तृतीय पाद पर्यन्त है और चतुर्थ पाद उसका परिशिष्ट है। साथ ही उसकी रचना ग्रन्थकार पतञ्जलि ने ही की है, जैसे निरुक्त का परिशिष्ट यास्ककृत है[2] और यही मानना अधिक युक्ति सगत भी प्रतीत होता है। श्री भोज, नागोजी-भट्ट प्रभृति वृत्तिकारो ने इस सूत्र मे 'इति' पाठ नही माना है।[3] इति शब्द का पाठ इस सूत्र मे अथवा प्रत्येक पाद के अन्त मे निश्चित है, यह नही कहा जा सकता। अतः इस विषय पर अधिक विचार अनावश्यक है।

चतुर्थ पाद को मिलाने पर योगसूत्रो की सख्या के विषय मे भी दो प्रकार के मत दिखलाई देते है। किन्तु यह मतभेद स्वल्प ही है। यथा—

(१) 'नच तत्सालम्बन तस्याविषयीभूतत्वात्' (३-२०), यह उक्ति श्री वाचस्पति के व विवरणकार शकर के अनुसार सूत्र है। श्री विज्ञान भिक्षु के मतानुसार यह 'व्यासभाष्य' का ही अश है। नागोजी भट्ट एव भावागणेश ने भी इस सूत्र की व्याख्या नही की है।

(२) 'विभूतिपाद के—'कायरूपसयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भेचक्षुष्प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्'—इस सूत्र के बाद योग-चन्द्रिकाकार अनन्त पडित ने 'एतेनशब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम्' यह भी एक सूत्र माना है। परन्तु यह भाष्य का ही अश है। अन्य किसी व्याख्याकार ने इसकी स्वतन्त्र सूत्र के रूप मे व्याख्या नही की है। विज्ञान भिक्षु ने उस उक्ति की व्याख्या के साथ कहा है कि इसके द्वारा सूत्रकार की न्यूनता का

---

१. द्रष्टव्य—यो० वा० ३-५५।

२. द्रष्टव्य भूमिका—'पात० यो० द०'—सम्पादक रामशकर भट्टाचार्य – पृ० ३६।

३. द्रष्टव्य—'भोज-वृत्ति' आदि।

परिहार किया जाता है। इसी स्थल पर नागोजी भट्ट ने एक और सूत्र—'दिनमास-संवत्सरा'—की व्याख्या की है। वह भी प्रक्षिप्त है। अन्य किसी व्याख्याकार ने इसकी चर्चा नही की है।

चतुर्थ पाद के—'न चैकचित्ततन्त्र वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्'—इस कथन को वाचस्पति सूत्र मानते है। विवरणकार शकर प्रभृति विद्वानो ने भी इसकी स्वतत्र सूत्रवत् व्याख्या की है। श्री भोज एव अनन्तदेव के मत मे यह सूत्र नही हैं। यह सूत्र अपने आप मे अपूर्ण सा प्रतीत होता है, अतः श्री भोज सम्मत मत ही यथार्थ प्रतीत होता है।

कही-कही पर योगसूत्रो मे पाठभेद भी दृष्टिगत होता है, जिनका ज्ञान विविध व्याख्याओ को पढकर होता है। इन पाठभेदो से सूत्रार्थ मे भेद नही होता है। अतः यह विषय विचारणीय नही है।

## (२) (ब) 'पातञ्जल-योग-दर्शन' पर 'व्यासभाष्य', व ज्ञानानन्द कृत भाष्य व्यासभाष्य उस पर वाचस्पति मिश्र-कृत 'तत्ववैशारदी', शकर कृत 'भाष्यविवरण', विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्तिक' एवं हरिहरानन्द आरण्य की 'भास्वती'

### व्यासभाष्य—

उपलब्ध साहित्य मे 'पातञ्जल योग-दर्शन' पर सबसे अधिक प्रामाणिक और प्राचीन महर्षि व्यास का भाष्य है। इसके लिये 'योगभाष्य', 'सांख्य प्रवचनभाष्य' और 'व्यासभाष्य'—ये तीनो ही नाम व्यवहृत होते है। साख्य एव योग अभिन्न है, यह पहिले भी प्रतिपादित किया जा चुका है। सूत्रो की सांकेतिक भाषा एव उनके गूढ रहस्यो के उद्घाटन एव स्फुटीकरण मे 'व्यासभाष्य' सर्वथा कृतकार्य है। इसमे कही-कही पर अत्यन्त सरल किन्तु अनेक स्थलो पर विषय गाम्भीर्यवश क्लिष्ट भाषा-शैली का भी प्रयोग हुआ है। भाष्य मे अनेक दार्शनिक पदार्थों के अत्यन्त सुन्दर, मार्मिक एव व्यापक लक्षण दिये गये है। यथा दुःख का लक्षण (१/३१), सर्वज्ञत्व का लक्षण (३/४९), सुख का लक्षण (२/१५), ईश्वर प्रणिधान एव स्वाध्याय का लक्षण (२/१), ऋतम्भराप्रज्ञा का लक्षण (१/४८), क्षण का लक्षण (३/५२ इत्यादि। भाष्यकार का अन्तर्दर्शन भी नितान्त गम्भीर एव तलस्पर्शी था। द्रष्टव्य—मृत्युकालिक वर्णन (२/१३), अरिष्ट वर्णन (३/२२), भुवनकोश वर्णन (३/३६), चित्त-स्वभाव वर्णन (१/१२)

तथा ससार-चक्र का वर्णन (४/११) इत्यादि । भाष्य मे कही-कही पर सूक्तियो का भी प्रयोग है—यथा—'अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वान्' (२/१५) तथा 'श्रद्धाचेतसः सप्रसादः, सा हि जननीव कल्याणी योगिन पाति।' इन सूक्तियो का प्रयोग लौकिक होने के साथ योगियो के द्वारा सम्वेद्य भी हे । अनेक स्थलो पर मनोरम लौकिक दृष्टान्त भी है। यथा विपाक मे असमर्थ सस्कारो के लिये दग्वबीज का उदाहरण (२/४), चित्तानुगामिनी इन्द्रियो के लिये मधुमक्षिका का (२/३८), मोक्षभागीय व्यक्ति का लक्षण जानने मे वर्षाऋतु मे तृणाकुर दर्शन से बीज की सत्ता के अनुमान का (४/३५) तथा प्रकृत्यापूर के विषय मे कृषक का उदाहरण (४/३)। इन दृष्टान्तो से तत्कालीन लौकिक विषय परिज्ञात होते है। किन्ही स्थलो पर ऐतिहासिक महत्व के उदाहरण भी है। यथा ४/१ मे 'रसायन-विद्या' के लिये 'असुर-भवन' का उदाहरण। कुछ स्थलो पर विपक्षियो की अन्याय्यता के प्रदर्शन-हेतु व्यग्यपरक उपहास-वाक्यो का भी प्रयोग है (द्र० १/३२, २/२४ आदि)। 'व्यासभाष्य' 'पातञ्जल-योग' के समस्त परवर्ती व्याख्याकारो की आधारशिला है। योगभाष्यप्रणेता व्यास का काल-निर्णय भी विवादग्रस्त है। समस्त प्रचलित दर्शन-भाष्यो मे सर्वाधिक प्राचीन होने पर भी 'व्यासभाष्य' बौद्धमत के प्रचारोपरान्त लिखा गया है, जिसका इसमे अनेक स्थलो पर स्पष्ट नामोल्लेखपूर्वक खडन भी मिलता है।

पुराणो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि व्यास अनेक हुए है। उनमे से ये कौन से व्यास है, यह नही कहा जा सकता है। पूर्वाचार्यों के अनुसार 'योगभाष्य' का प्रणयन कृष्ण-द्वैपायन व्यास ने ही किया है। 'तत्ववैशारदी' के आरम्भ मे श्री वाचस्पति मिश्र ने 'वेदव्यासेन भाषिते' तथा श्री विज्ञानभिक्षु ने 'वेदव्यासमुनीन्द्र बुद्धिखनितः' और 'सर्वदार्थसारोऽत्र वेदव्यासेन भाषित' इत्यादि उक्तियो-द्वारा अष्टादश पुराणकार वेदव्यास को ही योगभाष्यप्रणेता माना है।

आधुनिक विचारधारा के अनुसार कृष्ण-द्वैपायन व्यास के काल मे विज्ञानवादादि-मत सम्प्रदाय विशेष के रूप मे अप्रचलित थे। वैष्णवादि विविध सम्प्रदायो के द्वारा प्रसगगत व्यास का न स्मरण किया जाना, वैनाशिकादि, विविध बौद्धादि सम्प्रदायो का भाष्य मे खडन, बौद्धग्रन्थो से भाषासाम्य व बौद्ध सम्प्रदायगत पारिभाषिक शब्दोल्लेख इत्यादि अनेक प्रमाणो से यही सिद्ध होता है कि ये व्यास कृष्णद्वैपायन के अतिरिक्त भी, पुराणगत परम्परा-प्रसिद्ध व्यासाचार्यो से भिन्न है। इन सब बातो का विस्तृत विवरण श्री भट्टाचार्य ने दिया है।[1]

१ द्रष्टव्य—भूमिका—'पात० यो० द०'—सम्पादक-रामशकर भट्टाचार्य।

अर्वाचीनकाल मे पुराणवाचको की ही व्यास उपाधि है, दर्शन-शास्त्र के निष्णात विद्वानो की नही।

बौद्ध-युग मे यदि कोई योगी व्यास थे तो सुप्रसिद्ध होने पर भी परम्परा मे उनका नाम आदि क्यो नही स्मरण किया गया, यह भी विस्मयात्मक है।

पचशिख अत्यन्त प्राक्कालीन आचार्य थे। उनका ग्रथ भी बौद्धयुग के बहुत पूर्व ही लुप्त हो चुका था। अतः यह भी विचारणीय है कि भाष्यकार व्यास ने उस ग्रथ को कैसे देखा, जिसके बल पर उनके उद्धरण व्यास भाष्य मे प्रचुरता से प्राप्त होते है। साथ ही इसमे ऐसे श्रुतिवाक्य भी मिलते है, जो अब अप्राप्त है।

उक्त दृष्टिकोण आधुनिक विचारको, शोधकर्त्ताओ की स्वय की काल्पनिक मान्यतायुक्त ऐतिहासिक यत्किञ्चित दृष्टिकोण का वृत्तमात्र है, शास्त्रीय, ऐतिहासिक विचार का किसी भी आचार्य के कार्यकाल से सम्बन्धित नही है।

भाष्यकार व्यास को बौद्धयुगीन मानने पर उपर्युक्त जिन शकाओ की उत्पति होती है—उनका निरसन करते हुए, वर्तमान विद्वान् श्री रामशकर भट्टाचार्य का कथन है कि सूत्रकार पतजलि ने स्वय ही सूत्रो की व्याख्या की थी, अथवा उनके किसी निकटवर्ती सज्जन ने यह कार्य किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। प्राचीनकाल मे यह प्रथा बहुधा प्रचलित थी। इस व्याख्यान मे ही प्राचीनतम श्रुतिवाक्य एव पचशिख के वचन सगृहीत थे। इस व्याख्यान को 'समास-भाष्य' कह सकते है, इसका कोई नाम नही था। 'व्यासभाष्य' मे बहुत से वाक्य-पतजलि की उक्तियाँ ही है। पूर्वाचार्यो ने भाष्य के कुछ वचनो को पतजलि के नाम से उद्धृत किया है। 'व्यासभाष्य' अत्यन्त प्राचीन व्याख्या पर आश्रित है, अतः उसमे पतजलि का एक अप्राप्त मूलवचन ( ३।४४ ) भी उद्धृत है। 'समासभाष्य' के विषय मे श्री भट्टाचार्य ने और भी अनेक प्रमाणो एव उद्धरणो का प्रदर्शन किया है, जो उनके द्वारा सम्पादित 'पातजल-योग-दर्शन' की भूमिका के व्यासभाष्य-प्रकरण मे ही द्रष्टव्य है। दीर्घकालोपरान्त जब समासभाष्य दुखबोध एव उच्छिन्नप्राय हो गया, तब उसके प्रचार एव सरक्षणार्थ करुणावश किसी योगी ने इस भाष्य की रचना की। साथ ही अपने काल मे प्रचलित दुष्ट मतो का समावेश करके उसे अत्यन्त विस्तृतरूप देकर पूर्व-व्याख्यान से उसके भेद के प्रदर्शन हेतु, उसका 'व्यासभाष्य' के नाम से प्रचार किया। हमारे प्राचीन विद्वान् ऐतिहासिक तथ्यो पर अधिक ध्यान नही देते थे। अतः विद्वत्परिषद् मे यह भाष्य व्यास के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

व्यास के काल-निर्णय के प्रसग मे वर्त्तमान प० श्रीयुत बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि भाष्यकार व्यास विक्रम के तृतीय शतक से प्राचीन नही है।[1] डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के अनुसार 'व्यासभाष्य' ईसा के चतुर्थ शतक मे प्रणीत हुआ है।[2] किन्तु व्यासभाष्यकार ईसा के परवर्ती नही हो सकते है। 'श्रामण्यफलसूत्र नामक बौद्धग्रथ मे व्यासभाष्य' के वचन देखे जाते है।[3] आर्षग्रथकार बौद्धग्रथो से कुछ भी ग्रहण करने की इच्छा नही कर सकता। अत 'व्यासभाष्य' 'श्रामण्यफलसूत्र' से प्राचीन है। इसके अतिरिक्त जैनग्रथो मे भी 'योग-भाष्य' के उद्धरण मिलते हैं। ईसा से ५००-६०० वर्ष पूर्व की 'तत्वार्थाधिगमसूत्र टीका' मे भी व्यास-भाष्य' का अनुकरण किया गया है। अतः वह उससे भी प्राचीन है।[4]

ईश्वर कृष्ण ईसा की उत्पति से पूर्ववर्ती आचार्य थे। 'योगभाष्य' मे ईश्वरकृष्ण कृत किसी भी साख्य की कारिका का उद्धरण प्राप्त नही होता। अतः योग-भाष्यकार व्यास उनसे प्राक्कालीन सिद्ध होते है।

प्राचीनतम दार्शनिक ग्रन्थो मे मगलाचरण नही होना था। 'व्यासभाष्य' मे मगलाचरण न होने से भी उसकी प्राचीनता द्योतित होती है। भाष्य के आदि मे ( यस्यस्त्वेत्यादि • ) जो श्लोक है वह प्रक्षिप्त है। श्री वाचस्पति मिश्र एव विवरणकार-शकर ने इस श्लोक की व्याख्या नही की है। यह श्लोक शकरकृत 'महाभाष्यटीका' मे मगलाचरण के रूप मे है।

इस शोध-प्रबन्ध मे पतञ्जलि आदि योगाचार्यो के काल के विषय मे ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्वा-पर सगति के साथ कुछ निर्णय करना आवश्यक नही है। कालादि के विषय मे विभिन्न विद्वानो के जो मत प्रचलित है उन मतो का उपस्थापनमात्र किया गया है।

## स्वामी ज्ञानानन्दकृत योगदर्शन भाष्य—

योगसूत्रो पर स्वामी ज्ञानानन्दकृत भाष्य भी उपलब्ध है। व्यास भाष्य के अतिरिक्त योगसूत्रो पर एकमात्र यही भाष्य प्रकाशित है। स्वामी जी का आविर्भाविकाल

---

१. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय—पृ० ३६८।

२. इण्डियन फिलॉसफी—राधाकृष्णन्—वाल्यूम २—पृ० ३४२।

३. भूमिका पात० यो० द०—सम्पादक-रामशकर भट्टाचार्य—पृ० ५६।

काल १९०२ वै० तथा तिरोभावकाल २००७ वैं० है। ये वाराणसी मे रहते थे तथा तत्स्थ भारत धर्म महामण्डल की सस्थापना भी इन्ही ने की थी।

स्वरचित भाष्य मे इन्होने भाष्यकार व्यास की व्याख्या पद्धति का अवलम्ब ग्रहण किया है, ऐसा इन्होने स्वय ग्रन्थारम्भ मे लिखा है। साथ ही यह भी लिखा है कि व्यासभाष्य अत्यन्त संक्षिप्त एव दुखबोध है। अत उसका इस भाष्य मे सविस्तार विवेचन है तथा व्यासभाष्यानुकूल अन्यान्य टीकाकारो व वृत्तिकारो के द्वारा विवेचित सिद्धान्त भी सन्निविष्ट है। भाष्यकार ज्ञानानन्द के शब्दो मे "भाष्येत्र भगवद्व्यासकृतयोगदर्शनभाष्यव्याख्यापद्धतिरेव अवलम्बिता। व्यासकृत भाष्यमतिसक्षिप्त दुर्बोध च। अतस्तदत्र सविस्तर विवेचित। व्यासभाष्यानुकूला अन्यान्यटीका—वृत्तिकारसिद्धान्ता अप्यत्र सन्निवेशिताः।"[1]

इस भाष्य की भाषा निश्चयेन अत्यन्त सरल है किन्तु व्यासभाष्य के अनुरूप ही व्याख्यान मे, अथवा उसके दुरूह अशो के सुविशदीकरण मे यह भाष्य कहाँ तक कृत कार्य है, यह कहना कठिन प्रतित होता है। भाष्यकार व्यास की व्याख्या सांख्य-योगीय दृष्ट्यनुकूल ही है, जबकि ज्ञानानन्दकृत भाष्य मे वेदान्त का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। यह भाष्य अत्यन्त अर्वाचीन होने पर भी भाष्य होने के कारण व्यास के बाद इसे स्थान दिया गया है।

## तत्ववैशारदी—

'व्यासभाष्य' की गूढार्थता को सुलझाने के लिये श्री वाचस्पति मिश्र ने 'तत्व-वैशारदी' तथा श्री विज्ञानभिक्षु ने 'योगवार्त्तिक' नामक टीकाएँ रची। शकरकृत 'विवरण' तथा हरिहरानन्द की 'भास्वती' भी 'व्यासभाष्य' की ही टीकाएँ है।

'द्वादशदर्शनकाननपञ्चानन' की उपाधि से विभूषित, सर्व दर्शनशास्त्र-मर्मज्ञ, श्री वाचस्पति मिश्र की सर्वतोमुखी प्रतिभा के अनुरूप ही 'तत्ववैशारदी' अत्यन्त पाण्डित्य-पूर्ण और प्रमेयबहुलता के सा-साथ गूढार्थ प्रकाशिनी भी है। ये सर्वतन्त्रस्वतंत्र होने पर भी भगवान् शिव के विशेष श्रद्धालु थे। मिश्र जी वेदान्त मत के मानने वाले थे, फिर भी उन्होने किसी शास्त्र-विशेष की व्याख्या करते समय, उसी शास्त्र के रहस्यो का उद्घाटन किया है और उसकी ग्रन्थियो को सुलझाने की पूर्णनिष्ठा एव तत्परता के साथ चेष्टा की है। अन्यान्य शास्त्रो के विरोधी सिद्धान्तो एव असमान बातो को उठा कर किसी शास्त्र-बिशेष मे श्रद्धा रखने वाले की बुद्धि को उद्भ्रान्त करने की चेष्टा उन्होने नही की है। यह इनकी अपनी विशेषता है। वे न्याय मे

---

१. द्र० प्राक्कथन ज्ञाना० कृत यो० द० भा० की अन्तिम पक्तियाँ।

सांख्य या सांख्ययोग मे वेदान्त के उन्नतर सिद्धान्तो का प्रसग लाकर प्रस्तुत शास्त्र की हीनता प्रकट नही करते। किसी भी शास्त्र का जैसा गुरु—गम्भीर विवेचन होना चाहिये, मिश्र जी की 'तत्ववैशारदी' मे वैसा ही शास्त्रीय विवेचन मिलता है। 'व्यासभाष्य' के रहस्योद्घाटन एव साकेतिक स्थलो के स्फुटीकरण मे यह टीका नितान्त कृतकार्य है तथा अनेक स्थलो पर सरल एव सुबोध भी है, फिर भी सस्कृत के सामान्य विद्यार्थी के लिये इसमे प्रवेश पाना दुष्कर है। इसका कारण मिश्र जी का अगाध आचार्यत्व, नैयायिक शैली एव विषय की गहनता है। डा० उमेश मिश्र ने यह टीका अत्यन्त सरल व बोधगम्य बतलाई है।[1] किन्तु श्री मिश्र जी की विषय गाम्भीर्यपूर्ण नैय्यायिक शैली को अत्यन्त सरल नही कहा जा सकता।

'तत्ववैशारदी' अत्यन्त प्रामाणिक टीका मानी जाती है। मिश्र जी की परवर्ती 'योगसूत्र' की टीकाओ मे वाचस्पति के मतो का प्रामाण्यतया निर्देश किया गया है। विवरणकार शकर ने भी ( १/२४ ) वाचस्पति का मत उद्धृत किया है। 'सर्वदर्शन-सग्रह' तथा अन्यत्र भी दर्शन-ग्रन्थो मे मिश्र जी की उक्तियाँ प्रमाण रूप मे स्मरण की गई है। 'पातजल योग' के टीकाकारो ने अनेक स्थलो पर बिना नाम-निर्देश के भी तत्ववैशारदीकार के मत ग्रहण किये है।

'तत्ववैशारदी' मे विविध सम्प्रदायो के दृष्टिकोणो को भी प्रदर्शित किया गया है। यथा वैनाशिक,[2] प्रावादुक,[3] विज्ञानवादी,[4] स्वमत[5] एव नास्तिक[6] इत्यादि।

भाष्यकार व्यास ने जिन स्थलो पर नाम-निर्देश न करके 'इत्यपरे' इत्यादि कहकर परमत का सकेत किया है, उनका नाम-निर्देश करना श्री वाचस्पति कभी भी नही भूले है।[7] योग के सूक्ष्म विषयो की दृष्टि से 'तत्ववैशारदी' के कुछ स्थल विशेष दर्शनीय है। यथा 'साधनपाद' मे उक्त ज्योतिष्मती धारणा का प्रसग, सास्मित समाधि-विषयक व्याख्यान, दृग्दर्शनशक्ति के भोक्तृभोग्य सम्बन्ध के द्योतनार्थ शक्तिग्रहण का प्रसग, मूर्धपद से सुषुम्ना नाडी का अर्थग्रहण, इत्यादि।[8]

---

१. भारतीय दर्शन डा० उमेश मिश्र पृ० ३१९
२. (४/१४-१९-२०-२१)
३ (४/१६)
४. (४/१४)
५. (४/१०)
६. (४/१०) (तत्व०)
७. यथा—अपरे=वैशेशिका (३/५३), यस्यतु=वैनाशिकमतम् (१/३२), अपरआह=एकान्तवादिन बौद्धमुत्थापयति (३/१३), शास्त्रानुशासनम्=षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टि (३/१३), केचित्=वैनाशिका बाह्यार्थवादिन (४/२३) इत्यादि।
८. द्रष्टव्य—तत्व० १/३६ १/१७ २/६ ३/३२ इत्यादि।

आचार्य वाचस्पति मिश्र का जीवनकाल नवम शताब्दी है। 'न्यायसूची-निबन्ध' मे मिश्रजी ने 'वस्वङ्कवसुवत्सर' इत्यादि शब्दो से स्वयमेव अपने जीवनकाल का निर्देश किया है। विद्वानो ने उस कथन से ८९८ सख्या का तात्पर्य ग्रहण किया है। वह सख्या पुनः विक्रमी को लक्षित करती है।[1] तदनुसार वाचस्पति मिश्र का काल ८४१ ई० सिद्ध होता है।

वाचस्पति गृहस्थ थे। उनकी पत्नी का नाम भामती था, जिनके नाम पर उन्होने स्वरचित 'शारीरकभाष्यटीका' का नाम भी भामती रक्खा। प्रसिद्ध न्यायशास्त्रविद् त्रिलोचन इनके गुरु थे।

## पातंजल-रहस्य—

'तत्ववैशारदी' पर राघवानन्द सरस्वती कृत पातजल-रहस्य' नाम्नी टीका है। यह व्याख्या अत्यन्त सक्षिप्त है तथा विशेष उपयोगिनी नही प्रतीत होती है। 'तत्ववैशारदी' के अध्ययन से जो तत्व स्फुट होते है—'पातजल-रहस्य' से उनकी सम्यक् व्याख्या भी नही हो पाती है। ये अद्वय-भगवत्पाद के शिष्य थे, यह अन्तिम पुष्पिका से ज्ञात होता है।

नोट:—भिक्षु आदि की अपेक्षा अर्वाचीन होने पर भी 'पातजल-रहस्य' 'तत्ववैशारदी' की टीका है। अतः उसका 'तत्ववैशारदी' के बाद स्थान रक्खा गया है।

## विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्त्तिक' एव 'योगसारसग्रह'—

विज्ञानभिक्षु के 'योगवार्त्तिक' और 'योगसारसग्रह' योग-दर्शन के उपयोगी ग्रंथ है। 'योगवार्तिक' 'व्यासभाष्य' की टीका है। यह अत्यन्त विस्तृत है। इसमे 'योगभाष्य' के विवेचन के अतिरिक्त 'तत्ववैशारदी' के व्याख्यानो की भी पर्याप्त समालोचना की गई है। भिक्षु के सांख्ययोगीय सैद्धान्तिक व्याख्यान मार्मिक है। वे सांख्य-योग के साथ अन्य दर्शनो, विशेषतः अद्वैतवेदान्त मत की समालोचना भी करने लगते हैं। इनके मत दुरूह प्रतीत होते है। 'वार्त्तिक' मे प्रसगत वैनाशिक मत, क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, आधुनिक मत (विशेषतः नव्यवेदान्त), दृष्टिसृष्टिवाद, न्यायवैशेषिक मत इत्यादि बहुत से सम्प्रदायो के मत सग्रहीत है।

'योग-वार्त्तिक' मे श्रुति, स्मृत्यादि के वचनो का प्रामाण्य बहुलता से प्राप्त होता है। इनके आधार पर भिक्षु का 'वार्त्तिक' सैद्धान्तिक दृष्टि से उपयोगी होने पर भी योग के

---

१. द्रष्टव्य—साख्य दर्शन का इतिहास (उदयवीर शास्त्री) पृ० ३४८ से ३६०।

सूक्ष्म एव गूढ विषयो के प्रति, इसमे अन्तर्दृष्टि का अभाव लक्षित होता है। यथा अस्मितानुगत समाधि के विपय मे श्री भिक्षु का मत पूर्ण समीचीन नही प्रतीत होता। ऐसे स्थल अन्यत्र भी (४/१०-११-३१) 'योगवार्त्तिक' मे देखे जा सकते है। कही कही पर योगशास्त्रान्तर्गत मतो की व्याख्या अत्यन्त ही विचित्र एव काल्पनिक प्रतीत होती है।[1]

श्री भिक्षु अत्यन्त स्वतन्त्र दृष्टिकोण के व्याख्याता है। कई विषयो मे उनका श्री वाचस्पति मिश्र से मत-वैपरीत्य लक्षित होता है। खडन-स्थलो मे कही भी श्री भिक्षु ने नामोल्लेख न करके, वाचस्पति के मतो का खडन भी किया है, किन्तु विचारपटुता एव न्याय की दृष्टि से प्रायः मिश्र जी के मत ही समीचीन है, ऐसा विद्वानो का निर्णय है। वह स्पष्ट ही अनुभूत होता है। अतः अनेक गुणो से युक्त एव अनेक दृष्टियो से उपयोगी होने पर भी प्रामाण्य दृष्टि से श्री भिक्षु के व्याख्यान सदिग्ध एव विचारणीय बन जाते है। भाष्य के परमत निर्देशस्थलो मे वाचस्पति की भाँति भिक्षु ने भी सम्प्रदायो के नाम बतलाए है।

सनातनदेव के अनुसार श्री भिक्षु का जीवन-काल निश्चितरूप से विक्रम की १८ वी शताब्दी है, क्योकि स्वय विज्ञानभिक्षु ने 'ब्रह्ममीमांसाभाष्य' के अन्त मे उसकी समाप्ति का सम्वत् १७७८ लिखा है।[2] आधुनिक-कालीन साख्ययोग के विद्वान् श्री उदयवीर शास्त्री ने अपने 'साख्य-दर्शन के इतिहास' ग्रन्थ मे अनेक युक्तियो से यह सिद्ध किया है कि ईसा की १४ वी शती का मध्यकाल वि० भि० का काल है।[3] जैसा कि भिक्षु पद से भ्रम होता है, भिक्षु जी बौद्ध नही थे। वेदान्त मत के प्रति असहिष्णु होने पर भी इनकी भक्ति के प्रति निष्ठा ज्ञात होती है। 'योगसार-सग्रह' के मगलाचरण का नमस्कारात्मक श्लोक भगवान् विष्णु के प्रति अगाध भक्ति का परिचायक है।

## योगसार-सग्रह—

इस पुस्तक मे सक्षेप मे योग के सिद्धान्तो का सार सकलित किया गया है। इसकी ( योगसार-सग्रह की ) भापा अत्यन्त सरल एव शैली नितान्त सुबोध है। इस ग्रन्थ के विषय मे स्वय श्री भिक्षु का कथन है—'योग-वार्तिकाचल-स्वरूप मथानी के

---

१. द्रष्टव्य—योगवार्त्तिक—(सू० २/१२, ३/१५-१८)

२ द्रष्टव्य—प्राक्कथन 'योग सार सग्रह'—अनुवादक स्वामी सनातनदेव ।

३ साख्य-दर्शन का इतिहास (ले० उदयवीर शास्त्री) पृ० ३०२ ।

द्वारा, योग-रूप समुद्र को मथ कर जो सारभूत अमृत निकाला है, वह इस ग्रन्थ-कुम्भ मे निहित किया जाता है'।[1] ग्रन्थकार की यह उक्ति अधिकाश मे ठीक भी है।

'योगसार-सग्रह' के विषय मे स्वामी सनातनदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि 'योग का ऐसा स्फुट विवेचन अन्यत्र अलभ्य है।' डा० गगानाथ झा भी इस ग्रन्थ से अत्यधिक प्रभावित हुए है। उन्होने लिखा है कि उनके सम्पूर्ण अध्ययन-क्रम मे उन्हे ऐसा कोई भी ग्रन्थ नही प्राप्त हुआ जो विद्यार्थियो एव अभ्यासियो के हाथ मे देने के लिये इससे अधिक उपयोगी हो।

"In the whole course of my study I have not come accross a better treatise to be placed in the handes of either 'students' or of 'aspirants' to 'Yoga'"

'योगसारसग्रह' मे अत्यन्त सक्षेप मे सुचारु रूप से योग का अमूल्य विषय सकलित है। 'योगवार्तिक' की भाँति इसमे भी श्रुति-स्मृति के वचनो का प्रामाण्य प्रस्तुत कर साख्ययोगमत का भलीभाँति पोषण किया गया है। अधिकाश विषय 'ईश्वर-गीता' ( कूर्मपुराणान्तर्गत ) के श्लोको के उद्धरणो द्वारा ही न्यस्त किया गया है।[2]

### शकर कृत 'योगभाष्य-विवरण'—

शकर कृत 'भाष्यविवरण' १९५२ ई० मे मद्रास से प्रकाशित हुआ। यह प्रसिद्ध भी नही था, ऐसा ज्ञात होता है, क्योकि दर्शन-ग्रन्थो मे इसका नामोल्लेख नही मिलता है। १९५७ मे प्रकाशित वर्तमानकालीन श्रीयुत बलदेव उपाध्याय कृत 'भारतीय दर्शन' मे भी योगाचार्यों मे विवरणकार शकर का नाम निर्दिष्ट नही है।

'भाष्यविवरण' के सम्पादक ने ग्रन्थ की भूमिका मे प्रस्थानत्रयीभाष्यकार और विवरण भाष्यकार शकर की एकता का प्रतिपादन किया है। किन्तु उनका यह मत युक्तिपूर्ण नही है। साधनपाद, सू० २८ के 'विवरण' मे प्रयुक्त 'अन्येषा व्याख्यानम्' के लिये सम्पादक महोदय लिखते है—

'अन्ये वाचस्पति मिश्रः।'[3] वाचस्पति मिश्र 'प्रस्थानत्रयी' के भाष्यकार शकर

---

१ वार्त्तिकाचलदण्डेन मथित्वा योगसागरम्।
उद्धृत्यामृतसारोऽयं ग्रन्थकुम्भे निधीयते ॥

२ द्रष्टव्य—भूमिका डा० झा कृत अनुवाद (योगसार सग्रह)

३ द्रष्टव्य—'पातञ्जल-योग-भाष्यविवरणम्'—पृ० ५५।

की अपेक्षा अर्वाक्कालीन है। आदि शंकराचार्य का जीवनकाल ८४५ वि० है, और वाचस्पति का ८९८ वि०। अतः श्री सम्पादक का यह मत स्वय अपनी ही उक्ति से खडित हो जाता है।[1]

भाषा की दृष्टि से भी 'शारीरकभाष्य' एवं 'योगभाष्यविवरण' मे साम्य लक्षित नही होता है। विवरणकार की अपेक्षा शारीरकभाष्यकार की भाषा कही अधिक प्रौढ, प्रांजल एव पूर्ण है। अनेक स्थलो पर आदि शकराचार्य एव विवरणकार के मतो मे भिन्नता भी लक्षित होती हैं।[2]

श्री भट्टाचार्य ने अनेक प्रमाणो के आश्रय से जयमगलाकार एव विवरणकार की एकता का सविस्तार निरूपण किया है।[3]

'भाष्यविवरण' मे श्री वाचस्पति मिश्र का मत उद्धृत है।[4] अतः इतना तो निश्चित है कि ये वाचस्पति के परवर्ती आर्चार्य है। श्री बलदेब उपाध्य के कथनानुसार जयमंगलाकार वाचस्पति के अनन्तर उत्पन्न हुए।[5]

'भाष्य-विवरण' योग-दर्शन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपयोगी ग्रथ है। 'विवरण' नाम के अनुरूप ही, इस ग्रन्थ मे 'व्यासभाष्य' के रहस्यो के अनावरण एव आशय का स्फुटीकरण अत्यन्त सुचारु ढग से किया गया है योगजिज्ञासुवर्ग के लिये भी यह परम उपकारक है। इसकी भाषा एवं शैली हृदयावर्जक है। योग के सूक्ष्म विषयो मे भी ग्रथकार का प्रवेश सूचित होता है। साधनपाद सूत्र ४७ के अन्तर्गत 'अनन्त' शब्द की 'अनन्तविश्वम्', 'अनन्तभाव आनन्त्यम्' यह व्याख्या योगाभ्यास की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगिनी है। इस विषय मे मिश्रजी एव श्री भिक्षु का मत यौगिक दृष्टि से उपयोगी नही है, ऐसा योगमर्मज्ञो का कथन है। विवरणकार उत्कृष्ट वैय्याकरण थे, उनके ग्रन्थो मे शब्दो का व्याकरण बहुलता से किया गया है। ईश्वरानुमान-विषयक

---

१. द्रष्टव्य—भारतीय दर्शन, वलदेव उपाध्याय—पृ० ४३१।
अभी हाल मे प्रकाशित प० उदयवीर शास्त्री कृत 'वेदान्त दर्शन का इतिहास ग्रन्थ मे शकराचार्य को ख्रीष्ट पूर्वकाल का आचार्य माना गया है। अभी यह मत परीक्षणीय है।

२. द्रष्टव्य—भूमिका—पा० यो० द०' स० रामशकर भट्टाचार्य—पृ० ७०-७१

३. " " "

४. १/२४।

प्रकरण से यह भी प्रतिभासित होता है कि वे न्यायशास्त्र के भी विशेषज्ञ थे।[1] सूत्र ३/१३ के 'तदेतत् त्रैलोक्यम्' इत्यादि भाष्यगत वाक्य के विषय मे न्यायभाष्य, वार्तिकादि मे विरुद्धहेत्वाभास-रूप दोष प्रदर्शित किया गया है। उसका भी विवरणकार ने समाधान किया है। 'विवरण' मे अनुवृत्ति-विषयक तर्क भी देखे जाते है, यथा समाधिपाद सू० २ मे योग पद की पुनरावृत्ति क्यो है, इसका समाधान ग्रथकार ने किया है। इसी स्थल पर चिति को चितिशक्ति कहने का तात्तपर्य भी स्फुट किया गया है। बहुत से स्थलो पर न्याय आदि मतो का उल्लेख एव खण्डन भी किया हुआ है।[2] प्रथम पाद सूत्र ४० के विवरण मे सक्षिप्ता, विशाल एव विकरिणी तीनो धारणाओ का कथन हुआ है। इस प्रकार की गणना-पद्धति अन्यत्र अप्राप्य है।

किसी किसी स्थल पर विवरणकार शकर का वाचस्पति मिश्र से मत-वैपरीत्य तथा भिक्षु से साम्य लक्षित होता है। यथा-विदेह एव प्रकृतिलयो के प्रसग मे।[3] यहाँ वाचस्पति मिश्र का मत ही ठीक प्रतीत होता है।

अनेक स्थलो पर ग्रथकार ने सूत्रपाठभेद एव भाष्यपाठभेद भी प्रदर्शित किये है, जिनका सम्पादको ने सर्वत्र टिप्पणियो मे निर्देश किया है।

## भास्वतीकार हरिहरानन्द आरण्य—

सुप्रसिद्ध सांख्ययोगाचार्य स्वामी हरिहरानन्द आरण्य अत्यन्त अर्वाचीनकालीन है। इनकी जन्मतिथि ४ १२-१८६९ तथा तिरोभाव-तिथि १९-४-१९४७ ई० है। ये योगाभ्यासी थे। ये एक गुफा के अन्दर दीर्घकाल तक रहकर योगाभ्यास किया करते थे। और इसी मे इन्होने अपने पाचभौतिक शरीर का परित्याग किया। बिहार राज्य के मधुपुर नगर मे इन्ही के द्वारा प्रतिष्ठापित एक मठ आज भी विद्यमान है।

यतिप्रवर हरिहरानन्द आरण्य ने बगादि भाषाओ मे साख्य और योग पर अनेक ग्रथो का निर्माण किया है। इनके 'पातजलयोगदर्शनम्' सज्ञक सुविख्यात ग्रथ मे योगविषयक अत्यन्त सूक्ष्मविचार उपलब्ध होते है ( जिनका इस ग्रन्थ मे प्रचुरता से उपयोग भी किया गया है। ) इन्होने जडविज्ञान की रीति से भी आर्ष सत्यो को प्रमाणित करके, सांख्य-योग मत का सर्वथा नवीन ढग से स्थापन किया है।

---

१. 'भाष्य विवरण'—पृ० ५८ से ७२ तक।

२. द्रष्टव्य—१/४, १/७, १/४३, आदि।

३. सू० १-१९।

योगप्रेमियो मे आरण्य जी का यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है। मूल पुस्तक कापिलाश्रमीय योगदर्शन बगला मे होने पर भी इसका हिन्दी, इंग्लिश भाषाओ मे आंशिक अनुवाद हो चुका है।

'व्यासभाष्य' पर इनकी 'भास्वती' टीका भी योगविद्या की अमूल्य निधि है। 'भास्वती' अत्यन्त सारगर्भित, सक्षिप्त सुबोध, प्रकृतविषयानुगामिनी एव शकाविकल्परहित है ऐसी ग्रन्थारम्भ मे स्वयं टीकाकार की ही उक्ति है, जो सर्वथा सत्य है। इस ग्रथ मे 'योगभाष्य' का तात्पर्य ही न्यायत विशद किया गया है, परमत-खण्डन की चेष्टानही की गई है।

अनेक स्थलो पर ग्रथाकार की न्यायसबलित अपूर्व योगज दृष्टि परिलक्षित होती है यथा—

'समाधिपाद' के प्रारम्भ मे ही परमर्षि कपिल की हिरण्यगर्भसंज्ञा, एकाग्रभूमिक चित्त की प्रज्ञा का सम्प्रज्ञान[१], एकतत्व के अर्थ का प्रसंग[२], आनन्दानुगत समाधि की व्याख्या एव उसका अस्मितानुगत से भेद[३], क्षणतत्क्रम विषयकव्याख्यान[४], स्वप्रकाश द्रष्टा के उपदर्शन के बिना आत्मभाव के अप्रर्वतन का कथन।[५] इसी प्रकार अन्यत्र[६] भी दर्शनीय है।

किसी किसी स्थल पर 'भास्वती' मे बिना नामोल्लेख के 'तत्ववैशारदी' के गूढ तत्वो का अपूर्व रीति से सम्यक्, सुचारु एव अत्यन्त सरल विवेचन किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है।[७] श्री रामशकर भट्टाचार्य का मत है कि मिश्रजी शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वान होने पर भी योगी नही थे।[८] अतः भास्वती' टीका सुगम होने के साथ योगज अन्तर्दृष्टि से परिपूर्ण होने से भी स्व-वैशिष्ट्य रखती है।

---

१ १/१।

२ १/३२।

३ १/१७।

४ ३/५२।

५ २/१५। ( द्रष्टव्य भास्वती )

६ १/२, १/४, १/१९, १/३६, २/५, २/११, २/१८, २/१९, २/२० इत्यादि।

७. द्रष्टव्य—भा० १/३२ की एकतत्व-विषयक व्याख्या।

८. द्रष्टव्य—भू० पा० यो० द० ( तत्तवैशारदी की आलोचना )

नोट— भास्वतीकार सम्कृत-योगचार्यो मे आधुनिकतम विद्वान् है, फिर भी 'व्यासभाष्य' के व्यख्याता होने से, उनका भाष्य के व्याख्यानो के साथ, यहा नामोल्लेख किया गया है।

## (२) योगसूत्रो की टीकाएँ

### भोजकृत्त 'राजमार्तण्ड' ( भोजवृत्ति )—

योगसूत्रो की टीकाओ मे 'भोजवृत्ति' नाम से प्रसिद्ध राजा भोज कृत 'राजमार्तण्ड' नाम्नी व्याख्या अत्यन्त सरल, सुन्दर एव लोकप्रिय है।

'व्यासभाष्य' से प्रभावित रहने पर भी यह सूत्रो की ही स्वतन्त्र व्याख्या है। 'सूत्रार्थप्रधानग्रथो वृत्तिः' वृत्ति का यह लक्षण 'भोजवृत्ति' मे चरितार्थ ही है।

यह वृत्ति सूत्रो को समझने मे अत्यन्त उपादेय है। परमत-खण्डन के प्रति विशेष आग्रह न होने पर भी इस वृत्ति मे मतान्तरो का उल्लेख एव खण्डन मिलता है। यथा ग्रथ के अन्त मे आत्मा के आनन्दमयत्व का खण्डन किया गया है, यह मत वेदान्त का है। यही पर नैयायिक, मीमांसक आदि के मतो का भी स्पष्ट खण्डन किया गया है। खण्डन की यह प्रवृत्ति विशेषतः कैवल्यपाद मे ही दृष्टिगत होती है, जिसे लक्ष्य करके भोज ने कहा है—

'विप्रतिपत्तिसमुत्थभ्रान्तिनिराकरणेन युक्त्या कैवल्यपादोऽयमारभ्यते।'

किसी-किसी स्थल पर 'भोजवृत्ति' मे योग-विषयक सूक्ष्म अर्थ भी निर्दिष्ट हैं। समाधिपाद के २१ वे सूत्रान्तर्गत 'सवेग' पद की जैसी विशद व्याख्या भोज ने की है, वैसी और किसी ने नही। द्रष्टा एव दृश्य के सयोग के विषय के वर्णन से ग्रन्थकार की सूक्ष्म एव गम्भीर अन्तर्दृष्टि व्यक्त होती है।[२] इसी प्रकार विशोका ज्योतिष्मती के स्वरूप का वर्णन भी अत्युत्कृष्ट है। आसन-सिद्धि के प्रकरण मे 'आनन्त्य-समापत्ति का कथन भी सर्वथा योगाभ्यासोपयोगी है।[३] उद्घात के विषय मे भी भोजसम्मत लक्षण ही सम्यक् एव पूर्ण है।[४]

पारिभाषिक एव विशिष्टार्थक शब्दोकी व्युत्पत्तियाँ भी भोज ने की हैं। यथा सम्प्रज्ञात, आसन, विराम आदि। किसी-किसी स्थल पर ये व्ययुत्पत्तियाँ बडी विचित्र सी प्रतीत होती है—यथा 'वर्तते गन्धविषये इति कृत्वा वृत्तेर्घ्राणेन्द्रिया-ज्जाता वार्ता गन्धसवित्।'[५]

अनेक गुण समलङ्कृता होने पर भी 'भोजवृत्ति' मे कुछ ऐसे भी स्थल है, जिनका औचित्य चिन्तनीय है। उदाहरणार्थ सास्मित समाधि-विषयक व्याख्या, विदेह

---

१. ३/१ वृत्ति।

२. २/२३ वृत्ति, ३. २/४७, ४. २/५०, ५. ३/३६।

एव प्रकृतिलयो के विषय मे भोज की दृष्टि भ्रान्त है।[1] इसी प्रकार अन्यत्र भी द्रष्टव्य है। ईश्वर के विषय मे श्री भोज की भ्रान्त दृष्टि का विवरण श्री भट्टाचार्य ने स्वसम्पादित 'भोजवृत्ति' की भूमिका मे दिया है।[2]

'भोजवृत्ति' के निर्माता जगत्प्रसिद्ध, परमविद्वान् सर्वशास्त्रपारगत् श्रीमान् धारेश्वर भोज है, ऐसा—

'शब्दानामनुशासन विदधता पातञ्जले कुर्वता ' इत्यादि ग्रन्थारम्भवर्ती श्लोकोक्ति से ही परिज्ञात होता है। इनका नाम रणरगमल्ल था, यह भी इन्ही की 'श्रीरणरगमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वला' ( ग्रन्थारम्भ श्लोक ५ ) इस उक्ति से व्यक्त होता है। 'शब्दानामनुशासन' इत्यादि पूर्वोक्त उक्ति से यह भी ज्ञात होता है कि वृत्तिकार ने व्याकरण और वैद्यकशास्त्र पर भी ग्रन्थो की रचना की है।

श्री भोज का राज्यकाल विद्वानो ने १०७५-१११० वि० निर्धारित किया है। इनका जीवन-वृतान्त मेरुतुङ्गकृत 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' बल्लालकृत 'भोज-प्रबन्ध' और 'कीर्ति-कौमुदी' आदि मे प्राप्त होता है।[3]

## भावागणेशवृत्ति—

श्री भावागणेश ने 'योगसूत्र' पर 'योगदीपिका' नामक वृत्ति लिखी, जो 'भावागणेशवृत्ति' नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है। ये दार्शनिक-शिरोमणि श्री विज्ञानभिक्षु के शिष्य थे, यह इन्होने स्वय लिखा है। इन्होने गुरु के दृष्टिकोण का अनुसरण करके वार्तिक के तात्पर्य को कही तो सक्षिप्त किया है और कुछ स्थलो पर, उसे विस्तृत रूप देकर 'दीपिका' मे प्रस्तुत किया है। स्वय वृत्तिकार ने ही ग्रन्थारम्भ मे लिखा है—

**'भाष्ये परिक्षितो योऽर्थो वार्त्तिके गुरुभिः स्वयम्।**
**सक्षिप्तः सिद्धवत् सोऽस्या युक्तिषूक्ताधिक क्वचित्॥'**

स्थल-स्थल पर व्याख्या करते समय भी 'वार्तिकि' को स्मरण किया गया है।

---

१ १/१७, १/१६।

२ द्रष्टव्य—भूमिका—'पात० यो० द० भो० रा० वृ० म०' (सम्पा० रामशकर भट्टाचार्य) पृष्ठ १६। इस ग्रन्थ की भूमिका मे 'भोजवृत्ति' के प्रत्येक पक्ष पर विषद विचार किया गया है।

३. द्रष्टव्य—भूमिका—पात० यो० द०—सम्पादक रामशकर भट्टाचार्य—पृ० ४८।

यथा—'इतिवार्त्तिके गुरुचरणैः प्रसाधित प्रपञ्चत च ।'[1] 'वार्त्तिक' मे भिक्षु ने जिस स्थल पर, जिस प्रकार, जो कुछ कहा है, भावागणेश ने भी वहाँ सक्षेप मे प्रायः ठीक वैसी ही व्याख्या की है। प्रथम पाद सप्तम सूत्र के व्याख्यान मे प्रमाता आदि के विषय मे उन्होने वार्त्तिककारिकाओ को यथावत् उद्धृत किया है।

'योगसूत्र' के अन्यान्य टीकान्तर्गत मतान्तरो का भी 'दीपिका' मे यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। यथा—"विज्ञानवादनिरस्य दृष्टि-सृष्टि-वाद निरस्यति"[2] 'शुद्धातार्किकास्तु इमा ( निद्रा ) वृत्ति स्वप्नमध्ये प्रवेशयन्ति ।'

भावागणेश श्री भिक्षु के शिष्य थे, अतः ये उनके समकालीन थे, यह स्वतः स्पष्ट है।

## रामानन्द यति कृत योगमणिप्रभावृत्ति—

श्री रामानन्द यति, यतिप्रवर श्री गोविन्दानन्द-भगवत्पाद के शिष्य थे, ऐसा ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका से ज्ञात होता है। अतः इनका जीवनकाल १६।१७ वी शती सिद्ध होता है।[4]

ग्रन्थकार की उक्ति के अनुसार 'मणिप्रभा—वृत्ति' व्यासभाष्यानुगामिनी है। वृतिकार का यह कथन यथार्थ ही है। 'मणिप्रभा' मे अत्यन्त सरल भाषा मे सक्षेपतः भाष्यार्थ का बोध यथास्थान किया गया है। बहुत से स्थलो पर भाष्य के वचन उद्धृत हुए है, और किसी किसी स्थल पर भाष्य के वचन के द्वारा ही सूत्र की व्याख्या की गई है। यथा—'तज्जपस्तदर्थ-भावनम' की व्याख्या मे 'तस्य प्रणवस्य जपः प्रणव-वाच्यस्य ईश्वरस्य भावन पुनः पुनश्चेतसि निवेशनमेकाग्रता उपायः' द्रष्टव्य है।

किसी किसी स्थल पर इसमे 'योगसुधाकर' से साम्य लक्षित होता है। कुछ स्थलो पर भोज का अनुकरण किया गया है। तृतीय पाद के १२ वे सूत्र के व्याख्यान मे तत्ववैशारदीकार का 'एव प्रतिक्षण परिणामिनः सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेरिति सक्षेपः' यह वाक्य भी बिना नामोल्लेख के स्मरण किया गया है। उक्त वाक्य 'साख्यतत्व कौमुदि' में पचम कारिका के व्याख्यान मे प्राप्त होता है।

---

१. १/४।

२. १/१०।

३. ४/१६।

४. द्रष्टव्य—भूमिका—'पात० यो० द०' (स० रा० श० भ०) पृ० ४८।

**नागोजीभट्ट—वृत्ति—**

नागोजीभट्ट की लघ्वी तथा बृहती वृत्तियाँ विद्वत्समाज मे अत्यन्त प्रसिद्ध एव समादृत है। इनकी बडी वृत्ति 'योगवार्तिक' पर आधारित है। इनमे किसी स्थल पर तो 'वार्तिक' के अर्थ को विशद किया गया है और कही उसे सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत किया गया है। 'वार्तिक' का अर्थ समझने मे यह विशेष सहायक है।

बहुत से स्थलो पर श्री भोज एव भावागणेश की वृत्तियो का अनुकरण किया गया है।[1] कही पर 'केचित्' शब्दोल्लेखपूर्वक भावागणेश का मत साकलित किया है।[2] कही पर कण्ठस्थ करके भोज के मत का निर्देश करके उसे स्वीकार किया है।[3] कही कही वाचस्पति के मत का परामर्श किया है।[4] अनेक स्थलो पर 'योगभाष्य' के वचन यथावत् ग्रहण किये है और कही उनका अनुवाद भी कर दिया है।[5]

द्वितीय पाद के नवम सूत्र को भट्ट जी ने भाष्य का ही अश माना है और इस विषय मे वाचस्पति का प्रामाण्य स्वीकार किया है—'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः इति तु भाष्यमेव न सूत्रमिति वाचस्पति स्वरसः'।

इस वृत्ति मे 'तत्त्ववेशारदी' का प्रभाव तो सर्वत्र ही झलक रहा है, 'भोजवृति' का भी पर्याप्त मात्रा मे अनुकरण लक्षित होता है। भावागणेश की 'योगदीपिका' का कही शब्दशः अनुकरण किया है, तो अन्य स्थलो मे, लेखक ने उनका खडन करने मे भी सकोच नही किया है। कुछ स्थलो पर इनके सूत्रार्थ-विषयक विशिष्ट व्याख्यान भी प्राप्त है। ऐसे स्थलो मे साधनपाद के पन्द्रहवे सूत्र की व्याख्या उदाहरणीय है। कही पर भट्ट जी ने वेदान्तादि अन्यान्य मतो के साथ समन्वय की चेष्टा की है।[6]

प्रसगगत वृत्तिकार तथा प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश एक ही व्यक्ति है। इन्होने व्याकरण धर्मशास्त्र एव अलकार-शास्त्र सम्बन्धी अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया है। इनकी वृत्ति से भी इनका शब्दशास्त्र-विषयक ज्ञान प्रकट होता है। उदाहरणार्थ

---

१ द्रष्टव्य—सू० १/४६, २/५-६-१२, ३/२५ इत्यादि की व्याख्या।

२. ४/३-५।

३. ४/३।

४. २/६, ४/१७।

५. १/४-७-२४, २/१३, ४/१०-२१-२३।

६. द्रष्टव्य—४/३४ वृत्ति।

विभूतिपाद के २५वे सूत्र की वृत्ति द्रष्टव्य है। इनका जीवनकाल १८वी शती का उतरार्द्ध सिद्ध होता है।[1]

## अनन्तदेव ( पण्डित ) कृत 'योगचन्द्रिका'

अनन्त पण्डित ने अपनी 'योगचन्द्रिका' सज्ञक व्याख्या मे—'भोजवृत्ति' के आधार पर सूत्रो के शब्दार्थमात्र का विधान किया है। अतः यह व्याख्या अति सक्षिप्त है। किसी किसी स्थल पर इनमे केवल सूत्रगत विभक्तियाँ और समास तोड कर, अथवा सूत्र के ही शब्दो को आगे-पीछे करके, रख दिया गया है।[2] इस वृत्ति मे योग के सूक्ष्म तथ्य स्फुट नही हो सके है। अतः यह टीका विशेष उपयोगिनी नही है। इनका जीवनकाल विक्रम का १६ वाँ शतक माना जाता है।[3]

## सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत 'योगसुधाकर'

सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत 'योगसुधाकर' नामिका व्याख्या 'योगसूत्रो' की बहुत सुन्दर और सरल टीका है। सक्षिप्त होने पर भी इसमे कुछ स्थलो पर योगविषयक सूक्ष्म तथ्यो का स्फुटीकरण प्राप्त होता है।[4]

मणिप्रभाकर का प्रभाव इस पर स्पष्ट लक्षित होता है। 'मणिप्रभा' और 'योग सुधाकर' टीकाएँ योगनिष्ठ पुरुषो की कृतियाँ है, अतः स्ववैशिष्ट्य रखती है तथा सूत्रार्थ-द्योतन मे अत्यधिक उपादेय है।

'योगसुधाकर' मे योगि याज्ञवल्क्य का ग्रन्थ अनेक बार स्मरण किया गया है। साधनपाद के ३५ वे सूत्र मे 'योगवाशिष्ठ' का श्लोक उद्धृत है।

उपर्युक्त व्याख्याओ के अतिरिक्त—'पातञ्जलयोगदर्शन' पर नारायणतीर्थ कृत 'योगचन्द्रिका' एव 'सूत्रार्थबोधनी', यशोविजयकृत 'योगसूत्रवृत्ति' भी प्रकाशित है। ये वृत्तियाँ उपलब्ध नही हो सकती। 'पातजलयोगदर्शन' पर इतना ही साहित्य प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त—

---

१ द्रष्टव्य—भूमिका—'पा० यो० द०'—(स० रा० शा० भ०) पृष्ठ ४६।

२ उदाहरणार्थ—द्रष्टव्य—१/१०—१/१६ आदि।

३ द्रष्टव्य—भूमिका—षड्वृत्ति-युक्त—पात० यो० द०।

४ द्रष्टव्य—'योग सुधाकर' १/३६।

५ २/३२, ३/१।

(१) उदयशकर रचित—'योगसूत्रवृत्ति'
(२) उमापति कृत—'योगसूत्रवृत्ति'।
(३) नारायणभिक्षु कृत—'योगसूत्रार्थ गूढार्थ द्योतिका'।
(४) ज्ञाननन्द कृत—'योगसूत्राविवृत्ति'।
(५) भवदेव कृत—'पातलीयाभिनवभाष्यम्'।
(६) भवदेव कृत—'योगसूत्रवृत्तिटिप्पणम्'।
(७) गणेश दीक्षित कृत—'पातजलवृत्ति'।
(८) महादेव कृत—'योगसूत्रवृत्ति'।
(९) रामानुज कृत—'योगसूत्रभाष्यम्'।
(१०) वृन्दावन शुक्ल कृत—'योगसूत्रवृत्ति'।
(११) शिवशकर कृत—'योगवृत्ति'।
(१२) सदाशिव कृत—'पातजलसूत्रवृत्ति'।
(१३) श्रीधरानन्द यति कृत —'पातजलरहस्य प्रकाश'।
(१४) बलदेव मिश्र कृत—'योगप्रदीपिका'।
(१५) स्वामिनारायण कृत—'किरणावली टीका'।
(१६) स्वामि हरिप्रसाद कृत—'योगसूत्रवैदिकसूत्रवृत्ति'।

ये ग्रन्थ भी 'पातजल-योग-दर्शन' पर है। इनमे से अधिकाश अप्रकाशित है, जो प्रकाशित है वे भी गभीर अर्थ के प्रकाशक नही है।

श्री रामशकर भट्टाचार्य-द्वारा सम्पादित 'पातजल-योग-दर्शक' की भूमिका मे क्षेमानन्द दीक्षित कृत 'नवयोग कल्लोल' नामक ग्रन्थ का भी निर्देश है।

इन सस्कृत-ग्रन्थो के अतिरिक्त अन्यान्य भाषाओ मे भी पातजलयोग पर ग्रन्थ-रचनाएँ हुई है। अलबरूनी ने 'किताब-पातजल' का उल्लेख किया है। हिन्दी मे स्वामी ओमानन्द का 'पातजल-योग-प्रदीप' भी एक सुन्दर और विशाल ग्रन्थ है। इसमे पूर्वाचार्य-परम्परा का निर्वाह करते हुए, कही-कही पर आधुनिक-विज्ञान की दृष्टि से व्याख्या की गई है। वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्ववैशारदी' पर आधारित 'देवनागरी योगभाष्यविवृत्ति' एक उपयोगी ग्रन्थ है। योगदर्शन पर बालराम उदासीन की टिप्पणियाँ भी अत्यन्त उपयोगी है। अग्रेजी भाषा मे लिखित आई० के० टैमनी कृत 'साइन्स ऑफ योग नामक ग्रन्थ भी बहुत सुन्दर है। इसमे पूर्वाचार्य के प्रति सम्मानपूर्ण दृष्टि रखते हुए ग्रन्थकार ने आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार योगसूत्रो की व्याख्या की है।

## (३) योगशास्त्र के आचार्यो मे महर्षि पतजलि एव व्यास का महत्व ।

भूमिका के द्वितीय प्रकरण 'योगशास्त्र का उद्भव और विकास' मे समस्त प्रसिद्ध योगाचार्यो एव उनके ग्रन्थो का सविशेष वर्णन किया जा चुका है। समस्त आचार्यो को दृष्टि मे रखते हुए सम्पूर्ण योगशास्त्र का समीक्षण यह सिद्ध कर देता है कि योगदर्शन के इतिहास मे, महर्षि पतजली एव भाष्यकार व्यास विशेष महत्वपूर्ण है ।

समस्त प्रचलित दर्शनो तथा योग के उपलब्ध ग्रन्थो मे 'योगसूत्र' की प्राचीनता-महर्षि पतजली की महत्ता की ही परिचायिका है ।

योग के आदि प्रर्वतक के रूप मे हिरण्यगर्भ को स्मरण अवश्य किया जाता है, किन्तु आज 'हैरण्यगर्भ-योग' उपलब्ध नही है। 'हैरण्यगर्भ-योगशास्त्र' का जो विवरण ग्रन्थान्तरो मे प्राप्त होता है, उससे ज्ञात होता है कि 'हैरण्यगर्भ-योगशास्त्र' 'अत्यन्त विस्तृत था । प्रारम्भ मे वह कठाग्र करके गुरुशिष्य-परम्परा द्वारा प्रचलित रहा। उसी परम्परा प्राप्त विद्या के आश्रय से कुछ योगियो ने हिरण्यगर्भयोगपरक ग्रन्थो का प्रणयन किया ।[1] अनेक मनीषियो द्वारा विरचित हिरण्यगर्भ-योगपरक ग्रन्थो मे कुछ न कुछ भेद अवश्यम्भावी है। उसके सकलन से 'हिरण्यगर्भ-योगशास्त्र' का विस्तृत होना भी स्वाभाविक ही है । अतः अनेक सवादादि से विभक्त होकर जब वह योग-विद्या अति-विस्तृत, अनवधारणीय, दुर्बोध एव लुप्त-प्रायः हो चली, तब भगवान् पतजली ने उसके रक्षाणार्थ करुणया न्याय सगत योगसूत्रो मे उसे ग्रथित किया । अतः योगविद्या की रक्षा का महान् श्रेय महर्षि पतजली को ही प्राप्त है। उन्होने इसका पुनरुद्धार कर सागोपाग योग-विद्या का पुनः प्रचार करके, एक ऐसे प्रशस्त पुण्य-पन्थ का प्रकाशित किया, जिस पर चलकर मानव-मात्र के अभीष्ट की सिद्धि होती है। उन्होने एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया जिसके समक्ष केवल भारत ही नही, सम्पूर्ण विश्व ही श्रद्धावनत है ।

महर्षि पतजलि का 'योगसूत्र' भारतीय दर्शनो का शिरोभूषण है। उसका एक-एक शब्द सारगर्भित एव पुनरुक्ति आदि दोष- विहीन है । 'साइन्स ऑफ योग' के रचियता आई० के० टैमनी लिखते है।—'योगसूत्र' का एक भी शब्द महत्वहीन अथवा अनावश्यक नही है । भले ही हम उनका स्पष्ट मूल्याकन न कर सके ।

"Not a word in the Yoga—Sutras is without its significance

---

१ द्रष्टव्य—भूमिका गत 'द्वितीय प्रकरण' मे हैरण्य गर्भ-योग-विवरण ।

and necessity although we may not be able to see these clearly"[1]

( The Science of yoga, page 263 )

पतजली का 'योगसूत्र' मानव-मस्तिष्क के चिर-प्राचीन एव नित-नविन अन्वेषणो का अपूर्व दिग्दर्शन है।

'योगदर्शन' की उदारता-व्यापकता और 'विवेचनात्मकता' के प्रकरण मे पतजलि द्वारा निर्दिष्ट योग की व्यापकता, उदारता, व्यावहारिकता, जीवन मे उपयोगिता, उसकी मनोवैज्ञानिकता, विवेचनात्मक तर्कों की अकाट्यता आदि का स्फुटिकरण किया जा चुका है, जो महर्षि पतजलि की महत्ता का ही परिचायक है।

पतजलि के समस्त परवर्ती आचार्यों मे यत्किचित परमत खण्डन की प्रवृति दृष्टिगत होती है, किन्तु पतजलि ने अपने मत की स्थापना के लिये परमत खण्डन करके युक्तिवाद का प्रश्रय कभी नही लिया। उन्होने अत्यल्प शब्दो मे केवल अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। अतः महर्षि पतजलि के सिद्धान्त अत्यन्त जनप्रिय हुए है।

योग के प्राप्य ग्रथो मे पतजलि का 'योगसूत्र' ही एकमात्र मूलग्रन्थ है। शेष अधिकाश साहित्य योगसूत्रो की व्याख्या-परक है। 'योगसूत्र' का प्रामाण्य योगातिरिक्त अन्यान्य आर्ष-अनार्ष ग्रन्थो मे भी बहुलता से पाया जाता है। योगशास्त्र के अन्यान्य ग्रन्थकारो मे से किसी का भी इतना अधिक प्रामाण्य स्वीकार नही किया गया है।

योग के परवर्ती आचार्यों का यत्र-तत्र खडन भी मिलता है, किन्तु पतजलि द्वारा निरूपित अष्टागयोग विषयक सिद्धान्त सर्वथा सर्वमान्य है। पातजल योगसूत्र के अनेक एव विविध प्रकार के अनुवाद इगलिश भाषा मे हो चुके है। इससे भी अन्य योगाचार्यो की अपेक्षा महर्षि पतजली की विशेष महत्ता सूचित होती है।

योगशास्त्र के आचार्यो मे महर्षि पतजलि के बाद मनीषि व्यास का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। महर्षि व्यास ने 'योगभाष्य' की रचना करके, पतजलि के गूढार्थ सूत्रो के रहस्योद्घाटन का जो स्तुत्य प्रयास किया, वह योगविद्या के इतिहास मे सर्वदा अविस्मरणीय है।

पातजल-योगसूत्रो पर बाद मे जितने भी व्याख्यान लिखे गए, श्री व्यास कृत भाष्य उनमे सबसे समीचीन एव सर्वाधिक प्रामाणिक है।

---

१. साइन्स ऑफ योग'—पृष्ठ २६३।

महर्षि व्यास ने एक ऐसे ग्रन्थ रत्न का प्रणयन किया, जो योगसूत्रो के साथ उन्ही की भाँति विश्व-साहित्य मे अपनी सानी नही रखता। 'व्यास-भाष्य' जैसी नितान्त सारगर्भित, स्वच्छ न्यायसगत, अन्तर्दृष्टिसबलित, गम्भीर एव पूर्ण-दार्शनिक पुस्तक जगती तल पर सर्वथा अलभ्य है। इसका विशेष विवरण भूमिका के द्वितीय प्रकरण मे द्रष्टव्य है।

समस्त परवर्ती आचार्यो की 'व्याख्याएँ' व्यासभाष्य के सुदृढ आधार पर ही आधृत है, जिसका प्रभाव अन्यान्य आचार्यो की व्याख्याओ पर स्पष्ट ही झलक रहा है। योग के विविध आचार्यो ने ग्रन्थारम्भ मे यह प्रतिज्ञा भी की है कि वे व्यास सम्मत मत का ही प्रतिपादन या पुष्टीकरण करेगे। नागेश आदि आचार्यो ने किन्ही स्थलो पर नामनिर्देशपूर्वक, कही बिना नामोल्लेख के और कही पर 'व्यासभाष्य' के ही वचनो से योगसूत्रो की व्याख्या की है। इस विषय का भी विशेष विवरण भूमिका के ही द्वितीय प्रकरण मे दिया गया है।

योगदर्शन के प्रसिद्ध एव प्रकाशित साहित्य मे एकमात्र प्रामाणिक भाष्य, 'व्यासभाष्य' ही है। योग के परवर्ती प्रायः सभी आचार्यो ने भाष्यकार व्यास का प्रामाण्य स्वीकार किया है। वैसे योगसूत्रो पर आधुनिक विद्वान श्री ज्ञानानन्दकृत भाष्य भी उपलब्ध हुआ है किन्तु वह विशेष उपयोगी नही प्रतीत होता है।

## (४) तुलनात्मक आलोचना का सार।

योग-दर्शन अत्यन्त गूढ विषय है। अतः 'योगसूत्र' के व्याख्याकारो मे पारस्परिक मतभेद भी यत्र-तत्र पाए जाते है। उन मतवैपरीत्यो की ज्ञानप्राप्ति हेतु व्याख्याकारो की व्याख्याओ की तुलना करना आवश्यक प्रतीत होता है। तुलनात्मक अध्ययन से विभिन्न ग्रन्थियाँ खुलती है तथा प्राचीन से प्राचीन विषय भी तुलनात्मक आलोचना-द्वारा सर्वथा नवीन रूप धारण कर लेता है। अध्ययन के क्षेत्र मे तुलनात्मक ढग ही आधुनिकतम समझा जाता है। अतः आधुनिक युग मे तुलनात्मक समीक्षा विशेष आदरणीय मानी जाती है। इसके द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती है। साथ ही अध्ययन का क्षेत्र व्यापक भी होता है और मस्तिष्क की सकीर्णता दूर होती है। समस्त पक्षो के नवीन तथ्यो पर मौलिक प्रकाश पडता है। 'पातजल-योगदर्शन' के विविध व्याख्याकारो की विभिन्न व्याख्याओ के तुलनात्मक अध्ययन मे जिन अर्थ-भेदो अथवा मतान्तरो की उपलब्धि हुई है, उनमे से विशिष्ट-विशिष्ट स्थलो की सूत्र-सख्या का निर्देश निम्नलिखित तालिका मे किया जाता है—

## मतभेद

| सूत्र सख्या | मतभेद | |
|---|---|---|
| १/१ | वाचस्पति से व राघवानन्द सरस्वती से | व्यास, भिक्षु, शकर, भावागणेश, नागोजी, रामानन्द यति, स्वामी ज्ञानानन्द, अनन्तपण्डित व हरिहरानन्द आदि का। |
| | ,, | |
| १/२ | वाचस्पति से | विज्ञानभिक्षु का। |
| १/१६ | ,, | भिक्षु, शकर, भोज, भावागणेश एव नागोजीभट्ट का। |
| १/३२ | ,, | विज्ञानभिक्षु, भोज, भावागणेश, नागोजीभट्ट एव अनन्त पण्डित का। |
| १/३४ | ,, | विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, नागोजी भट्ट एव अनन्त पण्डित का। |
| १/४६ | ,, | विज्ञानभिक्षु का। |
| १/३८ | ,, | विज्ञानभिक्षु एव हरिहरानन्द आरण्य का। |
| २/६ | ,, | विज्ञानभिक्षु एव भोज का। |
| २/२७ | ,, | विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, नागोजी भट्ट एवं अनन्त पण्डित का। |
| २/४७ | ,, | विरणकार शकर, श्री भोज एवं हरिहरानन्द आरण्य का। |
| ३/१८ | ,, | विज्ञानभिक्षु का। |
| ३/२६ | ,, | भोज, नागोजी भट्ट एव आई० के० टैमनी का। |
| ३/४० | ,, | विज्ञानभिक्षु, भावा गणेश, नागोजी भट्ट का। |
| ३/४२ | ,, | आई० के० टैमनी का। |
| ३/५० | ,, | विवरणकार शकर, श्री भोज अनन्त पडित एव सदाशिवेन्द्र सरस्वती का। |
| ४/४ | ,, | ओमानन्द तीर्थ का। |
| ४/२६ | ,, | भोज, रामानन्द यति का। |
| ४/३१ | ,, | भिक्षु का। |
| ४/३४ | ,, | विवरणकार शकर का। |

इस तालिका मे वाचस्पति से जिन व्याख्याकारो का मतभेद है, उनका नाम दे दिया गया है। जिन व्याख्याकारो का नाम नही दिया गया है, उनका वाचस्पति के मत से साम्य है।

# योग - दर्शन

## ( भाष्यार्थ-बोधनी )

व्यास तथा अन्य व्याख्याकारों के आधार पर
'पातंजल-योग-सूत्र' का विवेचनात्मक
एवं तुलनात्मक अध्ययन

### प्रथम अध्याय



(१) योग का अनुशासन एव उसका स्वरूप ।
(२) योगी की स्वरूपस्थिति एव अन्यथावृत्तिसारूप्यता ।
(३) वृत्तियो के प्रकार, स्वरूप, लक्षण तथा वृत्तिनिरोध ।
(४) अभ्यास, उसकी दृढता तथा द्विविध वैराग्य ।
(५) सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात समाधि ।



श्री गणेशायनम

श्री सरस्वत्यैनम

नम परमर्पये

चराचरमिद विश्व प्रकाशयसितेजसा ।
मातृकारूपभास्थाय तस्यै मातर्नमोस्तुते ॥

## (१) योग का अनुशासन एव उसका स्वरूप :—

शासन किसी विषय के लक्षण, भेद, उपाय एव फल सहित उपदेश अथवा शिक्षा को कहते है। अनुशासन का अर्थ है—ऐसे विषय की व्याख्या करना जिसका कि शासन पहले से विद्यमान हो।[१] अतः 'योगसूत्र' का आरम्भ करते हुए, महर्षि पतजलि ने योग-विद्या का प्राचीन परम्परा से चला आना बतलाया है।[२] जिसका कि वर्णन श्रुति-स्मृतिपुराणादि मे भी पाया जाता है तथा हिरण्यगर्भ जिसके प्रथम वक्ता है :—

'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ।'[३]

तथा

'इद हि योगेश्वर योगनैपुण हिरण्यगर्भो भगवान् जगादयत् ।'[४]

अतः महर्षि पतजलि ने हिरण्यगर्भ-द्वारा उपदिष्ट योगशास्त्र का अपने 'योगसूत्र' मे पुनः उपदेश करते हुए, चित्तवृत्ति-निरोधरूपयोग[५] का सामान्य लक्षण, उसके साधनीभूत विवेकख्याति-प्राप्ति-हेतु चित्त का प्रख्याप्रवृत्तिस्थित शीलत्वरूप, त्रैगुण्य तथा उनके परिणाम, अपरिणामिनी चितिशक्ति का स्वरूप, विवेकख्याति से उसका भेद, वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एव अस्मितानुगत चारो प्रकार की

---

१ 'अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षणभेदोपायफलैर्येन तदनुशासनम्' । (भोजवृत्ति)
शिष्टस्य शासनम् अनुशासनम् ।' (वाचस्पति)

२ 'अथयोगानुशासनम् (योगसूत्र) (१-१)

३. महाभारत-शान्तिपर्व, ३४६/६५ तथा योगियाज्ञवल्क्य (१२/५)

४. श्रीमद्भागवत तथा देवी भागवत ८/११/३ ।

५. 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' (यो० सू० १/२)

सम्प्रज्ञातसमाधि एव 'सर्व वृत्तिनिरोध' रूप असम्प्रज्ञात समाधि के विशेष लक्षण बतलाए है। अन्त मे पुरुष के परम लक्ष्य कैवल्य का निरूपण किया है। महर्षि पतजलि ने योगसूत्र का प्रारम्भ किया है—'अथयोगानुशासनम्' योगानुशासन के पूर्व अथ शब्द की योजना का अवश्य ही विशेष प्रयोजन होना चाहिये। भाष्यकार व्यास की 'अथेत्ययमधिकारार्थः' उक्ति के अनुसार अथ शब्द अधिकारार्थक है। अथ शब्द अधिकारार्थक है, भाष्यकार की इस उक्ति को परवर्ती लगभग समस्त आचार्यों ने एकस्वरेण दुहराया है परन्तु 'अधिकारार्थ' का क्या अर्थ है, यह विचारणीय है। सामान्यतः प्रत्येक व्याख्याकार ने सूत्रस्थ 'अथ' शब्द को अथवा भाष्यस्थ 'अधिकारार्थः' को आरम्भार्थक माना है। श्री वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसंग मे लिखा है कि 'अथ' का आनन्तर्य अर्थ भी सम्भव है। तदनुसार शिष्य प्रतीत्यादि के अनन्तर योगानुशासन की सम्भावना हो सकती है। किन्तु आनन्तर्य अर्थ का उन्होने अनेकशः साधक-बाधक दृष्टियो से विमर्श करके[1] अन्त मे 'अधिकारार्थक' 'अथ' शब्द का मुख्य अर्थ प्रारम्भ माना है।

इसी प्रकार विवरणकार शकर ने 'अथ' को आरम्भार्थक अङ्गीकार किया है—"अथेत्ययमधिकारार्थः। अधिकारः आरम्भः प्रस्तावः"[2] इसके आनन्तर्य अर्थ का विवरणकार ने भी खंडन किया है। उस प्रसग मे आचार्य शकर ने व्याकरण की दृष्टि से भी 'अथ' का आनन्तर्यार्थ असिद्ध बतलाया है। कुछ अव्यय विभक्त्यर्थ प्रधान है। कुछ क्रिया प्रधान। यथा उच्चैः, नीचैः इत्यादि विभक्त्यर्थ प्रधान होते है, हिरुक् ( वर्जन करना ) पृथगादि क्रिया प्रधान। सूत्रस्थ 'अथ' शब्द यदि आनन्तर्यार्थक होता तो सत्वप्रधान होने से विभक्ति श्रवण होना चाहिये था। प्रकृत स्थल मे अथ शब्द मे विभक्ति श्रवण न होने से सिद्ध है कि यह अव्यय है और वह अव्ययत्व तभी सिद्ध हो सकता है जब इसे क्रियार्थक माना जाए। 'अथ' को आरम्भ क्रियार्थक मानने पर तो अव्ययत्व के कारण विभक्ति लुप्त हो जाने से असत्व प्रधानतया विभक्त्यश्रवण युक्तियुक्त ही है।

श्री विज्ञानभिक्षु 'अथेत्ययमधिकारार्थः' की व्याख्या करते है—"अधिकार-शब्दो योगरूढतया आरम्भण एव मुख्यः"।[3] अतः श्री भिक्षु के मत से भी अथ शब्द

---

१. "शिष्यप्रश्नतपश्चरणरसायनाद्युपयोगानन्तर्यस्य च सम्भवेऽपि नाभिधान, शिष्यप्रतीति-प्रवृत्योरनुपयोगात्, प्रामाणिकत्वे 'योगानुशासनस्य' तदभावेप्युपेयत्वात्।" (तत्व० १-१)

२. भाष्य विवरण (१-१)

३. योगवार्तिक (१-१)

आरम्भार्थक है। राघवानन्द सरस्वती 'अथ' को अधिकारार्थक एव मगलार्थक मानते है। मगल अर्थ के विषय मे श्री वाचस्पति मिश्र, श्री भिक्षु एव विवरणकार का मत है कि अथ शब्द मुख्यतः अधिकारार्थक होने पर भी मंगलार्थक भी है, जिस प्रकार अन्य कार्यार्थ नीयमान जलपूर्ण घटदर्शनमात्र से गन्ता को मगलार्थक होता है। भास्वतीकार आरण्य "अधिकृत आरब्धमिति वेदितव्यम्" लिख कर आरम्भमात्र अर्थ स्वीकार करते है।

भोजराज ने 'अथ' को अधिकार एव मगल का द्योतक माना है। भावागणेश ने भी अथ शब्द को उच्चारण मात्र से मगलवाचक तथा आरम्भार्थक माना है और आनन्तर्य अर्थ का निरसन किया है। नागोजीभट्ट एव सदाशिवेन्द्र सरस्वती भी भोज सम्मत मत का अनुमोदन करते है। मणिप्रभाकार रामानन्द यति "अथशब्दः आरम्भार्थः" लिख कर आगे अनुबन्ध चतुष्टय का निर्देश करते हुए लिखते है—यहाँ 'योग' शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। तज्जिज्ञासु अधिकारी है, फल कैवल्य है और उनका यथायोग्य सम्बन्ध है। अनन्त पण्डित ने साधारणतया 'अथशब्दोऽधिकारवाची' लिख दिया है।

भारत धर्म महामण्डल के सस्थापक स्वामी ज्ञानानन्द स्वरचित भाष्य मे लिखते है—"अथशब्दो मागलिको विघ्नविनाशनश्च"। पुनः "तत्वज्ञान प्रकाशयितुमधिकार-निर्णयोप्यावश्यकः। अतोऽधिकारार्थकोऽप्यथ शब्द प्रयोग" और "आनन्तर्यार्थेऽप्यथ-शब्दः प्रयुज्यते ·····अथ शब्दस्य अधिकारानुसारेण आनन्तर्यार्थो प्रयोगो युक्ति युक्त एव" —इत्यादि उक्तियो द्वारा वे किसी एक निश्चित अर्थ को स्वीकार नही करते। यहॉ यह भी स्मर्तव्य हैं कि 'अथ' शब्द की आनन्तर्यार्थिता का वाचस्पति शंकर प्रभृति मान्य आचार्यों ने सयुक्तिक निरास किया है। व्याकरण की दृष्टि से भी वह असिद्ध है। पातञ्जल योगप्रदीपकार लिखते है 'अथ' यह शब्द अधिकार अर्थात् आरम्भवाचक और मङ्गलार्थक है।

यह भी विचार्य है कि प्राचीनकाल मे कोई भी शुभ कार्य मङ्गल के बिना नही किया जाता था और यहॉ ग्रन्थकार ने क्या योग जैसे महान् विषय का आरम्भ करते हुए कोई मङ्गल नही किया ? जो व्याख्याकार अथ शब्द को मङ्गलार्थक मानते भी हैं, वे मङ्गल को उसका गौण अर्थ स्वीकार करते है, जैसा कि वाचस्पति आदि विद्वानो की—"अधिकारार्थस्य चाथ शब्दस्यान्यार्थनीयमानोदकुम्भदर्शनमिव श्रवण मङ्गला-यापि कल्पत इति मन्तव्यम्"—इत्यादि उक्तियो से स्फुट होता है। अत अथ शब्द के अधिकार एवं मङ्गल दोनो ही अर्थों को समानरूप से प्रधानता मिलनी चाहिए।

सूत्रस्थ 'अथ' अथवा भाष्यस्थ 'अधिकारार्थ' का अर्थ सामान्यतया आरम्भ ही मानना कुछ युक्तिसगत प्रतीत नही होता। सूत्रो जैसी संक्षिप्त शैली मे विरचित ग्रन्थ मे आरम्भमात्र के सूचनार्थ 'अथ' शब्द की योजना नही हो सकती। यदि 'अथ' शब्द उक्त न होता तब क्या योगशास्त्र आरब्ध नही समझा जाता ? अत सूत्र ग्रन्थ मे आरम्भ हेतु अननिवार्य अथ शब्द मे अवश्य ही अर्थ विशेष निहित है। यदि अथ से आरम्भ ही अभिप्रेत होता तो भाष्यकार व्यास भी —"अथेत्ययमधिकारार्थ" न लिख कर—"अथेत्ययमारम्भार्थ" ऐसा लिख सकते थे। उन्होने अधिकार इस विशेष शब्द का प्रयोग क्यो किया यह विचारणीय है। अधिकार अधिकारी विषयक होता है।

प्रत्येक दर्शन ग्रन्थ मे प्रारम्भ मे अनुबन्ध चतुष्टय अर्थात् सम्बन्ध, अधिकारी विषय एव प्रयोजन का विमर्श किया जाता है। योगशास्त्र मे वह अप्राप्त है। अतः यह विषय भी चिन्त्य है।

इन सब तथ्यो का विश्लेषण करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि अथ शब्द विशिष्टार्थक है। अधिकारर्थक अथ शब्द निःश्रेयस प्रापकता रूप अधिकार सूचनार्थ उक्त हुआ है। जिस प्रकार अन्यान्य दर्शन स्व-स्व अधिकारी अध्येताओ की बुद्धि के धनी है, उसी प्रकार योगदर्शन भी साधनसम्पन्न, एकाग्रचित्त, कर्मठ अधिकारी के लिये मोक्ष प्रापक है। यह बात और है कि मङ्गल एव निःश्रेयम प्रापकता रूप अधिकार द्योतन के साथ आरम्भण भी उसका गौण अर्थ हो।

श्री वाचस्पति मिश्र ने यद्यपि स्पष्टतया अथ का अर्थ आरम्भ ही स्वीकार किया है तथापि उनकी—"अधिकारार्थत्वे तु शास्त्रेणाधिक्रियमाणस्य प्रस्तूयमानस्य योगस्याभिधानात् सकलशास्त्रतात्पर्यार्थव्याख्यानेन शिष्य सुखेनैव बोधितः प्रवर्तितश्च भवतीति। नि श्रेयसस्य हेतु समाधिरितिहि श्रुतिस्मृनीतिहास पुराणेषु प्रसिद्धम्" ( तत्व० )—इत्यादि उक्ति से नि श्रेयसकरत्वादि अर्थ भी ध्वनित होता है। अनुबन्ध चतुष्टय के विषय मे वैशारदीकार ने कुछ नही कहा। सूत्रग्रन्थ मे 'अथ' द्वारा अनु-बन्ध सकेत से अधिक लाघव और क्या हो सकता है ? पर टीकाकार तो इस विषय मे कुछ कह ही सकते है। क्योकि सूत्रकार द्वारा स्पष्ट न किये जाने पर भी अन्यान्य शास्त्रो की भाँति वे योग मे भी अपेक्षित है ही।

विवरणकार शकर ने "तत्रानाख्यातसम्बन्धप्रयोजन न पुरुषप्रवृत्ति निवृत्तिभ्या पर्याप्नोति सूत्रकाराभिप्रेते पुरुषप्रवृत्तिनिमित्तभूते सम्बन्ध प्रयोजने, पूर्व

प्रकटीक्रियेते"– इत्यादि लिख कर सम्बन्ध एव प्रयोजन दो अनुबन्धो का विचार किया है। यद्यपि विषय एव अधिकारी का भी साथ ही विचार करना चाहिये फिर भी प्रयोजन के विचार से अध्येता की प्रवृत्ति की योग्यता स्फुट होती है। अतः विवरणकार ने सम्बन्ध विचारपूर्वक प्रधानत उसी का विचार किया है क्योकि उनका मत है कि शास्त्र का सम्बन्ध एव प्रयोजन निर्दिष्ट किये बिना वह ( शास्त्र ) पुरुष प्रवृत्ति एव निवृत्यर्थ पर्याप्त नही होता है। विवरणाभिमत प्रयोजनादि का विवरण अत्यन्त विस्तृत होने से उसके विवरण का अवकाश नही है।

भोजराज ने "अनेन सूत्रेण सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनान्याख्यायन्ते" आदि लिखा है। पुनः "अथ शब्दोऽधिकारद्योतको मगलार्थश्च"।

मणिप्रभाकार ने स्पष्ट रूप से—"अत्र सूत्रेयोगः शास्त्रप्रतिपाद्य उक्तः अर्थात्तज्जिज्ञासुरधिकारी फलतु योगस्य कैवल्य, यथायोगः तेषा सम्बन्ध, इत्यनुबन्धचतुष्ट्य द्रष्टव्यम्" उक्ति से अनुबन्ध चतुष्टय बतलाए है। किन्तु 'अथ' के विषय मे वे भी लिखते है—"अथ शब्दः आरम्भार्थः"। इसी प्रकार विवरणकार भी सर्वप्रथम—'सूत्रकाराभिप्रेते पुरुषप्रवृत्तिनिमित्तभूते सम्बन्धप्रयोजने पूर्व प्रकटीक्रियते"—लिखने के बाद भी अथ शब्द प्रारम्भार्थक ही मानते है।

स्वामी ज्ञानानन्द ने यद्यपि 'अथ' के—मगल, अधिकार और आनन्तर्यादि सभी अर्थो को युक्तिसगत स्वीकार किया है ( जो कि असगत है ), फिर भी जिस स्थान पर उन्होने अधिकार अर्थ माना है, वहाँ—"तत्त्वज्ञान प्रकाशयितुमधिकार निर्णयोप्यावश्यक." इत्यादि उक्ति है। इससे अधिकार अधिकारी विषयक होता है इस पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्त की पुष्टि होती है। फिर भी यह आश्चर्य है कि भाष्यकार व्यास द्वारा—"अथेत्ययमधिकारार्थः" स्पष्ट निर्देश होने पर परवर्ती व्याख्याकार अथ को अधिकार्यादि निर्णयपरक अनुबन्ध चतुष्टयार्थक मानने मे क्यो हिचकिचाते रहे ?

भाष्यकार की—"योगानुशासनमधिकृत वेदितव्यम्"—उक्ति से प्रश्न उठता है 'केन वेदितव्यम्' ? और उस आकाक्षा की पूर्ति "अधिकारणा" से होती है। इससे जहाँ एक ओर योग के लिये अधिकारी विशेष की बात ध्वनित होती है, वही सूत्रकार का निरहकारत्व भी सूचित होता है। यदि "अथयोगानुशासनम्" के अनन्तर क्रियते, प्रारभ्यते आदि कोई क्रियापद रक्खा गया होता, तो उस क्रिया के कर्त्ता रूप मे पतजलि शब्द भी आक्षिप्त होना। किन्तु महर्षि पतजलि ने अपने नाम के आक्षिप्त होने का अवसर ही प्रदान नही किया है। इससे महर्षि की महत्ता एवं नम्रता प्रकट होती है। इसी प्रकार इस शास्त्र के साथ महर्षि पतंजलि का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। स्व स्वरूपोपलब्धि बुभुत्सु इस शास्त्र का अधिकारी है

योग विषय है और स्वस्वरूपावस्थान ( कैवल्य ) इस शास्त्र का प्रयोजन है। शङ्का हो सकती है कि यहाँ पर व्युत्पादनीय तो योग है और वह शब्दात्मक नही क्रियात्मक है, अतः क्रियात्मक योगोपदेश से ही उसका बोध कराया जा सकता है, शास्त्रीय शब्दाडम्बर से नही। इस विषय मे अवगम्य है कि यह शब्दाडम्बरात्मक शास्त्र वृत्तिरूप होने पर भी योग मे प्रवृत्ति हेतु उपयोगी है। अतः शास्त्र के द्वारा करणतयैव योग अधिकृत हुआ है, कर्मतया नही, जैसा कि तत्त्वैशारदीकार की "करणगोचरश्च व्युत्पादकस्य व्यापारो न कर्मगोचर इति कर्त्तृव्यापार विवक्षया योगविषयस्य शास्त्रस्याधिकृतत्व वेदितव्यम्" इत्यादि उक्तियो से स्फुट होता है।

**योग का स्वरूप—**

दिवादिगणीय युज् धातु से निष्पन्न योग शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—समाधि ( =समाधान ), योगः समाधिः ( व्या० भा० )। महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्तवृत्तियो का निरोध ही योग है, 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' योग शब्द को समाध्यर्थक मानने पर भी शङ्का होती है कि योग तो प्रधान अङ्गी है और समाधि अङ्ग है। अङ्ग अङ्गी नही बन सकता फिर 'योगः समाधिः' यह उक्ति कैसे सगत होगी ? अतः इस शका के निरसनार्थ भाष्यकार कहते है—"स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः"। यहाँ पर चकार त्वर्थक है और वह समाधि एवं योग के भेद का प्रतिपादक है। योग चित्त की समस्त भूमिकाओ मे अनुगत है समाधि नही। अतः योग का व्यापकत्व एव तदङ्गीभूत समाधि का व्याप्यत्व सिद्ध होता है। श्री वाचस्पति मिश्र का मत है कि केवल वैयुत्पत्तिक अर्थ के प्रदर्शनार्थ योग को समाधि कहा गया है। वस्तुतः योग शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त तो चित्तवृत्तिनिरोध ही है। समाधि की प्रवृत्ति का निमित्त समाधान मात्र है। मन, बुद्धि एवं अहंकार के समष्टिभूत अन्तःकरण को चित्त कहते है।[1] प्रकृति के परिणामो मे से चित्त मे सबसे अधिक सत्वगुण का आविर्भाव होता है। एक धर्म, आकार अथवा रूप को छोड कर दूसरे धर्म, आकार अथवा रूप धारण करने को चित्त का परिणाम कहते है।

समस्त स्थूल जगत् रजोगुण तथा तमोगुण-प्रधान परिणाम है। इसके बाहरी या भीतरी ससर्ग से चित्तसत्व मे प्रतिक्षण होने वाले परिणाम को चित्तवृत्ति कहते है। चित्त जिस-जिस विषय से सम्बद्ध होता है, उसीसे उपरक्त होकर, उसी के आकार मे परिणत हो जाता है। चित्त का यह विषयाकार मे परिणत होना ही चित्तवृत्ति कहलाता है। चित्तवृत्तियाँ असख्य है तथा प्रतिक्षण उदित होती रहती है। असंख्य

१. 'बुद्धिर्मनस्त्वहङ्कार त्रिभिश्चित्त प्रकीर्तितम्।' (जयाख्यसहिता, ३१-६)

होने पर भी योग मे चित्तवृत्तियो को प्रमाणादि पॉच वर्गो मे ही अन्तर्भूत किया गया है। ये प्रमाणादि वृत्तियॉ जिस अवस्था विशेष मे निरुद्ध हो जाती है, वही योग है।

योग चित्त का सार्वभौम (सभी भूमियो मे उत्पन्न होने वाला) धर्म है। क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—ये पॉच चित्त को भूमियॉ है। योग शब्द का गौण अर्थ उत्कट एकाग्रता भी है। वह उत्कट एकाग्रता क्षिप्तादि सभी भूमियो मे सम्भव है। उसी दृष्टि से योग को चित्त का सार्वभौम धर्म कहा गया है। श्री वाचस्पति मिश्र सार्वभौम का अर्थ करते है—मधुमत्यादि समस्त भूमिकाओ मे विदित (व्याप्त)—"भूमयोऽवस्था वक्ष्यमाणाः—मधुमती—मधुप्रतीका-विशोका-सस्कारशेपास्ताश्चित्तस्य, तासु सर्वासु विदितः सार्वभौमः।"[१] तदनुसार पातञ्जलरहस्यकार राघवानन्द सरस्वती भी लिखते है—"तत्र मधुमत्यादि चतुष्टये वर्तत इति सार्वभौमः।"[२]

अन्य सभी व्याख्याकार सार्वभौम का अर्थ क्षिप्तादि पञ्चभूमियो मे अनुगत करते है। वस्तुतः चित्त की भूमियो से तात्पर्य चित्त की स्वाभाविक अवस्थाओ से है। सस्कारवश चित्त जिस अवस्था मे प्रायः स्थित रहता है, वही उसकी भूमि है। अतः पूर्वोक्त क्षिप्तादि ही चित्त की पॉच भूमियॉ है और उसी दृष्टि से—"स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः"—उक्ति उक्त हुई है। मधुमत्यादि चारो भूमियॉ चित्त की नही स्वय योग की ही भूमियॉ है और वे भूमियॉ चित्त की सहज रूप आने वाली अवस्थाएँ न होकर दीर्घ साधना द्वारा लभ्य चित्त की अवस्थाएँ है। अतः यहॉ पर क्षिप्तादि पञ्चभूमियो का ग्रहण ही अधिक युक्त है।

क्षिप्तादि भूमियो का वर्णन करते हुए भाष्यकार ज्ञानान्द लिखते है—"क्षिप्तमूढ विक्षिप्तनामधेया स्तिस्रः साधारणवृत्तयः एकाग्रनिरुद्धानामधेये द्वे असाधारणे द्वे प्रथमोक्ता स्तिस्रो भूमयः सर्वमानवेषु प्रादुर्भवन्ति। किन्तु अग्रिमे द्वे भूमी योगानुशासनाधिकारिषु साधकेष्वेव प्रादुर्भवतः"— किन्तु ज्ञानानन्द जी का उक्त कथन औचित्यपूर्ण नही प्रतीत होता। क्षिप्तादि पॉचो भूमियो का वर्गीकरण चित्त की स्वाभाविक अवस्थाओ की दृष्टि से ही है। जिस प्रकार चित्त मे क्षिप्तत्व—मूढत्वादि स्वभावतया विद्यमान है, उसी प्रकार एकाग्रता एवं निरोध स्वभाव

१ तत्त्व० (१-१)

२ पात० र० (१-१)

भी निहित है। प्रबल रागादि के वशीभूत होकर भी चित्त एकाग्रस्थित्यापन्न होता है। इसी भाँति कभी कभी चित्त मे स्तब्धता आने पर क्षणिक निरुद्धावस्था भी आती है। एकाग्र अवस्था मे चित्त सहज ही अभीष्ट वस्तु मे इच्छित कालपर्यन्त सलग्न रखा जा सकता है। अतः इतर विषयो की-भाँति, विधिपूर्वक योगोक्त रीति से ध्येय विषय मे चित्त एकाग्र करने पर सम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। इसी भाँति शून्यवत् चित्त स्थिति को लक्ष्य कर इच्छा एव ज्ञानपूर्वक निरुद्धावस्था अभ्यसनीय होती है। अतः योगोक्त रीति से एकाग्र एव निरुद्ध अवस्थाओ (भूमिकाओ) मे चित्तस्थिति रखने पर सम्प्रज्ञात एव असम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है और वे चित्त की असाधारण अवस्थाएँ है, जिनके अन्तर्गत मधुमत्यादि चारो भूमिकाएँ आती है किन्तु अन्तिम दोनो भूमियाँ योगोपयोगी होने का तात्पर्य यह कदापि नही हो सकता कि वे चित्त की सहज अवस्थाओ मे अपरिगणनीय है । और केवल योगसाधको के चित्त मे उदित होती है, सर्वसाधारण मनुष्यो के चित्तो मे नही । सत्व, रज, तम के प्राधान्यानुसार चित्त, क्रमशः प्रख्या (ज्ञान) शील, प्रवृत्तिशील और स्थितिशील तीन प्रकार का होता है। स्वभावतः ज्ञान-शील चित्त सत्व, रजोगुण एव तमोगुण से सम्पृक्त होने पर, ऐश्वर्य एव विषयो का प्रेमी बनता है। तमोगुण का आधिक्य होने पर यह अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एव अनैश्वर्य से व्याप्त होता है । तमोगुण के क्षीण होने पर रजोगुण के आधिक्य से युक्त होकर वही चित्त, धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से परिपूर्ण हो जाता है। जिस अवस्था मे चित्त मे रजोगुण रूपी मल किंचि-त्मात्र भी नही रहता है, तब वह स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है। इस अवस्था मे चित्त मे ही, चित्त एव चिति की भिन्नता का ज्ञान होता है । यही अवस्था विवेकख्याति कहलाती है ।[1] विवेकख्याति की परिपक्वावस्था ही धर्म-मेघ समाधि है ।[2] इस अवस्था से युक्त योगी को इसका ज्ञान हो जाता है कि चितिशक्ति (पुरूष) अपरिणामिनी, अप्रतिसक्रमा अर्थात् परिणाम—क्रिया आदि से रहित-चित्त के समस्त विषयो की देखने वाली, चेतन, शुद्ध और अनन्त है। सत्वगुणात्मक चित्त इसके सर्वथा विपरीत स्वभाव वाला अर्थात् परिणामी, क्रियायुक्त, स्वय विषयो का अद्रष्टा, जड एव पुरूष की अपेक्षा अशुद्ध तथा सान्त है। इस प्रकार चित्त एव चिति का अलग-अलग ज्ञान ही विवेकख्याति है तथा।

१ द्र० व्या० भा० 'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय'—यो० सू० (२ २६ ३ ४९)

२ सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्व सर्वज्ञातृत्वच—यो० सू० ४ २९ ।

यही सम्प्रज्ञात समाधि का पूर्ण एव अन्तिम स्वरूप है । सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था भी योग का अन्तिम स्वरूप नही है । चित्त को भ्रमित करने वाली असख्य वृत्तिया इस अवस्था मे निरुद्ध हो चुकती है, फिर भी विवेक-ख्याति-रूपी ज्ञानवृत्ति बनी रहती है। विवेक-ख्याति से भी वैराग्य हो जाने पर इस ज्ञान स्वरूपा—वृति का भी निरोध हो जाता है । यही अवस्था योग का अन्तिम स्वरूप है । इसी को निर्बीज समाधि या असम्प्रज्ञात समाधि कहते है इस अवस्था मे चित्त की प्रत्येक वृत्ति का पूर्णरूपेण निरोध हो जाता, किन्तु इससे यह नही समझना चाहिये कि सम्प्रज्ञात समाधि मे विवेक-ख्याति रूपा वृत्ति विद्यमान रहने से उसमे 'चित्तवृत्ति-निरोध' रूप योग का लक्षण घटित नही होता है । पतजलि ने 'चित्तवृत्तियो का निरोध-योग है' ऐसा योग का लक्षण किया है । यदि 'समस्त चित्तवृत्तियो का निरोध योग है' ऐसा लक्षण किया गया होता, तो यह लक्षण विवेकख्याति-रूपा वृत्ति वर्त्तमान रहने से, सम्प्रज्ञात समाधि मे घटित नही होता । भाष्यकार व्यास ने इस सूत्र की व्याख्या करते समय 'सर्वशब्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते' कह कर इसी बात को स्पष्ट करते हुए, सम्प्रज्ञात समाधि के उक्त लक्षण मे अव्याप्ति-दोष का निरास किया है । शका हो सकती है कि इस प्रकार यत्किचित् चित्तवृत्तियो का निरोध भी योग कहा जा सकता है । अतः अतिव्याप्ति दोष लागू होता है, क्योकि क्षिप्तादि भूमियो मे भी थोडा बहुत चित्तवृत्ति–निरोध होता ही है ।

जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है, चित्त कि पॉच अवस्थाएँ या भूमियॉ है, क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध । रजोगुण-प्रधान क्षिप्त चित्त अत्यन्त चचल होता है । इसमे कर्मवासना प्रबल होती है । इस अवस्था मे चित्त बहिर्मुखी होता है तथा उसकी प्रवृत्ति सुख–दुःखादि भावो मे ही प्रकाशित होती है । मूढ अवस्था मे चित्त तमोगुण से अभिभूत रहने से, कर्तव्या-कर्त्तव्य मे विवेकशून्य तथा दूसरो का अनिष्ट करने मे प्रवृत्त रहता है । तम की प्रधानता से मन आलस्य, निद्रादि मे मग्न रहता है । किचित रजोगुण सहित सत्वगुणप्रधान् विक्षिप्त अवस्था होती है ।

चित्त की भूमियो के वर्णन के प्रसग मे विवरणकार विक्षिप्त कि व्याख्या करते है—"विक्षिप्त नानाक्षिप्त कर्मकर्तयेव । विवेकाक्षम च विक्षिप्तत्वादेव ।" (भा० वि० १-१) आसमन्तात् क्षिप्त आक्षिप्त, न आक्षिप्त अनाक्षिप्त न अनाक्षिप्त नानाक्षिप्त अत्याक्षिप्तमित्यर्थः। अतः नत्रद्वय के दार्ढ्यार्थ बोधकत्ववश नानाक्षिप्त का अर्थ हुआ अत्यन्त चञ्चल । जब कि अन्य समस्त विद्वान्—"क्षिप्ता-

द्विशिष्ट विक्षिप्त" एक—स्वरेण ऐसी व्याख्या करते है। तथा विशिष्ट शब्द को व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते है—'विशेषो स्थेमबहुलस्य कादाचित्क स्थेमा"। भिक्षु, भास्वतीकारादि समस्त अन्यान्य विद्वानो ने भी यहाँ 'विक्षिप्त' शब्द की वाचस्पति सम्मत व्याख्या की है।

यहाँ यह भी चिन्तनीय है कि 'विक्षिप्त' का विवरणकारकृत विवरण मानने पर भाष्यकार व्यास की–"तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते" उक्ति से विरोध प्राप्त होगा। अतः विवरणकार का मत यहाँ अरमणीय प्रतीत होता है। यदि विक्षिप्त शब्द का अतिचञ्चल अर्थ ही होता तो भाष्यकार व्यास के द्वारा विक्षिप्त चित्त मे समाधि की सम्भावना एव योगपक्ष मे उसका निषेध भी अनुपपन्न होगी। इसीलिये अन्यान्य व्याख्याकारो ने इस अर्थ को आकलित नही किया है।

इस अवस्था मे मन अपने केन्द्र की ओर जाने का प्रयत्न करता हुआ दुखः के साधनो को छोडकर सुख के साधनो मे प्रवृत्त रहता है। रजःप्रधान क्षिप्त चित्त से यह अधिक सात्विक होने से कभी-कभी स्थिरता को प्राप्त करता है, इसीलिये इसे विक्षिप्त कहते है। क्षिप्त चित्त कभी भी स्थिर नही होता। अन्तिम दो अवस्थाओ, एकाग्र एव निरुद्ध मे समाधि का उदय होता है। विशुद्ध सत्त्वप्रधान चित्त एकाग्र और सस्कारमात्रशेष चित्त निरुद्ध कहा जाता है। एक ही विषय का चिन्तन करने वाले चित्त को एकाग्र कहते है। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था मे, समस्त बाह्य वृत्तियो का निरोध हो जाने पर, चित्त एक ही विषय मे एकाकार वृत्ति-युक्त हो जाता है। इस समय चित्त की 'एकाग्र' अवस्था होती है। सम्पूर्ण वृत्तियो एव तज्जन्य सस्कारो के चित्त मे विलीन हो जाने पर चित्त की निरुद्ध अवस्था आती है।

स्वकारण चित मे लय हो जाना ही वृत्ति का निरोध है। क्षिप्त अवस्था मे सत्व एव तम का निरोध होता है। मूढ अवस्था मे सत्व एव रज का निरोध है। विक्षिप्त अवस्था मे केवल तम का निरोध होता है। एकाग्रवस्था मे (चतुर्भुजादि) ध्येयाकार वृत्ति को छोड कर समस्त अन्तर्बाह्य वृत्तियो का निरोध होता है। निरुद्ध अवस्था मे ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध हो जाता है।

एतावता चित्त की पाँचो भूमियो मे यत्किंचित् निरोध अवश्य रहता है।[1] इन सभी भूमियो मे निरोध होने से शंका हो सकती है कि इन अवस्थाओ

---

१ चित्त प्रख्या-प्रवृत्ति-स्थितिशील है, चित्त योगियो का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है। सुतरा चित्त मे निरोधस्वभाव स्वयमेव विद्यमान है। निरोध स्थिति धर्म का अनुगत है।

मे होने वाले निरोध को भी योग कहना चाहिये। साथ ही एकाग्र तथा निरुद्ध अवस्थाओ को ही योग के लिये उपयोगी बतलाया गया है। भाष्यकार महर्षि व्यास ने प्रथम "प्रख्यारूप हि चित्तसत्व रजस्तमोभ्या मसृष्टमैश्वर्यविषयप्रिय भवति"—इस पक्ति से क्षिप्त अवस्था के निरोध मे योगोपयोगी निरोध की अतिव्याप्ति का परिहार किया है। "तदेव तमसानुविद्ध अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपग भवति" से मूढ अवस्था के तथा "तदेवप्रक्षीणमोहावरण सर्वतः प्रद्योतमान, अनुविद्ध रजोमात्रयी धर्मज्ञान-वैराग्यैश्वर्योपग भवति"—इस पक्ति से, विक्षिप्त अवस्था के निरोध मे, अतिव्याप्ति का निरास किया है। अग्रिम पक्तियो मे एकाग्र तथा निरुद्ध अवस्थाओ मे लक्षण-समन्वय किया है। प्रथम सूत्र के भाष्य मे सम्प्रज्ञात समाधि का निरूपण करते समय 'क्षिणोति च क्लेशान, कर्मबन्धनान्श्लथयति' इत्यादि वाक्यो से यह स्पष्ट होता है कि क्लेश, कर्म और आशय को नष्ट करने वाला चित्तवृत्तिनिरोध योग है। अतएव क्षिप्तादि प्रथम तीन अवस्थाओ के निरोध, क्लेश-निवृत्ति मे हेतु न होने से, लक्षण की अतिव्याप्ति से मुक्त है।

वस्तुतः वृत्तियो का निरोध मात्र योग नही कहा जा सकता। विधि-पूर्वक ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीत आदि मे से, किसी तत्व मे ज्ञानपूर्वक स्थिति करके वृत्तियो को अपने प्रयत्न के द्वारा रोकना ही योग है। स्तब्धावस्था मे चित्त, इच्छा और ज्ञानपूर्वक किसी तत्व मे स्थित नही होता। क्लोरोफार्म आदि सुँघाने के परिणाम से भी शरीर की गति रुद्ध होने से चित्त स्तब्धभाव प्राप्त करता है, किन्तु वह भी अज्ञानावस्था ही है। हिस्टीरिया, स्तब्धभाव आदि मानसिक रोग भी इसी कोटि के है। इन सब मे चित्त की विवश और जड अवस्था होती है। योग तो सर्वथा स्ववश एव पूर्ण-चेतन अवस्था है। बाह्य दृष्टि से किंचित् साम्य रहने पर भी इन दोनो की चित्तावस्था एव परिणाम प्रकाश और अन्धकार की भाँति भिन्न एव सर्वथा विपरीत है। क्षिप्तादि अवस्थाओ मे विरोधी गुणो के निरोधकाल मे मन शान्त नही होता। मूढावस्था-युक्त आलस्य से भी शान्त अवस्था भिन्न है। मूढभाव जडता का द्योतक है। मन की सत्त्वप्रधान अवस्था गम्भीर और शान्त है। इसमे मन की चचल लहरे पूर्णतः शान्त हो जाती है। चित्त निर्मल हो जाता है, किन्तु इस शान्त अवस्था को जडावस्था नही समझना चाहिये। इसमे योगी को ज्ञान होता है। यह अत्यन्त तीव्र-क्रिया-शात अवस्था है। 'शान्त होना शक्ति की महत्त अभिव्यक्ति है'।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए, 'क्षिणोति च

क्लेशान्' आदि प्रथम सूत्रान्तर्गत भाष्यानुसार श्री वाचस्पति मिश्र ने, क्लेशनाश के हेतु-स्वरूप निरोध को योग कहा है। श्री विज्ञानभिक्षु प्रकृत सूत्र के साथ अग्रिम सूत्र "तदाद्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम" कि एकवाक्यता करके, द्रष्टा पुरुष की स्वरूपावस्थिति के कारणभूत निरोध को योग बतलाते है। भिक्षु जी का मत सूत्र एव भाष्य के विरुद्ध है तथा युक्तियुक्त भी नही है, क्योकि क्लेशनाश का हेतुभूत निरोध ही योग है। जबकि योग स्वय स्वरूपावस्थिति मे हेतु है। अतएव वाचस्पति जी मिश्र की मान्यता ही विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा युक्ततर है। विवरणकार शकर ने इसी सूत्र की व्याख्या के अन्त मे निर्बीज समाधि के उपक्रम मे- "निर्गत क्लेशादिबीजं" इत्यादि लिख कर वाचस्पति के मत को पुष्ट किया है।

श्री भोज ने निर्मल सत्वगुण के परिणामभूत चित्त की अग-अगी-भाव-परिणामरूप वृत्तियो को, विषयो से अलग करके, अन्तर्मुखी रूप मे लौटा कर उनके कारणभूत चित्त मे ही पुनः लयरूप निरोध को योग कहा है। साथ ही चित्त की बहिर्मुखी अवस्था को वे "बहिर्मुखतया सुखदुःखादिविषयेषु विकल्पितेषु व्यवहितेषु सन्निहितेषु वा रजसा प्रेरितम्" कह कर सुखदुःखादि विषय वाली ही बतलाते है, जिनका कि निरोध योग है। बहिर्मुख सुखदुःखादि से रागद्वेष होते है। रागद्वेष योगमत मे क्लेश है। एतावता श्री भोज के मतानुसार भी क्लेश-नाश का हेतुभूत निरोध ही योग सिद्ध होता है।

भावागणेश एव नागोजीभट्ट ने अन्तःकरण की वृत्तियो के निवर्तन को योग बतलाया है। क्लेशो के नाश के लिये किया गया निरोध योग है, इस बात को अलग से कहने की आवश्यकता उन्होने नही समझी क्योकि यौगिक निरोध से क्लेश तो नष्ट होते ही है। यदि वाचस्पति-भोज सम्मत मत उन्हे मान्य न होता, तो वे अवश्य ही उनके विरुद्ध लेखनी उठाते। अतः सिद्ध है कि उन्हे भी यही मत मान्य है। नागोजी भट्ट ने अपनी टीका के अन्त मे विवेकख्याति रूप सात्विक वृत्ति के भी निरोध की आवश्यकता के विषय मे विवरण देते हुए, अन्य दु.खो के साथ सुख को भी दुःखरूप बताया है। तत्पश्चात् दुःख-निवृत्ति के लिये सम्पूर्ण वृत्तियो के निरोध का प्रतिपादन करके, वाचस्पति, भोज प्रभृति विद्वानो के मत को पुष्ट किया है।

मणिप्रभाकार श्री रामानन्द यति ने भी सामान्यतया रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियो के निरोध को योग बतलाया है। अनन्तपण्डित ने अपनी चन्द्रिकाटीका मे सत्व-परिणामरूप चित्त की वृत्तियो का निरोध, अर्थात् उसका बहिर्मुखता से विच्छेद करके अन्तमुखरूप से अपने कारण मे उसका लय करना, योग बतला कर

श्री भोज का अनुकरण किया है। सदा शिवेन्द्र सरस्वती ने रामानन्द यति का अनुसरण किया है। श्री हरिहरानन्द आरण्य एव राघवानन्द सरस्वती ने वाचस्पति का ही अनुगमन किया है।

सक्षेप मे भोज आदि उपर्युक्त सभी व्याख्याकारो ने योग के दो प्रकारो का स्पष्टरूप से उल्लेख किया है। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए भगवान् व्यास ने जिन-जिन विषयो का उल्लेख किया, उन सबका श्री वाचस्पति मिश्र, विज्ञान-भिक्षु, श्री भोज, नागोजी भट्ट, रामानन्द यति, राघवानन्द सरस्वती और हरिहरानन्द आरण्य ने, सक्षेप अथवा विस्तार से वर्णन किया है। अनन्त पण्डित एव सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने लक्षण मात्र की सक्षिप्त व्याख्या की है, कोई विशेष विवरण नही दिया है। इनमे भावागणेश ने श्री भिक्षु के मत का अनुकरण किया है।

—०—

## (२) योगी की स्वरूप स्थिति एवं अन्यथा वृत्तिसारूप्यता—

योगी अथवा कोई भी जीव स्वतन्त्र पुरुष है। अज्ञानवश पुरुष स्थूल एव सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध रहता है। वस्तुतः यह शरीर और मन के विकारो से सर्वथा असपृक्त तथा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है।[1] अज्ञानावस्था मे चित्त पुरुष के साथ तादात्म्य-भाव की कल्पना कर लेता है। पुरुष को वस्तुओ के स्वरूप का ज्ञान चित्त के परिवर्तनो के कारण ही होता है। इस प्रकार चित्त की वृत्तियो के अनुरूप ही 'मै करता हूँ', 'मै सुखी हूँ', 'मै दुःखी हूँ' इत्यादि कल्पनाएँ पुरुष के अधिष्ठान से चित्त करता है। चित्त-वृत्तियाँ एव सस्कार नष्ट हो जाने पर वह (चित्त) अव्यक्त हो जाता है। इस अवस्था मे पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप, शुद्ध चैतन्य मे अवस्थित होता है।[2] उसमे कर्तृत्व के अभिमान की निवृत्ति हो जाती है, जिस प्रकार तरगे शान्त होने पर जल स्थिर हो जाता है, जल के पूर्ण स्थिर होने पर हम सरोवर की सतह को देखते है। ठीक ऐसी ही दशा चित्त की भी है। जब यह पूणरूपेण शान्त हो जाता है, तब चित्त मे पुरुष के वास्तविक स्वरूप का स्फुरण होता है। उस समय चित्त पुरुष के साथ तादात्म्य-अनुभव नही करता है, अतः पुरुष स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है। पुरुष का अपने स्वरूप मे अवस्थित होना ही योगी की स्वरूप स्थिति है। चित्त की शाश्वत निरुद्धावस्था के बाद पुरुष की कैवल्यावस्था अवश्यम्भावी है। निरुद्ध अवस्था चित्त का लय और कैवल्य दशा चित्त का प्रलय है, यही भेद है। लय=सभग निरोध। प्रलय=भङ्गहीन रोध।

निरुद्धावस्था से इतर, चित्त की व्युत्थान अवस्था मे भी पुरुष ( या योगी का प्रत्यक् चेतनरूप ) अपने स्वाभाविक असग रूप मे स्थित होता है। कारण चिति-शक्ति (पुरुष) कभी भी अपने स्वरूप से प्रच्युत नही होती, फिर भी अविवेकवश वैसा प्रतीत नही होता। व्युत्थान अवस्था मे चित्त मे उदित होनेवाली वृत्तियो के साथ अविशिष्ट रूप से ही पुरुष का भी ज्ञान होना है। जिस प्रकार सीप मे रजत की प्रतीति होने पर (जो भ्रमज्ञान है) न तो सीप का अभाव होता है, न चाँदी की उत्पत्ति होती

---

१ चैतन्य पुरुष का धर्म है, ऐसा समझना नही चाहिये। द्र०—साख्यसूत्र "निर्गुणत्वात् न चिद्धर्मा।

२ "तदाद्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्" (यो० सू० १/३)

है। बाद मे भ्रम-निवृत्ति होने पर भी वस्तुस्थिति के ज्ञान से न तो सीप की उत्पत्ति हो जाती है, नही रजत का अभाव होता है। केवल भ्रमवश ही उनके भाव एव अभाव का व्यवहार होता है। उसी प्रकार पुरुष सर्वदा अविच्छिन्न एकरस होने पर भी व्युत्थान अवस्था मे अविवेक से अन्य, अर्थात् वृत्तियो के समान रूप से प्रतिभासित होता है।[1] पुरुष के इस अन्यथावृत्तिसारूप्य के विषय मे महर्षि पञ्चशिखाचार्य का सूत्र भी भगवान् व्यास ने प्रमाण रूप उद्धृत किया है—"एकमेवदर्शन ख्यातिरव दर्शन"[2] और इस प्रकार उन्होने एकमात्र ख्याति अर्थात् वृत्ति को ही दर्शन बतलाया है। तात्पर्य यह है कि पुरुष वैसा ही दृष्टिगोचर होता है, जैसी वृत्ति होती है। इसीलिए सुख, दुःख, मोहरूप सतोगुणी, रजोगुणी, अथवा तमोगुणी जैसी भी चित्त की वृत्तियाँ होती है, वैसा ही व्यवहार या व्युत्थान-दशा मे पुरुष का स्वरूप ज्ञात होता है। पचशिख वाक्यगत 'दर्शन' शब्द का अर्थ है—'चैतन्य' और ख्याति शब्द का अर्थ बुद्धि की वृत्ति अथवा बौद्धिक आलोक है।[3] विज्ञानभिक्षु की व्याख्यानुसार, चुम्बक जिस प्रकार देह-बिद्ध लौह-कील को अपनी ओर आकृष्ट करके, शरीर का भोग-साधन एव उपकार करता है और इस प्रकार भोगसाधन करके अपने स्वामी का स्व-स्वरूप हो जाता है। उसी भाँति चित्त भी सन्निधिमात्र से विषयस्वरूप शल्य को अपनी ओर आकृष्ट करके दृश्यरूप से पुरुष का भोगसाधन एवं उपकार करता है। अतः अपने स्वामी 'पुरुष' का स्व-स्वरूप कहलाता है।

यहाँ पर शरीर-विद्ध लौह-कील को कर्षित करने मे मनुष्य स्वय कोई क्रिया नही करता है। फिर भी चुम्बक अपनी आकर्षण शक्ति द्वारा बिद्धकील को खीच कर सान्निध्यमात्र से शरीर का उपकार करता है और उसका अपनत्वभागी 'स्व' स्वरूप बनता है और वह मनुष्य ( जिसके कील चुभी थी ) स्वय कुछ क्रिया किये बिना ही उसका स्वामी कहलाता है। इसी प्रकार चित्त भी लौह-कील तुल्य विषयो को खीच कर सामीप्य मात्र से पुरुष का उपकारी एव 'स्व' कहलाता है और पुरुष निष्क्रिय होकर ( अर्थात् स्वरूप सत् रहकर ) भी चित्त का स्वामी कहलाता है।[4] पुरुष स्वरूप सत् रहता है, इसका तात्पर्य यह है कि बुद्धि का स्वामी होने पर भी पुरुष परिणामादि

---

१ "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" (यो० सू० १/४)

२. द्र०—यदि पुन सर्वेषामेव प्रमाणत्वमभ्युपगम्यते तेन यच्छास्त्रमेकमेव दर्शन ख्यातिरेव-दर्शन तद्हीयेत (युक्तिदी० ५ कारिका)।

३. पात० द०, हरि० आ०, पृ० १०।

४. द्रष्टव्य—तत्ववैशारदी—वाचस्पति—पृ० १/४।

से रहित है। पुरुष निस्सग है, अतः चित्त पुरुष से सयुक्त नही, अपितु समीपस्थ है। पुरुष एव चित्त का यह सान्निध्य भी देश अथवा काल-प्रयुक्त नही वरन् योग्यतास्वरूप है। पुरुष मे भोक्तृत्व एवं द्रष्टृत्व शक्ति है। चित्त मे भोग्यत्व एव दृश्यत्व शक्ति है। पुरुष एव चित्त की उक्त शक्तियाँ ही उनकी योग्यता है। उक्त योग्यता से ही चित्त एव पुरुष का सान्निध्य है और उनमे स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध है। परन्तु यह स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध भी वृत्तिसारूप्य के कारण अज्ञानवश ही होता है। वस्तुत पुरुष सर्वदा निस्सग एव भोक्तृत्वादि रहित है।[1] शुद्ध पुरुष भोक्ता नही होता। इस विषय मे श्रुति भी प्रमाण है—

"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" (१/३/४)

भाव यह है कि शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से युक्त होकर ही आत्मा भोक्ता कहा जाता है, शुद्ध चेतन रूप मे नही।

---

१. 'भोक्ता' शब्द के विषय मे एक बात ज्ञातव्य है। स्वरूपत पुरुष को जब 'भोक्ता' कहा जाता है तब भोक्ता का अर्थ है—भोगरूप चित्त विकार का प्रकाशक—निर्विकार ज्ञाता। भोगरूप क्रिया से विकृत रूपवाला जीव भी भोक्ता शब्द से अभिहित होता है। इस द्वितीय अर्थ मे पुरुष भोक्ता नही है। इस अर्थभेद को न समझकर साङ्ख्य योगीय भोक्तृत्ववाद पर व्यर्थ ही दार्शनिको ने दोष दिया है।

## (३) वृत्तियों के प्रकार, स्वरूप एवं लक्षण तथा वृत्तिनिरोध :—

योग के अनुसार चित्त की वृत्तियाँ पाँच प्रकार की है, जिनमे कुछ वृत्तियाँ क्लिष्ट तथा अन्य अक्लिष्ट होती है।[१] यद्यपि ससार मे पदार्थ असख्य है। उनके ससर्ग से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ भी असख्य है। योग मे उन सब वृत्तियो को पाँच प्रकार की वृत्तिरूप श्रेणियो मे विभक्त किया गया है। इनमे से रागद्वेषादि क्लेशो की हेतुभूत वृत्तियो को क्लिष्ट तथा राग द्वेष आदि क्लेशो को नष्ट करने वाली वृत्तियो को अक्लिष्ट कहते है। अविद्या आदि क्लेशो से उत्पन्न कर्म सस्कारो को सचित करने वाली वृत्तियाँ क्लिष्ट होती है, क्योकि इनसे सचित कर्माशय के विपाक को प्राप्त होने पर क्लेश देने वाली वृत्तियाँ उत्पन्न होती है। इसी कारण से व्यास ने क्लिष्ट वृत्तियो को सब कर्म सस्कारो का क्षेत्रीभूत कहा है।[२] विज्ञान भिक्षु ने इस प्रसग मे व्याख्या करते हुए कहा है कि "जिससे जो जीवित रहता है वही उसकी वृत्ति है—जैसे ब्राह्मणादि की वृत्ति याजनादि है।" चित्तवृत्ति से तात्पर्य ज्ञानरूप समस्त अवस्थाओ से है। उनका अभाव हो जाने पर चित्त का भी विलय हो जाता है। इसलिये ये वृत्तियाँ कही जाती है। ज्ञान के द्वारा अविद्या, अस्मितादि विषयिणी वृत्तियाँ नष्ट होती है। इनसे रज, तम आदि गुणो का अधिकार समाप्त हो जाता है। ये ही ज्ञान विषयक वृत्तियाँ गुणाधिकार-विरोधिनी अक्लिष्टा वृत्तियाँ कहलाती है।[३] उदाहरणार्थ शरीराभिमान अथवा "मै ही शरीर हूँ"—इस प्रकार की भ्रान्तिपूर्ण वृत्ति, या तदनुसार किये गए कर्मो से जन्य वृत्तियाँ अविद्यामूलिका क्लेशवृत्तिका है। "मैं शरीर नही, मै शरीरातीत शुद्ध आत्म तत्त्व हूँ"—ऐसे ज्ञानसम्पन्न ध्यान आदि अथवा तदनुकारी आचरण से जन्य चित्तवृत्तियाँ अक्लिष्टा वृत्तियाँ है। एतद्रूपा वृत्तियो की परम्परा से अविद्यादि नष्ट होने से पुनर्जन्मादि का अभाव होता है। अतः उन्हे गुणाधिकार-विरोधिनी अक्लिष्ट वृत्ति कहा जाता है। इससे पूर्व श्रवण-मननपूर्वक विवेक का अनुभव-गौण अक्लिष्टावृत्ति है। क्लिष्ट वृत्तियो से क्लिष्ट सस्कार और अक्लिष्ट वृत्तियो से अक्लिष्ट सस्कार उत्पन्न होते है।

---

१ "वृत्तय पञ्चतय्य क्लिष्टाक्लिष्टा"। (यो० सू० १/५)

२. "क्लेशहेतुका कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूता क्लिष्टा" (व्यास भाष्य, १ ५)

३. "ख्याति-विषया गुणाधिकारविरोधिन्यो" (व्यास भाष्य, १/५)

इन क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट वृत्तियो के पाँचो प्रकारो के नाम है—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ।[1] इनमे से प्रमाण वृत्ति के पुनः तीन उपभेद है—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम ।[2]

प्रमाणो के प्रकार के सम्बन्ध मे साख्य और योग एकमत है। प्रमाण से तात्पर्य किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ख्यापित करने वाली वृत्ति से है। अनधिगत (स्मृतिज्ञान पूर्वाधिगत होता है) एव अबाधित (विपर्य्यय बाधित ज्ञान है) अर्थ-विषयक प्रमा ज्ञान है। अन्य शब्दो मे इसे अनुभूत यथार्थ ज्ञान भी कह सकते है। मैं उठता हूँ', 'मै बैठता हूँ', 'मै प्रसन्न हू', 'मै खिन्न हूँ', अमुक बात मै अनुमान से जानता हूँ, अमुक बात मै वेद शास्त्र से जानता हूँ, इत्याकारक ज्ञान यदि वास्तविक है, तो प्रमा कहलाता है। जिस वृत्ति द्वारा यह यथार्थ बोध (प्रमा) उत्पन्न हो, वही प्रमाण है। उसे अन्य शब्दो मे प्रमा का करण कह सकते है।

प्रमा तीन प्रकार से उत्पन्न होती हैं, नेत्र आदि इन्द्रियो के द्वारा, लिगज्ञान द्वारा अथवा आप्त वाक्य के श्रवण-द्वारा उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति से। इस प्रकार उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति प्रमा का करण होने से प्रमाण कहलाती है।

(१) नेत्रादि इन्द्रियो के विषय सन्निकर्ष के द्वारा उदित होने वाली चित्तवृत्ति प्रत्यक्ष-प्रमाण कहलाती है।

(२) लिग-ज्ञान अथवा लक्षण से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति अनुमान प्रमाण कहलाती है।

(३) आप्त वाक्यो के सुनने से वाक्यार्थ के विषय मे उत्पन्न होने वाली चित्त-वृत्ति आगम-प्रमाण या शब्द प्रमाण कहलाती है।

उपर्युक्त तीनो प्रमाणो द्वारा पुरुष को जो ज्ञान होता है, उसे प्रमाण का फल= प्रमा कहते है। यही पौरुषेय चित्तवृत्ति बोध कहा जाता है। यह फलरूप प्रमा भी तीनो प्रकार के प्रमाणो के आधार पर प्रत्यक्ष-प्रमा, अनुमिति-प्रमा और शाब्दी-प्रमा के भेद से तीन प्रकार की होती है।

## साक्षात् अनुभव या प्रत्यक्ष-प्रमाण तथा प्रत्यक्ष-प्रमा :—

प्रत्यक्ष-प्रमाण की ज्ञान-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमा

१. प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतय । (यो० सू० १/६)

२. प्रत्यक्षानुमानागमा प्रमाणानि। (यो० सू० १/७)

और साक्षी के भेद से पाँच पदार्थ माने गए है। इन्द्रिय-प्रणाली-द्वारा किसी बाह्य पदार्थ के साक्षात् सम्बन्ध से, चित्त उसी आकार को धारण कर लेता है। इस प्रकार विषयाकार को प्राप्त 'अय घटः', 'अय पटः' इत्यादि जो चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे बौद्धप्रमा कहते है। इस प्रमा का करण, अर्थात् इस ज्ञान को उत्पन्न करने वाली, इन्द्रिय-सन्निकर्ष-जन्य चित्तवृत्ति होती है, अतः इन्द्रियसन्निकर्षजन्य चित्तवृत्ति प्रमाण है। जिस प्रकार जलाशयो का जल, कूल आदि प्रणालियो द्वारा क्षेत्र मे पहुच कर क्षेत्राकार हो जाता है, उसी प्रकार चित्त भी चक्षु आदि इन्द्रियो द्वारा घट-पटादि विषयो से सयुक्त होकर तदाकाराकारित हो जाता है। इस प्रकार यह घट है, यह पट है' इत्याकारक परिणाम को प्राप्त चित्तवृत्ति बौद्ध प्रमा कहलाती है। तत्पश्चात 'घटमहजानामि' 'पटमहजानामि', इस प्रकार का विषय सहित पुरुष मे जो बोध होता है वह फलरूप प्रमा है। यही पौरुषेय बोध या पौरुषेय ज्ञान है। यहाँ प्रथम ज्ञान बुद्धिनिष्ठ और द्वितीय ज्ञान पुरुषनिष्ठ है। 'अय घटः' इत्याकारक बुद्धिनिष्ठ ज्ञान प्रमाण ( साधन ) है और 'घटमहजानामि' इत्याकारक जो बुद्धयुपहित पुरुषनिष्ठ ज्ञान है, वह प्रमा (प्रमाण का फल) कहलाता है। भगवान् व्यास व उनके अनुगामी वाचस्पति, राघवानन्द प्रभृति विद्वानो ने प्रत्यक्ष-प्रमाण के सम्बन्ध मे केवल इन्ही दो, प्रमाणो के और प्रमा के विषय मे बतलाया है। प्रमाता आदि का विवरण उन्होने नही दिया है। शेष तीनो पदार्थों सहित इनका विवरण इस प्रकार है :—

(१) इन्द्रियप्रणाली–द्वारा निष्पादित घटाद्याकार चित्तवृत्ति प्रमाण है।

(२) पूर्व कथित घटादि आकार वाली चित्तवृत्ति का विषयरूप घटादि प्रमेय है।

(३) प्रमाणरूप व्यापार का फल होने से बुद्धि-उपहित पुरुषनिष्ठ ज्ञान प्रमा है।

(४) प्रमा का आश्रयभूत होने से बुद्धि–प्रतिबिम्बित चेतन प्रमाता है।

(५) एव बुद्धि-वृत्ति से उपहित शुद्ध चेतन साक्षी होता है।

**''ज्ञान नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथन्चन।**
**ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः॥''[1]**

और

१ द्र०—पात० प्र०—पृ० १५७।

"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (श्वेताश्वतर ६/११) इत्यादि आप्त वचन भी इस बात की पुष्टि करते है कि शुद्ध चेतन साक्षी मात्र ही है। वह किसी धर्म अथवा गुण से रहित है।

प्रत्यक्ष-प्रमाण के प्रसग मे विज्ञानभिक्षु ने शुद्ध चेतन को प्रमाता तथा इन्द्रियो की अपेक्षा से रहित वृत्तियो (बुद्धि आदि) को साक्षि भास्य माना है, जो कि युक्तिसगत नही है। 'साख्य-प्रवचन" मे स्वय भिक्षु जी ने भी "पुरुषस्तु प्रमा साक्ष्येव न प्रमाता" इत्यादि मे पुरुष का प्रमा का साक्षी मात्र माना है, प्रमाता नही। अतः प्रस्तुत प्रसग मे भिक्षु जी की मान्यता अग्राह्य है।

भावागणेश तथा नागोजी भट्ट ने भी विज्ञानभिक्षु के मत का अनुसरण करते हुए अपनी-अपनी व्याख्याओ मे भिक्षु जी की वार्त्तिक-कारिकाओ को प्रमाण रूप से उद्धृत किया है।

"योगवार्त्तिक" की कारिकाएँ इस प्रकार है :—

"प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाण वृत्तिरेव च।
प्रमार्थाकारवृत्तोना चेतने प्रतिविम्बनम्॥
प्रतिविम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।
वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युःकरणस्यानपेक्षणात्॥
साक्षाद् दर्शनरूप च साक्षित्व साख्यसूत्रितम्।
अविकारेण द्रष्टृत्व साक्षित्व चापरे जगुः॥"

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, शुद्ध चेतन को श्री भिक्षु जी एव उनके अनुयायियो का प्रमाता बतलाना सर्वथा अयुक्तिसगत है, क्यो कि शुद्ध चेतन सर्व-धर्म-रहित और प्रमाता प्रमारूप धर्म से युक्त होता है। भोज एव अनन्त पडित ने तीनो प्रमाणो के केवल लक्षण ही दिये है। प्रमाता आदि का प्रसग ही नही चलाया है।

सांख्ययोग की प्रत्यक्ष-प्रतिक्रिया को हम उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझ सकते है। जैसे हमारे समक्ष एक घोडा खडा है। उसे देखने का यत्न करते ही चक्षु से उसका सयोग होता है। चक्षुरूप इ द्रिय उस घोडेरूप विषय को मन के समक्ष प्रस्तुत करती है। तत्पश्चात् मन अपने सकल्परूप व्यापार से निश्चित करता है कि प्रस्तुत पदार्थ घोडा ही है, अन्य वस्तु नही। फिर मन सकल्प किये गए पदार्थ को बुद्धि के

सामने रखता है। बुद्धि के समक्ष विषय आते ही वह तदाकाराकारित हो जाती है। तब बुद्धि की यह इच्छावृत्ति चैतन्य का प्रतिबिम्ब पडने से प्रकाशित हो उठती है। इस प्रक्रिया द्वारा ही घोडा का ज्ञान होता है कि सामने दिखाई देने वाला पदार्थ घोडा ही है। जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है, प्रकृति का परिणाम होने से बुद्धि जड है, अतः उसमे स्वय ज्ञान उत्पन्न नही होता है। चेतन पुरुष का प्रकाश पडते ही जड बुद्धि चेतनवत् प्रतीत होने लगती है और उसी से वह विषय को ग्रहण करती है। चेतन पुरुष और बुद्धि की क्रमशः दीपक एव दर्पण से तुलना की जा सकती है। जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण मे दीपक का प्रतिबिम्ब पडने से अन्य वस्तुएँ भी प्रकाशित हो उठती है, उसी प्रकार सात्विक बुद्धि मे पुरुष के चैतन्य की परछाई पडने से बुद्धि की वृत्ति भी प्रकाशित हो जाती है। इसी के द्वारा हमे विषयो का ज्ञान होता है।

**अनुमान-प्रमाणः—**

लक्षण चिन्ह से लक्ष्य वस्तु का ज्ञान अनुमान है। किसी वस्तु का गमक लिग देख कर उस वस्तु की सत्ता की कल्पना करना—जिसका कि वह लिग है—अनुमान प्रमाण कहलाता है। व्यास के अनुसार अनुमेय अर्थात् अनुमान के विषय के साथ समान जाति वाली वस्तु मे रहने वाला और उससे भिन्न जाति वाले पदार्थ मे न रहने वाला सम्बन्ध व्याप्ति कहलाता है। इसी सम्बन्ध (व्याप्ति) को विषय बनाकर—सामान्य अश को प्रधानरूप से निश्चित करने वाली वृत्ति अनुमान-प्रमाण कहलाती है।[1]

प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय बनने वाले घट आदि का उसके परिमाण रूप आदि विशेषो सहित ही ज्ञान होता है। दूसरी ओर अनुमान का विषय बनने वाले पर्वतस्थ वह्नि आदि का सामान्यरूप से केवल अग्निरूप मे ही ज्ञान होता है, रसोई आदि मे प्रत्यक्ष हुए वह्नि के समान विशिष्ट-स्वरूप आदि से युक्तरूप मे नही। यही प्रत्यक्ष एव अनुमान प्रमाण मे भेद है।

अनुमानरूप यथार्थ ज्ञान लिग-लिगी, साधन-साध्य अथवा कार्यकारण के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है।

लिग एव लिगी अर्थात् साधन एव साध्य का जो उपाधिहीन अविनाभावी

---

१ "अनुमेयस्य तुल्यजातीयेषु अनुवृत्त भिन्नजातीयेभ्य व्यावृत्त य सम्बन्ध तद्विषया सामान्यावधारण प्रधानावृत्ति अनुमानम्।" (व्यास भाष्य, १/७)

सम्बन्ध होता है, उसे व्याप्ति कहते है और तज्जन्य बोध को व्याप्तिज्ञान।[1] लिङ्ग (चिह्न, लक्षण) के प्रत्यक्ष होने पर अप्रत्यक्ष लिगी का व्याप्ति-ज्ञान द्वारा अनुमान किया जाता है। उदाहरणार्थ-किमी स्थल पर धूम्र का प्रत्यक्ष होने के अनन्तर अप्रत्यक्ष होने पर भी, जहाँ धूम्र हाता है, वहाँ अग्नि होती है, इस व्याप्ति-ज्ञान के आधार पर, वहाँ अग्नि सत्ता का अनुमान किया जाता है। अतः इस प्रकार की चित्तवृत्ति अनुमान प्रमाण है।

**आगम प्रमाणः—**

आप्त पुरुष के द्वारा देखे गए अथवा अनुभव से ज्ञान किए गए विषय को, दूसरे के प्रति तद्विषयक बोध कराने के लिये शब्द के द्वारा उपदेश किया जाता है। उस शब्द से उसके अर्थ विषयक श्रोता की जो वृत्ति होती है वह आगम या शब्द प्रमाण कहलाती है।[2] आप्त[3] का अर्थ है—सच्चा विश्वस्त पुरुष। ऐसे आप्त वक्ता के वचन भी प्रमाणिक होते है। आप्त पुरुष तत्ववेत्ता होते हैं। उनके ज्ञान एव क्रिया भ्रान्ति एव प्रमाद मे रहित एव विप्रलिप्सा (परवञ्चनेच्छा) शून्य होते है। मूलवक्ता के द्वारा या आप्तपुरुष के द्वारा दृष्ट अथवा अनुमित शब्द ही उस विषय का स्खलन-शून्य आगम प्रमाण होता है। अश्रद्धेय एव वचक वक्ता के द्वारा उपदिष्ट आगम भी प्रमाण कोटि मे नही गिना जाता।

**विपर्यय—**

किसी वस्तु के मिथ्या ज्ञान (अर्थात् ज्ञेयवस्तु के यथार्थरूप मे न प्रतिष्ठ होने वाला ज्ञान) रूप-चित्त-वृत्ति को विपर्यय[4] कहते है।[5]

विपर्यय-काल मे वस्तु अपने वास्तविक स्वरूप मे नही भासित होती है, वरन् एक वस्तु मे अन्य वस्तु की भ्रान्ति हो जाती है। जैसे सीप मे रजत की भ्रान्ति अथवा दूर से या अन्धकार के कारण रज्जु मे सर्प की भ्रान्ति रूप अयथार्थ

---

१ व्यप्ति के विशद परिज्ञान के लिये द्र० व्याप्तितत्त्व रहस्यम्।

२ "आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थ परत्र स्वबोध सक्रान्तये शब्देनोपदिष्यते। शब्दात्तदर्थविषया वृत्ति श्रोतुरागम।" (व्याम भाष्य सू० १/७)

३ द्र०—"आप्तोपदेश शब्द" (न्यायसूत्र ) पर भाष्य।

४ विपर्यय ज्ञान के सविस्तार प्रतिपादन के लिये द्र० The Theories of Viparyaya

५ "विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानम्, अतद्रूपप्रतिष्ठम्" (यो० सू० १/८)

ज्ञान विपर्यय वृत्ति है। जिस ज्ञान का निश्चित् प्रमाण के द्वारा बाध हो जाय, वही अयथार्थ ज्ञान या मिथ्याज्ञान है। अन्धकार मे सर्प की भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली रज्जु का प्रकाश मे प्रत्यक्ष होने पर सर्प की सत्ता के ज्ञान का बाध हो जाता है। अतः प्रमाण से बाधित हो जाने के कारण विपर्यय आप्रामाण्य है।

विषयभूत वस्तु से विलक्षण आकार-युक्त चित्तकी वृत्ति को विपर्यय ज्ञान तथा विषय के अनुरूप अथवा समानाकार मे परिणत चित्तवृत्ति को प्रमाण कहते है। सशय भी विपर्यय वृत्ति के अन्तर्गत ही माना जाता है, क्योकि उत्तरकाल मे सशय भी सत्य ज्ञान से बाधित होता है।

यह विपर्ययवृत्ति ही अविद्या कहलाती है, जो कि इस क्लेश-सकुल ससार का मूल है। इसके अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पाँच भेद है।[1] इन पच भेदो (क्लेशो) का आगे वर्णन किया जायगा। अविद्यादि उक्त पाँचो क्लेश ही यथाक्रम तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्ध तामिस्र कहलाते है। जैसा कि विष्णु पुराण की इस उक्ति से स्पष्ट होता है—

**"तमोमोहोमहामोहस्तामिस्रोह्यन्धसज्ञितः।**
**अविद्या पचपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥" १/५/५**

( यहाँ अन्धसज्ञक=अन्वतामिस्र है )

भगवान् व्यास ने भी विपर्यय की व्याख्या करते हुए भाष्य मे पूर्वाचार्य परम्परा प्रसिद्ध इस मत का उल्लेख किया है, इस पचपर्वा अविद्या का विवरण सूत्रकार ने साधनपाद के अन्तर्गत चित्तमत के प्रसग मे दिया है। ईश्वर-कृष्ण की "साख्यतारिका" मे इन तम मोहादि के बासठ भेदो का उल्लेख किया गया है।[2]

## विकल्पवृत्ति :

वास्तविकता से शून्य केवल शब्द-ज्ञान पर आधारित वृत्ति को विकल्प वृत्ति कहते है।[3] विकल्पवृत्ति मे उस वस्तु की सत्ता की अपेक्षा नही रहती है,

---

१ "सेय पचपर्वा भवत्यविद्या, अविद्या स्मितारागद्वेषाभिनिवेशा क्लेशा इति।" (व्यास भाष्य)।

२ भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोह।
ता मिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धता मिस्र॥ (साख्यकारिका, ४८)

३ शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प (यो० सू०, १/९)।

'जिसके विषय मे हम शब्द-प्रयोग करते है। विकल्प-वृत्ति का विषय न होने से, यह प्रमाण-वृत्ति से भिन्न है तथा विपर्यय भी नही है, क्योकि ज्ञान होने पर भी इसका अलीक विषयक शाब्दिक व्यवहार चलता ही रहता है। उदाहरणार्थ आकाश-कुसुम या घोडे का सीग कहने से शब्दो का अर्थबोध तो होता है, किन्तु उस बोध के अनुरूप कोई वस्तु नही है। इसी प्रकार "वन्ध्या का पुत्र आ रहा है," इस शब्दजन्य ज्ञान से जो अलीक वन्ध्यापुत्राकार चित्त के परिणाम-रूप वृत्ति-विशेष उत्पन्न होती है, वह विकल्प है। इस वाक्य मे वन्ध्या विशेषण और पुत्र विशेष्य रूप से प्रतीत होता है। इस प्रकार भी यह विपर्यय से भिन्न है। विपर्यय वृत्ति मे विशेष्य-विशेषण भाव की प्रतीति नही होती है। विपर्ययज्ञान इन्द्रिय या विषय के दोष उत्पन्न होने पर, किसी दोष के कारण ही होता है। विकल्पज्ञान शब्दाश्रित चिन्ता के कारण होता है। ज्ञान के पश्चात् भी विकल्प का व्यवहार चलता है। "राहु का सिर", "काठ की पुतली" आदि भी विकल्पवृत्ति के ही उदाहरण है। यहाँ राहु और सिर, काठ और पुतली मे कोई भेद नही है, वे एक ही वस्तु है। विचार करने पर उनमे प्रतीत होने वाला विशेष्य-विशेषणरूप भेद अवास्तविक सिद्ध होता है।

प्रमाण, विपर्यय तथा विकल्प वृत्ति के भेद को सरल रूप मे इस प्रकार समझा जा सकता है। वस्तु का यथार्थ ज्ञानप्रमाण, जैसे सीप मे सीप का ज्ञान। वस्तु का अयथार्थ ज्ञान विपर्यय, जैसे सीप मे चाँदी का भान होना विपर्यय है। सीप मे सीप का ज्ञान होने पर इस ज्ञान का बाध हो जाता है। विकल्प यथार्थ ज्ञान नही है, क्योकि इसका विषय कोई वस्तु नही होती। यह केवल शब्दज्ञान पर ही आश्रित है। यह मिथ्या ज्ञान भी नही है, क्योकि व्यवहारकाल मे इसका बाध नही होता। जो लोग जानते है कि पुरुष और चैतन्य भिन्न-भिन्न नही है, वे भी ऐसा ही वाग्-व्यवहार करते है। जिस स्थान मे अभेद मे भेद तथा भेद मे अभेद की कल्पना की जाती है, वहाँ विकल्प-वृत्ति का ही अवलम्बन होता है। उदाहरणार्थ पुरुष तथा चैतन्य, राहु तथा सिर, काठ और कठपुतली ये सब दो-दो वस्तुएँ नही है, फिर भी यहाँ अभेद मे भेद आरोपित किया गया है। भेद मे भी अभेद आरोपित होता है। लौह तथा अग्नि अथवा जल एव अग्नि, सर्वथा भिन्न-भिन्न वस्तुएँ है तथापि लोहे का गोला जलानेवाला है, अथवा (गर्म) पानी से हाथ जल गया इत्यादि कथनो से भेद मे अभेद की बुद्धि की जाती है।

अस्मिता भी एक प्रकार की विकल्प वृत्ति ही है, क्योकि चैतन्य और अहकार, दो भिन्न वस्तुओ मे अभिन्नता का आरोप होता है।

**निद्रा :—**

(जाग्रत तथा स्वप्नावस्था की वृत्तियो के) अभाव पर आश्रित रहनेवाली वृत्ति निद्रा कहलाती है।[1] क्रिया एव प्रवृत्ति रजोगुण का लक्षण है। जाग्रत अवस्था मे चित्त रजः प्रधान रहता है। अतः इस अवस्था मे वह सत्त्वगुण को गौणरूप से सहायक बनाकर अस्थिर रूप से विषयो की प्रवृत्ति मे सलग्न रहता है। तमोगुण स्थितिशील तथा आवरक होने से प्रकाश एव क्रिया को अवरुद्ध करने वाला है। सुषुप्ति अथवा निद्रावस्था मे रजोगुण एव सत्त्वगुण को दबा कर तमोगुण ही प्रधानरूप से रहता है। तमोगुण की प्रबलता से निद्रावस्था मे चित्त विषय-व्यापारशून्य होकर मुग्धावस्था मे रहता है। जिस प्रकार अन्धकाराच्छादित कक्ष मे समस्त वस्तुएँ छिप जाती है, केवल सब वस्तुओ का आच्छादक अन्धकार ही दृष्टिगोचर होता है, जिसके कारण कमरे मे वस्तुओ के अभाव की प्रतीति होती है।[2] ठीक उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था मे चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियो को तमोगुण आक्रान्त करके स्वय अपना प्राधान्य स्थिर रूप से रखता है, फिर भी इस अवस्था मे रजोगुण का नितान्त अभाव नही समझना चाहिए। किचिन्मात्रा मे स्थित रहकर इस अवस्था मे भी रजोगुण जाग्रत्स्वप्न की वृत्तियो के अभाव की अस्फुट प्रतीति कराता रहता है और बाद मे वही निद्रा को भग करता है। अतः इस प्रकार के चित्त-परिणाम को निद्रावृत्ति कहते है।

प्रकृत सूत्र मे अधिकार प्राप्त "वृत्ति पद का पुनर्कथन अनुवादक मात्र है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प एव स्मृति के वृत्तित्व विषय मे परीक्षको का कोई वैपरीत्य नही है। निद्रा के विषय मे विचारको का वैमत्य रहने से यहाँ वृत्तित्व विधेय है। प्रस्तुत अनुवादक वृत्तिपद विधायक नही हो सकता। अतः सूत्र मे वृत्ति पद का पुनर्ग्रहण किया गया है।

"अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिनिद्रा"। इस सूत्र की व्याख्या मे श्री वाचस्पति मिश्र ने सूत्रगत "अभाव" पद से जाग्रत्-स्वप्न-पदार्थ सम्बन्धी वृत्तियो का अभाव, प्रत्यय शब्द से उपर्युक्त अभाव के कारण सत्वरज के आवरक तमोगुण ('निद्रा प्राक्कालीन प्रच्छन्नभाव जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति करता है) "आलम्बन" से विषय-वृत्ति पद से प्रकरण-प्राप्त चित्तवृत्ति का अर्थ लेकर, सुषुप्ति अवस्था मे स्वरूपसुख

१ "अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा" (यो० सू० १/१०)।

२ नैश अन्धकार की उपमा शकराचार्य ने भी दी है। (द्र०—माण्डूक्य उपनिषद् भाष्य )

तथा तमःप्रयुक्त जड-भाव को विषय करने वाली चित्त की वृत्ति को निद्रा बतलाया है।

विवरणकार शंकर "अभाव" पद से जाग्रद्विषयाभाव लेते है। स्वप्नकालीन विषयाभाव को उन्होने स्पष्ट नही किया। वे लिखते है-"अभाव इति जाग्रद्विषयाभावः न त्वत्यन्ताभाव एव" किन्तु आगे उन्होने स्वय ही शंका उठाई है कि स्वप्नावस्था निद्रा क्यो नही है? फिर स्वयं ही समाधान करते हुए लिखते है कि सूत्रकार ने "स्वप्न निद्राज्ञानालम्बनम् वा" सूत्र से स्वय ही स्वप्न एव निद्रा का भेद स्पष्ट कर दिया है अतः "निद्रा" पाद से सुषुप्ता अवस्था ही अवगन्तव्य है। फिर स्वप्नकाल मे स्मृति विद्यमान रहने से अभाव प्रत्ययालम्बनता भी नही रहती स्मृति अनुभूत विषयिणी ही होती है। स्मृति के प्रकरण भाष्यकार मे व्यास की "स्वप्ने भाक्ति स्मर्तव्या" उक्ति स्वप्न स्मृतित्व स्पष्ट है।

वस्तुतः त्रिगुणात्मिका बुद्धि-सत्त्व मे जब सत्त्व को आक्रान्त कर समस्त करणावरक तम समुल्लसित होता है तो बुद्धि के विविध विषयाकार परिणामाभाव से तमोमयी वृत्ति "मे सो रहा हूँ" उत्पन्न होती है। उससे मलिन चित्तसत्व की निद्रा वृत्ति का बोध करता हुआ पुरुष सुप्त अन्तः सज्ञ कहलाता है। शंका होती है कि निरुद्धदशा और कैवल्य की भाँति निद्रा को वृत्यभाव क्यो नही माना जाता है। किन्तु सम्प्रबोध काल मे "मे सुखपूर्वक सोया मेरा चित्त प्रसन्न है।" "मै दुखपूर्वक सोया, मेरा मन अकर्मण्य है, भ्रमित हो रहा है"—इत्यादि स्मृति होती है। स्मृति सर्वदा अनुभूत विषयिणी ही होती है। अतः शंका युक्तितः निरस्त हो जाती है।

वैसे निद्रा एकाग्र तुल्या वृत्ति है किन्तु एकाग्र तुल्य होने पर भी तामसतया निद्रा एव सबीज व निर्बीज समाधि की प्रतिपक्षता है। अतः अन्य वृत्तियो की भाँति वह निरोद्धव्या है।

वाचस्पति सम्मत व्याख्या के अनन्तर इस विषय मे भिक्षु ने अविद्यावृत्ति का उल्लेख करके वेदान्त मत पर वाक्प्रहार किया है और लिखा है कि निद्रा वृत्ति का अविद्या-साक्षिभास्य स्वीकार किया जाय, तो जागृत अवस्था मे सुषुप्ति की स्मृति, अपरिणामी साक्षी मे संस्कार का "अभाव होने से" कैसे होगी?

साक्षी का वास्तविक स्वरूप निःसन्देह अपरिणामी ही है। किन्तु बुद्धिसत्व प्रतिबिम्बित पदार्थों का यावत् अभिव्यंग्या चितिशक्ति मे प्रतिफलन रहता है और साक्षी अभिव्यंग्या चिति शक्ति को अभिव्यंग्या न समझ कर स्वय अपना

स्वरूप समझती है, तब तक उसमे परिणामित्वादि समस्त दोषो का आरोप सम्भव है। विवेकख्याति के बिना उक्त दोषो से मुक्ति असम्भव है।

अविद्यासाक्षिभास्य का अर्थ है–अविद्या सम्बद्ध साक्षि द्वारा भास्य–प्रकाश्य और अविद्या-सम्बद्ध साक्षी वह है जिसे विवेकख्याति नही प्राप्त हुई है। अतः अविद्या साक्षिभास्य तो हर दशा मे रहेगा ही। चाहे वह निद्राकालीन वृत्तिसारूप्य हो चाहे जाग्रत्कालीन। अतः अपरिणामी साक्षी मे सस्काराभाव वश जागरण काल मे भी स्मृति विषयिणी शका का प्रश्न ही नही उठता।

पुनः उनका यह कथन कि सुषुप्ति को अविद्या-वृत्ति माने तो जाग्रत्स्वप्न की भी वृत्तियाँ अविद्यामात्र होगी, अतः इन्हे चित्तवृत्ति मानना ही व्यर्थ है, इसलिये उचित नही है कि प्रथम तो यह कि "सुखमह अस्वाप्स प्रसन्न मे मनः" इत्यादि स्मृतियाँ जाग्रदवस्था की है। इनमे केवल स्वरूपसुख का कथन हो रहा है। ये सुषुप्तावस्था की स्मृतियाँ नही है, जो कि अज्ञान मे विलीन हो चुकी हो। दूसरे जाग्रत् और स्वप्न की वृत्तियाँ चित्त की ही वृत्तियाँ है, यह तो उभयपक्ष को मान्य है। रही सुषुप्ति की वृत्ति, वह है अविद्या, जो स्वय ही चित्त की वृत्ति है।[1] वस्तुतः योगी के लिये जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति सभी वृत्तियाँ अविद्या भाव है। अतः चित्त की सत्ता तो स्वीकार्य ही है और सुषुप्ति कतिपय मान्य आचार्यो के अनुसार अविद्याख्य प्रकृति की ही वृत्ति है। कारण का कारण भी परम्परया कारण ही कहा जाता है। अतः सुषुप्ति भी चित्तवृत्ति ही है, जैसे अविद्या है।

यह भेद अवश्य है कि जाग्रत और स्वप्न की तुलना मे निद्रा तामस वृत्ति होती है। यथा :—

**"सत्वाज्जागरण विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत्।**
**प्रस्वापन तु तमसा तुरीय त्रिषुसन्ततम्।"**

"विवरणकार" शकराचार्य ने भी सूत्रगत अभावपद से वाचस्पति की भाँति जाग्रत्स्वप्नकालीन वृत्तियो के अभाव का अर्थ ग्रहण किया है।

श्री स्वामी हरिहरानन्द आरण्य के शब्दो मे—"सुषुप्तिकाल मे जो जड-आच्छन्न करणभाव होता है, निद्रा वृत्ति उसी का विज्ञान है।"

---

१. इस विषय मे विपर्य्यय-वृत्ति का विवरण द्रष्टव्य है।

श्री हरिहरानन्द आरण्य ने "स्वप्नहीन सुषुप्ति" को निन्द्रावृत्ति बतलाया है तथा वाचस्पति की टीका की क्लिष्टता को अत्यन्त सुन्दर, सरल एव स्पष्ट भाषा-शैली मे समझा कर उन्ही के मत का अनुसरण किया है। राघवानन्द सरस्वती ने भी सक्षेप मे मिश्र जी के मत का अनुगमन किया है।

तमोगुण की प्रबलता से विस्तृत हुई, समस्त विषयो के त्याग-द्वारा प्रवृत्त होने वाली वृत्ति को निद्रा बतला कर श्री भोज ने भी मिश्र जी के मत का समर्थन किया है।

विज्ञान-भिक्षु के तर्को को स्वीकार करते हुए नागोजी भट्ट ज्ञान-सामान्य की सत्ता सुषुप्ति अवस्था मे भी स्वीकार करते है। साथ ही गाढ तमोरूप दोष भी बतलाते है। परन्तु गाढ तमोरूप दोष से तो सब वृत्तियो का अव्यक्तभाव हो जायगा। अतः गाढ तमोरूप दोष नही हो सकता है।

नागोजी भट्ट के मत के अनुरूप ही श्री रामानन्द यति ने सात्विक, राजसिक और तामसी निद्रा के अनुभवस्वरूप, बुद्धि के धर्मो को ही निद्रा बतलाया है। अनन्त पडित ने सूत्र मे "आलम्बन" के आगे "यस्याः" जोडकर केवल सूत्र की विभक्तियाँ तोड कर रख दी है। योगसुधाकरकार ने अत्यन्त सक्षेप मे भोज-वाचस्पति-सम्मत मत स्वीकार किया है। भाष्यकार ज्ञानानन्द ने भी उक्त विद्वानो का अनुमोदन किया है, कोई नवीन बात नही लिखी।

## स्मृति—

पूर्व अनुभूत विषयो की यथावत् आरोहपूर्वक मानसिक प्रतीति स्मृति नामक चित्तवृत्ति कहलाती है।[1]

सूत्रकार ने अनुभूत विषय के असम्प्रमोष को स्मृति बतलाया है। "असम्प्रमोष" का अर्थ होता है, किसी वस्तु या विषय का "न चुराया जाना या न खा जाना।" स्मृति के विषय मे पहले अनुभव किये गए विषय के न खोये जाने से तात्पर्य है—किसी अभिव्यजक को पाकर सस्कार-प्रफुल्लित हो उठना। स्मृति की प्रक्रिया का क्रम इस प्रकार होता है। किसी भी विषय का ज्ञान उत्पन्न होकर सर्वदा उसी रूप मे वर्त्तमान नही रहता है। यदि एक बार किसी वस्तु के विषय का ज्ञान सर्वदा उसी रूप मे वर्त्तमान रहेगा, तो उस ज्ञान के द्वारा प्रयुक्त अन्य व्यवहार लुप्त हो जाएगा। अतएव सर्वप्रथम किसी विषय का अनुभव-द्वारा ज्ञान होने पर उसका

---

१ "अनुभूत विषया सम्प्रमोष स्मृति" (यो० सू० १-११)

अज्ञात या अनुद्बुद्धरूप मे चित्त पर सस्कार पड जाता है। सस्कार भी यदि सर्वदा जागृत रहे, तो उसके अपना कार्य करते रहने से, अन्य व्यवहार लुप्त हो जायगा। अतः वह सुप्तरूप मे ही चित्त मे स्थित रहता है। जब कोई उद्बोधक साधन उपस्थित होता है तो वह सस्कार जागृत हो जाता है। सुप्त सस्कार के जागृत होने पर जिस पदार्थ के ज्ञान या अनुभव से वह सस्कार पडा था, उसी पदार्थ के विषय मे चित्त के तदाकार परिणाम को, स्मृति रूप वृत्ति कहते है। चित्त के सुप्त सस्कारो को जागृत करने वाले तीन साधन होते है—चित्त की एकाग्रता, अभ्यास तथा सहचार-दर्शन। इन तीनो मे से एक भी साधन की प्राप्ति स्मृति को उत्पन्न करती है। स्नेही सम्बन्धियो की स्मृति मे राग, शत्रु की स्मृति मे द्वेष, आधीत विद्या के स्मरण मे अभ्यास तथा एक साथ देखे गए किन्ही दो व्यक्तियो मे से किसी एक के ज्ञान से दूसरे की स्मृति होने मे सहचार-दर्शन, सस्कार को जागरूक करने वाला साधन होता है।

अनुभव स्मृति से भिन्न है, क्योकि अनुभव का विषय अज्ञात वस्तु ही होती है और स्मृति का विषय पूर्व-ज्ञान होता है। स्मृति का विषय अनुभव से न्यून अथवा उसी मात्रा मे हो सकता है, उससे अधिक मात्रा मे नही, क्योंकि अनुभव ही स्मृति का आधार है।

सम् एव प्र उपसर्ग पूर्वक 'मुष स्तेये" ( चोरी करना ) धातु से सम्पन्न "सम्प्रमोष" का अर्थ है "चोरी करना"। सम्प्रमोष शब्द मे नन् समास लगने पर बने "असम्प्रोप" पद का अर्थ होता है—"तस्करता का अभाव" या "चोरी न करना" प्रस्तुत स्थल मे अनुभवज्ञान पितृस्थानीय है एव स्मृति-ज्ञान पुत्रस्थानीय है, क्योकि वह अनुभव से उत्पन्न होता है। अस्तेय शब्द का प्रयोग साभिप्राय है, जिस प्रकार लोक मे पैत्रिक सपत्ति का ग्रहण अस्तेय है, उससे अधिक किसी और की सम्पत्ति ग्रहण करना चोरी। उसी प्रकार स्मृति का भी स्व-जनक अनुभव के विषय से अधिक अन्य के विषय रूप सम्पत्ति का ग्रहण (प्रकाश) करना सम्प्रमोप (चोरी) होगा। अनुभूत विषय अनुभव द्वारा छोडी गई सम्पत्ति के समान है। अनुभूत विषय से अधिक विषय को स्मृति प्रकाशित नही करती है। इसी से "अनुभूत विषय का असम्प्रमोष स्मृति है" ऐसा लक्षण सूत्रकार ने किया है। इसी कारण स्मृति का विषय अनुभव के बराबर या न्यून हो सकता है, अधिक नही।

स्मृति के विषय को स्फुट करने के लिये भाष्य मे यह शंका उठाई गई है कि चित्त केवल प्रत्यय मात्र को स्मरण करता है न कि केवल ग्राह्य को ? तात्पर्य

यह है कि चित्त केवल घटादि के ज्ञान को स्मरण करता है, अथवा घटादि विषय को, अथवा ग्राह्य-ग्रहण उभय को ग्रहण करता है। इसका समाधान यह है कि अनुभव, ग्राह्य और ग्रहण उभयाकार विशिष्ट होने से, तज्जन्य सस्कार भी विषय तथा ज्ञान के आकार-युक्त ही होते है। अतएव उनसे उत्पन्न होने वाली स्मृति ग्राह्य एव ग्रहण दोनो के स्वरूप से सयुक्त होती है।

स्मृति दो प्रकार की होती है—भावितस्मर्तव्या तथा अभावितस्मर्तव्या। भावितस्मर्तव्या स्मृति का विषय कल्पित अर्थात् मिथ्या होता है। स्वप्नकाल मे भावितस्मर्तव्या स्मृति ही होती है। वस्तुतः रज्जु मे सर्प की प्रतीति रूप अनुभवाभास की भॉति स्वप्नकालीन भावितस्मर्तव्या स्मृति भी स्मृत्याभास ही है, वास्तविक स्मृति नही। अभावितस्मर्तव्या जाग्रत्कालीन सत्यपदार्थ के स्मरणज्ञान रूप यथार्थ स्मृति है।

प्रमाण, विपर्यय तथा विकल्पवृत्ति से जागृत् अवस्था मे होने वाले अनुभवो से चित्त पर सस्कार पड़ते है। उन्ही सस्कारो से स्मृति होती है। अनुभवो के अनरूप सस्कार तथा सस्कारो के सदृश स्मृतियॉ होती है। निद्रा मे जाग्रत् स्वप्नकालीन अभाव का अनुभव होता है। उसके भी सस्कार से उसी के अनुरूप स्मृति उत्पन्न होती है। स्वप्न भी जागृत् अवस्था मे अनुभूत पदार्थों की स्मृति ही है। स्वप्न मे जागृत् अवस्था के स्मर्तव्य विषय भी दृष्टिगोचर होते है, किन्तु वे सब कल्पित होते है। स्वप्न स्मृति की भी स्मृति है। इस अवस्था मे यह ज्ञान भी नही होता है कि हम स्मरण कर रहे है। जाग्रत् काल मे जिसे स्मृति कहते है, निद्रावस्था मे उसी प्रकार की वृत्ति को स्वप्न कहते है। "जाग्रद्वस्थायां यद्दृष्ट यच्छ्रुत तज्जनित वासनयानिद्रा समये या प्रपञ्च प्रतीयते सास्वप्नावस्था" (जाग्रत् अवस्था मे जो कुछ भी देखता है और सुनता है उससे उत्पन्न वासना के द्वारा निद्रा समय मे जो प्रपञ्चमय प्रतीति होती है वही स्वप्नावस्था है—तत्त्वबोध) प्रमाणादि चारो वृत्तियो मे से प्रत्येक से स्मृतिवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। स्वामी विवेकानन्द ने[1] स्मृति–वृत्ति को इस प्रकार समझाया है। वे लिखते है—"मान लो तुमने एक शब्द सुना। यह शब्द चित्तरूपी सरोवर मे फेंके गए एक पत्थर के समान है। उससे एक छोटी–सी लहर पैदा हो जाती है और यह लहर फिर बहुत सी छोटी-छोटी लहरो को उत्पन्न कर देती है। यही स्मृति

१ राजयोग—पृ० १३७।

है। निद्रा मे यही घटना होती है। जब निद्रा नामक लहर विशेष चित्त के अन्दर स्मृतिरूप अनेक लहरे उत्पन्न कर देती है, तब उसे स्वप्न कहते है।"

पूर्व-कथित प्रमाणादि पाँचो वृत्तियाँ सुख दुःख और मोहस्वरूपा होने से क्लेशस्वरूपा है। अतः ये सभी निरोध करने योग्य है। इनका निरोध करने से पहले सम्प्रज्ञात, पुन असम्प्रज्ञात समाधियाँ आविर्भूत होती है। मनोविज्ञान मे इच्छा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। योग मनोविज्ञान चित्त एव उसकी वृत्तियो पर आधारित रहने पर भी उसमे इच्छा का अलग उल्लेख नही मिलता। चित्त की प्रमाण, विपर्य्ययादि वृत्तियो का विभाग यतः वृत्ति निरोध की दृष्टि से है, अतः योग के अन्तर्गत चित्त के ज्ञानांश का ही विभाग किया गया है। इच्छा वृत्ति का चित्त के क्रियात्मक अश से सम्बन्ध है अतः योगोक्त चित्तवृत्ति-विभाग के अन्तर्गत इच्छा का उल्लेख प्राप्त नही होता है।

## वृत्तिनिरोध—

उपर्युक्त क्लेशस्वरूपा सम्पूर्ण वृत्तियो का निरोध अभ्यास एव वैराग्य के द्वारा होता है। निसर्गतः बहिर्मुखी वृत्तियो को यम-नियमादि के सतत अभ्यास के द्वारा प्रथम निरुद्ध करके विषयाभ्यास से विरत बनाया जाता है। जिससे विषय-भोगो के प्रति उत्तरोत्तर तीव्र वैराग्य उत्पन्न होता है। पुन उस वैराग्य को स्थिर रखने के लिये बारम्बार वैराग्याभ्यास किया जाता है। फलतः साधक तीव्रतर एव तीव्रतम वैराग्य-स्थिति प्राप्त करता है। इस प्रकार अभ्यास एव वैराग्य दोनो का ही आश्रय लगातार ग्रहण करना पडता है।

योगप्रदीपकार स्वामी ओमानन्द एव ब्रह्मलीन मुनि का मत है कि सूत्र मे वृत्तिनिरोध-हेतु प्रथम अभ्यास का उल्लेख होने पर भी योग्यतानुसार वैराग्य का ही प्रथम स्थान है, क्योकि अभ्यास तो विषयो से वैराग्य का ही करना है। वैराग्य भावना का भी अभ्यास किया जा सकता है, परन्तु प्रस्तुत प्रसगगत पारिभाषिक अभ्यास वह नही है। अभ्यास एक चेष्टा विशेष है और वैराग्य एक ज्ञानविशेष। प्रशान्त चित्त मे स्थिति-प्राप्ति का प्रयत्न अभ्यास है। अनात्म विषयो मे हेय बुद्धि वैराग्य है। योगानुष्ठान मे प्रथम यम-नियमादि ही अभ्यसनीय है। अभ्यास के द्वारा विषय-दोष-दर्शन होने पर चित्त निरोधोन्मुख होने पर वैराग्योदय होता हैं। अभ्यास की अपेक्षा वैराग्य सूक्ष्मतर है। चेष्टावृत्ति से ज्ञानवृत्ति सूक्ष्म होनी ही चाहिये। तात्त्विक दृष्टि से भी वैराग्य अभ्यास से महान् है। अतः वैराग्य का बाद मे ही स्थान है। गीता मे भी भगवान कृष्ण ने—

---

१. "अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोध" (यो० सू०, १-१२)

"असंशय महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।"[१]

इस उक्ति मे अभ्यास को ही प्रथम स्थान दिया है। इस प्रकार साधन की दृष्टि से प्रथम अभ्यास का ही स्थान है और गुरुत्व की दृष्टि से वैराग्य का प्रथम स्थान है।

वृत्ति निरोध के प्रसग मे भाष्यकार व्यास ने चित्त को पाप एव पुण्य उभय प्रवाहिनी नदी के तुल्य बतलाया है। जिनमे वैराग्य के द्वारा विषय स्रोत परिशुष्क किया जाता है और विवेकाभ्यास से विवेक स्रोत का उद्घाटन होता है। अत· वृत्तिनिरोध उभयाधीन है। व्यास ने यहाँ प्रथम वैराग्य का उल्लेख किया है। वह केवल प्राधान्य के कारण समझना चाहिये।[२] यदि तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाय तो केवल वैराग्य से भी चित्तवृत्तियाँ अन्तरोन्मुखी हो सकती है, किन्तु आत्माभिमुख चित्त दृढ अभ्यास के बिना स्थैर्य धारण नही करता और स्थैर्यविहीन चित्त समाहित नही हो सकता।

गगनचारी पक्षी की उडान जैसे उभय पक्षाधीन है, उसी भाँति चित्तवृत्तियो के सम्यक् निरोध-हेतु अभ्यास एव वैराग्य दोनो ही अपरिहार्य है। अन्यथा एक पख से उडने मे प्रयत्नशील पक्षी की भाँति साधक लडखडा कर गिर जायगा।

तम प्रधान चित्त निद्रा, आलस्य, निरुत्साह आदि दोषाक्रान्त रहता है। रज के प्राबल्य से चित्त चाचल्यवश विक्षेप दोष से अभिभूत होता है। अभ्यास के द्वारा तम· प्रयुक्त मूढावस्था के दोषो की निवृत्ति होती है तथा वैराग्य से रज प्रयुक्त चाचल्य या विक्षेप निराकृत होता है। अतः वृत्तिनिरोध मे दोनो ही युगपत् आचरणीय है।

---

१. गीता—६/३५।

२ साख्य सूत्र "वैराग्यादभ्यासाच्च' मे जो वैराग्य का प्रथम उपस्थान है, वह वैराग्य के प्राधान्य का ज्ञापक है।

## (४) अभ्यास, उसकी दृढ़ता तथा द्विविध वैराग्य

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, चित्त वृत्तियो की निरोध स्थिति को स्थिर रखने के लिये अभ्यास एव वैराग्य दोनो ही अनिवार्य है। अब प्रश्न यह उठता है कि ये अभ्यास एव वैराग्य है क्या तथा इनके द्वारा किस प्रकार चित्तस्थिति होती है ?

### अभ्यास एव उसकी दृढता—

चित्तवृत्तियो के निरोध मे निरोध की स्थिरता-हेतु सतत प्रयत्न का नाम अभ्यास है।[1] यहाँ पर सतत् प्रयत्न से तात्पर्य मानसिक प्रसन्नतापूर्वक यम नियम आदि योगागो के अनुष्ठान से है। रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियो से रहित चित्त के हर्ष-शोकादि-शून्य, सात्विक निर्मल एव एकाग्र वृत्तिप्रवाह को स्थिति कहते है। इस स्थिति की प्राप्ति–हेतु वीर्य अर्थात् पूर्ण सामर्थ्य या दृढता तथा उत्साहपूर्वक यम, नियमादि का अनुष्ठान तथा इस (अनुष्ठान) के भी आगे सम्पादन की इच्छा से उसके साधन-श्रद्धा, वीर्य आदि मे—तत्परतापूर्वक निरन्तर प्रयत्न अभ्यास कहलाता है। गीता मे भी प्रसन्नतापूर्वक योगानुष्ठान का उपदेश दिया गया है।

प्रकृत स्थल मे योग के अष्टागो का प्रयत्नपूर्वक बारम्बार अनुष्ठान अभ्यास का स्वरूप तथा वृत्तिनिरोध उसका प्रयोजन है।

अनादिकाल से सचित सस्कारो से विवश चित्त का स्वाभाविक चाचल्य त्याग कर वैराग्य से निरुद्ध एव अभ्यास से स्थिर हो जाना दुरूह सा प्रतीत होता है, किन्तु अभ्यास से दुःसाध्य कार्य भी सुकर हो जाते है। यह अन्य बात है कि अभ्यास की अवधि दीर्घ हो। वृत्ति निरोध के हेतु भी दीर्घकाल तक निरतर उचित सत्कारपूर्वक अनुष्ठान करने पर, चित्तस्थिति का अभ्यास दृढ अवस्थायुक्त हो जाता है।[3] यहाँ 'उचित सत्कार" से तात्पर्य तप, ब्रह्मचर्य, प्रणव आदि भगवन्नाम

---

१ "तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास" (यो० सू० १/१३)

२ "त विद्याद् दु खयोगवियोग योगसज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्ण चेतसा॥" (गीता—६/२३)

३. "स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि"—यो० सू०, १-१४।

जप रूप विद्या एव श्रद्धा-भक्ति से है। यद्यपि विषय-वासना-सकुल व्युत्थान-सस्कार अनादि जन्म-परम्परायुक्त होने से हमारे स्वभाव के अग बन चुके है, किन्तु पूर्वोक्त प्रकार से सपादित निरोध स्थिति का प्रबल अभ्यास व्युत्थान-सस्कारो को अभिभूत करने मे समर्थ हो जाता है, जैसा कि भाष्यकार ने भी कहा है।[1] हॉ, यह अवश्य है इस स्थिति के लिये धैर्यपूर्वक दीर्घ अनुष्ठान की आवश्यकता है। अन्त मे निरोधाभ्यास ही हमारा स्वभाव बन जायगा।

वस्तुतः चित्त का स्वभाव भी जन्म–जन्मान्तरो से सचित विषय-वासनाओ के अभ्यासो की समष्टि ही तो है। यदि इसके विपरीत निरन्तर अभ्यास किया जाय, तो वही हमारा स्वभाव बन जायगा। अतः अभ्यास की आवश्यकता है। प्रत्येक कार्य सरोवर के वक्षःस्थल पर कॉपते हुए प्रवाह के समान है।[2] हर क्रियासे मानो चित्त-सरोवर के उपर एक तरग सी लहरा जाती है। यह कम्पन अल्पकाल मे विलीन हो कर केवल सस्कार शेष रहता है। चित्त मे ऐसे अनेक सस्कार एकत्रित होकर अभ्यास का रूप धारण कर लेते है।

अभ्यास की शक्ति बडी अद्भुत है। अभ्यास के बल पर कुशल नर्तकी डोरी व बताशे पर भी नृत्य कर सकती है। सरकस आदि मे केवल मनुष्य ही नही, अश्व, हस्ती आदि पशु तथा हिसक सिह, चीते भी अपने स्वभाव के विपरीत आश्चर्यजनक आचरण करते देखे जाते है। सखिया, सोमल आदि विष, अहिफेन (अफीम) एव तम्बाकू आदि द्रव्य, मारक एव मादक होने पर भी शनैः-शनैः स्वल्प परिमाण मे सेवन करने से पाच्य खाद्य मे परिणत हो जाते है। इस प्रकार एक दिन वे न केवल व्यसन ही बन जाते है, वरन् उनके बिना रहना भी दुष्कर हो जाता है। इसी भॉति यदि योग-जिज्ञासु भी चित्तस्थिति के हेतु पूर्ण तत्परता से उसके साधनो का अनुष्ठान करेगा तो दुष्कर चित्तस्यिति भी सुकर बन कर स्वभाव बन जाएगी।

### वैराग्य तथा गुण-वैतृष्णयः—

लोक मे दृष्टिगोचर तथा वेद-विहित विषयो मे तृष्णा रहित मुमुक्षु के चित्त मे वशीकार प्रज्ञा का उदय होता है। यही वैराग्य कहलाता है।[3] विषय लौकिक

---

१ "तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादित सत्कारवान्दृढभूमिभवति। व्युत्थान-सस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय भवति।"—व्या० भा०

२. राजयोग—पृ० १३८।

३. दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकर सज्ञा वैराग्यम्।—यो० सू०, १-१५।

एव अलौकिक के भेद से दो प्रकार के होते हैं । जड चेतनात्मक स्रक्, चन्दन, वनिता, अन्नपान एव ऐश्वर्य आदि प्रत्यक्ष लौकिक विषय है। दूसरे होते है—पारलौकिक विषय, जो पुनः शरीरान्तर-वेद्य तथा अवस्थान्तरवेद्य के भेद से दो प्रकार के है। देवलोक, अप्सराएँ, स्वर्ग, वैदेह्य (विदेहावस्था का आनन्द), प्रकृतिलयत्व आदि शरीरान्तर-वेद्य विषय है। दिव्य रस, गन्ध, तथा विभूतिपाद मे वर्णित सिद्धियाँ अवस्थान्तर-वेद्य विषय है। अतः गुण-दोष का विचार करने पर, इन सब ऐहिक तथा आमुष्मिक 'विषयो के उपस्थित होने पर भी, उनके नीरस, नश्वर एव दुःखरूप प्रतीत होने से, इन सबके प्रति दोष दृष्टियुक्त साधक के चित्त मे जो उपेक्षारूप, त्याग और प्राप्तिशून्य स्थिर-प्रज्ञा उदित होती है, वही वशीकार सज्ञक वैराग्य है। जैसा कि कुमारसभव मे कहा गया है—

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषा न चेतासि त एव धीराः।"

विकार का कारण उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त मे विकार उत्पन्न नही होता वे ही धीर है। चित्त की इसी प्रकार की अवस्था का अभिधान (वशीकार-सज्ञा) वैराग्य है। इसी की अपेक्षा से अग्रिम सूत्र मे महर्षि पतजलि ने पर वैराग्य बतलाया है।

किसी विषय के त्यागमात्र को वैराग्य नही कहा जा सकता, क्योकि रोगावस्थादि मे भी विषयो मे अरुचि उत्पन्न हो जाती है, जिससे विषय का त्याग होता है। विषय की प्राप्ति न होने पर भी उसमे उपेक्षाभाव जागृत हो जाता है। किसी के आग्रह से भी किसी विषय का त्याग हो सकता है। ससार को दिखाने के लिये अथवा किसी के विशेष भय, लोभ एव मोहवश भी किसी विषय का परित्याग किया जा सकता है, किन्तु उक्त सभी अवस्थाओ मे त्यक्त विषयो के प्रति मन मे सूक्ष्म रूप से तृष्णा वर्त्तमान रहती है।

विवेक से विषयो को पूर्णतः दुःखरूप एव बन्धन का हेतु समझ कर उनमे अनासक्त हो जाना तथा उनके प्रति सर्वथा सग-दोष से मुक्त हो जाना ही वैराग्य है। जैसा कि निम्न श्लोक मे कहा गया है—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥"[1]

वैराग्य "पर" और "अ-पर" के भेदसे दो प्रकार का होता है। अपर वैराग्य

---

१ मनुस्मृति (२/९४)

पर वैराग्य का हेतु होता है अतः पहले अपर वैराग्य के विषय मे ही बतलाया गया है। उपर्युक्त अपर वैराग्य यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार के भेद से चार प्रकार का होता हें। श्री व्यास ने चार प्रकार के वैराग्य का उल्लेख नही किया है। जिन टीकाकारो ने इस विषय का विवरण दिया है, उनकी व्याख्या सर्वत्र समान है।

दूसरा होता है "पर" वैराग्य। विवेक ख्याति की पूर्ण निष्ठा प्राप्त होने पर सत्वगुण के कार्यरूप विवेक ख्याति मे भी तृष्णा का अभाव हो जाना, या जहाँ तक गुणो का अधिकार है, उन सब विषयो मे तृष्णाशून्य हो जाना "पर" वैराग्य है।[1] दिव्य तथा अदिव्य विषयो मे तृष्णा का अभाव हो जाना अपर वैराग्य है। अपर वैराग्य मे योगी ऐहिक एव पारलौकिक विषयो की दुःखरूपता समझ कर उनसे विरक्त हो जाता है, जिससे उसका चित्त एकाग्र होकर उसमे सम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। जिसकी उच्चतम अवस्था सत्व और पुरुष की भिन्न रूप से पहचान है। इसी को विवेकख्याति पुरुषख्याति, या सत्वपुरुषान्यताख्याति आदि नामो से अभिहित किया जाता है। यद्यपि यह विवेकख्याति भी शुद्ध, सात्विक वृत्ति है, फिर भी अन्ततः है तो गुणो के अधिकार के अन्दर ही। अभी गुणो के अधिकार की समाप्ति तो नही हो जाती।

विवेक-ज्ञान के बारम्बार अभ्यास से चित्त मे और भी अधिक उत्तरोत्तर निर्मलता एव आत्मशुद्धि की प्रतीति होती है। इस स्थिति मे, विवेकख्याति के भी एक सात्विक वृत्ति एव गुणो का परिणाम होने से, उससे भी विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार जब गुणो के प्रति भी हमारी आसक्ति नही रहती है, तब चित्त मे "पर" वैराग्य का उदय होता है। इसी का दूसरा नाम गुण-वैतृष्ण्य है। यही वैराग्य की शक्ति का उच्चतम विकास है। भगवान् व्यास के अनुसार यह ज्ञान का प्रसादमात्र है, क्योकि इस स्थिति मे रज एव तम क्षीणतम अवस्था मे रहते है। इसकी प्राप्ति से योगी धर्ममेघ समाधिनिष्ठ होकर अपने मन मे समझता है कि प्राप्त करने योग्य "कैवल्य"[2] मैने प्राप्त कर लिया, क्षय करने योग्य क्लेश

---

१ "तत्पर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्" (यो० सू० १/१६)

२ धर्ममेघ समाधिनिष्ठ क्षीणक्लेशयोगी जीवन्मुक्त हो जाता है (योगभाष्य ४/३०)। इस अवस्था के अनन्तर उसे निश्चितरूप से कैवल्य प्राप्त होता है। यद्यपि धर्ममेघ समाधि कैवल्यावस्था नही है, तथापि पर-वैराग्य का कैवल्य अविनाभावी फल है। इस दृष्टि से धर्ममेघ-निष्ठ को—"प्राप्त करने के योग्य कैवल्य प्राप्त हो गया"—ऐसा प्रज्ञा का कथन किया गया है। (द्रष्टव्य—तत्ववैशारदी सू० १-१६)

नष्ट हो गये, ससार के आवागमन का चक्र छिन्न-भिन्न हो गया, जिसके कारण बारम्बार जन्म-मरण का त्रास भोगना पडता है। इस प्रकार ज्ञान की ही पराकाष्ठा वैराग्य है।[1] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वैराग्य ज्ञान विशेष है।

सूत्रकार ने गुणवैतृष्ण्य को पर-वैराग्य बतलाया है। अतः भाष्यकार की इस उक्ति से उनका विरोध प्रतीत होता है, किन्तु इसका भी समाधान भाष्यकार ने तुरन्त कर दिया है। वस्तुतः कैवल्य, पर-वैराग्य का अविनाभावी फल है। तात्पर्य यह है कि गुणवैतृष्ण्यरूप पर-वैराग्य ही परिपक्वावस्था मे विवेकज्ञान रूप मे परिणत हो जाता है। अतः सूत्र एव भाष्य मे विरोध नही है।



१. "ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् एतस्यैव हि नान्तरीयक कैवल्यमिति" (व्यास-भाष्य सू० १-१६)

## (५) सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि—

अभ्यास एव वैराग्य सहित चितवृत्तिनिरोध के प्रसग मे पूर्व प्रकरणो मे योग का सामान्य रूप से निरूपण किया गया है। अब उसका भेद-प्रभेदपूर्वक विशेपरूप से निरूपण किया जायगा। समाधि, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात के भेद से, दो प्रकार की होती है।

### सम्प्रज्ञात समाधि एव उसके भेद-प्रभेद—

जब किसी ध्येय वस्तु पर चित्त केन्द्रीभूत होकर चिरकाल तक स्थिर रहता है, तब उसे एकाग्र कहते है। यह पहले भी बतलाया जा चुका है कि चित्त की एकाग्रभूमि मे सम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। प्रत्येक ध्यान, ध्याता अर्थात् ध्यान करनेवाला व्यक्ति, ध्येय अर्थात् ध्यान की जाने वाली वस्तु और ध्यान अर्थात् ध्यान की क्रिया—इन तीनो से युक्त होता है। प्रारम्भिक अवस्था मे कोई भी ध्यान आलम्बनशून्य नही हो सकना है। यह सालम्बन भी दीर्घकाल तक वर्तमान रहता है। हम अमुक ध्येय का ध्यान कर रहे हैं, विशिष्ट ज्ञानपूर्वक होने से इस समाधि को सम्प्रज्ञात कहते है। इसे सबीज समाधि भी कहते है, क्योकि इस दशा मे चित्त के समाहित होने के लिये किसी सालम्बन की अपेक्षा रहने से बीजभूत अज्ञान भी वर्तमान रहता है। प्रत्येक साधक को प्रारम्भ मे इसी आलम्बन समाधि का आश्रय लेना पडता है। "सम्यक् सशय विपर्यय रहितत्वेन प्रकर्षेण ज्ञायते ध्येयस्य स्वरूप येन स सम्प्रज्ञातः" विषयभेद से इसके चार भेद है—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एव अस्मितानुगत।[1]

समस्त सशय, विपर्यय से शून्य अर्थात् ययार्थरूप से जिसके द्वारा ध्येय वस्तु का ज्ञान हो, उस एकाग्रता-विशेष का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है।[2] इसका ध्येय या भाव्य विषय ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ के भेद से तीन प्रकार का होता है। ग्राह्य विषय पुनः स्थूल एव सूक्ष्म विषयो मे विभक्त है। भौतिक पचमहाभूत स्थूल होने से,

---

१ "वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात सम्प्रज्ञात"—यो० सू० १-१७।

२ "सम्यक् सशयविपर्ययरहितत्वेन प्रकर्षेण ज्ञायते ध्येयस्य स्वरूप येन स सम्प्रज्ञात"—योग० विवृ०—पृ० १००।

स्थूल ग्राह्य कहलाते है। सूक्ष्मभूत या पचतन्मात्राएँ सूक्ष्म ग्राह्य कहलाती है। एकादश इन्द्रियाँ ग्रहण कहलाती है, क्योकि इनके द्वारा विषयो का ग्रहण होता है। ग्रहीतृ विषयक समाधि के विषय अहकार एव महत्तत्व है। पुरुष एव प्रकृति स्वरूपत: सम्प्रज्ञात समाधि के विषय नही है। उक्त ग्रहीतृ पदार्थ "अहमस्मि" इत्याकारक अस्मिताज्ञान युक्त हो ध्यान का विषय बनने से, सम्प्रज्ञात समाधि मे ग्रहीतृ विषयक समापत्ति केवल अस्मितानुगत समाधि ही है। जिस प्रकार धनुर्विद्या के अभ्यास मे प्रथम स्थूल लक्ष्य का बेधन किया जाता है, बाद मे सूक्ष्म का, उसी भाँति योग-साधक पहले स्थूल विषयो का साक्षात्कार करता है, तत्पश्चात् सूक्ष्म विषयो का।

## वितर्कानुगत समाधि—

चित्त मे स्थूल विषय का आभोग वितर्क कहलाता है।[1] वितर्कानुगत समाधि स्थूल महाभूत या पाचभौतिक चतुर्भुजादि भगवत्प्रतिमा आदि रूप ग्राह्यविषयक समाधि है। आभोग का अर्थ है—एक वस्तु का दूसरी मे आरोप करने पर देश सम्बन्धी एकता। चित्त का विषय-सानिध्यकाल मे तद्रूप होकर साक्षात्कार करना 'आभोग' है। ( वस्तुस्वरूपसाक्षात्कारिणी प्रज्ञा आभोगः )।[2]

वितर्कानुगत समाधि के ही प्रकृतिगतभेद सवितर्का एव निर्वितर्का समापत्तियाँ है। इनमे शब्द, अर्थ एव ज्ञान से सकीर्ण समापत्ति सवितर्का[3] कहलाती है। इसी की प्रकृष्ट भूमिका मे शब्दार्थज्ञान-शून्य अर्थ (ध्येय) मात्र को प्रकाशित करने वाली निर्वितर्का समापत्ति कहलाती है।[4] सवितर्का शब्द, अर्थ एव उसके ज्ञान की स्मृति से युक्त होती है। अत यह शब्द-सकेत स्मरणवती होने से विकल्पात्मिका है। विकल्पमय ज्ञान वास्तविक नही होता है। वितर्क शब्द का प्राचीन अर्थ शब्दमयी चिन्ता भी है। वितर्क का अर्थ हुआ विशेष तर्क। अतः जिसमे वितर्क अथवा विशिष्टरूप से शब्दमय चिन्ता हो, वह समाधि-प्रज्ञापूर्ण स्थिति सवितर्का समापत्ति है। यथा-गौ को ध्येय बनाने पर वर्णसमुच्चयरूप "गौः" शब्द, सास्नादियुक्त प्राणिविशेष रूप "गौः" अर्थ एव मानस बोध-स्वरूप "गौः" ज्ञान, ये तीनो भिन्न-भिन्न होने पर भी सवितर्का समापत्ति मे इनका अविभक्त या मिश्रितरूप

१ "वितर्कश्चित्तस्यालम्बनेस्थूल आभोग" (व्या० भा०—१/१७)

२ तत्व०

३ "तत्रशब्दार्थज्ञानविकल्पसकीर्णा सवितर्का समापत्ति ।" (यो० सू० १/४२)

४. "स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येव, अर्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।"—(यो० सू० १/४३)।

से ज्ञान होता है। निर्वितर्का समापत्ति मे चित्त ध्येयभूत अर्थाकारमात्रवती प्रज्ञा से परिपूर्ण होता है। यह स्थिति शब्द-सकेतस्मरणशून्य तथा आगम, अनुमान-ज्ञानादि के विकल्प से रहित, केवल ध्येयाकार प्रकाशिनी है। अतः इसे निर्विकल्पक भी कहते है। कारण इसमे ग्राह्य विषय का वास्तविक स्वरूप स्फुटित होता है। इसमे ध्येय विषय के प्रकाशनार्थ शब्दादि के सकेतो का स्मरण अपेक्षित नही होता है। इसी भाव को सूत्रकार से "स्मृतिपरिशुद्धौ" आदि पदो से व्यक्त किया है। ध्येयाकारमात्र की भासिका होने से निर्वितर्का समापत्ति मे चित्त के अपने ग्रहणस्वरूप का भी भाव नही होता। अतः चित्त का स्वरूप नही के तुल्य हो जाता है। इसी दृष्टि से सूत्र मे "स्वरूपशून्याइव" इत्यादि शब्दो का प्रयोग किया गया है। चित्त का ग्रहणस्वरूप उस समय रहता तो है, किन्तु ध्येय मे वह इतना तन्मय हो जाता है कि उसकी प्रतीति नही होती।

## विचारानुगत समाधि—

जब स्थूल विषयक समाधि अधिकृत हो जाती है, तब उसके अनुभव के साथ विचार-विशेष से अग्रिम भूमिका मे सूक्ष्म तत्वो का ज्ञान होता है। सूक्ष्म आलम्बन मे चित्त का आभोग विचार का हेतु है।[1] पचतन्मात्र आदि इसके सूक्ष्म विषय है। विचार के लिये भी शाब्दिक सहायता अपेक्षित है। अतः प्रकृतिगत भेदानुसार इसके सविचारा एव निर्विचारा समापत्ति रूप दो भेद है। सविचारा समापत्ति मे शब्द, अर्थ एव ज्ञान का विधान रहता है। समाधिप्रज्ञा की शुद्धि होने पर इसमे भी बाद मे सूक्ष्म ध्येय अर्थ-मात्र का बोध होता है। उसी को निर्विचारा समापत्ति कहते है। इन्हे सवितर्का एव निर्वितर्का की भाँति समझना चाहिये। भेद केवल यह है कि सवितर्का, निर्वितर्का स्थूलविषयिणी है और सविचारा-निर्विचारा सूक्ष्म विषयिणी।[2] सूक्ष्म विषयो की चरम-सीमा अव्यक्ता प्रकृति पर्यन्त है।[3] इसी को अलिग भी कहते है।

निर्विचारा समापत्ति मे ही पूर्णतः शुद्ध तत्व का साक्षात्कार होता है। कारण शब्दाश्रित चिन्ता पूर्णतः शुद्ध नही होती है। शब्दो के द्वारा सोचने से जो भ्रान्ति सम्भव है, वह शब्दहीन चिन्ता ( निर्विचारा समापत्ति ) मे असभव है।

---

१. व्या० भा०—१-१७।

२. "एतयैव सविचारानिर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।" यो० सू० १-४४।

३. "सूक्ष्मविषयत्व चालिङ्गपर्यवसानम्।" यो० सू० १/४५।

शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है—"अपरिमिततर हि मन. परिमिततरा हि वाक्"[1] तथा "वाग्वैमनसो ह्रसीयसी ।"

## आनन्दानुगतसमाधि—

यह केवल सूक्ष्म ग्रहण-विषयक समाधि है। सात्विक अहकार-जन्य होने से इन्द्रियाँ (ग्रहण) आनन्दस्वरूप हैं। अतः इनके आलम्बन से सत्व के प्रकर्ष से अत्यन्त आनन्द की अनुभूति होती है। शरीर, चित्त, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, एव प्राणो का यह अधिष्ठान स्वरूप है। अतएव यह आनन्द समस्त शरीर की सात्विक स्थिरता अथवा उस स्थैर्य का स्वभाविक बाध-स्वरूप है। इन्द्रियगण के विषय-व्यापार से उनकी शान्ति ही अपेक्षाकृत परम आनन्दप्रदायिनी है। योगी इन्द्रियगण की शाश्वतिक शान्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है। यह आनन्द अनुभव का ही विषय है। ह्लाद इन्द्रियो का स्वभाव है। क्योकि इन्द्रियो के मूल मे सत्त्व प्रधान वैकारिक अहकार है। अतः इन्द्रियो के चरितार्थ होने पर आनन्द का बोध होता है। यहाँ पर इन्द्रिय के कथन से इन्द्रियगत स्थैर्य का तात्पर्य ग्राह्य है। "महाभारत" शान्तिपर्व मे इन्द्रियो के पिण्डीवत्भाव की चर्चा की गई है। इन्द्रियो का पिण्डीवत्-भाव (केवल ग्रहणतत्व का अवलम्बन) होने से इन्द्रियगत आनन्दभाव प्रकट होता है। उसमे समाहित होना आनन्दानुगत समाधि है।[2]

भाष्यकार ने आनन्दानुगत समाधि को विचार विकल कहा है, क्योकि स्थूलभूत से तन्मात्र तत्व मे प्रविष्ट होने के लिये, जिस प्रकार यत्नतः विचारपूर्वक ध्यान आवश्यक है, इसमे वह भी अनपेक्षित है। विचारानुगत सम्प्रज्ञात के विषय सूक्ष्मभूत है, वे भी इस समाधि के विषय नही होते। अतः इसे विचार-विकल कहा गया है।[3] आनन्दानुगत समाधिवर्ती आनन्द के द्रष्टा का बोध सास्मित समाधि है।

---

१ शत० ब्रा० १/४ ४/७।

२ 'इन्द्रियाणि मनश्चैव यथा पिण्डीकरोत्ययम् ।
स्वयमेवमनश्चैव पचवर्गञ्च भारत ॥
पूर्वं ध्यानपथे स्थाप्य नित्ययोगेन शाम्यति ।
न तत् पुरुषकारेण न च दैवेन केनचित् ॥
सुखमेष्यति तत्तस्य यथेव सयतात्मन ।
सुखेन तेन सयुक्ता रस्यते ध्यानकर्मणि ॥"—मोक्ष० १९५ अ०।

३. द्रष्टव्य—यो० भा० सू० १/१७।

अस्मितानुगत समाधि, तुलना मे आननन्दानुगत से भी सूक्ष्म है, क्योकि समस्त कारण अस्मिता के ही विकार है। अस्मिता इद्रियो का उपादान कारण होने से नितान्त सूक्ष्म है।

इन्द्रिय-विषयक समापत्ति के विषय मे श्री भिक्षु ने लिखा है कि बाह्येन्द्रियाँ स्थूल होने से विनर्कानुगत समाधि की ही विषय है।[1] बाह्येन्द्रियाँ-ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण है। आन्तरिन्द्रिय मन है। वही समस्त इन्द्रियो का नेता है। समस्त इन्द्रियाँ मूल अन्तःकरण-त्रय (बुद्धि, अहकार और मन) की ही विकारस्वरूपा है।

## अस्मितानुगत समाधि—

एकाग्रता की सूक्ष्मता और सत्वगुण की वृद्धि के साथ-साथ अहकार की आनन्दात्मिकना वृत्ति के सूक्ष्म होने पर अस्मिता का साक्षात्कार होता है। चित् प्रनिविम्बक्त बुद्धि ही अस्मिना है। दृक् शक्ति पुरुष है और दर्शनशक्ति बुद्धि। इन दोनो की एकत्वरूप वृत्ति अस्मिता है[2]। इसमे अहकार भी सूक्ष्म रूप से रहता है। वस्तुतः इसमे प्रकृति, पुरुष, बुद्धि, तथा अहकार इन चारो का सस्कार होता है। यह समाधि ग्रहीतृ-विषयक होती है किन्तु इसमे समाधि का आलम्बन स्वरूप-द्रष्टा नही, अपितु विरूप-द्रष्टा, व्यावहारिक पुरुष ही होता है, पहले भी बताया गया है कि प्रकृति एव पुरुष स्वरूपतः साम्प्रज्ञात समाधि के विषय नही होते।

उपर्युक्त चारो प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधियो मे प्रथम वितर्कानुगत समाधि मे चारो व्याप्त है। विचारानुगत मे तीन है, आनन्दानुगत मे दो तथा अस्मितानुगत केवल अपने आप मे ही अनुगत है। प्रकृति का कार्य बुद्धि, बुद्धि का अहकार, अहकार का इन्द्रियाँ एव सूक्ष्म पचभून (पचतन्मात्राएँ) एव पचसूक्ष्मभूतो का कार्य स्थूल पच-भूत होते है। अत स्थूल भूत विषयिणी भावना वितर्क, विचार, आनन्द एव अस्मिता चतुष्ट्यानुगत कही गई है। सूक्ष्म पचभूत विषयक विचारानुगत समाधि तृतयानुगत है। यह केवल वितर्क रहित है। अतः इस समापत्ति मे पचभूतों का भान नही होता है। अन भाष्यकार इसे वितर्क-विकल अर्थात् वितर्क रूप अगहीन कहते है। ग्रहणविपयक आनन्दानुगत समाधि विचार से भी विकल है। इसमे स्थूल-सूक्ष्म उभय विधभूतो का भान नही होता है। यह द्वितयानुगत अर्थात् आनन्दानुगन और अस्मितानुगत दोनो से व्याप्त है। चतुर्थ

१ द्रष्टव्य—यो० वा० १/१७।

२ "दृकदर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिना"—यो० सू० २ ६।

अस्मिता-विषयक समापत्ति आनन्द विकल अस्मिता मात्र ही है,[1] क्योकि इसमे स्थूल सूक्ष्म-पचभूत एव इन्द्रियाँ तथा स्थैर्यगत आनन्द किन्ही का भी भान नही होता है। यहाँ आनन्द-विकल का अर्थ आनन्दशून्य नही, अपितु आनन्द से अतीत है ग्रहण-विषयक आनन्द की अपेक्षा यह अधिक अभीष्ट शान्ति स्वरूप है। इसी प्रकार धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म की ओर अभ्यास का क्रम बढाने से अन्त मे, सम्प्रज्ञात समाधि की चरम सीमा रूप विवेकख्याति का उदय होता है। आनन्दानुगत समाधि ग्रहण-विषयक समापत्ति है और अस्मितानुगत समाधि ग्रहीतृ विषयक समापत्ति है। समापत्ति से तात्पर्य इतर वृत्तियो के क्षीण हो जाने पर ध्येयाकाराकारित चित्त की स्थिति से है। समाधि मे भी चित्त ध्येयाकार मे परिणत होता है, किन्तु समाधि शब्द एक एकाग्रता विशेष को लक्ष्य करता है और समाधिप्रज्ञा से चित्त की परिपूर्णता समापत्ति है। सूत्रकार ने चित्त को स्फटिकमणि की उपमा देते हुए, यह विषय इस प्रकार स्फुट किया है:—वृत्तियो (राजस-तामस इतर वृत्तियो) के क्षीण हो जाने पर स्फटिकमणि की भाँति निर्मल चित्त की ग्राह्य, ग्रहण या ग्रहीतृ विषय मे एकाग्रस्थिति प्राप्त कर लेने पर तदाकाराकारिता समापत्ति कहलाती है।[2] स्फटिकमणि के समक्ष विभिन्न रग आने पर वह उसी-उसी रग का दिखाई देने लगता है। वैसे ही चित्त जिस-जिस ध्येय का आलम्बन ग्रहण करता है, स्वय भी तद्रूप हो जाता है। वस्तुतः समापत्ति स्थतिप्राप्त चित्त की समाधि का नाम है। स्थितिप्राप्त का अर्थ एकाग्र भूमि-प्राप्त है। जब अभीप्सित विषय मे इच्छानुसार निश्चल समाधि का अभ्यास हो जाय, तब चित्त स्थितिप्राप्त होता है। उस स्थिति की समाधि ही समापत्ति है। शुद्ध समाधि और समापत्ति मे यही भेद है।

विषयभेद से समापत्ति ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीतृ-भेद से तीन प्रकार की है। वितर्क, विचार, आनन्द एव अस्मितानुगत समाधियो का विभाजन भी विषयगत ही है। स्थूल-सूक्ष्म ग्राह्य के भेद से वितर्कानुगत एव विचारानुगत समाधियो का विभाजन है। इन विषयो की प्रकृति के भेद से सवितर्का, निर्वितर्का एव सविचारा,

---

१ "तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगत समाधि सवितर्क ।
द्वितीयो वितर्कविकल सविचार ॥
तृतीयो विचारविकल सानन्द ।
चतुर्थस्त द्विकलोऽस्मितामात्र इति ॥" (व्या० भा० स० १, सू० १७)

२ "क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवमणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्ति ।"
(यो० सू० १/४१)

निर्विचारा समापत्तियो का विभाजन है। विभाग-बाहुल्य को छोड कर प्रकृति एव विषय युगपद् उभयानुसार विभाग ही अभ्यास दृष्टि से उपादेय है। समस्त सभव समापत्तियाँ ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीतृ के अन्तर्गत है। श्री हरिहरानन्द अरण्य ने यह विभाग काष्ठो—द्वारा इस प्रकार दिखलाया है :—

| | प्रकृति | विषय | समापत्ति |
|---|---|---|---|
| १ | शब्दार्थज्ञान—<br>विकल्प-सकीर्ण | स्थूल—<br>(ग्राह्य ग्रहण) | सवितर्का—<br>(वितर्कानुगत) |
| २ | —वही— | सूक्ष्म—<br>(ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीतृ) | सविचारा—<br>(विचारानुगत) |
| ३ | स्मृति-परिशुद्ध होने पर<br>स्वरूपशून्य के समान<br>अर्थमात्र-निर्भासा | स्थूल (ग्राह्य, ग्रहण) | निर्वितर्का —<br>(वितर्कानुगत) |
| ४ | —वही— | सूक्ष्म (ग्राह्य-ग्रहण,<br>ग्रहीतृ) | निर्विचारा (विचारानुगत)<br>=सूक्ष्म, सानन्द, सास्मित। |

अभी तक जितनी भी समाधियो का वर्णन किया गया है, वे सब सबीज समाधियाँ है, क्योकि इनमे सबमे किसी न किसी स्थूल आलम्बन की अपेक्षा रहने से बीजभूत अज्ञान भी विद्यमान रहता है। स्थूल अर्थ मे सवितर्का और निर्वितर्का समापत्तियाँ होती है, सूक्ष्म अर्थ मे सविचारा और निर्विचारा।[1]

उक्त सवितर्कादि समापतियो का ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्य के उपभेदो सहित वाचस्पति मिश्र ने आठ प्रकारो मे विभाजन किया है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जैसा कि पहले वितर्कानुगत एव विचारानुगत समापत्तियो के स्पष्टीकरण मे बतलाया गया है। स्थूल और सूक्ष्म ग्राह्य अर्थात् पचभूत और पचतन्मात्राओ के के आलम्बन से सवितर्का, निर्वितर्का और सविचारा, निर्विचारा के भेद से चार प्रकार की ग्राह्य समापत्ति, "शब्दादि श्रोत्र के विषय है और अहकार इन्द्रियो का कारण है," इस प्रकार के विचारपूर्वक इन्द्रिय सम्बन्धी सविचारा ग्रहण समापत्ति

१ ताश्चतस्र समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीज। तत्र स्थूले, अर्थे सवितर्को निर्वितर्क, सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार। (व्या० भा०)

और उक्त विचारशून्य केवल इन्द्रिय विषयक निर्विचारा ग्रहण समापत्ति, इस प्रकार दो प्रकार की ग्रहण समापत्ति हुई। इसी प्रकार विचारपूर्वक एव विचारशून्य होने से सविचारा, निर्विचारा दो प्रकार की ग्रहीतृ विषयिणी समापत्ति। इस प्रकार से सब मिलाकर आठ प्रकार की सम्प्रज्ञात समापत्तियाँ सिद्ध हुई।

× × ×

सूत्रकार ने समापत्तियो के वितर्कादि चारो भेद और उनका स्थूल सूक्ष्म-विषत्व प्रदर्शित करके "सूक्ष्मविषयत्व चालिङ्गपर्यवसानम्" यह बतला कर "ता एव सबीजः समाधि." ऐसा सूत्रक्रम रखा है और इस प्रकार पूर्वोक्त समस्त समापत्तियो का सबीजत्व प्रतिपादित किया है।

"ता एव सबीजः समाधिः"[1] इस सूत्रान्तर्गत "एव" के क्रम को बदल कर वाचस्पति मिश्र ने "ता सबीज एव समाधिः" यह अन्वय श्रेयस्कर माना है। क्योकि उनका कथन है कि पूर्वोक्त क्रम से, वे ही सवितर्का आदि चार प्रकार की ग्राह्य समापत्तियाँ है, अन्य नही, ऐसा अथ निकलेगा, साथ ही समापत्तियो के आठो भेदो का कथन उसके अन्तर्गत नही हो पायेगा तथा दूसरे प्रकार के क्रम मे उक्त आठो प्रकार आ जायेगे, किन्तु एक तो भाष्यकार ने सूक्ष्म विषयक होने से सूक्ष्म-ग्राह्य-समापत्तियो मे ही ग्रहण-ग्रहीतृ विषयक समापत्तियो को भी अन्तर्भूत करके "ताश्चतस्रः समापत्तयः", इन शब्दो से चार प्रकार की समापत्तियो का कथन किया है। इससे सिद्ध है कि समापत्तियो के स्वतत्र आठ प्रकार गिनाने उन्हे अभीष्ट नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार ने किसी प्राचीन ग्रन्थ (सभवतः पद्यमय) से इस वाक्य को यथावत् ग्रहण किया है, क्योकि योगसूत्रो मे सर्वत्र ऐसा व्यत्क्रम शब्द-प्रयोग नही मिलता है। (प्राचीनकाल मे परम्परा-प्राप्त या पूर्वाचार्यप्रयुक्त शब्दो को यथावत् प्रयोग करने की प्रथा प्रचलित थी।) एवकार का क्रम भिन्न रखने पर "ताः सबीजसमाधय एव्" ऐसा पाठ शुद्ध होगा।

श्री विज्ञानभिक्षु समापत्तियो के छः प्रकार ही स्वीकार करते है। इन्होने "वितर्क विचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः" केवल इस सूत्र को लक्ष्य बनाकर पहिले तो सवितर्का-निर्वितर्का और सविचारा-निर्विचारा, स्थूल-सूक्ष्म विषयक समापत्तियो की भाँति "आनन्दा" और "अस्मिता" के भी सानन्दा-निरानन्दा और सास्मिता व निरस्मिता दो-दो भेद रचे है। इस प्रकार आठ भेद करके, पुनः जो

१. ता एव सबीज समाधि—(१-४५)

ह्लादस्वरूप सम्प्रज्ञात-योग है, वह निरानन्द कैसे हो सकता है और जो चैतन्यस्वरूप सम्प्रज्ञात योग है, वह उससे शून्य अर्थात् निरस्मित कैसे हो सकता है, ऐसा कहकर भिक्षुजी ने स्वरचित निरानन्दा एव निरस्मिता का निराकरण करके समापत्तियो के छः प्रकार ही स्वीकार किये है। प्रथम तो इनका यह विभाजन ही युक्ति युक्त नही है, क्योकि आनन्दानुगत और अस्मितानुगत के भी सविचारा, निर्विचारा दो-दो भेद होने से सबीज समाधि के आठ भेद सिद्ध होते है। अतः भिक्षु जी का यह विभाजन शास्त्रानुगत न होने से अप्रामाणिक है। दूसरे उनको स्वय भी स्वरचित दो प्रकारो का निरसन करना पडा है, तब छः प्रकार शेष बचे है। जिन प्रकारो की सत्ता ही सिद्ध न हो सके, उन्हे हम वैज्ञानिक विभाजन कैसे मान ले ?

समापत्तियो के आठ प्रकारो को वाचस्पति मिश्र के मतानुसार-सर्व श्री राघवानन्द सरस्वती तथा मणिप्रभाकर भी स्वीकार करते है। शेष सभी व्याख्याकारो ने केवल वितर्क, विचार, आनन्द एव अस्मितानुगतरूप सम्प्रज्ञात समाधि के सामान्य चार भेदो का ही उल्लेख किया है, उनके विशिष्ट चार उपभेदो के विषय मे वे मौन है।

सूत्रकार एव भाष्यकार ने यद्यपि स्वतन्त्र आठ प्रकारो का कथन नही किया है, किन्तु उनकी ओर सकेत कर दिया है। भाव यह है कि यद्यपि सवितर्का एव निर्वितर्का समापत्ति स्थूल-ग्राह्य-विषयक है और सविचारा और निर्विचारा सूक्ष्म ग्राह्य विषयक, जिनका कि स्पष्ट उल्लेख भाष्यकार ने किया है, किन्तु "सूक्ष्म विषयत्व चालिङ्गपर्यवसानम्" सूत्र मे सूक्ष्मविषयता का प्रकृतिपर्यन्त-पर्यवसान बतलाया गया है, जिसके अन्तर्गत इन्द्रिय एव अहकार भी है। जिस प्रकार पच-तन्मात्राएँ अहकार का कार्य एव सविचारा समापत्ति का विषय है, जैसा कि भाष्यकार ने कहा है,[1] उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी अहकार का कार्य होने से सविचारा समापत्ति का विषय बन सकती है। इसी प्रकार अहकार का भी कारण महत्तत्व आदि भी उसी मे अन्तर्भूत है, क्योकि कार्य मे कारण अनुगत रहता है। अतः ग्रहण एव ग्रहीतृ विषय सूक्ष्म होने से तद्विषयक समापत्ति-ग्राह्य समापत्तिरूप वितर्कानुगत समाधि मे अन्तर्भूत होने से, उक्त आठो प्रकार की सबीज समापत्तियो का ग्रहण हो जता है। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार ग्राह्य समापत्ति मे समस्त विषय अन्तर्भूत होने से "क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवमणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः", इस सूत्रगत उनका विभाजन असगत है, तो यह भी समीचीन नही है, क्योकि

१. द्रष्टव्य—व्या० भा० (१/४५)।

सूक्ष्म रूप से इन सबका ग्राह्य-समापत्ति मे समावेश होने पर भी, उनका ग्रहण एव ग्रहीतृ रूप मे विवेचन आवश्यक है।

समाधि को प्राप्त करने मे साधक जितनी अधिक तत्परता एव धैर्य से साधन करता है, उतनी ही शीघ्रता से उसे समाधि-लाभ होता है। तीव्र सवेग युक्त साधक शीघ्र ही समाधि लाभ करके उसका फल प्राप्त करता है।[1] तीव्र सवेगयुक्त साधको को भी साधन-तत्परता मे कुछ भेद होते है। अधिक, अधिकतर और अधिकतम तत्परतायुक्त साधन होने से तीव्र सवेगयुक्त योगी भी मृदुतीव्र-मध्यतीव्र और अधिमात्रतीव्र उपायवाले होते है और अपनी योग्यतानुसार शीघ्र, शीघ्रतर और शीघ्रतम समाधि-प्राप्ति करते है।[2] अथवा ईश्वरप्रणिधान से भी शीघ्र ही समाधि प्राप्त होती है।[3] ईश्वर क्लेश, कर्म एव उनके विपाक के सस्कारो से सर्वथा असम्पृक्त, सब पुरुषो से विशेष प्रकार का अर्थात् उत्कृष्ट कोटि का होता है।[4] यद्यपि प्रत्येक पुरुष वस्तुतः विषयो से असम्बद्ध ही होता है, किन्तु अज्ञानवश उसमे कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का अध्यारोप होता है। जिस प्रकार योद्धाओ की जीत-हार होने पर सेना के स्वामी का ही जय-पराजय कहा जाता है, इसी प्रकार चित्त और पुरुष का भी स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध है और चित्त मे होने वाले क्लेश-कर्मादि का व्यवहार पुरुष मे किया जाता है। इस प्रकार का अज्ञान से प्रयुक्त औपाधिक क्लेशादि का सम्बन्ध विवेकशील ईश्वर में कभी नही होता। यही श्री व्यासके अनुसार उसकी अन्य पुरुषो से विशेषता है। मुक्त पुरुष भी क्लेशादि से असम्बद्ध हो जाते है, किन्तु मुक्त पुरुष मुक्ति से पूर्व बन्धन मे रहता है और प्रकृष्ट सत्त्वरूप उपादान के कारण ईश्वर मे शाश्वतिक उत्कर्ष है। ईश्वर के अन्यान्य गुणकर्मो का ज्ञान हमे शास्त्र से होता है।[5]

× × ×

---

१ "तीव्र सवेगानामासन्न" —१/२१ यो० सू० (सूत्र शैली मे रचित ग्रन्थ मे साधारण-सी बात के लिये दो-दो सूत्रो की रचना विस्मयकारिणी है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार ने योग-साधको के आश्वासन हेतु यह बात दोहराई है कि जितनी तत्परता से साधन किया जायगा, उतनी ही जल्दी समाधि अधिकृत होगी।)

२. मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपिविशेष (१/२२ यो० सू०)

३ "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" (१/२३ यो० सू०)

४. "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर" (१/२४ यो० सू०)

५ "योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्ष स कि सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त। तस्य शास्त्र निमित्त। शास्त्र पुन कि निमित्त। प्रकृष्ट सत्त्व-निमित्त। . तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्। न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते।" (व्या० भा० १/२४)

ईश्वर मे निरतिशय सर्वज्ञता का बीज है।[1] वह (ईश्वर) गुरुओ का भी गुरु है। किसी भी ऋषि-मुनि आदि की सर्वज्ञता किसी काल-विशेष मे ही होने से कालावच्छिन्न होती है। अतः उन्हे ईश्वर कोटि मे नही न्यस्त कर सकते। ज्ञान अनन्त-अनादि है। ईश्वर का चित्त इसका मूल स्त्रोत, असीमित एव नित्य तथा गुरुत्व की अन्तिम कोटि है। वह किसी भी काल या देश से अनवच्छिन्न है।[2] प्रणव ईश्वर का वाचक है।[3] इसके नित्य निरन्तर जप एव भावना करने से शीघ्र ही समाधि लाभ होता है। अतः प्रणव जप के साथ साथ उसके अर्थ की भावना करना चाहिये।[4] श्री मद्भगवद्गीता मे भी प्रण व जप की महिमा का गुणगान किया गया है।[5] उपनिपदो मे ब्रह्मरूप लक्ष्य-प्राप्ति-हेतु आत्मा को शर और प्रणव को धनुष बताया गया है—

**"प्रणवो धनुःशरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते।**
**अप्रमत्तोन वेद्धव्य शरवत्तन्मयोभवेत्।"[6]**

तथा—"ओमित्येतदक्षरमिद सर्वं तस्योपव्याख्यान भूत भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव"[7] अर्थात् समस्त भूत, भविष्य और वर्तमान वस्तु ओम् रूप अक्षर ही है। उक्त त्रिकाल से अतीत् वस्तु भी सब कुछ ओकार ही है।

प्रणव-जप-द्वारा अभीष्ट-सिद्धि के रहस्य का आधार मन्त्रयोग है। प्रणव को सम्पूर्ण मन्त्रो का सेतु, मगलप्रद, सर्वसिद्धिप्रदायक तथा सब मन्त्रो का नायक भी कहा गया है—

---

१ तत्र निरतिशय सर्वज्ञत्रीजम्। (यो० सू० १/२५)

२ "स पूर्वेपामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्" (यो० सू० १/२६)

३ 'तस्यवाचक प्रणव" (यो० सू० १/२७)

४ 'तज्जपस्तदर्थभावनम्" (यो० सू० १/२८)

५ सर्व द्वाराणि सयम्यमनो हृदि निरुद्धय च।
मूर्ध्न्याधायात्मन प्राणमास्थितो योगधारणम्॥
ओमित्येकाक्षर ब्रह्म, व्याहरन् मामनुस्मरन्।
य प्रयाति त्यजन् देह स याति परमागतिम्॥ (गी० ८/१२-१३)

६ मुण्डकोपनिषद्, २/२/४।

६ माण्डूक्योपनिषद् १।

"मन्त्राणा प्रणवः सेतुः।"

तथा

"माङ्गल्य पावन धर्म्य सर्वकामप्रसाधनम्।
ओङ्कारः परम ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम्॥"

तन्त्रो मे मन्त्रविज्ञान की महत्ता एव विशिष्ट-विशिष्ट मन्त्रो मे निहित शक्तियो का विशद विवेचन प्राप्त होता है। मन्त्र विज्ञान की यथार्थता से अनभिज्ञ होने के कारण ही सामान्य जन मन्त्रो के विषय मे उदासीन एव उपहासपरायण रहते है। मन्त्र सङ्घटना वर्णाश्रित है। अतः वर्ण अनुपेक्षणीय है। वर्ण स्वतन्त्र रूप मे तथा समग्र वर्णमाला भी अपने सामूहिक रूप मे मन्त्रात्मक ही है।[1] मानव शरीर मे जन्मतः ही इन वर्णो की सूक्ष्म सस्थिति रहती है। साथ ही इन वर्णो—आहत ध्वनियो के समाहारभूत अनाहत नाद अथवा प्रणव का निरन्तर घोष भी वही होता है। रवि रूपा अव्याकृत वाक्, अपर प्रणव आदि इसी के नामान्तर है। समग्र वर्ण इस एकाक्षर रवि रूप अव्याकृत वाक् से ही नि.सृत होते है। यह गतिशील जीवन स्पन्दन है। इससे परे जीवन मूलभूत परप्रणवात्मक कुण्डलिनी की स्थिर घनावस्था है। वर्णरश्मियो के आश्रय से अपरप्रणवात्मक=पराग्वर्ती अव्याकृत वाक् मे निमज्जन करके—सूर्यमण्डल भेद कर—साधक पर शब्द रूप कुलकुण्डलिनी, शक्ति की महा-मञ्जूषा उद्घाटित कर कृतकृत्य बन जाते है। उपर्युक्त वर्णरश्मियो से साधक के मलनिवृत्त होकर उसके स्वाभाविक शक्ति स्रोत का उद्घाटन होता है अतः जीव का सहज समृद्धिमय स्वरूप निखर उठता है। वर्ण निहित शक्तियाँ साधक को अज्ञान स्थिति मे वाचक शब्दानुबेध से हर्ष, शोक, रागादि रूप धारण करके बन्धन मे बाँधती है, ज्ञात होने पर सिद्धि माता का कार्य करती है।[2]

मन्त्रयोग का रहस्य आधुनिक विज्ञान ने भी समझा है।[3] तदनुसार मत्रयोग द्रव्य और चेतनता मे परिवर्तन करने मे समर्थ है। जहाँ कार्य है, वहाँ सूक्ष्म स्पन्दन (वाइब्रेशन) अवश्य होगा। जहाँ स्पन्दन है वहाँ शब्द अवश्यम्भावी है। अतः सृष्टिमूल प्रणवध्वनि ( ओकार ) ही है।

---

१ सर्वेऽपि वर्णा केवला सयुक्ता समुदिता अपि सर्वार्थ-साधका मत्रा एवेति। (प्रयोगक्रम-दीपिका प्रपञ्चसारयन्त्रटीका वृ० पटल)।

२. द्र०—मन्त्र और मातृकाओ का रहस्य—पृ० २२।

३ द्र०—जपसूत्रम् (स्वामी प्रत्यागात्मानन्दजी कृत) प्रथम खण्ड।

"आधुनिक विज्ञान यह स्वीकार करता है कि चरमसत्य (अल्टीमेट रियलिटी) का प्राथमिक प्रकटीकरण या सृष्टि एक सूक्ष्म स्पन्दन के द्वारा होती है, जिसे ध्वनि या शब्द कहते है। इस शब्द के द्वारा ससार की उत्पत्ति ही नही, वरन् उसका निर्वाह भी होता है। अतः यह स्पन्दन के अनेक रूपो मे विभक्त हो जाता है। ये स्पन्दन ही दृश्यात्मक जगत् को सवृत करके व्याप्त रहते है।"

विज्ञान अभी तक भौतिक द्रव्यो के चरम विधान का स्पष्ट चित्र खीचने मे असमर्थ रहा है, किन्तु इतना अतिम और निश्चितरूप से सिद्ध हो चुका है कि द्रव्य और शक्ति परस्पर परिवर्तनीय है। सापेक्षवाद के सिद्धान्त से यह पूर्ण सिद्ध हो चुका है कि मात्रा मैटर) और शक्ति (इनर्जी) का अत्यन्त भिन्न रूप मे कोई अस्तित्व नही है। वे एक ही सत्ता के दो रूप है। इन दोनो के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइनस्टीन का समीकरण-सिद्धान्त $E=M C^2$ सुविख्यात है।[1]

केवल पदार्थ ही शक्ति का द्योतक नही होता, अपितु भौतिक दृश्यो का ज्ञान भी विविध स्पन्दनो पर निर्भर है। विभिन्न प्रकार के स्पन्दन ज्ञानतन्तुओ (इन्द्रियो) से टकरा कर, पॉच विभिन्न प्रकार की चेतनाओ (पचतन्मात्र सम्भवतः) को जन्म देते हैं। अतः पचतन्मात्रात्मक जगत् का आधार ये स्पन्दन या कम्पन ही है।

विविध स्पन्दन एकमात्र उसी स्पन्दन के द्योतक है, जिसका सचालन उस सर्व-शक्तिमान् ईश्वर की इच्छा से होता है, जो विशिष्ट जगत का अधिष्ठातृ देवता होता है।

सृष्टि के कारणभूत उस महान् आधारभूत अविभाजित स्पन्दन को शब्दब्रह्म कहते है। वेदशास्त्रो मे भी प्रणव को शब्दब्रह्म[2] कहा गया है।

इसके द्वारा उत्तम रीति से विनम्रतापूर्वक स्तुति की जाती है, अतः वह प्रणव कहलाता है।

"प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति, स्तौतीति वा प्रणव ओकारः" (भोजवृत्ति)

अत भक्तिपूर्वक ईश्वर को सब कर्म अर्पित करके उसी के भरोसे रहकर,

१ द्रष्टव्य—साइन्स ऑफ योग—पृ० ६३ से ६८ तक।

२ शब्द ब्रह्म का मननीय लक्षण देवी पुराण मे है—

उसके नाम-जप और भावना करने को ईश्वरप्रणिधान कहते है। इस ईश्वर-प्रणिधान से योगी के मार्ग मे आने वाले अनेक विघ्नो का अभाव भी होता है और समाधि से (अन्तरात्मा) शुद्ध चैतन्य के स्वरूप का साक्षात्कार होता है।[1] योग-मार्ग मे आनेवाले विघ्न, व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व आदि है।[2] ये सब चित्त के विक्षेपस्वरूप है। दु:ख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास भी पूर्वोक्त नौ विघ्नरूप विक्षेपो के साथी है।[3]

**व्याधि—**

१ धातु, रस एव करण (इन्द्रिय) की विपमता उत्पन्न रोगो को व्याधि कहते है।

२ चित्त की अकर्मण्यता सत्यान है।

३ मै योगसाधन कर सकूगा कि नही, योग साधन करने पर भी मुझे समाधि-सिद्धि होगी कि नही—इस प्रकार उभय कोटि को स्पर्श करने वाला विज्ञान सशय है।

४ समाधि के साधनो की भावना न करना प्रमाद है।

५ तमोगुण की अधिकता से चित्त अथवा शरीर के भारीपन के कारण समाधि के साधनो मे अप्रवृत्ति आलस्य है।

६ विषयो मे आसक्ति को अविरति कहते है। अ-यथेष्ट-ज्ञान अथवा कौन ज्ञान किस स्तर का है—यह न जानना ही भ्रान्तिदर्शन है।

८ किसी प्रतिबन्धक के कारण समाधि की भूमिका का प्राप्त न होना अलब्धभूमिकत्व है।

६ समाधि की भूमिका प्राप्त होने पर भी उसमे स्थिति न होना अनवस्थितत्व कहलाता है।

---

१ "तत प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" (१/२६)

२. "व्याधिस्त्यानसशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानिचित्तविक्षे-पास्तेऽन्तराया। (१/२०)

३. "दु खदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासाप्रश्वासाविक्षेपसहभुव।" (यो० सू० ७/३१)

विक्षेपयुक्त चित्त वाले योगी का चित्त क्षुब्ध हो जाने के कारण पॉच और भी उपविक्षेप उत्पन्न होते है, जिनके नाम दु.ख, दौर्मनस्य, अङ्गमे-जयत्व, श्वास और प्रश्वास है ।

१. आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनो प्रकार की पीडाएँ (अर्थात् प्रतिकूलता से वेदनीय) दु.ख है ।

२ इच्छा पूर्ति के अभाव मे मानसिक क्षोभ दौर्मनस्य कहलाता है ।

३ शरीर के अगो का कॉपना अङ्गमेजयत्व कहलाता है ।

४ बिना प्रयत्न के बाहरी वायु का नासिकारन्ध्र से अन्दर जाना श्वास तथा—

५ उसी प्रकार स्वाभाविक रीति से आन्तरिक वायु का नासिका छिद्रो से बहिर्गमन प्रश्वास कहलाता है। विक्षेप के प्रसग मे श्वास-प्रश्वास से तात्पर्य अनियमित श्वास-प्रश्वास से है। ये सब विक्षिप्त चित्त मे ही विक्षेप के साथ उदय होते है, समाहित चित्त मे नही ।

समाधि के विरोधी इन सब विक्षेपो को अभ्यास एव वैराग्य के द्वारा रोका जाता है, जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है। इन विक्षेपो को रोकने तथा मन को एकाग्र करने के लिए एकतत्व का अभ्यास करना चाहिये ।[1] वह तत्व है—ईश्वर, जैसा कि प्रसग चल रहा है कि ईश्वर-प्रणिधान से शीघ्रतर समाधि प्राप्ति एव विघ्नो का नाश होता है ।

( ईश्वर-प्रणिधान से अन्तरायाभावप्रसग मे "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः" ऐसी सूत्रकार की उक्ति है। ) प्रकृत सूत्र मे "एकतत्व" के विषय मे मतभेद है। "भोजवृत्ति" मे "एकस्मिन् अभिमते तत्वे" किसी भी स्थूल अथवा सूक्ष्म अभिमत तत्व का ध्यान बतलाया गया है। दूसरी ओर श्री विज्ञानभिक्षु ने "एक स्थूल किंचित्" कह कर, किसी भी एक स्थूल तत्व के ध्यान का ही अर्थ करके श्री वाचस्पति की "एकतत्वमीश्वरः प्रकृतत्वात्" उक्ति का खण्डन करते हुए यह कहा है कि—„किसी बाधक के बिना एकतत्वरूप सामान्य शब्द का ईश्वरतत्त्व रूप विशेष अर्थ मानना अनुचित है। किन्तु विज्ञान भिक्षु का यह मत उपक्रमोपसहार की दृष्टि से भी असग

१ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यास" (योग सू० १/३२)

है, क्योकि प्रकरण के बल पर ही किसी शब्द का विवक्षित अर्थ लगता है और यहाँ "एक तत्व" शब्द सामान्यार्थक होते हुए भी ईश्वरप्रणिधान के प्रकरण मे ईश्वर का ही अर्थ देता है।

व्यास ने प्रस्तुत सूत्र के अवतरणिका-भाष्य मे—"तत्राभ्यासस्यविषय मुपसहरन्निदमाह"–यह कहते हुए—"तत्प्रतिपेधार्थमेकनत्वाभ्यासः"–इस प्रकृत सूत्र की व्याख्या की है। अतः उपक्रम किये हुए का ही उपसहार होने के नियम के कारण यहाँ "एकतत्व" का अर्थ ईश्वर ही समीचीन सिद्ध होता है।

"एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे सख्यायाञ्च प्रयुज्यते ॥"[१]

इस अभियुक्ति के अनुसार सूत्र मे एक शब्द प्रधानार्थक होने से "एकतत्व" शब्द का अर्थ प्रधान तत्व हुआ। जैसा कि (वाचस्पति मिश्र) ने कहा है और वह प्रधान तत्व यहाँ पर अन्य कोई स्थूलादि पदार्थ न होकर ईश्वर ही है, जैसा कि ऊपर सिद्ध हो चुका है। यह बात दूसरी है कि यहाँ पर सूत्रकार को ईश्वरप्रणिधान के साथ-साथ उसके उत्कृष्टस्वरूप आत्मा की धारणा का कथन भी अभीष्ट हो। किन्तु यहाँ एकतत्वाभ्यास के आलम्बनो मे ईश्वर तथा आत्मा या अहभाव दोनो ही श्रेष्ठ होने से सूत्रकार को दोनो का कथन अभीष्ट हो सकता है। प्रतिक्षण मे उदीयमान चित्तवृत्तियो का "द्रष्टा मै हूँ" एतद्रूपा अहविषयिणी धारणा को अवलम्बन करके स्मरण करते रहने से चित्त प्रसन्न होता है। यही श्रुति-निर्दिष्ट "ज्ञान आत्मा" की धारणा है, जिसे वाचस्पति मिश्र ने ईश्वरप्रणिधान के ही अन्तर्गत उपाय विशेष होने से उसे स्पष्ट नही किया है।

वास्तव मे यदि केवल ईश्वर का कथन ही इष्ट होता, तो भी सूत्रकार "एकतत्व" शब्द का व्यवहार न करते और साथ ही यह भी बतलाया गया है कि ईश्वरप्रणिधान से अन्तराय दूर होते है। अतः "एकतत्वाभ्यास" उसी "ईश्वर-प्रणिधान" के अन्तर्गत एक उपाय विशेष है, उससे सर्वथा भिन्न-नवीन वस्तु नही, फिर अन्ततः—"यथाभिमतध्यानाद्वा"—आगे कहे जाने वाले इस सूत्र से किसी भी एक तत्व का अर्थ तो निकल ही आता है। अतः श्री भोज एव भिक्षु जी दोनो के ही मत स्वतत्र सिद्ध होते है।

"एकतत्व" के अर्थ के विषय मे ईश्वरप्रणिधान को अस्वीकार न करके, श्री

---

२ यो० भा० विवृ० १७४ यह औणादिक पदार्णव (पेरुसूरि कृत) है।

वाचस्पति मिश्र का मर्म स्पष्ट करते हुए श्री हरिहरानन्द आरण्य का यह कथन सगत प्रतीत होता है कि एकतत्व का ध्यान करने के प्रसग मे आत्मस्वरूप का ध्यान ही अधिक श्रेयस्कर है। "ईश्वरप्रणिधान" के प्रसग मे भी अपने आप को ईश्वर मे स्थित करके, यह ईश्वर के ही समान है—ऐसा ध्यान करे। अपने कथन की पुष्टि मे उन्होने यह प्रमाण प्रस्तुत किया है—

"एक ब्रह्ममय ध्यायेत् सर्वविप्र चराचरम्।
चराचरविभागञ्च त्यजेदहमितिस्मरन्॥"[1]

अर्थात् सम्पूर्ण जड-जगम को ब्रह्ममय समझ कर ध्यान करे और आत्मैकरूप का ध्यान करते हुए, समस्त चराचर के भेद को त्याग दे। अतः इस प्रकार से सभी प्रकार के अभ्यासो मे एक तत्व के अवलम्ब वाले चित्त का अभ्यास ही श्रेष्ठ है।

किसी ने कोई नवीन अथवा विशिष्ट बात न कहकर, शेष व्याख्याकारो मे से श्री राघवानन्द सरस्वती ने सक्षेप मे वाचस्पति मिश्र के मत का ही अनुमोदन किया है। मणिप्रभाकर रामानन्द यति को भी मिश्र जी का ही मत मान्य है ओर तदनुरूप ही श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वती भी "एकतत्व" से ईश्वर का ही अर्थ ग्रहण करते है।

भावागणेश तथा नागोजी भट्ट ने अपनी वृत्तियो मे "यत्रकुत्रचिदप्येकार्थे" कहकर शब्दभेद से श्री भोज के "कस्मश्चिदभियते तत्वे" का अर्थ स्वीकार किया है। "चन्द्रिकाकार" अनन्तपडित ने तो शब्दशः इस अर्थ मे उन्ही का अनुकरण किया है। किन्तु जैसा कि ऊपर सिद्ध किगा जा चुका है, श्री भिक्षु एव भोज के अनुयायियो का यहाँ मतभेद है।

ईश्वर-प्रणिधान से ईश्वर की कृपा से प्रत्येक विघ्न स्वतः शान्त हो जाते है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। ईश्वर मे श्रद्धा-भक्ति विशेष ईश्वर प्रणिधान है। व्यास के शब्दो मे श्रद्धा साधक की मगलमयी जननी की भाँति कल्याण प्रदायिनी है ( द्र० ) और हर प्रकार के विघ्नो से रक्षा करती है। शास्त्रोक्त परिकर्म के अनुसार सुखी प्राणियो के प्रति मैत्री की भावना, दुःखी जनो के प्रति करुणा, पुण्यात्माओ के प्रति आनन्द की भावना तथा पुण्यहीनो के प्रति उपेक्षा की भावना करने से मन प्रसन्न होता है।[2] प्रसन्न चित्त शीघ्र ही स्थिति प्राप्त करता है। इसके

---

१ द्र०—भास्वती (१/३३)

२ "मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदु खपुण्यापुण्य विषयाणा भावना तश्चित्तप्रसादनम्।" (यो० सू० १/३४)

अतिरिक्त प्राणवायु को प्रयत्न-विशेष के साथ बाहर निकालने (रेचन या प्रच्छर्दन) और धारण करने (विधारण कुम्भक) से भी चित्त एकाग्र होता है।[1]

भिक्षु जी प्राणायाम को चित्त प्रसादन का साधन बतलाते है, पर ऐसा भ्रम नही करना चाहिये। इस विषय मे निम्नोक्त युक्ति द्रष्टव्य है—

"प्रच्छर्दन विधारणाभ्या वा प्राणस्य" इस सूत्र मे "वा" का प्रयोग विकल्पार्थक अवश्य है, किन्तु यह विकल्प विज्ञानभिक्षु के कथनानुसार मैत्री, करुणा, मुदिता आदि के समान चित्त-प्रसादन का हेतु न होकर, "विषयवती" इत्यादि के साथ इसका विकल्प होने से, "मनसःस्थिति निबन्धिनी" का अर्थ आक्षिप्त करता है। राघवानन्द सरस्वती, रामानन्द यति एव हरिहरानन्द आरण्य ने भी "प्रच्छर्दन तथा विधारण" को मन की स्थिति के सपादन का ही हेतु बतलाया है। श्री भोज तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती भी, इससे मन की एकाग्रता का सम्पादन होता है, ऐसा कहकर, श्री वाचस्पति सम्मत मत की ही पुष्टि करते है। श्री भावागणेश, नागोजी भट्ट एव अनन्त पडित ने भिक्षु जी का अनुगमन किया है। भाष्यकार कहते है—"ताभ्या मनसः स्थिति सम्पादयेत्" अर्थात् उन दोनो (प्रच्छर्दन तथा विधारण) से मन की स्तिथि का सपादन करे।

विचारदृष्टि से देखने पर भी यह ज्ञात होता है कि प्राणायाम चित्तप्रसाद का हेतु नही, अपितु उसकी स्थिति का हेतु है। मन की गति प्राणो की गति के अधीन है। प्राणायाम से जब प्राण की गति श्रमित होकर अवरुद्ध होती है, तब मन की गति अर्थात् चित्तवृत्ति भी निरुद्ध होती है, यह योगि परपरा मे सिद्ध है। "चले वाते चल चित्तम् (वायु के चञ्चल रहने से चित्त भी चञ्चल रहता है)—इत्यादि वाक्य इस विषय मे प्रमाण है। यह बात अन्य है कि मन की स्थिरता से वह प्रसन्न भी होता है। इस प्रकार भिक्षु जी एव उनके अनुयायियो का मत अग्राह्य और अप्रामाणिक सिद्ध होता है। प्रसन्नचित ही स्थिरता प्राप्त करता है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता मे कहा है—"प्रसन्नचेतसोह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।" अतः पहले मैत्री आदि की भावना—द्वारा चित्त प्रसन्न करके वाद मे प्राणायाम या वक्ष्यमाण "विषयवती प्रवृत्ति" आदि से स्थिर किया जाता है। प्रसन्नचित्त शीघ्र स्थितिपद प्राप्त करता है। "प्राणायामः स विज्ञेयोरेचकपूरककुम्भकैः"—इस स्मृति का भाव न समझते हुए ही इसे प्रमाणरूप मे देकर "पूरक के बिना कुम्भक होता ही नही,

---

१. "प्रच्छर्दनविधारणाभ्या वा प्राणस्य" (यो० सू० १/३४)

क्योकि पूरक कुम्भक और रेचक इन तीनो का सामूहिक अभिधान "प्राणायाम" है—यह कहकर श्री विज्ञान भिक्षु ने चतुर्थ प्राणायाम शून्यक (बाह्य कुम्भक) की सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया है।

द्वितीय पाद मे भी प्राणायाम को चित्तस्थिति का ही हेतु बतलाया गया है। यहाँ विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर मन स्थिर होता है।[1] यहाँ पर विषयवती प्रवृत्ति से तात्पर्य दिव्य शब्द, स्पर्शादि विषयिणी प्रत्यक्षस्वरूपा वृत्ति से है। यह स्थिति एकाग्रता से स्वतः आती है। योगियो के कथनानुसार नासिका के अग्रभाग मे धारणा करनेवाले को दिव्य सुगन्धि का अनुभव होता है। इसे गन्ध प्रवृत्ति या गन्ध सविद् कहते है। जिह्वाग्र मे सयम की दृढता से दिव्य रसास्वादन होता है। इसे रससविद् या रस-प्रवृत्ति कहते है। इसी प्रकार जिह्वा के मध्य भाग, जिह्वमूल[2] और तालु मे सयम की स्थिरता से क्रमशः दिव्य स्पर्श, दिव्य शब्द तथा दिव्य रूप का साक्षात्कार होता है। इन्हे भी क्रमशः स्पर्श-सविद्, शब्द-सविद् तथा रूप सविद् कहते हैं। ये ही विषयवती प्रवृत्तियाँ कहलाती है।

चन्द्र- सूर्य, नक्षत्र, मणि, प्रदीप, रत्न-प्रभा आदि मे चित्त के सयमजन्य साक्षात्कार भी विषयवती प्रवृत्ति के ही ही अन्तर्गत हैं।[3]

शका होती है कि गन्धादि अनात्म-विषयक प्रवृत्तियो का साक्षात्कार आत्म-जिज्ञासु के लिये उपयोगी कैसे हो सकता है, क्योकि इन अनात्म तत्वो की प्राप्ति मुमुक्षु का लक्ष्य नही है। फिर भी जिस प्रकार योगशास्त्रोक्त प्राथमिक

१ "विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्नामनस स्थितिनिबन्धिनी" (यो० सू० १-३५)

२ "तालु के अपर आक्षिक स्नायु (Optic nerve) हे। जिह्वा मे स्पर्शज्ञान का अधिक प्रस्फुटभाव है और जिह्वामूल वाक्योच्चारण के सम्बन्ध मे कान से सम्बद्ध है। अत इन स्थानो पर धारणा करने से ज्ञानेन्द्रिय की सूक्ष्म शक्ति प्रकट होती हे।

३ चन्द्रादि को स्थिर नेत्र से निरीक्षण करके नेत्र मुद्रित करने पर भी यथावत् उन्ही रूपो का ज्ञान होता रहता हे। इनका ध्यान करते-करते उन्ही के रूप की प्रवृत्तियाँ भी उत्पन्न होती हे। रूपादि के अन्तर्गत होने से वे भी विषयवती है। इस विषय मे श्रुति भी प्रमाण है—"पृथ्व्य प् तजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते" (श्वे० उ०) इस पर शाकर भाष्य हे—ज्योतिष्मती स्पर्शवती तथा रसवती पुरा। गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतस्रस्तु प्रवत्तय। आसा योगप्रवृत्तीना यद्येकापि प्रवर्त्तते। प्रवृत्तयोगतप्राहुयोगिनो योगचिन्तक। (पात० यो० द०—हरिहरानन्द आरण्य—पृ० ७८)

पदार्थ मे सयम से उनका साक्षात्कार हो जाता है, उसी प्रकार आत्मविषयक सयम से आत्मसाक्षात्कार भी हो सकता है। इस प्रकार श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए विषयवती प्रवृत्ति उपयोगी है। यद्यपि शास्त्र-आचार्यादि के उपदेश से ज्ञात अर्थ सत्य ही होता है तथापि शास्त्र, गुरु से ज्ञात अर्थो मे से एक का भी साधन-द्वारा प्रत्यक्ष कर लेने पर कैवल्य पर्यन्त निखिल सूक्ष्म विषयो मे सशय का अवकाश ही नही रहता है और श्रद्धा एव विश्वास दृढ हो जाने से, योगसाधन मे अध्यवसाय की वृद्धि होती है। इस प्रकार विषयवती प्रवृत्ति[1] चित्त-स्थिति मे सहायक सिद्ध होती है।

पूर्वोक्त "विषयवती प्रवृत्ति" की भाँति "विशोका-ज्योतिष्मती" प्रवृत्ति भी उत्पन्न होकर चित्तस्थिति का सम्पादन करती है।[2] विशोका का अर्थ है—शोकरहित, ज्योतिष्मती अर्थात् प्रकाशयुक्त। सुखमय-सात्विक अभ्यास से दुःख अर्थात् रजोगुण के परिणाम से शून्य हो गई है ऐसी सात्विक प्रकाशमयी प्रवृत्ति को "विशोका ज्योतिष्मती" प्रवृत्ति कहते है।

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति "चित्तसविद्" और "अस्मिता सविद्" भेद से दो प्रकार की होती है। प्रवृत्ति और सविद् दोनो शब्दो का अर्थ यहाँ साक्षात्कार है। विषयवती प्रवृत्तियो के ध्यान के लिये नासिका आदि पाँच स्थान नियत है, उसी प्रकार "विशोका ज्योतिष्मती" प्रवृत्ति के लिये भी अनाहतादि सात चक्र रूप विशेष स्थान निश्चित है, जिनमे चित्त को स्थिर किया जाता है।[3] कमलाकृति-होने से ये (चक्र) कमल भी कहलाते है।

इन चक्रो मे से हृत्-कमल अर्थात् अनाहतचक्र मे ध्यान से चित्त स्थिति का वर्णन व्याख्याकारो ने किया है जो इस प्रकार है—

नाभि एव छाती के बीच दश अगुलि सीमित हृदयकमल है। यह रक्तवर्ण,

---

१ विषयवती प्रवृत्ति—विषयक सयम के विषय मे गन्धविषयक सयम का स्थान नासिकाग्र, रस का जिह्वाग्र, रूप का तालु, स्पर्श का जिह्वामध्य और शब्द का जिह्वामूल बतलाया गया है।

२ "विशोका वा ज्योतिष्मती" (यो० सू० १-३६)
" पातञ्जल योग प्रदीप—ओमानन्द—पृ० २४९

३ मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा ओर सहस्रार ये सात चक्र हैं।
"नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्" इस सूत्र की व्याख्या मे इनका विवरण द्रष्टव्य है।

अष्टदल, पचच्छिद्र, निम्नाभिमुख एव सपुटित है। रेचक प्राणायाम की क्रिया से उसे ऊर्ध्वमुख एव प्रस्फुटित किया जाता है। प्रफुल्लित हृत्पद्म मे प्रणव (ॐ) अक्षर है। इसका 'अकार' सूर्यमडल एव जागरितस्थल है। उसके ऊपर "उकार" चन्द्रमण्डल और स्वप्नस्थान है। उसके ऊपर "मकार" रूप वह्निमण्डल है, जो उसका सुषुप्तिस्थान है। उनसे भी ऊपर अकाशस्वरूप ब्रह्मनाद (अर्धमात्रा) है, जो तुरीयस्थान है। उस कमल की कर्णिका के मध्य ब्रह्मनाडी (सुषुम्णा)[1] है। यह उपर्युक्त हृदयस्थ आन्तर सूर्य-मण्डल आदि के मध्य से भेदन करती हुई ब्रह्माण्ड (मूर्धा) तक चली गई है। अतः यह बाह्य सूर्यमण्डलादि से भी सतत सम्बद्ध है। यही सुषुम्णा नाडी चित्त का निवासस्थल है। सुषुम्णा मे सयम द्वारा चित्त एकाग्र करने से वह (चित्त) सात्त्विक ज्योतिस्वरूप आकाशवत् प्रकाशित होता हुआ, कभी सूर्य, कभी चन्द्र, कभी नक्षत्र एव कभी मणिप्रभा आदि विविध आकारो मे भासित होता है। तदनन्तर उस बुद्धिसत्व (चित्त) का साक्षात्कार होता है, जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहलाता है। इसके पूर्वोक्त सूर्य आदि अनेक विषय होने से यह प्रवृत्ति भी विषयवती के ही अन्तर्गत है। वह वृत्तिसत्व प्रधान एव रज, तम के परिणाम से जन्म दुःख शून्य होने से "विशोका" पदवाच्य है।

"विशोका" के सूक्ष्मतम स्तर "अस्मिता" मे धारणा द्वारा स्थिरीकृत चित्त जब सत्त्वप्रधान होने के कारण निस्तरग समुद्रवत शान्त और अनन्त हो जाता है, तब उसे "अस्मिता-मात्र ज्योतिष्मती" कहते है। जिसके विषय मे महर्षि पचशिखाचार्य ने यह सूत्र कहा है—

"तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येव तावत्सप्रजानीते'

अर्थात् उस अणुमात्र अहकारास्पद आत्मा को अनुभव द्वारा जानकर "मै हूँ" इस प्रकार अपने स्वरूप का ( योगी ) जानता है। अतः इस प्रकार प्रथम निर्दिष्ट चित्त साक्षात्कार रूप विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है और दूसरी अस्मितामात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति होती है। शोक के कारणभूत रजोगुण एव तमोगुण से रहित होने से दोनो ही विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्तियाँ है।

इनके उत्पन्न होने से भी साधक का चित्त स्थिर होता है।

× × ×

१ सुषुम्णा को भी ब्रह्मनाडी कहते है तथा उसके अन्दर से जाने वाली एक और सूक्ष्म नाडी है, वह भी ब्रह्मनाडी कहलाती है।

अथवा विरक्त योगियो के चित्त-विषयक सयम से भी चित्त शीघ्र स्थिति प्राप्त करता है।[1]

विषयो मे जिनका चित्त पूर्णत अनासक्त होकर अविद्यादि समस्त क्लेश-सस्कार मिट गये है, ऐसे शुक, सनकादि वीतरागो के चित्त को आलम्बन करके ध्यान करने वाले साधक के चित्त मे भी वैसे ही सात्विक सस्कार उत्पन्न होते है और उसका चित्त सरलता से स्थिरता प्राप्त कर सकता है।

× × ×

स्वप्नज्ञान अथवा निद्रा-ज्ञान का आलम्बन करके ध्यान करने से भी चित्त दृढ-स्थिति लाभ करता है।[2]

यहॉ पर स्वप्न तथा निद्रा पदो का सात्विक स्वप्न एव सात्विक निद्रा से तात्पर्य है।

स्वप्नावस्था मे कभी-कभी अपूर्व ज्ञान होता है, उसका तथा "सुखमह अस्वाप्स" आदि सुषुप्ति अवस्था मे प्राप्त सात्विक सुख की भावना करने से चित्त प्रशान्त होता है।

स्वप्न एव निद्राज्ञान का आश्रय ग्रहण करने के कथन से दो अभिप्राय हो सकते है—एक तो यह कि कभी-कभी मनुष्य अच्छे सात्विक एव मनोरजक स्वप्न देखता है, जैसा कि श्री वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि स्वप्न मे निर्जन वन मे चन्द्र-मण्डल से प्रकट हुई, दिव्य, मनोहर भगवत्प्रतिमा आदि की आराधना करते हुए जागता है। ऐसी स्थिति मे उस दिव्य दर्शन के आनन्द से अतृप्त योगी अन्य ओर न जाकर उसी का ध्यान करना चाहता है। वस्तुतः इस प्रकार की स्वप्नावस्था मे योगी आनन्दविभोर रहता है। अत जागने पर भी ऐसे स्वप्नो की घटनाएँ व्यक्ति के मन पर गहरी छाप छोड जाती है। इस प्रकार के स्वप्न-ज्ञान की विषयभूत भगवत्प्रतिमा मे ही चित्त को एकाग्र करके भावना करने से चित्त स्थिर होता है। इसी प्रकार गाढ निद्रा-रूपी सुषुप्ति से जागने पर—"सुखमहमस्वाप्स प्रसन्न मे मनः

१ "वीतरागविषय वा चित्तम्" (यो० सू० १-३७)

२ "स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम् वा" (यो० सू० १-३८) अधिकारी विशेष के लिये यह उपाय विशेष उपयोगी है। कल्पना-प्रवण व्यक्ति तथा हिप्नोटिक (Hypnotic) प्रकृति के व्यक्ति इसके योग्य अधिकारी है।

प्रज्ञा मे विशारदी करोति"—इत्यादि स्मृति होती है। इस सात्त्विक निद्रा-ज्ञान रूप स्मृति का विषय है अपना स्वरूप, जिसका आश्रय ग्रहण कर चित्त को एकाग्र करने से स्थितिपद प्राप्त होता है।

दूसरा अभिप्राय यह हो सकता है कि रजोगुण के प्राधान्यभाव मे उदित स्वप्नावस्था मे बाह्य ज्ञान अवरुद्ध हो जाता है, किन्तु मानस-भावो का ज्ञान होता रहता है। निद्रावस्था मे तमोगुण से रजोगुण पूर्णतः आक्रान्त हो जाने से, बाह्य और मानस दोनो ही प्रकार के विषय अभिभूत होकर केवल जाग्रत्स्वप्नकालीन वृत्तियो के अभाव का अस्फुट अनुभव अवशिष्ट रहता है।

अतः जिस प्रकार स्वप्न मे तमोगुण के कारण वृत्तियाँ अन्तर्मुख होती है, उसी प्रकार ध्यानावस्था मे सत्त्वगुण-द्वारा वृत्तियाँ अन्तर्मुखी बनाना चाहिये। तथा जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था मे तम के प्राधान्य से अभाव की प्रतीति होती है, उसी प्रकार सत्व की प्रधानता से बाह्यमानस रुद्धभाव को आश्रय करके अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार स्वप्न एव निद्रा-ज्ञान के आश्रय से चित्त स्थिर होता है।[1] श्री विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र की व्याख्या दूसरे ही प्रकार से की है, वह इस प्रकार है। स्वप्न रूप जो ज्ञान है, उसके आलम्बन वाला चित्त अर्थात् प्रपच-भान मे स्वप्नदृष्टि रखने वाला चित्त—जैसा कि कहा है कि "दीर्घस्वप्नमिम विद्धि दीर्घवा चित्तविभ्रमम्" ( योगवासिष्ठ ३/४२/८ ) इस प्रपच को लम्बा स्वप्न जानो या चित्त का भ्रम समझो। यह दृष्टिकोण क्षणभंगुरत्व आदि गुणो के कारण जाग्रतावस्था के ज्ञान मे स्वप्नदृष्टिरूप है। यह भी वैराग्य द्वारा चित्त की स्थिरता मे हेतु है।

× × ×

इन सब के अतिरिक्त चित्तस्थिति का एक और भी उपाय है।

अपने चित्त की अभीप्सित वस्तु का ध्यान करने पर भी चित्त स्थिति पद प्राप्त करता है।[2]

अपनी इष्ट वस्तु के कथन से यह नही समझना चाहिये कि किसी तमो भावव्यजक वस्तु के ध्यान से चित्त स्थिर हो जाएगा। अपनी अभिरुचि एव शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार साकार भगवत्प्रतिमा आदि जिस विषय मे

१. पातञ्जल-योग-दर्शन—स्वामी हरिहरानन्द आरण्य—पृ० ८३।

२. "यथाभिमतध्यानाद्वा"—यो० सू० १-३९।

सात्विक श्रद्धा हो, उसके ध्यान से चित्त शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार एक विषय मे एकाग्रता की योग्यता प्राप्त कर लेने पर अन्यत्र निर्गुण आदि मे सुलभता से स्थिति लाभ हो सकता है।

चित्तस्थिति के विभिन्न उपाय जान लेने पर जिज्ञासा होती है कि यह किस प्रकार जाना जाए कि अब चित्त पूर्ण स्थिर हो चुका है? इसका उत्तर यह है कि जब पूर्वोक्त उपायो से ध्यान क्रिया के अनुसार सूक्ष्मतम परमाणु से लेकर परम बृहत् आकाश पर्यन्त प्रत्येक पदार्थ मे चित्त की आव्याहत गति हो जाय, अर्थात् इन सब मे जब जिस वस्तु मे चाहे तब उसी मे ध्यान द्वारा चित्त स्थिर किया जा सके—ऐसे वस्तुओ पर वशीकार[1] प्राप्त हो जाने पर चित्त पूर्ण स्थिर हो जाता है। इस अवस्था से युक्त योगी को किसी भी प्रकार फिर किसी अभ्यास आदि से साध्य परिष्कार की आवश्यकता नही रहती है।

× × ×

इस प्रकार स्थितिप्राप्त एव वृत्तियो के क्षीण हो जाने से अत्यन्त निर्मल चित्त अजिजात मणि की भाँति ग्राह्य-ग्रहण और ग्रहीता मे तन्मयता रूप समापत्ति प्राप्त करता है,[2] जिनका कि पहले सम्प्रज्ञात समाधि के प्रसग मे वर्णन हो चुका है। समापत्ति रूप प्रज्ञा ही सम्प्रज्ञात योग है, जिसके वितर्क, विचार आदि पूर्व कथित आठ भेद है और निर्विचारा समापत्ति इसकी उच्चतम अवस्था है। निर्विचारा के वैशारद्य[3] से अध्यात्मप्रसाद[4] होता है[5] और योगी सर्वथा शोकरहित हो जाता है।

---

१. "परमाणु परममहत्वान्तोऽस्य वशीकार" (यो० सू० १-४०)
(किसी एक विषय मे स्थिति-प्राप्त चित्त को योग-प्रणाली द्वारा परमाणु से आरम्भ करके परम महान् विषय धारण करने की अवस्था को "वशीकार" कहते है।

२. "क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवमणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येपु तत्स्थतदजनता समापत्ति । (यो० सू० १/४१)

३ "स्वच्छ स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्" (यो० भा०)
अत अशुद्धि के आच्छादक मल से रहित प्रकाशात्मक बुद्धि-सत्व का रज, तम से अनाक्रान्त और स्वच्छ स्थितिप्रवाह ही वैशारद्य है।

४ "आत्मनि बुद्धौ वर्तत इति, अध्यात्मम्"
प्रसाद-प्रसन्नता, निर्मलता। अत बुद्धि की प्रसन्नता निर्मलता ही अध्यात्म प्रसाद है।

(आगामी पृष्ठ पर)

इस अध्यात्मप्रसाद रूप प्रज्ञा का अन्वर्य (नामानुसार अर्थयुक्त) नाम "ऋतम्भरा प्रज्ञा" है।[1] ऋतभरा का अर्थ है सत्यपूर्णा, क्योकि यह केवल सत्य अर्थ को ही धारण करती है (ऋत विभर्ति इति)। इस मे विपर्यय की गन्धमात्र भी नही है। ऋत नाम सत्य का है ( निघण्टु ३/१० ) और भर नाम धारणकर्त्ता का। अतः सत्य अर्थ को धारण करने वाली होने से इस प्रज्ञा का ऋतम्भरा नाम चरितार्थ ही है। वस्तुतः यथार्थ-विषयिणी बुद्धि का यौगिक नाम ऋतम्भरा है।

ऋत और सत्य मे भेद है जो ज्ञातव्य है। आगम और अनुमानादि के द्वारा प्राप्त होने वाला यथार्थज्ञान सत्य ( अर्थात् Conceptual fact ) है[2] तथा साक्षात् अनुभव से प्राप्त यथार्थ ज्ञान ऋत ( अर्थात् Perceptual fact ) होता है। अतः ऋत का अर्थ वह शाश्वत सत्य है, जो साक्षात् अनुभूत हो।

इसी कारण से आगम अनुमानादि जन्य प्रज्ञा से, विशिष्टरूप से अर्थ साक्षात्कारवती होने से इसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है,[3] क्योकि आगम अनुमानादि वस्तु के सामान्य रूप का बोध कराने मे ही समर्थ होते है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही वस्तु के विशेषरूप का ज्ञान कराने मे समर्थ होता है। साथ ही इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष स्थूल वस्तुओ का ही प्रत्यक्ष करा सकता है। सूक्ष्म, व्यवहित एव विप्रकृष्ट अतीन्द्रिय पदार्थो का लोकप्रत्यक्ष से ग्रहण सभव नही है। फिर इन पदार्थो की सत्ता भी अस्वीकार नही की जा सकती है, क्योकि समाधिप्रज्ञा से वे पूर्णतः ग्राह्य है। अतः श्रुतानुमानप्रज्ञा से यह ऋतम्भराप्रज्ञा विशेषार्थता के कारण अन्यविषया अर्थात् भिन्न विषयवाली है।

---

१. "ऋतम्भरा तत्रप्रज्ञा" (यो० सू० १-४८)

२. सवितर्का, निर्वितर्का एव सविचारा उक्त तीनो समापत्ति-काल मे अविद्या वर्त्तमान रहने से बुद्धि-वृत्तिपूर्णत यथार्थ विषयिणी नही होती साथ ही निर्विचारा समापत्ति के वैशारद्यकाल मे अविद्या वर्तमान न रहने से उक्त बुद्धि वृत्ति यथार्थ है। अत इसी अवस्था की प्रज्ञा "ऋतम्भरा" कहलाती है।

३ "श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्य-विषया विशेषार्थत्वात्।" (यो० सू० १/४९)

---

(गत पृष्ठ का शेषाश)

निर्विचारा समापत्ति की प्रवीणता द्वारा योगी को परमाणु से प्रकृतिपर्यन्त समस्त पदार्थो का क्रमानुरोध के बिना एक साथ ही साक्षात्कार हो जाता है। इसी साक्षात्कार का अभिधान अध्यात्म प्रसाद है। इसे स्फुट प्रज्ञालोक तथा प्रज्ञा-प्रासाद भी कहते है।

५. "निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद" (यो० सू० १-४७)

इस ऋतम्भरा-प्रज्ञा से जन्य सस्कार अन्य व्युत्थान सस्कारो का बाधक होता है।[1] यही से विवेक-ख्याति के अधिकार का समारम्भ हो जाता है—और विवेक ख्याति के उदय से भोगाधिकार की समाप्ति हो जाती है, क्योकि विवेकख्याति पर्यन्त ही चित्त की चेष्टा रहती है। इसके भी निरुद्ध हो जाने पर सब कुछ निरुद्ध हो जाता है। अत मे पूर्वोक्त गुणवैतृष्ण्य रूपपर वैराग्य द्वारा समाधिप्रज्ञात्मक निखिल-वृत्तिप्रवाह एव तज्जन्य सस्कारो को भी अवरुद्ध कर दिया जाता है। यही अवस्था पूर्ण निरोध निर्बीज समाधि है, जिसे असम्प्रज्ञात योग भी कहते है, जिसके विषय मे कहा गया है कि विवेकख्याति के भी निरुद्ध हो जाने पर सर्ववृत्तिनिरोध रूप निर्बीज समाधि होती है।[2] यह भी अवगन्तव्य है कि निर्बीज समाधिमात्र असप्रज्ञात नही कहलाती। इसी प्रकार सालम्बन समाधिमात्र सम्प्रज्ञात नही होती। एकाग्रभूमिक चित्तकी चिर-स्थायिनी समाधिप्रज्ञा पूर्ण स्थिति ही सम्प्रज्ञात पद वाच्य है। उस स्थिति मे निरोध ही चित्त का स्वभाव बन जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि कैवल्य साधिका है, किन्तु निर्बीज से कैवल्य प्राप्ति नही भी हो सकती है। इस दृष्टि से निर्बीज एव कैवल्य मे किञ्चत् भेद है। समाधि को जिस अवस्था मे ससरण होने योग्य व्यक्त पदार्थ नही है, वह निर्बीज है। जो सर्ववृत्तिनिरोध स्वरूप समाधि कैवल्य साधिका होती है, वह असम्प्रज्ञात है।

इस निर्बीज समाधि के भी "भवप्रत्यय" और उपायप्रत्यय दो भेद है—"भव" शब्द का अर्थ है "अविद्या"[3] और प्रत्यय का अर्थ यहाँ है "कारण"।[4] अतः अविद्याजन्म वृत्तिनिरोध "भवप्रत्यय" कहलाता है।[5] यह "भवप्रत्यय" विदेह एव प्रकृतिलयो का होता है। विदेह एव प्रकृतिलयो को विवेकख्याति प्राप्त नही हो पाती है, अतः इनकी समाधि सावधिक होती है और इस अवधि की समाप्ति के पश्चात् ये पुनः जन्म-मरण-त्रास भोगते है। इन्हे कैवल्य प्राप्त नही होता है। फिर भी इनकी चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध होकर, सस्कार मात्र शेष मन से ये एक निश्चित अवधि तक कैवल्य-तुल्य-स्थिति का अनुभव करते है। यह भव प्रत्यय रूप वृत्तिनिरोध मुमुक्ष कैवल्यकामी के लिये त्याज्य है।

---

१ "तज्ज सस्कारोऽन्य सस्कार प्रतिबन्धी।" (यो० सू० १/५०)

२. "तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज समाधि।" (यो० सू० १/५१)

३. "भवन्ति जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति भवोऽविद्या।" (तत्व० १/१९)

४ "प्रतीयन्ते लभ्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति प्रत्यय. करणम्।" (तत्व० १/१९)

५. "भवोऽविद्या प्रत्यय कारणम् यस्य वृत्तिनिरोधस्य स भवप्रत्यय.।" (तत्व १/१९)

इस विषय मे व्याख्याकारो मे मतभेद है। वाचस्पति के अनुसार "भव" का अर्थ—"भवन्ति जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति भवोऽविद्या"—इस व्युत्पत्ति के अनुसार "अविद्या" है। इस प्रकार मिश्र जी के अनुसार "विदेह" एव "प्रकृतिलय" जो भवप्रत्यय पर आश्रित होते है, उपाय-प्रत्ययवालो की अपेक्षा हेय है, क्योकि उनकी समाधि अज्ञानमूलक होने के कारण उन्हे कैवल्य को उपलब्धि नही होती है, जबकि उपाय प्रत्यय वालो को कैवल्य-प्राप्ति हो जाती है। विज्ञानभिक्षु के मतानुसार विदेह और प्रकृतिलयो को भी अधिकार-समाप्ति होने पर कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है, किन्तु भाष्यविरुद्ध एव अप्रामाणिक होने के कारण भिक्षु जी का मत अग्राह्य है, क्योकि अज्ञानाश्रित होने से विदेह एव प्रकृतिलयो को कैवल्य की उपलब्धि असभव है। इसी पाद के "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टःपुरुषविशेष ईश्वरः" के भाष्य मे प्रकृतिलयो को बाद मे बन्धकोटि बतलाई गई है। जब प्रकृतिलीनो को ही भावी बन्धकोटि बतलाई है जो कि उच्चतर भूमिका वाले है, तब विदेह तो उनसे निम्नभूमिका वाले होने से उनकी भी बन्धकोटि सिद्ध ही है।

दूसरे "सांख्य-प्रवचन–भाष्य" मे विज्ञानभिक्षु ने स्वय भी यह तथ्य स्वीकार करके, विदेह एव प्रकृतिलयो को ससारापत्ति का प्रतिपादन किया है।[1]

श्री भिक्षु ने स्पष्ट नामोल्लेख किए बिना, कोई "भव" का अर्थ अविद्या लेते है, ऐसा लिख कर, मिश्र जी के मत का अनेक युक्तियो द्वारा खडन किया है। वे "भव" का "अर्थ" जन्म लेते है तथा विदेह एव प्रकृतिलयो को जन्म से स्वतः निर्बीज समाधि की सिद्धि बतलाते है। आचार्य शंकर के अनुसार भी विदेह एव प्रकृतिलयो को जन्मतः निर्बीज समाधि सिद्ध होती है साथ ही उन्होने उनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन भी किया है। प्रथम तो "भव" का अर्थ यहाँ "जन्म" नही, "अविद्या" ही है, क्योकि यदि उनमे अविद्या का अश विद्यमान न रहता, तो वे इस स्थिति को प्राप्त ही नही होते। फिर भिक्षु जी के मतानुसार शरीर निरपेक्ष होते हुए भी बुद्धिवृत्ति वाले 'विदेह कहलाते है। (द्र० १/१९ को योगवार्तिक) जन्म देह-सम्बन्ध-प्राप्ति से होता है। अत शरीर-नैरपेक्ष्य नही रहेगा। जिसका चित्त प्रकृति मे लीन है, उसका जन्म कैसे हो जाएगा? यदि जन्म हो गया है, तो चित्त आवृत होगा और ससार मे चित्तावर्तन से वे अवस्थाएँ समाप्त हो जाती है। दूसरे जन्म का अर्थ है तद्-तत् इन्द्रिययो-द्वार तद्-तत् विषया का सम्यक ग्रहण अतः यदि इस भाँति सब विषयो का ग्रहण हो रहा है, तो कैवल्य-तुल्य अनुभव नही होगा।

१. "योग भाष्य विवृत्ति"—पृ० ११५)

इसके अतिरिक्त भिक्षु जी के कथनानुसार देवता विशेषो को देवलोक मे "भवप्रत्यय" अर्थात् जन्म है कारण जिसका, वह असम्प्रज्ञात योग होता है, किन्तु समाधिसिद्धि के सस्कारो से युक्त प्राणी जन्म ग्रहण नही करता, क्योकि समाधि सिद्ध हो जाने पर, उसे विदेह-कैवल्य या क्रममुक्ति अवश्य प्राप्त होती है। यह हो सकता है कि—

"प्राप्यपुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमता गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ गीता ६।४१

इत्यादि उक्तियो के अनुसार उन्हे पुनर्जन्म मे पूर्वाभ्यासवश योगानुष्ठान मे शीघ्र सफलता मिले। किन्तु वह मार्ग भी उपायप्रत्यय वालो का है।

यह भी विचारणीय है कि यदि अवधि समाधि समाप्ति के पश्चात् विदेह एव प्रकृतिलयो को समाधि भी कैवल्यप्रापक होती, या उन्हे भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता, तो वायुपुराणोक्त "पुरुष निर्गुण प्राप्यकालसख्या न विद्यते" इस फल की प्राप्ति उन्हे भी होनी चाहिये थी।[1] किन्तु उसका वायु-पुराण की इस उक्ति से स्पष्ट विरोध प्रतीत होता है कि इन्द्रियादि चिन्तको की निर्बीज समाधि इतनी-इतनी अवधि तक रहती है। इसके अतिरिक्त "उपायप्रत्यय" की अपेक्षा भाष्यकार एव सूत्रकार का "भवप्रत्यय" को हेय बताना भी अयुक्त सिद्ध हो जाएगा।

"भव नाम अविद्या का है" वाचस्पति मिश्र की इस उक्ति को असगत बतलाते हुए, भिक्षु जी ने हेतु भी दिया है कि अज्ञानी को पर वैराग्य होना असंभव है, किन्तु भाष्यकार ने परवैराग्यजन्य असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद नही बतलाए है, वरन् "सस्कारशेष"[2] रूप निरोध समाधि के दो भेद बतलाए है। परवैराग्य आदि का विधान तो उपायप्रत्यय से जन्य समाधि के लिये है यदि "भवप्रत्यय" मे भी परवैराग्य आदि की अपेक्षा रहे तो "उपाय प्रत्यय" एव "भवप्रत्यय" मे भेद ही क्या है और जब हर एक निर्बीज समाधि का कारण परवैराग्य ही है तो भवमूलक समाधि ही कैसे हो सकती है? फिर यह असप्रज्ञात समाधि है भी नही, क्योकि असम्प्रज्ञात समाधि से तो कैवल्य प्राप्त होता है, गुणाधिकार की समाप्ति होती है। यहाँ तो अधिकार अचरितार्थ ही रहते है। यदि "भवप्रत्यय" की निरोध समाधि भी असम्प्रज्ञात समाधि

१ यह उक्ति वायुपुराण मे अप्राप्त है। श्री मिश्र ने इसे वायु पु० की उक्ति कहा है।

२ सस्कारमात्र शेष चित्त का अर्थ है चित्त नही रहा किन्तु चित्त का सस्कार वर्तमान है, जैसे हिगु के न रहने पर भी पात्र मे उसका सस्कार (गन्ध) अवशिष्ट रहता है।

होती तो उपायप्रत्यय जन्य असम्प्रज्ञात समाधि से उसका सारूप्य एव वैरूप्य दर्शाना भी व्यर्थ है। श्री भोज तो उनकी इस समाधि को योगाभास ही बतलाते है।

विदेह एव प्रकृतिलय कौन है ? इस विषय मे भी मतभेद है। मिश्रजी ने षाट्कौशिक शरीर से रहित पचभूत एव इन्द्रियादि के उपासको को देहपात के अनन्तर तत्-तत् प्रभाव को प्राप्त होने वालो को विदेह तथा अष्टप्रकृति[1] मे से किसी भी एक की आत्मत्वेन उपासना करके, देहपात के पश्चात् यथोपयोगी प्रकृति को प्राप्त उपासको को प्रकृतिलय बतलाया है।

भिक्षु जी शरीर की अपेक्षा से रहित बुद्धिवृत्तियुक्त विदेह होते है, ऐसा बतलाते है, किन्तु बुद्धि की वृत्तियाँ भोगायतन मे ही रहती है। भोगायतन शरीर ही है। अतः शरीर के बिना बुद्धि की वृत्तियाँ नही रह सकती, क्योकि वृत्तियाँ भी पूर्व कर्मो की भोगस्वरूपा है। दूसरे भिक्षु जी ने जो विदेह एव प्रकृतिलयो को असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति बतलाई है, वह भी नही हो सकती, क्योकि असम्प्रज्ञात समाधि पूर्णतः वृत्तिरहित अवस्था है। इस प्रकार स्वय भिक्षु जी का कथन उन्ही के मत से असगत सिद्ध हो जाता है, यह भी विचारणीय है कि असम्प्रज्ञात समाधि तो विवेक ख्याति से प्राप्त होती है और विदेह एव प्रकृतिलयो को विवेकख्याति प्राप्त नही होती, अन्यथा उन्हे अन्य तत्वो मे आत्मबुद्धि ही क्यो होती ?

तथा—

"दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकाश्च शत पूर्ण सहस्र त्वाभिमानिकाः॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्ण शतसहस्र तु तिष्ठन्त्यव्यक्त चिन्तकाः॥
पुरुष निर्गुण प्राप्य कालसख्या न विद्यते" (वायुपुराण)

भिक्षु जी का कथन है कि "वायुपुराण"[2] की यह उक्ति अज्ञानी इन्द्रियादि उपासक कर्मदेवो को तत्-तत् पद मे अवस्थित होकर अधिकार-प्राप्ति के काल की

---

१ "प्रकृतिलयाश्चा व्यक्तमहदहकारपचतन्मात्रेष्वन्यतममात्मत्वेनप्रतिपन्ना ।" (तत्व० १/१६)

२ वायु पुराण के किसी भी सस्करण मे ये श्लोक नही मिलते। शिवपुराण की वायवीय सहिता मे भी ये श्लोक नही है। जिस वायु पुराण से ये श्लोक लिये गये है—यह अनुसन्धेय है।

सीमा मात्र को निर्धारित करती है, उनकी असम्प्रज्ञात-समाधिकाल की सीमा की निर्धारक नही है। क्योकि इन्द्रिय आदि के चिन्तनमात्र से असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि नही होती। इस प्रकार वे इन्द्रियादि उपासनाजन्य समाधि को प्रलय, मरण, मूर्छा-तुल्य कादाचित्क वृत्यभाव बतलाकर उसे अपुरुषार्थ सिद्ध करते है।

भिक्षु जी का यह कथन भी अपेशल ही है, क्योकि इनकी समाधि चिन्तन-जन्य है और मरण एव मूर्छादि मे पीडा-निमित्तक वृत्यभाववत् स्थिति होती है। अत्यन्त पीडा के कारण मृत्युकाल मे जीव को अत्यन्त विस्मृति हो जानेसे वृत्यभाववत् स्थिति होती है। श्रीमद्भागवत मे कहा गया है—

"जन्तोर्वैकस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः" किन्तु मृत्यु एव मूर्छाकाल मे भी किंचित् अभिभूत होकर वृत्ति विद्यमान रहती है। आचार्य शकर ने "प्रश्नोपनिषद्भाष्य" मे लिखा है—"मरणकाले क्षीणेन्द्रियवृत्तिः सन् मुख्यया प्राणवृत्त्या एव एव अवतिष्ठते" (३/१०)

फिर मरण एव मूर्छा आदि मे तो वृत्तियो का ध्येयशून्य अभावमात्र होता है और इस समाधि मे इन्द्रियादि का इन्द्रिय-चिन्तन ध्येय सहित है। अतः विदेह एव प्रकृतिलयो की समाधि को मरण एव मूर्छा-तुल्य समझ कर अपुरुषार्थ बतलाना भी अन्याय्य है।

अविद्या-प्रत्यय का अर्थ है—अविद्यामात्रमूलक, मृत्यु मूर्छादि मे अविद्या के साथ पीडा भी मूल है। विवरणकार के अनुसार पुर्यष्टक[1] शरीर से सम्बद्ध रहने वाले देव विदेह कहलाते है। वे ( विदेह ) वैराग्य एव अभ्यास से युक्त अपने सस्कार मात्र के उपयोग वाले चित्त से उस अवस्था मे कैवल्यवदनुभव करते है और सत्त्वगुण के विनिर्मोक से अर्थात् स्वरूप-निवृत्ति पूर्वक सस्कार द्वारा अपने उस प्रकार के सस्कार के परिपाक को क्षीण करते है। प्रकृतिलय के विषय मे उन्होने इससे अधिक कोई विशेष बात नही कही है।

विदेह एव प्रकृतिलय कौन है, इस विषय मे श्री भोज एव नागोजी भट्ट का भी वाचस्पति से मत-वैपरीत्य है। श्री भोज आनन्दानुगत समाधि की अवस्था को कैवल्यवत् स्थिति समझ कर, उसी मे लीन होने वालो को विदेह तथा अस्मितानुगत समाधि को चरम लक्ष्य जान कर उसमे लीन होने वालो को प्रकृतिलय बतलाते है,

---

१ पुर्यष्टक—"भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासना कर्मवायव ।
अविद्याचाष्टक प्रोक्त पुर्यष्टमृषिसत्तमै ॥" (मनुस्मृति की कुल्लूक रचित व्याख्या १/५६)

किन्तु यह मार्ग तो दूसरा ही है। श्री भोज की यह मान्यता किसी भ्रम के ही कारण है। "विभूतिपाद" के २६वे सूत्र "भुवनज्ञान सूर्ये सयमात्" की व्याख्या मे भाष्यकार श्री व्यास ने स्पष्टरूप से वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एव अस्मितानुगत समाधि वालो के अलग-अलग नाम देकर विदेह एव प्रकृतिलयो को उनसे भिन्न अवस्थायुक्त बतलाया है। भाष्य इस प्रकार है—

"तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः, शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः, सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः सज्ञासज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखाः। विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते न लोकमध्ये न्यस्ताः।"

नागोजी भट्ट ने "भूतेन्द्रियतन्मात्राहकार—महतामन्यतमात्मत्वेन" उपासना करने वालो को विदेह एव प्रकृति तथा शबल ईश्वर की आत्मत्वेन उपासना करके लीन होने वालो के प्रकृतिलय कहा है। जिनमे विदेह अल्प ऐश्वर्य वाले होने से शासित है और प्रकृतिलय प्रभूत ऐश्वर्ययुक्त होने से ईश्वर–कोटि मे है, किन्तु उनका भवप्रत्यय अविद्याजनक है, यह भट्टजी को भी मान्य है।

ऐसा प्रतीत होता है कि नागोजी ने विदेह एव प्रकृतिलयो के विषय मे प्रकृति शब्द को लेकर केवल "अव्यक्त प्रकृति" मे लीन होने वाले प्रकृतिलय है, यह कल्पना करके, उसके पूर्व के शेष सब तत्त्वो मे लीन होने वाले ही विदेह होगे, ऐसी मान्यता बनाली। किन्तु वास्तव मे यह मतभेद वाचस्पति की गूढार्थता तक ध्यान न पहुँच सकने के कारण है। मिश्र जी प्रकृति पद से अष्टप्रकृति का अर्थ लेते है। दूसरे भट्टजी ने शबल ईश्वर के आत्मवत् उपासको को भी प्रकृतिलय कहा है। वह प्रकृतिलयो को प्रभूत ऐश्वर्ययुक्त बताते है, इसी से शबल ईश्वर के उपासको को भी प्रकृतिलय बतला दिया है।

अन्य व्याख्याकारो मे केवल भावागणेश को छोड कर, जिन्होने "ते च महदादयो देवाः तेषां न साधनानुष्ठानम्"—कह कर उनकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है, शेष सभी व्याख्याकारो ने वाचस्पति के ही मत की पुष्टि की है। विवरणकार शकर ने भी विदेहो की महत्ता प्रतिपादित की है तथा कुछ विषयो मे उनका भिक्षु से मत साम्य भी है।

सार यह है कि यह "भवप्रत्यय"–जन्य समाधि कैवल्यार्थियो के लिये उपेक्षणीय है।

× × ×

दूसरी है उपायप्रत्ययजन्य निर्बीज समाधि, जिसके विषय मे पहिले भी बतलाया जा चुका है। यह श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एव प्रज्ञा पूर्वक तथा बाद मे विवेकख्याति मे भी विरक्तता उत्पन्न होने पर आविर्भूत होती है।[1] इसी को असप्रज्ञात समाधि कहते है। इस अवस्था मे वृत्तियाँ पूर्णतः शान्त हो जाती है, केवल उनका सस्कार शेष रहता है, जिनके निरोध हेतु बारम्बार विरामप्रत्यय अर्थात् निरोध-सस्कारो का अभ्यास किया जाता है।[2]

असम्प्रज्ञात समाधि केवल सम्प्रज्ञात समाधि की ही विरोधिनी नही, अपितु विवेकख्याति रूप प्रज्ञा के सस्कारो की अवरोधकारिणी भी होती है। इस अवस्था मे बारम्बार निरोध सस्कारमात्र उत्पन्न होते रहते है, जिससे निरोधस्थिति दृढ होती है। ऐसी आशका नही करनी चाहिये कि निरोधसस्कारो के उदय होते रहने से चित्त अधिकारविशिष्ट बना रहेगा। क्योकि निरोधसस्कार चित्ताधिकार के विरोधी होने से भोग के हेतु नही है। इसी असम्प्रज्ञात समाधि से योगी जीवन्मुक्त पद प्राप्त करता है। अविद्यारूपी कारणभूत आलम्बन समाप्त हो जाने से इसे निर्बीज समाधि भी कहते है।

श्रीयुत प० बलदेव उपाध्याय ने सम्प्रज्ञात एव असम्प्रज्ञात समाधि के भेद को बडा ही सुन्दर दृष्टान्त देकर समझा कर स्पष्ट किया है। तदनुसार लकडो के टुकडो से अग्नि प्रज्ज्वलित करने से प्रथम वे जलते है और उनका दाहक अग्नि एकाकार लौ के रूप मे दृष्टिगत होता है। पहले लकडो के टुकडे जलते है, तत्पश्चात् अग्नि स्वय जलता रहता है। अन्तन्तः दाह्य पदार्थ के अभाव मे आग स्वय भी शान्त हो जाती है। इसी भाँति चित्त की अनेक वृत्तियाँ-किसी एक वस्तु मे चित्त एकाग्र करने पर-क्षीण होकर ध्येयाकारवृत्ति को दृढ करती है। उस समय ध्येय वृत्ति ही प्रधानतः प्रकाशित रहती है। ध्यान-प्रकर्ष-जन्य इस सुदृढ वृत्ति को समाधिप्रज्ञा कहते है। प्रज्ञाग्नि की प्रदीप्ति से समिधाभूत इतर-वृत्ति-समूह भस्मसात् हो जाता है। अन्त मे वृत्यभावकाल मे जब एकाग्र भूमिक चित्त ध्येयमात्र के चिन्तन मे निरन्तर सलग्न रहता है, तब सम्प्रज्ञात समाधि होती है। प्रज्ञा का उदय इसी का फल है। सम्प्रज्ञात की अतिम प्रज्ञा है—विवेकख्याति, जो ऋत सत्य का प्रकाश करती है, क्लेशो को नष्ट करती है तथा कर्मबन्धन शिथिल करके, चित्त को निरोधाभिमुख करती है।

---

१. "श्रद्धावीर्यसमाधिप्रज्ञापूर्वकइतरेषाम्।" (यो० सू० १/२०)

२ "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वःसस्कारशेषोऽन्य।" (यो० सू० १/१८)

नितान्त सात्त्विक होने पर भी विवेक प्रज्ञा अन्तः वृत्ति है। अतः इसे भी निरुद्ध करने पर पूर्ण निरोध असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

योगसाधक का लक्ष्य असम्प्रज्ञात समाधि ही है, क्योंकि इसकी प्राप्ति हो जाने पर कैवल्य करतलस्थ आमलकवत् हो जाता है, अर्थात् प्रारब्ध समाप्त होने पर, देहपात के साथ ही कैवल्य भी अवश्यम्भावी है।



# योग - दर्शन

## ( भाष्यार्थ-बोधनी )

व्यास तथा अन्य व्याख्याकारों के आधार पर
'पातंजल-योग-सूत्र' का विवेचनात्मक
एवं तुलनात्मक अध्ययन

### द्वितीय अध्याय



(१) क्रियायोग तथा उसके प्रयोजन ।
(२) पञ्चक्लेश तथा उनके निवारण के उपाय ।
(३) प्रज्ञा एव ज्ञानदीप्ति ।
(४) योग के अष्ट अङ्ग ।
(५) इन्द्रिय - निग्रह की आवश्यकता ।



## (१) क्रियायोग तथा उसके प्रयोजन।

### क्रियायोग—

तपस्या, स्वाध्याय एव ईश्वरप्रणिधान ये क्रियायोग कहलाते है।[1] वैसे क्रियायोग का शाब्दिक अर्थ है कर्म के आश्रय से योग का अभ्यास करना। शरीर, प्राण एव इन्द्रिय आदि का उचितरूप से अभ्यास-द्वारा वशीकरण रूप तप, प्रणव आदि पवित्र भगवन्नाम जप एव उपनिषद् इत्यादि विवेकज्ञानोत्पादक सत्-शास्त्रो का नियमित अध्ययन रूप स्वाध्याय एव सब कर्मो के कर्मफल की अनिच्छापूर्वक ईश्वर को अर्पणस्वरूप ईश्वरप्रणिधान इनका तीनो का सामूहिक अभिधान क्रियायोग या कर्मयोग है, जिसके लिये गीता मे कहा गया है—"योगःकर्मसु कौशलम्" (२/५०)।

प्रथम परिच्छेद मे योग-प्राप्ति के मुख्य उपाय अभ्यास एव वैराग्य के साधन की विविध विधियो का विधान है, किन्तु उनके आश्रय से समाहित चित्त-युक्त उत्तम अधिकारी ही योग-साधना कर सकता है। मध्यम वर्ग के अधिकारी जिनका चित्त अभी सांसारिक भोग-वासनाओ एव राग-द्वेष आदि से चचल ( विक्षिप्त ) है, उन्हे उस रीति से योग की प्राप्ति दुर्लभ है। विक्षिप्त चित्त-युक्त जिज्ञासु भी क्लेश क्षीण करके अभ्यास-वैराग्य पूर्वक समाधि की भावना कर सके, इस अभिप्राय से क्रियायोग का विधान है।

तपस्या शारीरिक, स्वाध्याय वाचिक एव ईश्वरप्रणिधान मानसिक क्रियायोग है।

तपः—"नातपस्विनो योगसिद्धयति" इस प्रसिद्धि के अनुसार अतपस्वी को योग सिद्ध नही होता। अनादिकालीन क्लेश एव कर्म के सस्कारो से सकुलित चित का मल तप के बिना विरल नही हो सकता। अतः क्रिया योग की प्राप्ति के लिये तप उसका प्रथम सोपान है, किन्तु यह तपश्चर्या इस प्रकार की होनी चाहिये जिससे शारीरिक धातु-वैषम्य से योग-साधना मे विघ्न न पडे, अर्थात् शरीर तथा इन्द्रियो मे

---

१ "तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग ।"

२ "समाधिभावनार्थ क्लेशतनूकरणार्थश्च ।" (यो० सू० २/१-२)

बाधा उत्पन्न न हो और मन प्रसन्न रहे—ऐसा तप योगेच्छु से सेव्य है ।[1] इस प्रकार शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा, सुख-दुःख, हर्ष-शोक एव मान-अपमानादि समस्त द्वन्द्वो की दशा मे विक्षेपशून्य स्वास्थ्यकारक एव चित्त की निर्मलता का हेतु तप सात्विक कहलाता है । सात्विक तप से ही योग-साधना मे स्थिर-प्रवृत्ति होती है । शारीरिक पीडा, व्याधि, इन्द्रिय-विकार एव चित्तमालिन्य का उत्पादक तामसी तप योग मे निन्दित है, क्योकि व्याधि, शारीरिक पीडा आदि चित्त की प्रसन्नता एव योगमार्ग के विघ्न है । युक्त आहार विहारादि से ही सात्विक तप होना है । ऐसे योग से ही क्लेशो का नाश होता है । गीता मे कहा गया है—

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥" (६/१७)

जिस प्रकार स्वर्ण को वह्नि मे तपाने से धातु-मल भस्म होकर स्वर्ण स्वच्छ एव दीप्त हो उठता है, उसी प्रकार तपस्या की अग्नि मे शरीर एव इन्द्रियादि तप्त होकर रज एव तम का मल नष्ट हो जाने से सत्वगुण के प्रकाश मे वृद्धि होती है । तप शारीरिक, वाचिक एव मानसिक तीन प्रकार के होते है ।

### शारीरिक तप—

देवता, ब्राह्मण, गुरुजन एव ज्ञानीजनो का पूजन, पवित्र, सरल, ब्रह्मचर्य एव अहिसापूर्ण जीवनयापन शारीरिक तप कहलाता है ।[2] आसन, प्राणायाम तथा शुद्ध-सात्विक आहार-विहारादि शारीरिक तप के अन्तर्गत ही हैं । भगवद्गीता मे इन्हे युक्त आहार-विहार कहा गया है । युक्त, आहार विहार युक्त साधक की योग-साधना दुःखनाशक होती है—

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु' ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगोभवति दुःखहा ।" (६/१७)

युक्ताहार से तात्पर्य शुद्ध, सात्विक योगोपयोगी एव परिमित भोजन से

---

१. "चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते" । (व्या० भा० २/१)
तुल० "शारीरन्तु तपो घोर साख्या प्राहुर्निरर्थकम् ।"

२. "देवद्विजगुरुप्राज्ञ पूजन शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचयर्महिमा च शारीर तप उच्यते ॥" (गीता अ० १७/१४)

है। योगाभ्यासी को आहार के विषय मे पूर्ण सचेत रहना चाहिये, क्योकि अन्न का शरीर एव मन पर प्रकृष्ट प्रभाव पडता है। (तुल० अन्नमयहि सोम्य मनः—छान्दोग्य०) अन्न सात्विक एव पवित्र साधनो से अर्जित होना चाहिये। स्वाद के वशीभूत न होकर शरीर मे आसक्ति एव ममता त्याग-पूर्वक शरीर एव चित्त को केवल भजन कार्य मे उपयोगी बनाने वाले स्निग्ध, मधुर, प्रिय एव क्षुधा-परिमाण के चतुर्थ भाग से न्यून आहार करना युक्ताहार या मिताहार कहलाता है।[1] मिताहार का विशेष विवरण हठयोग के ग्रन्थो मे द्रष्टव्य है, द्र० घरण्ड सहिता, हठयोग प्रदीपिका ।

## युक्त विहार—

अत्यन्त थकान की उत्पत्ति से भजन मे विघ्नकारक लम्बी एव कठिन यात्रा वर्जित है। चलना-फिरना बिलकुल बन्द कर देने मे भी तमरूप आलस्य एव प्रमाद का आविर्भाव होता है। ये भजन मे बाधक है। अतः घूमने-फिरने का कार्य इतनी मात्रा मे होना चाहिये जिससे शरीर स्वस्थ एव प्रसन्न रहे। इससे साधन सफलतापूर्वक होता है।

## युक्त चेष्टा—

नित्य नियमित कर्त्तव्य एव नियत सत्कर्मो को करते रहना तथा अधिक शारीरिक श्रम न करना एव कर्त्तव्य त्याग न करना युक्त चेष्टा है।

## युक्त स्वप्नावबोध—

आवश्यकता से अधिक या न्यून मात्रा मे न सोना युक्तस्वप्नावबोध है। तमवृद्धि बचाने के लिये रात्रि मे उचित परिमाण से अधिक नही सोना चाहिये। निद्रा को क्रमिक अल्प करना चाहिये (स्वास्थ्य आदि पर लक्ष्य रखकर), कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि उग्र तप साधारणतया योग मे वर्जित है। तप का एक सारवान् विवरण गीता १७/५–६ मे द्रष्टव्य है।

आवश्यकतानुसार केवल सत्य, प्रिय एव सबके यथायोग्य सम्मानपूर्ण वाणी का व्यवहार करना वाचिक तप है।[2] वाणी को सयत रखने की दृष्टि मे प्रयत्नपूर्वक

---

१ "सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जित ।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहार स उच्यते ॥"

१, "अनुद्वेगकर वाक्य सत्य प्रियहित च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसन चैव वाड्मय तप उच्यते ॥" गीता १७/१५)

सप्ताह मे एक दिन का मौनव्रत रखना प्रशस्त है। (प्रारम्भिक अवस्था मे ही प्रयोज्य)।

**मानसिक तप—**

मन का सयम मानसिक तप है। हिसात्मक क्लिष्ट भावनाओ को तथा अपवित्र विचारो को मन से दूर करने का प्रयत्न करना तथा मैत्री, करुणा, मुदिता आदि शुद्ध, पवित्र भावो को मन मे धारण करना मानसिक तप है।[1]

शरीर एव इन्द्रियो को अपनी इच्छानुसार कार्य न करने देकर अपने वश मे रखना ही तपस्या है।

**स्वाध्याय—**

स्वाध्याय से तात्पर्य भगवान् के पवित्र प्रणव आदि नामो तथा गायत्री आदि मत्रो के जप तथा उपनिषद्, गीता आदि मोक्ष शास्त्रो के अध्ययन से है। इससे भी वृत्तिनिरोध होता है तथा योगसाधन मे श्रद्धा होती है।

**ईश्वरप्रणिधान—**

ईश्वरप्रणिधान भी योग का साधन है। मनसा, वाचा, कर्मणा जो कुछ भी कर्म करे उन सबको ईश्वर को अर्पित कर देना ईश्वरप्रणिधान है। जैसा कि निम्नश्लोक मे कहा गया है—

**"कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।**
**तत्सर्व त्वयि सन्यस्त त्वत्प्रयुक्तः करोम्यह।"**

अर्थात् फल की इच्छा से या निष्काम भाव से जो भी शुभ या अशुभ कर्म मै करता हूँ, वह सब मै आपको अर्पित करता हूँ, क्योकि (हे अन्तर्यामी परमेश्वर) मै आपके द्वारा प्रेरित होकर कर्म करता हूँ, अर्थात् इसमे मेरापन कुछ भी नही है।

अथवा ईश्वरप्रणिधान का दूसरा अर्थ फल-प्राप्ति की इच्छा के परित्यागपूर्वक कर्मो का अनुष्ठान है। जैसा कि गीता मे भगवान् ने कहा है—

---

१ "मन प्रसाद सौम्यत्व मौनमात्मविनिग्रह।
भावसशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥" (गीता १७/१६)

"कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।" (२/४७)

वस्तुतः "साधनपाद" मे मध्यम अधिकारियो के हेतु अष्टाग योग के साधनो का विधान है। तप, स्वाध्याय एव ईश्वरप्रणिधान तो वक्ष्यमाण पाँचो नियमो के ही अन्तिम तीन भाग है। फिर भी व्यावहारिक जीवन को शुद्ध एव सात्विक बनाने मे ये विशेष रूप से सहायक है। इनमे चित्त शुद्ध एव निर्मल होकर अष्टागयोग सुकर हो जाता है।

तप से शरीर, वाणी एव अन्तःकरण की शुद्धि होती है। स्वाध्याय से तत्वज्ञान की प्राप्ति एव चित्त की एकाग्रता का सम्पादन होना है। ईश्वरप्रणिधान से कर्मों मे कामना एव कर्मफल मे अनासक्ति तथा ईश्वर की कृपा उपलब्ध होती है। इसी से इन्हे क्रियायोग नाम देकर अष्टाग योग के पूर्व अनुष्ठान करने को बताया गया है। वैसे तपः—स्वाध्याय-क्रियायोग का व्यापक अर्थ लेने पर योग के आठो अग इन्ही मे अन्तर्भूत हो सकते है।

× × ×

क्रियायोग के दो प्रयोजन है। समाधि की भावना करना एव क्लेशो को क्षीण करना।[1] क्रियायोग से अशुद्धि का क्षय होता है। समस्त आन्तर्बाह्य इन्द्रियो की राजस चचलता एव तामस जडता ही उसकी अशुद्धि है। यही अशुद्धि क्लेशो की प्रबल अवस्था है। अतः अशुद्धि का आवरण हटने से ही क्लेश क्षीण होते है। क्लेश क्षीण होने से चित्त समाधि की ओर अभिमुख होता है अर्थात् समाधि की भावना होती है।

शका हो सकती है कि यदि क्रियायोग से क्लेश क्षीण हो सकते है, तो विवेकख्याति व्यर्थ है, अथवा प्रसख्यानाग्नि क्लेशो को दग्ध करने मे समर्थ होता है तो क्रियायोग से क्लेशो का तनूकरण व्यर्थ है।

इसका समाधान यह है कि क्रियायोग से क्लेशो को क्षीण किए बिना प्रसख्यानाग्नि रूप विवेकख्याति उत्पन्न नही हो सकती, क्योंकि प्रबल एव विरोधी क्लेशो से सम्बद्ध चित्त विवेकख्याति उत्पन्न करने मे असमर्थ है। क्रियायोग के अनुष्ठान से चित्त अभ्यास एव वैराग्य के सपादन-योग्य बनता है। अभ्यास एव वैराग्य से

---

१. "समाधिभावनार्थ क्लेशतनूकरणार्थश्च।' (यो० सू० २-२)

क्रमप्राप्त सम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास की दृढता से उसकी अन्तिम अवस्था मे विवेकख्याति का उदय होता है। क्षीणकृत क्लेश प्रसख्यानाग्नि के द्वारा भृष्टबीजवत् उत्पादकशक्ति-शून्य बनते है। तब परवैराग्यजन्य सस्कारो की दृढता से चित्त का विवेकख्याति रूप अधिकार भी समाप्त होकर समाधि का उदय होता है।

——०——

## (२) पंच क्लेश तथा उनके निवारण के उपाय।

बन्धन के कारणभूत विपर्यस्त ज्ञान को क्लेश कहते है। योग साधनो के लिए क्लेशो को नष्ट करना अनिवार्य है, क्योकि ये क्लेश वृत्तिमान रहकर गुणो के अधिकार को दृढ करते है। उनके कार्यरूप परिणाम को अवस्थापित करते है। अव्यक्त से महत्, महत् से अहकार इत्यादि कार्य-कारण की परम्परा को उद्भावित करते हुए परस्पर एक दूसरे के अनुग्राहक बन कर कर्म-विपाक (जाति, आयु, भोग) को निष्पन्न करते है। अर्थात् कर्मो से क्लेश और क्लेशो से कर्म यह परम्परा सतत प्रवर्तित रहती है।

ये क्लेश पॉच है, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एव अभिनिवेश।[1] यद्यपि पच क्लेशो मे प्रथम अविद्या ही मुख्यरूप से विपर्यस्त-ज्ञानरूपा वृत्ति है, फिर भी शेष अस्मिता आदि क्लेश चतुष्टय भी अविद्यामूलक होने से विपर्यय-ज्ञानस्वरूप ही है। अस्मिता आदि का सद्भाव एव समुच्छेद अविद्या वृत्ति के ही अधीन है। प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एव उदार इन चार अवस्थाओ से युक्त अस्मिता आदि सब क्लेशो की अविद्या प्रसवभूमि के तुल्य है।[2]

प्रसुप्त : चित्त मे बीजभाव को प्राप्त अर्थात् कार्यजन की शक्ति,से युक्त अवस्था मे रहनेवाले क्लेश प्रसुप्त कहलाते है। प्रसुप्त क्लेश अपने आलम्बनभूत विषय के समक्ष उपस्थित होने पर जागरूक या वृत्तिमान हो उठते है। जैसे शैशवावस्था मे विषय भोग की वासनाए दबी रहती है, युवावस्था मे अपना आश्रय ग्रहण कर पल्लवित होती है, विदेह एव प्रकृतिलयो के क्लेश भी इसी कोटि के अन्तर्गत है।

तनु : क्लेशो की विरोधी भावनाओ अथवा क्रियायोग आदि से शिथिलीकृत क्लेश तनु कहलाते है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एव अभिनिवेश—इन पॉचो क्लेशो के प्रतिपक्ष क्रमशः सम्यक्-ज्ञान, विवेकज्ञान, तटस्थभाव, अहन्ता एव ममता का परित्याग है। इनकी भावना (अनुष्ठान) से कृशभाव को प्राप्त क्लेश तनु-अवस्थायुक्त होते है। तनु अवस्थायुक्त क्लेश विषय-सन्निधि मे भी कार्यारम्भ-सामर्थ्य-हीन होने से शान्त रहते है, किन्तु इनके सूक्ष्म सस्कार चित्त मे वर्तमान रहते है।

---

१. "अविद्या स्मितारागद्वेषाभिनिवेशा क्लेशा।" (यो० सू० २-३)

२. "अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषा प्रसुप्ततनु विच्छिन्नोदाराणाम्।" (यो० सू० २-४)

विच्छिन्न : जिस अवस्था मे क्लेश किसी अन्य प्रबल वृत्तिमान क्लेश के द्वारा अल्पकाल के लिए अभिभूत होकर उस समय केवल शक्तिरूप से रहते है, उन्हे उस काल मे विच्छिन्न कहते है। ऐसे क्लेश प्रथम अभिभूत करने वाले क्लेश का अभाव होते ही पुनः वृत्तिमान हो उठते है। यह विच्छिन्नभाव अधिक स्थाई नही होता है। जैसे द्वेष होने पर राग और राग होने पर द्वेष नही होता, क्योकि ये परस्पर विरुद्ध होते है। राग भी एक विषय मे वृत्तिमान् रहने से अन्यत्र न रहता हो, ऐसा भी नही होता है। एक स्त्री मे अनुरक्त व्यक्ति अन्य मे विरक्त नही होता, अपितु एक मे उत्कृष्ट राग होने के कारण लब्धवृत्ति (उदार) है और अन्यत्र भविष्यद् वृत्ति (विच्छिन्न) है, क्योकि वह भविष्यद् वृत्तिराग लब्धवृत्ति रागावस्था मे प्रस्तुत, तनु तथा विच्छिन्न रूप से वर्त्तमान है।

यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि राग की वर्तमानावस्था मे अनुत्कट क्रोध विजातीय राग की उदारता के कारण विच्छिन्न है और एक स्थान मे राग के आविर्भाव कालमे अन्यत्र अनुत्कट राग सजातीय राग की उदारता के कारण विच्छिन्न है। अतः एक क्लेश की उदारावस्था मे अन्य क्लेश कभी प्रसुप्त, कही तनु और कोई विच्छिन्न अवस्था मे वर्त्तमान रहते है।

उदार : अपने विपय मे लब्धवृत्ति[1] अर्थात् उत्कटरूप से अपने कार्य मे तत्परता पूर्वक भासमान क्लेशो की उदार अवस्था कहलाती है।

उपर्युक्त चारो अवस्थायुक्त समस्त क्लेश प्रतिपक्षो की भावना से शान्त तथा अपने अभिव्यजक के आश्रय से पुनः उदारावस्था को प्राप्त हो जाते है। अतः क्लेशप्रद होने से हेय है।

### दग्धबीजावस्था

क्लेश की इन चारो अवस्थाओ के अतिरिक्त एक और पचमी दग्धबीजावस्था है। क्रियायोग अथवा सम्प्रज्ञात समाधि मे बीजरूप मे विद्यमान प्रसुप्त क्लेशो को विवेकख्याति द्वारा दग्ध कर दिया जाता है। इस अवस्था मे विषय के सन्निधिकाल मे पुनः क्लेश अकुरित नही होते। जिस प्रकार अग्नि मे जलकर बीज पुनः उत्पन्न नही होते, उसी प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि से प्रतनुकृत क्लेश प्रसख्यानाग्नि मे जलकर

१ उदार का यह अर्थ उदार शब्द के मूल अर्थ को ध्यान मे रखने से सगत ही होता है। उद्गत है जरा जिसका वह उदार। अरा=केन्द्र से परिधिपर्यन्त व्याप्त शर। इस उद्गतभाव को लक्ष्यकर ही उदार शब्द प्रयुक्त हुआ है।

पुनः क्लेशाकुरो को उत्पन्न करने मे असमर्थ हो जाते है। जैसा कि कहा गया है—

"बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैनात्मना समपद्यते पुन ।"

सूत्रकार ने अविद्या-क्षेत्र मे क्लेश की चार ही अवस्थाओ का कथन किया है। पचम दग्धबीजावस्था का नही किया, क्योकि प्रथम चार अवस्थाए क्लिष्ट होने से हेय है और उनके हान के लिए विशेप प्रयत्न करने पडते है। पचमी अवस्था क्लेशोत्पादक नही है। दूसरे इस अवस्था की निवृत्ति हेतु प्रयत्न विशेप नही करना पडता है। असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा चित्त के स्वकारण मे लीन होने के साथ इस अवस्था की भी स्वत. निवृत्ति हो जाती है।

## क्लेशों का स्वरूप—

### अविद्या—

क्लेशो मे से प्रथम अनित्य, अपवित्र, दुःखद एव अनात्मा पदार्थों मे क्रमशः नित्य, पवित्र, सुखद एव आत्म बुद्धि रखना अविद्या कहलाती है।[1]

उदाहरणार्थ यह सम्पूर्ण जगत् उसकी सम्पत्ति एव स्वर्ग आदि प्रपच सब अनित्य है। इनमे नित्यबुद्धि रखना अविद्या है। नित्य=ध्वस शून्य।

श्लेष्मा (कफ), रक्त, मल-मूत्र आदि से युक्त परम बीभत्स अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, अशुचि मे शुचिख्यातिरूप अविद्या है। अधर्म, पाप, हिसा आदि अनेक अशुद्धियो से पूर्ण अन्तःकरण को शुद्ध समझना अविद्या है।

सासारिक विषय-भोग सब परम दुःखरूप है, इनमे सुखख्याति अविद्या है।

इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय, चित्त आदि अनात्म पदार्थो को आत्मा समझना अनात्मा मे आत्मख्याति है। पहिले बतलाया जा चुका है कि अविद्या समस्त क्लेशो की जननी होने से शेप चारो क्लेशो मे भी अनुगत है। यह अनित्य नित्यख्याति आदि पूर्वोक्त भेदो से चार प्रकार की है। अविद्या के उक्त चारो लक्षणो मे से अनित्य मे नित्य का ज्ञान अभिनिवेश क्लेश मे प्रधानतया अनुगत है।

---

१ "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।" (यो० सू० २/५)

इसी प्रकार अशुचि मे शुचि का ज्ञान राग क्लेश मे व्याप्त है, दुःख मे सुखज्ञान का द्वेष मे प्राधान्य है और अनात्म मे आत्मज्ञान अस्मिता क्लेश मे मुख्य रूप से रहता है। इस प्रकार अविद्या ही इन चारो मे व्याप्त है।

× × ×

**अस्मिता—**

दृक्-शक्ति (पुरुष) एव दर्शन-शक्ति (बुद्धि) की अभिन्नवत् प्रतीति अस्मिता क्लेश है।[1]

पुरुष दृक्-शक्ति अर्थात् द्रष्टा है। बुद्धि दर्शन शक्ति अर्थात् समस्त प्रपञ्च को दिखलाने का साधन है। पुरुष भोक्ता है, बुद्धि भोग्य है। इस प्रकार ये दोनो परस्पर अत्यन्त भिन्न है। इनका अभिन्न बोध ही अस्मिता नामक क्लेश है। पुरुष चेतन है, चित्त जड, पुरुष अपरिणामी है, चित्त परिणामशील। दर्शनशक्ति अर्थात् दृश्य देखने के लिये व्यवहार मे आनेवाले यन्त्र है। सत्व एव पुरुष के अविशेष-प्रत्यय को भोग कहा गया है (३/३५)। सुख-दुःख भोग्य है, जो अन्तःकरण मे होते है। अतः अन्तःकरण भोग्यशक्ति है। करण मे आत्मख्याति होना ही अस्मिता है। प्रधानकरण होने से बुद्धि को अस्मितामात्र कहा गया है। अन्य इन्द्रियो मे आत्मख्याति भी अस्मिता है। किन्तु वे सब बुद्धि की ही परिणाम-स्वरूपा है। अतः बुद्धि को ही भोग्यशक्ति=दर्शनशक्ति कहा गया है।

पचशिखाचार्य ने भी कहा है—

**"बुद्धितः पर पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तम-**
**पश्यन कुर्यात् तत्रात्मबुद्धि मोहेन।"**[2]

(पुरुष) बुद्धि से परे पुरुष को अपने आकार, शील एव विद्या आदि के द्वारा भिन्न न देखकर उसमे आत्म बुद्धि मोहवश होती है।

यही असग पुरुष एव चित्त का पारस्परिक अध्यारोप है। इसी से आत्मा

---

१. "दृकदर्शनशक्त्योरेकात्मतेवा स्मिता।" (योग० सू० २-६)

२. इस वचन मे "आकार"=सदा विशुद्धि। "विद्या"—चैतन्य "शील"=औदासीन्य या साक्षित्व, पुरुष के इन लक्षणो का ज्ञान न होने से ही उसे बुद्धि से अभिन्न समझ कर अविद्यावश बुद्धि को ही आत्मा मान लेते है।

मे बन्धन का आरोप होती है। इसे हृदयग्रन्थि भी कहते है। मुण्डक उपनिषद् मे इसके उच्छेद का उपाय सत्वपुरुषान्यताख्याति बताया गया है—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टेपरावरे॥"(२/२/८)

अर्थात् उस पर एव अवर अर्थात् चेतन पुरुष तथा जड चित्त का विवेकयुक्त मक्षात्कार हो जाने पर हृदय-ग्रन्थि भिद जाती है। समस्त सशय छिन्न-भिन्न हो जाते है और सम्पूर्ण कर्मो का क्षय हो जाता है।

यहाँ इतना विशेष और अवगन्तव्य है कि पुरुष-प्रतिविम्बित चित्त की सज्ञा अस्मिता तथा पुरुष एव चित्त की अभिन्न प्रतीति अस्मिता क्लेश है। पुरुष व चित्त का विविक्त ज्ञान विवेकख्याति है।

अस्मिता अहभाव अर्थात् मै हूँ, मै सुखी हूँ, मे दुःखी हूँ, आदि अहकार को कहते है।

इस अस्मिता क्लेश के कारण शरीर, इन्द्रियो एव मन मे अहमत्व-ममत्वादि उत्पन्न होते है। अतः उनको सुखानुभति करानेवाले विपयो और पदार्थों मे आशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वही वक्ष्रयाण राग नामक क्लेश होता है।

**राग—**

सुख-भोग के पश्चात् उसके प्रति पुनः भोगने की जो अभिलापा रहती है, उसी को राग कहते है।[1]

सुख से परिचित व्यक्ति के मन मे सुख की बारम्बार स्मृति होती है और वह फिर सुख भोगना चाहता है। फलस्वरूप सुख के साधन स्त्री, पुत्रादि तथा ऐश्वर्य-भोगादि को प्राप्त करने के हेतु मन मे एक चाह, तृष्णा या लोभ उत्पन्न हो जाता है, वही राग नामक क्लेश है।

इस राग से ही द्वेष नामक क्लेश की उत्पति होती है। चित्त मे राग के सस्कार दृढ होने पर जिस किसी के द्वारा सुख-साधन प्राप्ति मे बाधा पडे उसके प्रति द्वेष भावना उदित होती है।

---

१. "सुखानुशयी राग।" (यो० सू० २/७)

द्वेष—

दुःख के अनुभव के पश्चात् दुःख की स्मृतिपूर्वक दुःख अथवा दुःख के साधनभूत शत्रु आदि से जो बदला लेने की इच्छा अथवा क्रोध उत्पन्न होता है, उसे द्वेष कहते हैं। इस प्रकार दुःख के पीछे दुःख के संस्कार से उत्पन्न आशययुक्त वृत्ति द्वेष है।[1]

द्वेष अर्थात् शरीर इन्द्रियादि का दुःख एवं हनन से बचाने के संस्कार ही अभिनिवेश क्लेश के उत्पादक है।

अभिनिवेश—-

अविद्वानों के समान विद्वानों के चित्त में भी स्वाभाविक रूप से सिद्ध (मरणत्रास रूप) क्लेश अभिनिवेश कहलाता है।[2]

जीवन के प्रति ममत्व प्राणिमात्र में देखा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति यह कामना करता है कि मैं जीवित रहूँ मेरा अभाव न हो। सर्वप्राणिगत इस मनोभाव से पूर्वजन्म में अनुभूत मरणत्रास की अनुमिति होती है। पूर्व अनुभव के बिना स्मृति असंभव है। मरण का अनुभव वर्त्तमान जन्म में हुआ नहीं है, फिर भी प्राणी उससे भयभीत होता है। भय का आधारभूत कोई भयकर अनुभव अवश्य होता है। जिसने पहिले कभी मृत्यु का अनुभव नहीं किया उसमें आत्म-अस्तित्व विषयक प्रार्थना का भाव नहीं हो सकता है। पूर्वानुभूत मरण दुःख भय के अनेक संस्कार ही कालान्तर में जीवन के प्रति इस ममत्व के रूप में परिणत हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में पूर्वजन्मानुभूत संचित संस्कारों से उत्पन्न यह अभिनिवेश क्लेश स्वाभाविक रूप से[3] क्रियाशील रहता है। साथ ही यह मूढातिमूढ को जिस प्रकार क्लेश देता है, उसी

---

१. "दुःखानुशयी द्वेषः।" (यो० सू० २/८)

२. "स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः।" (यो० सू० २/९)

३. अभिनिवेश स्वाभाविकरूप की भांति क्रियाशील अवश्य रहता है, किन्तु वस्तुतः स्वाभाविक है नहीं। बहुधा ऐसी शंका की जाती है कि मरणभय तो स्वाभाविक है, अतः इसमें पूर्व अनुभव की क्या आवश्यकता है? मरणभय किसी निमित्त से अर्थात् भयावह इत्यादि के उपस्थित होने पर ही व्यक्तभाव धारण करता है, सर्वदा नहीं। अतः वह अस्वाभाविक है। स्वाभाविक न होने के कारण इनका कोई न कोई निमित्त अवश्य होगा।

प्रकार श्रुतानुमानादि ज्ञान-सम्पन्न विद्वानो को भी क्लेश पहुँचाता है, क्योकि यह पूर्वजन्मो की वासना से जन्य है।

कहा जा सकता है कि वर्त्तमान जन्म मे भविष्य मे होने वाले मरणत्रास के अनुमान से ही अभिनिवेश क्लेश हो सकता है। अतः पूर्व जन्म मे अनुभूत मरणत्रास की कल्पना व्यर्थ है। इसका समाधान यह है कि यदि यह त्रास भावी मृत्यु की कल्पनाजन्य ही होता, तो इसे जन्मजात नही होना चाहिये था। सद्योजात शिशु, कीट-पतग आदि तक मे यह उच्छेद-स्वरूप मरण-भय की भावना पाई जाती है। बालक अत्यन्त प्रारंभिक अवस्था से ही स्वतः डरता है। इससे सिद्ध होता है कि उसके मन मे पूर्व कालीन मृत्यु की अनुभूति से जन्य सस्कार वर्तमान है, क्योकि उसने इस जन्म मे तो मृत्यु का अनुभव अभी किया नही है। दूसरे यदि यह भय भावी मृत्यु की कल्पना से जन्य हो तो शास्त्रोपदिष्ट —

**"य एनं वेत्ति हन्तार यश्चैन मन्यते हतम्।**
**उभौ तौ न विजानीतो नाय हन्ति न हन्यते।**
**नैन छिदन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावकः।**
**न चैन क्लेशयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥" (गीता २।१९-२३)**

इत्यादि ज्ञान-सम्पन्न विद्वानो (मननकारी मात्र, आत्मदर्शनकारी विद्वान नही) को नही होना चाहिये था। अतः इस प्रकार आत्मा को अजर-अमर जानने वाले शास्त्रज्ञ विद्वानो मे भी यह भय दृष्टिगोचर होता है। वे भी पूर्व अनुभूत भय के सस्कारो से विवश होकर भौतिक शरीर की रक्षा मे सलग्न रहते है।

यह अवश्य ही जानना चाहिये कि अभिनिवेश क्लेश के लक्षणस्वरूप "स्व-रसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः" इस सूत्रांतर्गत विदुस (विदुषः-षष्ठी का एकवचन) शब्द का अर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान है, सम्प्रज्ञात समाधिनिष्ठ योगी नही, क्योकि "आनन्द ब्रह्मणो विद्वान न बिभेति कदाचन" यह श्रुति (तै० उप० २/४/१) समाधिनिष्ठ योगी की निर्भीकता मे प्रमाण है। श्री वाचस्पति मिश्र भी "न सम्प्रज्ञावान विद्वान, अपितु श्रुतानुमित विवेकः" यह कह कर विद्वान पद से शास्त्रज्ञ विद्वान का ही अर्थ ग्रहण करते है, किन्तु विज्ञानभिक्षु विद्वान पद का सम्प्रज्ञात समाधिनिष्ठ विद्वान अर्थ करते हुए, उसे भी अज्ञानियो के समक्ष मरणात्रासयुक्त बतलाते है। भिक्षु जी का कथन श्रुति विरुद्ध तो है ही, साथ ही सूत्र के भी विरुद्ध है। क्योकि—"तज्ज' सस्कारोऽन्य सस्कार-प्रतिबन्धी" (१-५०) महर्षि पतजलि के इस कथन से सम्प्रज्ञात-

समाधिजन्य सस्कार, अन्य मिथ्या सस्कारो के विरोधी सिद्ध होते हैं। फिर सम्प्रज्ञात समाधि-साधना से विवेकाख्याति द्वारा क्लेश नष्ट होते है। अतः विद्वान पद का अर्थ सम्प्रज्ञात समाधिनिष्ठ विद्वान करना सूत्र के स्वारस्य को नष्ट करना है, जब कि वह अपना सरल स्वाभाविक अर्थ शास्त्रज्ञ के रूप मे स्पष्ठ ही दे रहा है। विवरणकार ने भी विद्वान पद से सम्प्रज्ञात समाधिनिष्ठ योगो का अर्थ न ग्रहण कर वाचस्पति सम्मत मत को मान्यता प्रदान की है। भास्वतीकार हरिहरानन्द आरण्य भी वाचस्पति जी के तथ्य को और अधिक स्पष्ट तथा पुष्ट करते हुए कहते है कि—"विदुषः आगमानुमान ज्ञानवतो न तु सम्प्रज्ञानवतः, आगमानुमानाभ्या येनपूर्वापरांतो विज्ञातस्तादृशस्य विदुषः अनादिः पुरुषः "पुराणस्त्वयम्भू पुरुष" इति "पूर्वान्त विज्ञानम्"। "वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि तथा देहान्तरप्राप्ति रित्येव पुरुषस्यामरत्व विज्ञानमेवापरात विज्ञानम्" अतः इस प्रकार जिसके द्वारा श्रुतानुमानादि से आत्मा का अमरत्व ज्ञात है, ऐसे शास्त्रज्ञ विद्वान को भी अभिनिवेश क्लेश होता है। किन्तु यह स्मर्तव्य है कि यह विद्वान केवल शब्दो का ज्ञाता अर्थात् कोरा शास्त्रज्ञ है, क्रियात्मकरूप से योग द्वारा अनुभव अथवा यथार्थ ज्ञान का साक्षात्कर्ता नही।

श्री राघवानन्द सरस्वती भी इसी प्रकार से—

"न त्वेवाह जातु नास न त्व नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥"

गीता (२।१२) के इस श्लोक को उद्धृत करके, इस प्रकार स्मृति आदि से जिसने आत्मा का अमरत्व जान लिया है, ऐसे शास्त्रज्ञ-मात्र विद्वान का अर्थ (विदुषः पद से) ग्रहण करते है।

"श्रुतानुमानाभ्यां ज्ञातससारकैवल्यतत्वस्य विदुषोऽपि मरणत्रासरूपोऽभिनिवेश इत्यर्थः" इत्यादि वचनो के द्वारा श्री नागोजी भट्ट ने भी वाचस्पति प्रभृति विद्वानो के अनुरूप विद्वान शब्द का शास्त्रज्ञ विद्वान अर्थ स्वीकार किया है।

शेष व्याख्याकारो मे से केवल भोज को छोड कर अन्य सभी व्याख्याकारो ने सामान्यतः विद्वान शब्द ही व्यवहृत करके उसका कोई अर्थ-विशेष स्पष्ट नही किया है।

श्री भोज के मत मे यह अभिनिवेश दुःख सामान्य कीट से लेकर ज्ञानसम्पन्न मानव तक को निमित्तभेद से होता है। "आकृमेब्रह्मपर्यन्तं" इत्यादि उनके कथन मे

ब्रह्म शब्द का तात्पर्य हिरण्यगर्भ ब्रह्म से है—ब्रह्मपर्यन्त=ब्रह्मापर्यन्त, ब्रह्मा=हिरण्यगर्भ।

साराश यह है कि समस्त क्लेश त्याज्य है, क्योकि वर्तमान (दृष्ट) अथवा भावी (अदृष्ट) जीवन मे भोग्य कर्माशय (कर्मसस्कार-समूह) की जड उक्त क्लेश ही होते है।[1] कारण यह है कि धर्म-अधर्मात्मक कर्माशय काम-क्रोधमोहादि-प्रसूत ही होता है। प्राणी पुण्य एव पाप कर्म करता है। राग से सुख के लिये पर प्रसाद यजन-पूजन इत्यादि पुण्य भी करता है तथा प्राणिपीडन आदि अपुण्य भी। इसी प्रकार द्वेष से भी दुःख-निवृत्ति के लिये पुण्य-पापमय दोनो ही प्रकार के कर्म होते है। सुख से सुखद विषय मे राग और सुख-विरोधी विषयो मे द्वेष उत्पन्न होता है। दुःख से दुःखद विषय मे द्वेष एव तद्विरोधी विषयो मे राग उत्पन्न होता है। सब के मूल मे अविद्या विद्यमान रहती है तथा प्रत्येक क्लेश एक दूसरे की उत्पत्ति मे सहायक है। यह पहले कहा जा चुका है। अतः इस प्रकार पुण्य एव पाप रूप प्रत्येक कर्म का वृत्याकार समाप्त होकर उसका सूक्ष्म सस्कार चित्त पर पडता रहता है। इस प्रकार प्रत्येक मनोवृत्ति द्वारा पडने वाले सस्कार ही वासना का रूप धारण कर लेते है। इन्ही कर्म-सस्कार-समूहो को कर्माशय कहते है। इस प्रकार कर्माशय का मूल कारण क्लेश ही है, जैसा की भाष्यकार की—"तत्रपुण्यापुण्यकर्माशयः काम-क्रोध लोभ मोहप्रभवः"—उक्ति से भी स्पष्ट है। यहाँ पूर्वोक्त अविद्यादि पच क्लेश ही काम-क्रोधादि नामो से अभिहित है। यथा मोह का अर्थ अविद्या, अस्मिता, काम का राग, क्रोध का द्वेष तथा लोभ का अर्थ अभिनिवेश है। अतः कर्माशय को 'कामक्रोधादिप्रभव"

---

१. "क्लेशमूल कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय" (यो० सू० २/१२)

कर्माशय—कर्म सस्कार समूह। चित्त मे कोई वृत्ति आने पर उसकी स्थूल क्रिया कुछ काल बाद समाप्त हो जाती है। पर उसकी सूक्ष्म छाप चित्त पर पड जाती है। यही सस्कार है। सस्कार सबीज-निर्बीज द्विविध होते है। क्लिष्ट वृत्ति-जन्य अज्ञानमूलक सस्कार तथा अक्लिष्ट वृत्ति जन्य प्रज्ञामूलक सस्कार के भेद से सबीज सस्कार भी दो प्रकार के होते है। क्लेशमूलक सबीज सस्कारो की समष्टि का नाम कर्माशय है। इसी कर्माशय का जाति, आयु और भोगरूप मे विपाक होता है।

कर्म—विपाक होने पर उसके अनुभवमूलक सस्कार का नाम वासना है। वासना का जाति-आयु-भोगरूप विपाक नही होती है, किन्तु कर्मो के विपाक हेतु विपाकोचित वासना रहना आवश्यक है।

कहने से अविद्या अस्मितादि पचक्लेशप्रभव समझना चाहिये। यह भी अवगन्तव्य है कि इच्छा-स्वरूप काम तथा लोभ तथा लोभ से काम्य-कर्मों मे प्रवृत्ति होने पर स्वर्गादि सुख-जनक धर्म उत्पन्न होता है और काम एव लोभ से ही परद्रव्यापहरण आदि अशुभ कर्मों से नरकादि दुःखोत्पादक अधर्म उत्पन्न होता है। अधर्म मे धर्म बुद्धि ही मोह है। अतः मोहवश यज्ञ-यागादि मे अधर्म रूप हिसादि मे धर्म बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होने पर अधर्म उत्पन्न होता है। क्रोध-वश परपीडन एव ब्रह्म-वध आदि अधर्म कर्म होते है। कभी-कभी क्रोधवश धर्माचरण भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे बिमाता के अपमान-जन्य क्रोध के कारण ध्रुव ने तप-अनुष्ठान से प्रकृष्ट धर्म प्राप्त किया था। तात्पर्य यह है कि क्लेश ही इस सम्पूर्ण अनर्थ परम्परा का मूल कारण है।

कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय के भेद से दो प्रकार का होता है। तीव्रसवेगपूर्वक किये हुए अनुष्ठान से मत्र, तप समाधि आदि से सम्पादित अथवा ईश्वर, देवता एवं ऋषियो को अर्चा पूजा से निष्पन्न, पुण्य रूप कर्माशय शीघ्र ही फल देता है। इसी प्रकार दारुण अविद्या के कारण भयभीत, व्याधिग्रस्त दीन, शरणागत अथवा तपस्वी महात्माओ के प्रति किये गए अपकार से निष्पन्न पापरूप कर्माशय भी शीघ्र ही परिपाक को प्राप्त होता है। साराश यह है कि अत्युत्कट पुण्य या पाप कर्म, सस्कारो के विशेष प्रबल होने से शीघ्र ही इसी जीवन मे अपना फल प्रदान करते है। मनुष्य इसी जीवन मे अत्यन्त प्रबल शुभ सस्कार उपार्जित करके अपने शरीर को देवशरीर मे परिणत कर सकता है। जैसे कि बालक नन्दीश्वर ने एक ही जन्म मे मनुष्य शरीर को त्यागकर देव शरीर को प्राप्त किया था। इसी प्रकार देवेन्द्र नहुष ने उग्र पाप-कर्मवश देव-शरीर से सर्प-शरीर को प्राप्त किया था।[1] ये दोनो ही दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के उदाहरण है।

नारकीय प्राणियो का कर्माशय सदैव अदृष्टजन्मवेदनीय ही होता है, क्योकि नरक मे भोगने योग्य पीडा इस जीवनकाल मे नही भोगी जा सकती है। पर इस विषय मे मतभेद है।

भाष्यकार व्यास का मत है कि नारकीय व्यक्तियो का दृष्टजन्मवेदनीय

---

१. नन्दीश्वर की कथा के हेतु द्रष्टव्य शिवपुराण—सनत्कुमारसहिता का ४५ वा अध्याय। राजा नहुष की कथा का वर्णन महाभारत, अनुशासन पर्व, (१३/१०० अ०)। उद्योगपर्व, (अ० १५/१७) मे द्रष्टव्य है।

कर्माशय नही होता है, क्योकि सहस्त्रो वर्षो तक भोगने योग्य कुत्सित कर्मो का फल शतवर्षावधि मे नही भोगा जा सकता है तथा प्रसख्यान-अग्नि मे कर्माशयो को दग्ध किये हुए योगियो व ज्ञानियो का अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नही हो सकता है, किन्तु श्री विज्ञानभिक्षु ने —"तत्र नारकाणा नास्ति दृष्ट जन्मवेदनीयः कर्माशयः"—इस पक्ति से नारकाणा पद का अर्थ "नरक के निवासियो" के अर्थ से ग्रहण करके कहा है कि साधन सामग्री के अभाव मे कर्मानुष्ठान न हो सकने के कारण नारकीय प्राणियो का दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नही होता है। साथ ही स्वर्गीय प्राणियो को कर्मोपयोगी मानव शरीर न प्राप्त होने पर भी वे लीला विग्रह धारण करके प्रयाग आदि तीर्थो मे स्नानादि कर्मानुष्ठान से, उनका कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय हो सकता है। अतः श्री भिक्षु जी के अनुसार भाष्यकार ने केवल नारकीयो के लिये ही दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का निषेध किया है। सूत्रकार एव भाष्यकार दोनो ने स्वर्ग और नरक के कारण-भूत पुण्य-पापरूप कर्माशयो को ही क्लेशमूलक एव दृष्टअदृष्टजन्मवेदनीय प्रतिपादित किया है। देवादि के सामान्य कर्माशयो को नही और इसीलिये भाष्यकार ने मानवतन-धारी नन्दीश्वर तथा नहुष को ही दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयवालो मे उदाहृत किया है, देवतातनधारी इन्द्रादि को नही। नरकवासियो मे साधना भाव से जब कर्म ही नही होते तब उनके कर्माशयो मे दृष्टजन्मवेदनीयता का निषेध करना भाष्य-कार का असगत हो जाएगा, साथ ही क्षीण-क्लेश ज्ञानियो व योगियो की भाति नारको का भी जो नरक प्राप्ति के हेतुभूत, इस जगत मे जो किया हुआ कर्म है, वही ग्राह्य है।

प्रसख्यान-प्राप्त योगियो के क्लेश एव सस्कार विवेकाग्नि से दग्ध हो चुकते है। अतः क्लेशमूल नष्ट हो जाने से पुनः क्लेशाकुरप्ररोह का एव तज्जन्य कर्माशय की उत्पत्ति का प्रश्न ही नही रहता है। जब कर्माशय ही न रहेगा तो भावी जन्म मे भोग कैसे हो सकता है ? क्योकि क्लेशमूल विद्यमान रहने पर ही उसका जाति, आयु एव भोग के रूप मे विपाक होता है।[१]

यहॉ जाति का अर्थ है—जन्म, अथवा देव, मनुष्य, पशु, पक्षी एव कीट पतगादि योनियॉ। आयु शब्द जीवनकाल को निर्धारित करता है अर्थात् प्रारब्धा-नुसार जिस निश्चित अवधि-पर्यन्त पिण्डप्राण सम्बन्ध रहता है उसे आयु कहते है। इन्द्रियादि से सुख-दुःखादि का साक्षात् अनुभव करना भोग है।

---

१ "सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा।" (यो० सू०, २/१३)

पूर्वोक्त क्लेश-मूल के विद्यमान रहने पर ही कर्माशयरूप वृक्ष पुष्ट होकर जाति, आयु एव भोग के रूप मे फलोत्पत्ति करने मे समर्थ होता है। विवेकख्याति द्वारा क्लेशमूल उच्छिन्न हो जाने पर वह नवीन फल-पल्लवादि उत्पन्न करने मे असमर्थ हो जाता है। जिस प्रकार किसी हरे-भरे फल-फूलो से लदे वृक्ष को जड से खोद डालने पर वह पुनः बढ कर पल्लवित नही हो सकता, वरन् धीरे-धीरे उसके हरे-भरे पत्ते, फल-फूल सब स्वतः धूप-वात मे सूख कर नष्ट हो जाते है। उसी प्रकार क्लेशमूल का विवेकख्याति द्वारा उच्छेद हो जाने पर वह पुनः नवीन कर्माशय एव कर्मविपाक उत्पन्न नही कर सकता है और पूर्व कर्मो से प्राप्त जाति, आयु और भोगो का भी धीरे-धीरे अभ्यास एव वैराग्य से क्षय हो जाता है, अथवा जिस प्रकार तुष (भूसी) से सम्बद्ध अदग्ध बीज-भाव को प्राप्त धान के चावल अकुरोत्पति मे समर्थ होते है तुषरहित (भूसी से अलग कूटे हुए) दग्ध बीज भाव को प्राप्त चावल नही, इसी प्रकार अविद्यादि क्लेश-सयुक्त धर्मा-धर्म रूप कर्माशय जात्यादि रूप अकुर उत्पन्न कर सकते है, क्लेशरहित प्रसख्याग्नि से दग्ध बीज भाव को प्राप्त कर्माशय विपाकप्ररोही नही होते है। अतः रागद्वेषादि क्लेश वर्तमान रहने पर ही उनके सस्कारो से कर्माशय और कर्माशय के विपाक से फिर जाति, आयु, भोग से क्लेश उत्पन्न होते है, क्योकि कारण के वर्तमान रहने पर ही वह व्यक्तभाव का आश्रय ग्रहण करके फल देता है या कार्यरूप मे परिणत होता है। कार्य सूक्ष्मभाव धारण करके पुनः नवीन कार्य का कारण बनता है। वृक्ष से बीज, बीज से वृक्ष, इसी तरह क्लेशो से कर्माशय, कर्माशय से क्लेश उत्पन्न होते हैं। अतः जब क्लेश नष्ट हो जायेगे तो उनके कर्म सस्कार कहाँ से रहेगे। अतः पहले क्लेश नष्ट करने चाहिए क्योकि वे स्थूल है। प्रथम स्थूल मल को हटाने पर ही सूक्ष्म मल की निवृत्ति की जा सकती है।[1]

कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय होते है, जिनका

---

१ "यथा वस्त्रादेर्विविधो मल स्वल्पास्वल्पप्रयत्नाभ्या नाश्यते तथात्र ध्याननाश्या स्थूलमल-स्थानीया वृत्तय, सूक्ष्मास्तु प्रतिप्रसवनाश्या।" (पातञ्जल रहस्य २/११)

तथा

"यथा वस्त्राणामिति, निर्धूयते वाताहत्या निराक्रियते, यत्नेन, पाषाणे प्रहारादिना, उपायेन क्षारसयोगादिना, अत्रेद दृष्टान्ते साधनत्रय दार्ष्टान्तिकेऽपि साधनत्रित्वाभिप्रायेणोक्त, स्वल्पेति। स्वल्प क्रियायोग प्रतिपक्षस्तनुताहेतुर्यासा स्थूलामतनूकृताना तास्तथा महानतिदुष्कर प्रसख्यानाग्निरसम्प्रज्ञातयोगसाध्यचित्तनाशश्च प्रतिपक्षौ दाहकनाशकौ यासामिति महाप्रतिपक्षा—इत्यर्थ।" (योगवार्त्तिक २/११)

पहले प्रतिपादन किया जा चुका है। इस विभाग के अतिरिक्त कर्माशय नियतविपाक एवं अनियत-विपाक के अनुसार भी दो प्रकार के होते है। नियत-विपाक का अर्थ है—निश्चितरूप से फल देने वाला कर्माशय, तथा अनियतविपाक का अर्थ है, अनिश्चित रूप से फल देने वाला कर्माशय, क्योकि दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय तो निश्चितरूप से इसी जन्म मे फल देगा, अन्यथा उसकी दृष्टजन्मवेदनीयता ही नही सिद्ध होगी। अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नियतविपाक और अनियतविपाक दोनो प्रकार का हो सकता है।

यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि प्रत्येक कर्माशय का फल जाति, आयु और भोग नही होता। प्रत्येक जन्म मे चूँकि अनेक विचित्र प्रकार के कर्मो का सस्कार होता है, अतः कर्माशय दुर्विज्ञेय विचित्र और अनेक प्रकार के फल देने वाला होता है। किसी एक जाति मे एक निश्चित प्रकार के देह के साथ जीवात्मा सम्बन्धरूप फल किसी एक ही कर्माशय का होता है। इस प्रकार पूर्व सचित कर्मों मे से एक जन्म द्वारा क्षय मुख्यतः किसी एक ही कर्माशय का होगा। इस प्रकार अवशिष्टकर्मो की फल प्राप्ति कर अवकाश ही न मिल सकेगा। अतः फलक्रम का निश्चय न हो सकने के कारण लोगो को कर्मानुष्ठान मे अप्रवृत्ति होगी यहाँ पर कर्माशय का तात्पर्य वह कर्म सस्कार समूह है, जो फलोत्पत्ति करता है।

यहाँ पर भाष्यकार व्यास ने विचारपूर्वक यह भी प्रतिपादित किया है कि एक कर्म अनेक जन्मो का कारण भी नही हो सकता है, क्योकि जब एक कर्म से एक जन्म मानने मे भी कर्मफल को अवकाश नही रहता है तो, एक कर्म से अनेक जन्म मानने मे तो और भी अवकाशाभाव एव फल प्राप्ति विषयक अनाश्वास प्राप्त होगा।

अनेक कर्म एक साथ अनेक जन्म के कारण भी नही हो सकते है, क्योकि कोई भी व्यक्ति एक समय मे अनेक जन्म या देह धारण नही कर सकता। एक समय मे एक पुरुष एक ही देह धारण करता है, अनेक नही।

सारांश यह है कि प्रत्येक कर्म का अलग-अलग जाति, आयु एव भोगरूप मे विपाक नही होता है। अनेक कर्म मिलकर किसी एक जन्म का सपादन करते है तथा उनसे निश्चित् भोग के उपयुक्त अवधिपर्यन्त आयु निर्धारित करते है। यही अनुभवगम्य भी है, क्योकि एक जन्म मे अनेक प्रकार के कर्मा के फलस्वरूप विविध प्रकार के भोग भी होते है। जो कम मिल कर किसी एक जन्म का सम्पादन करते है, उन कर्मो से वही जन्म तदुपयुक्त आयु पाता है तथा इस आयुःकाल मे उन्ही से

सुख-दुःख रूप भोग प्राप्त होते है। इस प्रकार यह कर्माशय त्रिविपाक कहलाता है। आगामी जन्म के कारणभूत कर्म प्राय उससे निकट पूर्ववर्ती एक ही जन्म मे संचित होते है। जैसे वर्तमान जीवनकाल मे हम जितने भी चित्र-विचित्र कर्म करते है, उन्ही के संस्कार मिल कर, इससे बाद मे होने वाले जन्म के कारणभूत होगे। इसे एकभविकवाद भी कहते है। अतः कर्माशय एकभविक होता है। अर्थात एक ही भव मे या जन्म मे निष्पन्न होता है। यह सामान्य नियम है। जैसा कि भाष्यकार व्यास ने भी कहा है—

"तस्माज्जन्मप्रयाणान्तरेकृत पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्र प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रयाणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मरण प्रसाध्य समूर्छित एकमेव जन्म करोति। . . . अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति"। (२/१३) अर्थात् जन्म से लेकर मरणपर्यन्त किया हुआ विचित्र (विविध सुखदुःखादिफलो से विलक्षण) धर्माधर्मरूप कर्माशय प्रधान (शीघ्र फलप्रद) और गौण (विलम्ब से फलप्रद) भाव से स्थित कर्माशय मृत्युकाल मे अभिव्यक्त होकर एक ही समय मे परस्पर सम्मिलित रूप से मरणसाधनपूर्वक एक ही जन्म का आरंभ करते है। अतः कर्माशय एकभविक (एक भव=जन्म मे जात) ही कहलाता है। इस एकभविकत्ववाद के कतिपय अपवाद भी है, किन्तु मुख्यरूप से एकभविकवाद ही सर्वत्र व्याप्त है।

यह एकभविक कर्माशय सामान्य और विशेष दो प्रकार का होता है, जिन्हे दृष्ट तथा अदृष्टजन्मवेदनीय कहा जाता है। अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय त्रिविपाक (जाति, आयु एव भोग हेतु) होने से सामान्य तथा दृष्टजन्मवेदनीय विशेष कहलाता है। पहिले कहा जा चुका है कि प्रत्येक कर्माशय जाति, आयु और भोग रूप त्रिविपाकारम्भी ही नही होता है। दृष्ट-जन्म वेदनीय कही केवल भोग एव कही आयु एव भोग दोनो का हेतु होता है, जहाँ यह राजा नहुष की भाँति केवल भोग का हेतु होता है, वहाँ एक विपाकारम्भी तथा नन्दीश्वर की भाँति आयु एव भोग दोनो का हेतु होने से द्विविपाकारम्भी होता है। दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय सदैव नियतविपाक एव एकभविक ही होता है। अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयो मे से जिस कर्माशय से आगामी जन्म का सम्पादन होता है, वही नियतविपाक एव एकभविक होता है, शेष नही। अतः अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय एकभविकत्ववाद का अपवाद है, क्योकि अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय की तीन गतियाँ होती है—

१. प्रथम है किये हुए अविपक्व कर्मो का ( प्रायश्चितादिक द्वारा ) बिना फल दिये ही नष्ट हो जाना।

२. द्वितीय है, किसी प्रधान कर्माशय के साथ मिल कर परतन्त्रभाव से फल देना ।

३. तृतीय है, नियतविपाक प्रधान कर्माशय-द्वारा तिरस्कृत होकर दीर्घ-काल तक सुप्त पडे रहना ।

इनमे से अविपक्व कर्मो के नाश का उदाहरण है—धर्माचरण करने से अधर्म या पाप का नष्ट होना । जैसे किसी ने हत्या-कर्म किया, किन्तु उसका फल मिलने से पूर्व ही प्रायश्चित कर लेने से इस क्रियाका फलरूप दुःख उसे नही मिलता है । इसी प्रकार अधर्म से धर्म नष्ट होता है, अथवा शुक्ल कर्मों से पाप-पुण्य दोनो का नाश होता है। योग-साधना से विवेकख्याति उत्पन्न होने पर पाप-पुण्य रूप दोनो ही प्रकार के कर्माशय नष्ट हो जाते है। यही अविपक्व कर्मो का नाश है ।

"द्वे द्वे हवै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशि पुण्यकृतोऽपहन्ति ।
तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्त्तुमिहैव ते कर्मकवयो वेदितव्ये" ॥[1]

दूसरा है नियत-विपाक, प्रधान कर्माशय के साथ समय-समय पर अपने अनुकूल अवसर पाकर सहकारी रूप से फल देना। इस प्रकार प्रधान कर्माशय के साथ मिलकर फल क्षीणभाव से व्यक्त होता है। जैसे यज्ञ के पुण्यरूप प्रधान कर्माशय के साथ उसमे की गई पशु-आलम्भन रूप हिसा का फल क्षीणभाव से व्यक्त होता है और अधिक कष्टप्रद नहीं होता है। जैसा कि जात्यायुर्भोग के प्रसग मे, पचशिख की "स्यात्स्वल्पः सकरः सपरिहारः सप्रत्यवभर्पः कुशलस्यनाप कर्षायालम्"-इस उक्ति को उद्धृत करके भाष्यकार व्यास ने कहा है।

जो कर्म तीव्र क्षमा, दया, क्रोध, लोभादि पूर्वक किया जाता है, अथवा बारम्बार किया जाता है, उसका फल नियमितरूप से शीघ्र ही प्राप्त होता है। इस प्रकार का कर्माशय ही प्रधान कर्माशय या नियतविपाक कर्माशय कहलाता है। ऐसा कर्माशय सदैव विपाक-हेतु उन्मुख रहता है। इसके ठीक विपरीत कर्माशय अप्रधान (=उपसर्जन) कहलाता है। भावी जन्म प्रधान और अप्रधान कर्माशयो की समष्टि होती है। अप्रधान कर्माशय का फल सम्यक्रूप से नही फलित होता है। जब कभी उसके अनुकूल वृत्तियाँ व कर्म उपस्थित होते है, तब वह प्रधान कर्माशय के सहकारी के रूप मे विपक्व होता है। अतः इह जन्म मे आचरित सम्पूर्ण कर्मो का

---

१ व्या० भा०, २/१३ मे उद्धृत ।

फल इसी के बाद के जन्म मे मिल जाएगा–ऐसा एकभविकत्व नियम अप्रधान कर्माशय के लिये पूर्णतः लागू नही होता है।

अनियत-विपाक कर्माशय की तृतीय गति है—दीर्घकाल तक प्रधान कर्माशय द्वारा अभिभूत होकर सुप्त पडे रहना तथा जन्म-जन्मान्तरो मे कभी अपने अनुरूप कर्मो की अभिव्यक्ति होने पर प्रतिफलित होना। अत्यन्त प्रबल पुण्यकर्मो के सतत-भोग से पाप कर्मो को फलप्रसव का अवकाश नही मिलता है, अथवा अत्यन्त उग्र पापाचरण के नैरन्तर्य से पुण्य-कर्माशय विपक्व नही हो पाता है–ऐसी अवस्था मे पाप के प्राबल्यकाल मे पुण्यकर्माशय पाप से तिरस्कृत होकर सुप्त पडा रहता है और पुण्य की प्रबल अवस्था मे उससे पाप-कर्माशय अभिभूत रहने से बीजरूप मे चिरकाल पर्यन्त अवस्थित रहता है। यहॉ पर ज्योतिष्टोमादि की अगभूत हिसा की भॉति प्रधान एव गौण कर्माशय अग-अगी नही हैं, अपितु जिसे फल देने का अवसर मिल गया है, वह प्रधान तथा जिसे फल-प्रसव का अवकाश नही प्राप्त हुआ है, वह अप्रधान कर्माशय है। इस अवस्था मे एकभाविकत्व नियम समयक् घटित नही होता है। अतः कर्म की गति अत्यन्त विचित्र है। भगवान् कृष्ण भी गीता मे कहते है—"गहना कर्मणो गतिः।" (४/१७)

यहॉ पर यह भी ज्ञातव्य है कि अवस्थाभेद से कर्म तीन प्रकार के होते है- सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

अनन्त जन्मो मे सम्पादित कर्मो मे से जिन्हे भोगने का अब तक अवसर न मिल सकने से जो सस्काररूप से कर्माशय मे स्थित है, वे सचित कर्म कहलाते है।

कर्माशय मे स्थित असख्य कर्मों मे से जिन कर्मो-द्वारा यह जन्म प्राप्त होकर इसमे भोग्य आयु एव भोग नियत हो चुके है, उन्हे प्रारब्ध कर्म कहते है।

वर्त्तमान जीवनकाल मे नवीन–नवीन इच्छाओ से जिन नवीन कर्मो की उत्पत्ति एव सग्रह हो रहा है, उन्हे क्रियमाण कहते है।

सचित कर्म सस्कार ही उपसर्जन (अप्रधान) कर्माशय या अनियतविपाक कर्माशय है। प्रारब्ध कर्म-सस्कार समूह ही प्रधान कर्माशय या नियतविपाक कर्माशय कहलाते है। क्रियमाण कर्मो के सस्कार कुछ तो प्रारब्ध कर्मो के साथ मिलकर इसी जीवन मे फलप्रसव करने लगते है, यही दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय कहलाते है। कुछ सचित कर्मो के उपसर्जन कर्माशय मे मिल जाते है और जन्मान्तरो मे फलोत्पत्ति करते है। इन कतिपय अपवादो के वर्तमान रहने पर भी एकभविकत्व नियम ही

उत्सर्ग है, क्योकि अपवाद (विशेष विधि) से उत्सग (सामान्य विधि) की निवृत्ति नही हो सकती। अतः एकभविकत्व नियम ही मुख्य है, यही प्रधान नियम है।[1]

इन कर्माशयो मे से नियतविपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के अनुसार ही मरण होता है। उसी के अनुसार भावी जन्म की अभिव्यक्ति भी होती है। मरणकाल मे मनुष्य की जिस प्रकार की मनोवृत्ति होती है और जिस प्रकार के कर्मसस्कार प्रधान रूप से जागृत होते है, उन्ही के अनुसार अगले जन्म एव योनि की प्राप्ति होती

---

१. "न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरित्येकभविक कर्माशयोऽनुज्ञायत इति" (व्या० भा०, २/१३)
तुलनीय Exception proves the law
मानवयोनि से पशु, पक्षी, कीट-पतगादि अधम योनियो की प्राप्ति विकासवाद (Evolution Theory) के विरुद्ध है। साथ ही इसे मानने से ईश्वर की सर्वशक्तिमता क्षमा, करुणा एव कल्याणकारिता मे भी सन्देह होता है। मानव जीवन की प्राप्ति आत्मकल्याण के निमित्त होती है—जैसा कि कहा गया है—

"आत्मान रथिन विद्धिशरीर रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथी विद्धि मन प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषू गोचरान्।
अत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण॥" (कठ० उप० १/३/३४)

अत यदि मानव जीवन पाकर मनुष्य आत्मकल्याण-रत न हो तो उसकी आत्मशुद्धि और स्वच्छ विकास के लिये अवर योनि की प्राप्ति ही श्रेयस्कर है। प्रथम तो सामान्यतौर पर मनुष्यो का पुनर्जन्म मनुष्य अथवा उससे ऊची योनियो मे ही होता है। पशु-पक्षी, सरीसृप आदि निकृष्ट योनियो मे किन्ही अवस्था-विशेष मे ही मनुष्य का जन्म होता है। वह भी उसके लिये कल्याणप्रद ही होता है, क्योकि ये सब केवल भोग-योनियाँ है और इनमे जन्म लेकर उसके पाप कर्माशय क्षीण होते है। नवीन कर्माशय की सृष्टि नही होती है, जिसका फल उन्हे पुन भोगना पडे, अत ईश्वर की कल्याणकारिता मे कोई शका नही।

वस्तुत प्रवृत्तियाँ एव निवृत्तियाँ असख्य है। जब ये हिसा, विषयलिप्सा, मक्कारी, असत्य, अपवित्रता, तस्करता, देशद्रोह एव अधर्म आदि से सकुल होती है, तो मनुष्य को मनुष्यत्व से पतित कर देती है। ये वृत्तियाँ विविध दोषो—काम, क्रोध, मोह, लोभ, भय इत्यादि के न्यूनाधिक्यानुसार गुणस्त्रय के परिणामभेद से उतने ही प्रकार की है, जितने प्रकार की भेदोपभेदसहिता पशु, पक्षी, कीट, पतग, सरीसृप, जलचर आदि

—आगामी पृष्ठ पर

है। यदि उस समय उसकी वृत्तियाँ पशुतुल्य है तो अगले जन्म मे उसे पशु योनि ही मिलती है और उसी पशूचित्त वासना के अनुसार जाति, आयु एव भोग होता है। श्रीमद्भगवद्गीता एव उपनिषदो मे भी ऐसा ही बतलाया गया है—

य य वापि स्मरन्भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
त तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।', (गीता ८।६)

तथा

(गत पृष्ठ का शेषाश)

समस्त योनियाँ है। जब मनुष्य मे अवर प्राणियो के समान वृत्तियाँ उदित होती है, तो तद्-तत् विशिष्ट वृत्तिकाल मे तद्-तत् विशिष्ट स्वभावयुक्त पशु-पक्षी आदि के स्वभाव मे कोई अन्तर नही रहता है। इस प्रकार की मनोवृत्तियुक्त मानव उस-उस वृत्तिकाल मे स्थूल शरीर से मानव रहने पर भी सूक्ष्म शरीर से तद्-तत् विशिष्ट योनि के स्वभाव वाला ही बनता जाता है। इसे हम उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझ सकते है— हिसा, मास-भक्षण इत्यादि स्वभाव मानवता के विरुद्ध धर्म है, किन्तु निरन्तर हिसको के ससर्ग से मनुष्य पर इसके अमिट सस्कार पडते रहते है ओर तदनुकूल ही उसका आचरण भी होता है। कर्मो से सस्कार और सस्कारो से कर्म होते है। अत परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्ति का स्वभाव एक दिन पूर्णत क्रूर एव हिसक बन जायगा। अन्ततोगत्वा एक दिन उसका सूक्ष्म शरीर हिसावृत्ति प्रधान पशुविशेषतुल्य ही हो जाता है। उस पशु जैसी हिसा के अतिरिक्त वृत्तियाँ भी उसके सूक्ष्म शरीर मे निविष्ट हो जाती है। इस प्रकार के निर्दयी हिसक व्यक्ति के मुख पर क्रूरता एव रक्त-पिपासा के भाव स्पष्ट झलकने लगते है, अर्थात् उसके सूक्ष्म शरीर का प्रभाव स्थूल शरीर पर भी प्रतीत होने लगता है। ऐसा मनुष्य प्रत्येक स्थान मे हिसा, मास-भक्षण आदि के साधन एव सामग्री की खोज मे सलग्न रहेगा। शरीरान्त के समय उसके ये ही हिसा सम्बन्धी कर्माशय जाग्रत होगे तथा उसकी वैसी ही हिसक प्रवृत्ति के अनुसार किसी हिसक योनि मे अगले जन्म मे उत्पत्ति होगी। जैसा कि गीता ८/६ के "यय वापिस्मरन्भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम्। त तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित ॥" आदि वाक्यो मे कथित है। इस प्रकार जिस किसी स्थान मे ऐसी हिसक योनि मे गर्भ तैयार होगा, जहाँ इस प्रकार की वासनाओ की पूर्ति के सम्पूर्ण साधन उपलब्ध होगे, वही यह प्रविष्ट होगा। क्योकि प्रकृति के नियम से ही स्वभाव अपने समान स्वभाव की ओर कर्षित होता है। जिस प्रकार अयस्कान्त मणि लौह को अपनी ओर आकृष्ट करता है, उसी प्रकार प्रत्येक गर्भ भी

—आगामी पृष्ठ पर

**"कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र-तत्र।**
**पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥"**

( मुण्डक ३/२/२ )

अभी यह बतलाया गया है कि अगले जन्म मे यदि किसी मनुष्य को पशुयोनि प्राप्त होती है तो उसकी पशुचित वासना के अनुकूल ही जाति, आयु एव भोग होता है, किन्तु जब इससे पूर्व वह व्यक्ति पशु नही था तो पशुयोग्य वासना कहाँ से आई ?

---

(गत पृष्ठ का शेषाश)

स्वअनुकूल स्वभावयुक्त सूक्ष्म शरीरो को आकृष्ट करता हे, इमसे ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्व-नियन्त्रिता एव व्यवस्था का ज्ञान होता हे कि प्रत्येक जीव के लिये शरीर-त्याग से पूर्व ही तदनुकूल गर्भ प्रस्तुत रहता हे।

ईश्वर अत्यन्त दयालु हे, अत उसकी प्रेरणा से माम, रक्त आदि को दख कर मनुष्य को स्वत ग्लानि होती है, पर-पीडन आदि मे हिचकिचाहट होती है, हृदय कॉप जाता हे, किन्तु हिसा से आवृत हृदय उसकी प्रेरणा की अवहेलना कर देता है। इतने पर भी ईश्वर मनुष्य का कल्याण करता हे। इसी मे वह उसे निम्न योनियो मे उसकी मल-निवृत्ति हेतु प्रेपित करता हैं। पहले बतलाया जा चुका हे कि मनुष्य से निम्न स्तरीय योनियाँ केवल भोग योनियाँ हे। इनमे कर्माशय सचित नही होते है। यदि उक्त हिसक व्यक्ति का मानव योनि मे ही पुनर्जन्म हो, तो प्रारब्धवश वह हिसा कर्म मे ही रत रहेगा और पुन उसी प्रकार के सस्कार और सस्कारो से फिर वैसे ही कर्मो की पुनरावृत्ति होते रहने से, वह आत्मकल्याण से वचित रहेगा। मनुष्य शरीर शस्त्र की भाँति है, इससे कुकर्मो-द्वारा अपना अपघात भी किया जा सकता हे और दुष्कर्मो से रक्षा (आत्मकल्याण) भी। यदि कोई आत्म-रक्षा के लिये दिये गए शस्त्र से सुरापान की उन्मत्तावस्था मे स्वय अपना ही हनन करने लगे, तो उस अवस्था मे उससे शस्त्र छीन लेने मे ही कल्याण है। अत जब तक यह हिसारूप मद दूर न हो, तब तक के लिये ईश्वर मानव शरीररूपी शस्त्र जीव से छीन लेते हे। जब अवर योनियो मे इस हिसा मल की निवृत्ति हो जाती है तब निर्मल चित्त होकर उसे पुन मानव शरीर की प्राप्ति होती है, जिससे वह आत्मोन्नति कर सके।

अथवा जिस प्रकार अबोध शिशु अपने शरीर को विष्ठा मे सान लेता है, तो हितैषिणी जननी उसे जल से स्वच्छ करती है, उसी प्रकार

—आगामी पृष्ठ पर

क्योकि वासना और कर्माशय दोनो भी तो सस्कारो की समष्टि ही है, किन्तु इसका उत्तर यह है कि कर्माशय एकभविक हाते है। वासना के लिये एकभविकत्व नियम नही है। वासना तो अनेक भव-पूर्विका होती हे। यदि वासना भी एकभविक ही होती तो मनुष्य के वाद पशु योनि प्राप्त होने पर पशु-योग्य भोग न सम्भव होता, क्योकि तदनुकूल वासना नही है और वासना के बिना भोग नही हाता है। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिये कि कर्माशय तो कर्म-सस्कार समूह मात्र होता है, किन्तु वासना क्लेश, कर्म तथा कर्माशय के विपाक के अनुभव-जन्य होती है। वस्तुतः प्राणी जिस-जिस योनि मे जब-जब जाता है, तो उन सब मे भुक्त क्लेश, कर्म और विपाक के अनुभव से जो सस्कार चित्त पर पडते है और जो पुनः उस योनि मे जाने पर उसके अनुकूल स्मृति को उत्पन्न करके तदुचित भोग सम्पन्न कराते है, उन्हे वासना कहते है। इस प्रकार मनुष्य शरीर के पश्चात् जब पुनः पशुशरीर की प्राप्ति होती है, तो उससे पहले जिन किन्ही जन्मो मे उसने पशु-शरीर से भोग का अनुभव किया था, उसी के सस्कार एव स्मृति (वासना) से वर्तमान पशु-शरीर मे पशु-उचित भोग सपन्न होता है। अतः वासनाएँ अनादिकालीन तथा अनेकभवपूर्विका होती है।

किन्तु यह समस्त अनर्थ-परम्पराक्लेशमूल के वर्तमान रहने पर ही क्रियाशील रहती है। विवेकख्याति-द्वारा क्लेशो के दग्ध हो जाने पर कर्माशयो से नवीन जाति, आयु एव भोग की प्राप्ति नही होती।

उक्त जाति, आयु एव भोग पुण्य एव अपुण्य हेतुक होने से सुख-दुःखरूप फलप्रदान करते है,[1] जिनसे राग-द्वेष उत्पन्न होते है। यद्यपि विषयी पुरुष भोगकाल मे अभिलषित विषयो मे ही सुख की प्रतीत करते है, किन्तु योगी के लिये

१ "ते ह्लादपरितापफला पुण्यापुण्य हेतुत्वात्।" (यो० सू० २/१४)

(गत पृष्ठ का शेषाश)

प्रकृति माता अपनी अबोध सन्तानो को निम्न योनियो मे ले जाकर हितकर नियमो से प्रक्षालित करती है। फिर प्राणी अपनी उचित अथवा अनुचित इच्छाओ की पूर्त्ति मे ही सुख मानता है। अत सर्वज्ञ ईश्वर इस प्रकार उसकी मनोवृत्तियो के अनुसार इच्छा पूर्त्ति भी कर देता है और आत्मोन्नति के मार्ग को भी स्वच्छ कर देता है। साथ ही उसके शुभ-अशुभ कर्मो के अनुसार उसे न्यायपूर्वक दडादि का विधान भी हो जाता है। इसी भाँति सब वृत्तियो के विषय मे अवगन्तव्य है।

वे भी दुःखद ही है, क्योकि भविष्य मे उनके लिये क्लेश होगा। अतः विवेकी पुरुष सुखप्रद समस्त विषय भोगो को भी परिणाम, ताप एव सस्कार-जन्य दुःख की कल्पना करके तथा गुणो के विरोध के कारण दुःखरूप ही समझता है।[1]

भगवान कृष्ण ने भी गीता मे कहा है :—

"विषयेन्द्रियसयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुख राजस स्मृतम् ॥"

अर्थात् विषय एव इन्द्रिय-सयोग से प्रथम अमृतवत् प्रतीत होनेवाला राजस सुख परिणाम मे विष के तुल्य (दुःखप्रद) होता है। अतः परिणाम मे दुःख देने वाला सुख, सुख नही, सुखाभास अर्थात् दुःखरूप ही है। अतएव विष-सयुक्त स्वादिष्ट भोजन की भाँति बुद्धिमान पुरुष विषय सुख को दुःखरूप ही समझता है :—

## परिणाम-दुःख—

विषय-भोगाभ्यास से इन्द्रियाँ सन्तुष्ट नही होती अपितु, उनमे राग के कारण पुनः पुनः उपभोग की तृष्णा बढती है। भगवान मनु ने कहा है—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्धते ॥"[2]

विषयोपभोगो से इन्द्रियाँ बलक्षयवश भोगसामर्थ्यहीन हो जाती है, किन्तु भोग-लिप्सा शांत नही होती और दुःख ही मिलता है। यही विषय सुख का परिणाम दुःखता है।

## तापदुःख—

विषय-सुख की प्राप्ति एव उसकी साधनभूत सामग्री मे राग उत्पन्न होता है। राग स्वय क्लेश स्वरूप है। जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है। अतः सुख सामग्री की प्राप्ति मे बाधा पडने पर, बाधक के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। वह भी पूर्वोक्त क्लेश ही है। इस दुःख से मनुष्य क्षुब्ध रहता है। विषयसुख-भोग की वर्तमानावस्था मे भी भावी दुःख की सम्भावना से परिताप होता है

१ "परिणामतापसस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।" (यो० सू०, २/१४)
२ यह श्लोक अनेकत्र मिलता है, द्र० विष्णु पुराण ४/१०/९।

कि भविष्य मे यह सुख प्राप्त न हो सकेगा। यही सुख के परिणाम की तापदुःखता है।

## सस्कारदुःख—

सुखभोग-जन्य सस्कारो से राग की उत्पत्ति होती है। उसकी प्राप्ति मे बाधा उपस्थित होने पर द्वेष उत्पन्न होता है। इस प्रकार सुखानुभूति से सुख-सस्कार रूप वासना एव दुःखानुभूति से दुःखसस्काररूप वासना होती है। इस प्रकार अनुभव मे सस्कार और सस्कारो से अनुभव का चक्र सतत प्रवर्तित रहता है। इन सस्कारो से विवश मनुष्य पुनः शुभाशुभ कर्मों मे प्रवृत्त होता है। शुभाशुभ कर्मों मे प्रवृत्ति से धर्माधर्म रूप कर्माशय की उत्पत्ति होती है, कर्माशय-प्रचय से पुनः जन्म-मरण आदि की परम्परा का चक्र चलता है। वासना स्वय दुःखद नही होती है, किन्तु धर्माधर्म रूप कर्माशय की क्षेत्रस्वरूपा होने से दुःख मे हेतु होती है। यदि क्षेत्रीभूत वासना ही न हो, तो बीजस्वरूप कर्माशय सुख-दुःखादि के अकुर उत्पन्न करने मे असमर्थ रहेगे। उदाहरण द्वारा कर्माशय एव वासना का भेद इस प्रकार समझा जा सकता है। जिस प्रकार चूल्हा साक्षात् रूप से दाहकत्व का हेतु नही है, किन्तु दाहक अगारो का सग्रहस्थल है। दहन-क्रिया अगारो से होती है। उसी प्रकार वासना-रूप चूल्हे मे कर्माशयो के तप्त अगार ताप पहुँचाते है।

## गुणवृत्तिविरोध—

सत्त्व, रज एव तम इन गुणो की वृत्तियो के परस्पर विरोध होने के कारण भी स्थायी सुख की प्राप्ति नही हो पाती है। सत्व, रज एव तम, ये तीनो गुण क्रमशः प्रकाशशील, प्रवृत्तिशील एव स्थितिशील तीन प्रकार के होने से सुख दुःख एव मोहात्मक है। गुणवृत्त सदैव चचल रहता है। अतः तीनो गुणो के परिणाम के प्राधान्यानुसार मनोवृत्तियाँ कभी शान्त, कभी घोर एव कभी मूढभाव धारण करती है। गुणावृत्त के अस्थैर्य के कारण चित्त शान्त नही रह पाता है। अतः सुखकाल मे गुणो की वृत्तियो के उक्त विरोध से दुःख की अनुभूति होती है। वस्तुतः मित्रो, सतानो, अधिक क्या कहा जाय, पति-पत्नी का सम्बन्ध भी शनैः-शनैः नानारूपो मे परिणत होता रहता है। नाश ही इस ससार का धर्म है। अतः प्रत्येक सुख का नाश अवश्यम्भावी है। प्रकृति के गुणत्रय का पारस्परिक विरोध होने से प्रत्येक गुण स्वसस्कारानुगुण चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करता है और अवसर पाकर आक्रान्त कर लेता है। इस प्रकार प्राणी स्थायी सुख प्राप्त नही कर पाता है। अतः

विवेकी पुरुष के लिये सुख-दु खात्मक ससार का प्रत्येक पदार्थ दु खरूप[1] एवं त्याज्य है।

इनमे भावी दुःख ही त्याज्य है,[2] क्योकि अतीत दुःख भोग-द्वारा नष्ट हो चुका है और वर्तमान दु.ख आगामी क्षण मे भोग से स्वतः नष्ट हो जाएगा। अतः जो दु.ख अभी तक नही आया है, उसी का साधन-द्वारा क्षय किया जा सकता है। इस त्यागने योग्य दु'ख का कारण द्रष्टा एव दृष्य का सयोग है।[3] द्रष्टा से तात्पर्य शुद्ध चैतन्य, आत्मा से है। महत् से स्थूलभूत पर्यन्त सम्पूर्ण जड चेतनात्मक प्रकृति ही दृश्य है। बुद्धि से सयुक्त होने के कारण ही पुरुष सुख दुःखादि बोध का उपद्रष्टा है। प्रकाश, क्रिया एव स्थिति दृश्य का मूल स्वभाव है। भूतेन्द्रियाँ इसका विकृत स्वरूप एव पुरुष के हेतु भोग एव मोक्ष का सम्पादन इसका प्रयोजन है।[4] इन दृश्य भूतगुणत्रय की विशेष ( भूत एव इन्द्रियाँ ) अविशेष ( तन्मात्र, अस्मिता ) लिगमात्र ( महत् ) एव अलिग ( प्रकृति ), ये चार अवस्थाएँ है।[5] जो द्रव्य बहुतो मे सामान्य

---

१ तुल०—साख्यदर्शन के छठे अध्याय मे भी ऐसा ही कहा गया है—
"कुत्रापि कोऽपि सुखीति' ॥६॥
"तदपि दु खशबमिति दु खपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ॥८॥"
अर्थात् "क्या कही कोई सुखी है, (जिसे लोग सुखरूप मानते हे) वह सुख भी दु खमिश्रित है, अत विवेकीजन उसे भी दु ख-कोटि मे रखते है। योगशास्त्र वैद्यकशास्त्र की भाँति चतुर्व्यूह है। इसमे हेय (दु ख), हेय-हेतु (द्रष्टा एव दृश्य का सयोग), हानि या दु ख का नाश (कैवल्य) एव हानोपाय अर्थात् विवेकख्याति, ये चारो विषय वर्णित है। जैसे वैद्यक मे रोग, रोग का कारण, आरोग्य और आरोग्य-साधन (औषधि) इन चारो का विवरण होता है।

२. "हेय दुःखमनागतम्।" (यो० सू० २/१६)

३ "द्रष्टृ दृश्ययो सयोगो हेयहेतुः।" (यो० सू०, २/१७)

४ "प्रकाशक्रिया स्थितशील भूतेन्द्रियात्मक भोगापवर्गार्थं दृश्यम।" (यो० सू० २/१८)

५ विशेषाविशेषलिगमात्रा लिगानि गुणपर्वाणि।" (यो० सू० २/१९)

इस सूत्र मे चार पर्वो-द्वारा साख्य-योग की सृष्टि-प्रक्रिया का स्थूल से सूक्ष्म की दृष्टि से वर्णन हुआ है। प्रकृति (अलिग) से महत् (लिग) महत् से अहकार, अहकार से पचतन्मात्र एव एकादश इन्द्रियाँ और पचतन्मात्र से पचमहाभूत उत्पन्न होते है। समस्त ब्रह्माण्ड महाभूतमय ही है। यही साख्ययोग की सृष्टि-प्रक्रिया है। ये ही कार्यकारण-

—आगामी पृष्ठ पर

रूप से नही पाया जाता है, उसे विशेष कहते है। योगमत मे षोडश विकारो की पारिभाषिक सज्ञाविशेष तथा उनकी छः प्रकृतियो की सज्ञा अविशेष है। विशिष्ट कार्य रूप स्थूलभूत विशेषपद के द्योतक हैं। इनकी प्राप्ति हमे इन्द्रियो से होती है। विशेषो का तत्वान्तर परिणाम नही होता है। ये किसी भी तत्व के कारण नही है। अतः केवल कार्य अर्थात् गुणत्रय के विशिष्ट परिणाम होने से इनकी विशेष सज्ञा है। विशिष्ट परिणाम होने मे इनमे सत्व, रज, तम के सुख, दु ख एव मोहरूप धर्म विशेष, शान्त, घोर एव मूढभाव से वर्तमान रहते है। षोडश चरम विकारो मे से, आकाश, वायु, अग्नि, जल एव पृथ्वी, क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध रूप पच तन्मात्रो के विशेष परिणाम है। पच ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण तथा पचकर्मेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु एव उपस्थ और ग्यारहवाँ मन, ये अहकार के विकार-विशेष है। अतः सुख, दुःख एव मोहात्मक, अवशिष्ट षोडष विकार-विशेष पद वाच्य है। वस्तुतः विशेष शब्द यहाँ तीन अर्थो का द्योतक है। प्रथम तो षड्ज-ऋषभादि शब्द, शीतोष्णादि स्पर्श, रक्त पीतादि रूप, मधुर-अम्लादि रस एव सुगन्ध-दुर्गन्धादि गन्ध, इस प्रकार के शब्दादि के विविध भेदोपभेदो की बिशेष सज्ञा है। स्थूलभूतगण

---

(गत पृष्ठ का शेषाश)

भूत गुणत्रय, सू० २/१८ मे वर्णित दृश्य है, जैसा कि सूत्र मे "भूतेन्द्रियात्मक दृश्यम्" आदि शब्दो से कहा गया है। ये गुण विवेकख्यातिविहीन अज्ञानियो के साथ सयुक्त रह कर भोगसम्पादन करते है तथा विवेकख्यातियुक्त योगियो से वियुक्त होकर मोक्षप्राप्ति कराते है। अतः इन्हें भोगापवर्गार्थ कहा गया है। (सू० २/१८ मे)

विशेष पर्व मे से पचभूत ग्राह्य विशेष है। ग्रहणविशेष—अर्थात् इन्द्रियाँ बाह्य अम्यन्तर द्विविध है। बाह्येन्द्रियाँ-ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो के भेद द्विविध है, जो ऊपर अभिहित हुई है। प्राण भी इन्ही के अन्तर्गत है। अत उसकी पृथक् गणना नही होती। पर है वह भी बाह्येन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रियगण सत्वप्रधान, कर्मेन्द्रियाँ रज प्रधान तथा प्राण तमः प्रधान इन्द्रिय है।

मुख्य प्राण प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान के भेद से पॉच प्रकार का है। मन आन्तर इन्द्रिय है, जो विषयो का सकल्पकारी है। इस विषय मे प्रसिद्ध उक्ति भी है—"मन सकल्प कर्मेन्द्रियम्" सकल्प=सम्यक् कल्पन। सम्यक् कल्पन से तात्पर्य ग्रहण, चेष्टा एव धारण से है। इच्छा एव ज्ञान पूर्वक ज्ञेय विषय का ग्रहण, चेष्टा एव धारणादि व्यापार ही सकल्प है।

उसी प्रकार के विशेष है । दूसरे सत्व, रज एव तम के प्रधान्यानुसार शान्त, घोर एव मूढभाव भी विशेष कहलाते है, जो उर्पयुक्त विशेषो के सहभावी है। षड्जादि विशेषअज्ञात रहने पर भी विषयजन्य सुख-दुःख मोहादि की उत्पत्ति होती है। तीसरे भूतगण चरम विकृत होने से भी विशेष है। इनका कोई तत्वान्तर-परिणाम नही होता है।पचभूत ग्राह्य विशेष है। बाह्येन्द्रियाँ अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ एव कर्मेन्द्रियाँ बाह्य विषयो का व्यवहार करती है। आन्तरिन्द्रिय मन बाह्येन्द्रियो द्वारा प्रस्तुत शब्द, स्पर्शादि एव आन्तरिक अनुभव-जन्य सुख दुःखादि विषय लेकर इच्छा एव, ज्ञानपूर्वक ज्ञेयादि विषयो का ग्रहण, करण एव धारण करता है। यहाँ व्यवहार शब्द का अर्थ जानना और चालन करना है।

पूर्वोक्त षोडष विशेषो के कारण भूत पचतन्मात्र तथा अस्मिता ( अहकार ) ये छ अविशेष है। अनेक कार्यो मे अनुगत सामान्य उपादान ही अविशेष है। महत् से अहकार या अस्मिता, अस्मिता से शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र तथा गन्ध तन्मात्र इस क्रम से, महत्तत्व से समस्त अविशेष विकसित होते है। पचतन्मात्र भी अस्मिताजन्य होने से अस्मितायुक्त है।[1] इन्द्रियगण अस्मितामात्र का विकार है।

---

१, "न्याय मे कारक का कारण भी परम्परया कारण कहलाता है। इस दृष्टि से हम महत् से छहो अविशेषो की उत्पत्ति मान सकते है। गुणपर्वो की व्याख्या करते हुए भाष्यकार श्री व्यास ने छहो अविशेषो को एक जाति मान कर लिगमात्र महत्व का परिणाम कहा है। समस्त अविशेषान्तर्गत कार्य-कारण-क्रम को उन्होने प्रकृत प्रसग मे स्पष्ट नही किया है। किन्तु महत् से युगपत् छ अविशेष उत्पन्न हुए, यह कथन सगत नही है। भाष्यकार का भी यह आशय नही है। प्रथम पाद सूत्र पैतालिस "सूक्ष्म-विषयत्व चालिगपर्यवसानम्" के भास्य मे भी उन्होने अहकार को पञ्चतन्मात्र तथा महत्व को अहकार का कारण बतलाया है। अत महत् से अहकार तथा अहकार से पच तन्मात्र एव एकादश इन्द्रियगण यही क्रम यथार्थ है। पुन पच तन्मात्रो से पचभूत की उत्पत्ति होती है। साख्यकारिका मे भी सृष्टि-प्रक्रिया का यही क्रम है—

"प्रकृतेर्महास्ततोऽहकारस्तस्मात्, गणश्च षोडशक ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्य पञ्चभूतानि ।।"

(साख्यकारिका ३२)

साथ ही यह भी स्मर्तव्य है कि अस्मिता से उत्पन्न होने के बाद पञ्चतन्मात्रो

—आगामी पृष्ठ पर

प्रश्न हो सकता है कि जब पचतन्मात्र भी अहकार से ही उत्पन्न होते है, इनमे भी अहंकार उपादानरूपेण व्याप्त है, तो केवल अहंकार को ही अविशेष क्यो न मान लिया जाये, पंचतन्मात्रो की गणना करके षड् अविशेष क्यो माने ? इसका उत्तर यह है कि पंचतन्मात्र शान्त घोरादि "विशेष" गुण रहित होने से अविशेषो मे ही गणनीय है। जैसा कि—

"तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततस्तो हिते।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्च विशेषिणः॥"[1]

विष्णुपुराण की इस उक्ति से भी प्रमाणित होता है। दूसरे विशेषो की व्याख्या करते समय, उनका विशेष अभिधान चरम विकृत होने से भी बतलाया गया था, किन्तु पंचतन्मात्र तो पचभूतो की प्रकृति भी है। अतः चरम विकृत न

१. विष्णुपुराण (१/२/४२)।

(गत पृष्ठ का शेषांश)

के विषय मे शब्द तन्मात्रके बाद स्पर्श तन्मात्र, तत्पश्चात् रूपादि समस्त तन्मात्रो का उत्पत्तिक्रम औपादानिक या तात्विक नही, अपितु नैमित्तिक है। शब्द तत्व स्पर्श तत्व का, अथवा रूपादि तत्व रसादि का उपादान नही हो सकता है, किन्तु शब्द क्रिया के निमित्त से उसका उपादान अहकार (अस्मिता) ही स्पर्शज्ञान के रूप मे अभिव्यक्ति होता है और इस प्रकार शब्दगुणक होने से स्पर्श द्वि-लक्षण, रूप स्पर्शगुणक होने से त्रिलक्षण, रस चतुर्लक्षण तथा गन्ध पञ्चलक्षणा है। इसी दृष्टिकोण से पञ्चतन्मात्रजन्य पञ्चभूतो का क्रम भी समझना चाहिए। वैज्ञानिक प्रणाली से तथ्यान्वेषण करने पर भी ज्ञात होता है कि शब्द की गति रुकने पर ताप उत्पन्न होता है, ताप से रूप एव रूप (सूर्य के प्रकाश) से सम्पूर्ण रासायनिक द्रव्य (उद्‌भिज्जादि) समुद्‌भूत होते है। रासायनिक द्रव्य के सूक्ष्म चूर्ण से ही गन्धज्ञान की अनुभूति होती है, किन्तु यह अतात्विक दृष्टिकोण है। तात्विक दृष्टि से सूक्ष्म शब्द से स्थूल शब्द (आकाश), स्पर्श तन्मात्र से वायुभूत इत्यादि क्रम से प्रत्येक तन्मात्र से तदनुरूप पञ्चभूतो की उत्पत्ति होती है। इस विषय मे शास्त्र भी प्रमाण है—

"शब्दलक्षणमाकाश वायुस्तुस्पर्शलक्षण।
ज्योतिषा लक्षण रूपामाश्च रसलक्षणा॥
धारिणी सर्वभूताना पृथिवी गन्धलक्षणा॥"

(महाभारत, अश्वमेध) (अ० ४३, श्लो० २१-२२) (स्वामी ह० — आरण्य की व्याख्या के अनुसार)।

होने से भी वे अविशेष पदवाच्य है। फिर वे षड्ज-ऋषभादि नीलपीतादि एव मधुर-अम्ल इत्यादि विविध विशेषरहित भी है।

वस्तुतः तन्मात्र का अर्थ होता है—तद्मात्र=केवल वही, अर्थात् सूक्ष्म शब्द मात्र या स्पर्शमात्र अथवा रूपमात्र इत्यादि। जिस अवस्था मे "विशेष" पदवाच्य षड्जादि भेद भी निरस्त हो जाते है, शब्द की वही सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्था शब्दतन्मात्र है। इसी प्रकार शेष तन्मात्रो के विशेषो की अस्तावस्था ही तद् तत् स्पर्शरूपादि तन्मात्र है। शब्दस्पर्शादि की इस सूक्ष्मावस्था को ही परमाणु अवस्था कहते है।[1] परमाणु अवस्था मे उनके अवयवो एव विस्तार आदि के तारतम्य का स्फुट आभास नही होता है। इसका ज्ञान सामयिक धारा-क्रम से प्राप्य है। अखण्ड्य अवयव को परमाणु कहते है। तन्मात्र भी इसी प्रकार का परमाणु है। यह समाधि द्वारा साक्षात्कार करने पर ही ज्ञेय है।[2]

षष्ठ अविशेष अस्मिता है। अस्मिता का अर्थ होता है अहकार या "मैपन का भाव," इन्द्रिय शक्ति समूह के साथ चैतन्य का तादात्म्यभाव ही अस्मिता (अहकार) है। समस्त इन्द्रियो के सामान्य उपादान कारणभूत अभिमान एव बुद्धि इन दोनो की ही अस्मितामात्र सज्ञा है। केवल "मे हूँ" इस प्रकार का भाव महत् का द्योतक है। "मै" श्रवण शक्ति सम्पन्न हूँ, "म" घ्राणशक्ति सम्पन्न हूँ, इत्यादि रूप इन्द्रियशक्ति सम्पन्न अहभाव अस्मिता है, ये षड् अविशेष महत् तत्व के विकार है। महत् मे ही शब्दादि रूप समस्त भाग एव विवेकख्याति रूप मोक्ष आदि समस्त क्रियाएँ पर्यवसान-लाभ करती है। इसके आगे प्रकृति की त्रिगुण साम्यावस्था मे भोग का प्रश्न ही नही उठता है।

समस्त विकारो के आधारभूत सत्तामात्र महत्तत्व (समष्टि तथा व्यष्टि चित या बुद्धि) को ही लिगमात्र कहते है। लिग का अर्थ है गमक या अनुमापक। किसी वस्तु के अनुमापक को उसका लिग या चिह्न कहते है। महत्तत्व आत्मा एव अव्यक्त का अनुमापक होने से उनका लिग कहलाता है। "साख्य-तत्वकौमुदी" मे महत् विषयक १०वी कारिका की व्याख्या करते समय, श्री वाचस्पति मिश्र ने भी— "लिगम्" प्रधानस्य। यथा चैते बुद्ध्यादयः प्रधानस्य लिग पुरुषस्य लिग

---

१ ये परमाणु वैशेषिक का परमाणु नही है।

२ तन्मात्र सम्बन्धी सविस्तार प्रतिपादन के लिये "तन्मात्र तथा विश्व का मनोमय मूल" नामक पुस्तिका द्रष्टव्य है।

भवदपीति भावः"—इत्यादि पक्तियो से यही भाव व्यक्त किया है। लिगमात्र का अर्थ होता है स्वरूप लिग अथवा प्रधान लिग। अन्य तत्व भी पुरुष एव प्रकृति के लिग कहे जा सकते है, किन्तु वे सब अपने साक्षात् कारणो के ही मुख्य रूप से लिग है। महत्तत्व तो अन्य किसी का लिग नही है, अतः वह पुरुष एव प्रकृति का मुख्य लिग होने से लिगमात्र कहा जाता है।

महत् का दूसरा विशेषण सत्तामात्र आत्मा है, जिसका अर्थ है—"आत्म अस्तित्व मात्र" का भाव, अर्थात् "मै हू" या "म मात्र" एतद्रूपी भाव। इसी को "बुद्धितत्व" भी कहते है। आत्मसत्ता विषयक निश्चय इसी महत् या बुद्धितत्व का गुण है। निश्चय एव सत्ता अन्योन्याश्रित है। आत्मविषयक निश्चय तथा विषय सम्बन्धी निश्चय, दोनो ही बुद्धि के गुण है, किन्तु आत्मनिश्चय ही मुख्य एव अन्तिम है। यही बुद्धि का स्वरूप भी है। विषय-सम्बन्धी निश्चय ता बुद्धि का विकारस्वरूप है। एतावता "अस्मि" इत्याकारक प्रत्यय ही सत्तामात्र-आत्मा या महत्तत्व पदवाच्य है। प्रथम "मै हूँ" इत्याकारक भाव रहता है, यही महत्तत्व है। तत्पश्चात् उसके विकारस्वरूप "मै श्रोता हूँ", "मै घ्राता हूँ" इत्यादि भाव उत्पन्न होता है। यही अभिमान या अहकार है। यही अस्मिता है जिसका विकार इन्द्रियगण है।

इसी लिगमात्र महत्तत्व से अहकारादि क्रम से स्थूलभूतात्मक सकल जगत् पर्यन्त, समस्त प्रपच का विकास होता है। तत्पश्चात् उसी क्रम से लयोन्मुख होता हुआ प्रत्येक तत्व इसी महान् आत्मा मे विलीन होकर पुनः प्रकृति-प्रलीन हो जाता है। गुणो के चारो पर्वो मे से पूर्वोक्त तीन अवस्थाए ही पुरुषार्थ-सिद्धि मे हेतु है। चतुर्थ अलिगावस्था मे पुरुषार्थ रूप प्रयोजन की सिद्धि नही होती है, क्योकि अलिगावस्था गुणो की अव्यक्तावस्था है। व्यक्तभाव तो महत्पर्यन्त ही रहता है।

महत् के लय प्राप्त होने पर उस समय समस्त व्यक्त-व्यापार का अभाव हो जाने से उसे अव्यक्तावस्था कहते है। यही गुणपर्वो की सूक्ष्मतम अवस्था है। यह त्रिगुणसाम्यावस्था है। गुणो के वैषम्य से ही व्यापार होता है, गुणसाम्य मे नही। इसका कोई व्यक्त चिह्न न होने से इसे अलिग कहते है। अव्यक्त, प्रकृति, प्रधान आदि इसी के नामान्तर है।

भाष्यकार श्री व्यास ने इसके निःसत्तासत्त, निःसदसत्त, निरसत् इत्यादि विशेषण भी बतलाए है। सत्ता से तात्पर्य पुरुष के अर्थ-क्रिया-क्षमत्व से है। असत्

का अर्थ शशविषाणादिवत् अभाव पदार्थ है। प्रकृति गुणसाम्यावस्था होने से पुरुषार्थ-साधकत्वहीन है। साथ ही गुणवैषम्यावस्था मे उसी से पुरुषार्थ-साधन होता है। अतः पुरुषार्थक्रिया का मूलशक्तिभूत कारण होने से उसे असत् भी नही कह सकते है। अतः प्रकृति निःसत्तासत्त है।

त्रिगुण-साम्य-स्वरूप होने से प्रकृति किसी का कार्य भी नही है, न ही किसी का कारण है। अतः विषमावस्था मे ही प्रकृति किसी का कारण होती है। सत् का अर्थ है वर्त्तमान, असत् का अर्थ है अवर्त्तमान, अतः जो महत् आदिक की भाँति साक्षात् ज्ञेय नही है तथा महदादि का कारण होने से उसका अभाव भी नही है, वह निःसदसत् है।

प्रधान को असत् या अत्यन्त तुच्छ पदार्थ न समझ लिया जाय, अतः भाष्यकार व्यास ने, उसके लिये पुनः "निरसत्" शब्द का प्रयोग किया है। वह अव्यक्त होने से महदादिवत् व्यक्तरूपेण अज्ञेय है, किन्तु समस्त पदार्थो की क्रिया शक्ति के रूप मे, वह प्रधान शक्ति स्वरूप से ज्ञेय है। तात्पर्य यह है कि वह भावपदार्थ-विशेष है।[1] जिस अवस्था मे समस्त व्यक्तभाव का विलय होता है, वही अव्यक्त है—

**"अव्यक्त क्षेत्रलिङ्गस्थ गुणानां प्रभवाप्ययम्।**
**सदा पश्याम्यह लीन विजानामि शृणोमि च॥"**

( महाभारत अश्वमेध पर्व ४३/३७ )

एतावता त्रिगुणात्मक दृश्य की पूर्वोक्त विशेष, अविशेष, लिगमात्र एव अलिग ये चार अवस्थाए है। इनमे से प्रथम तीन तो पुरुषार्थ-प्रयोजन मे हेतु है, किन्तु अन्तिम अलिग अवस्था हेतु नही है।

इसी दृश्य के साथ द्रष्टा (पुरुष) का सयोग हेय है। इनके सयोग के नाश से समस्त क्लेश नष्ट हो जाते है। यह पहले भी बतलाया जा चुका है कि द्रष्टा केवल दृक्शक्तिमात्र (दृशिमात्रः) अर्थात् ज्ञानस्वरूप चैतन्यमात्र है। स्वय शुद्ध होने पर भी बुद्धि की वृत्तियो के अनुसार देखने वाला है।[2] दृशिमात्र का अर्थ है सर्वविशेषण

१. एस० एन० दास गुप्त ने इस विषय की अच्छी व्याख्या की है (Study of Patanjali P. 8-9)।

२. "द्रष्टा दृशिमात्र शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य।" (यो० सू० २/२०)

शून्य, शुद्ध दर्शनशक्तिमान् अर्थात् ज्ञानमात्र। यह ज्ञान उसका धर्म नही, अपितु वह ज्ञानस्वरूप ही है—उसमे ज्ञान एव ज्ञान मे अभेद होता है—

"ज्ञान नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथचनः।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यःसर्वगतः शिवः॥"

( सौर पुराण ११।२६ )

सर्व विकारशून्य शुद्ध चैतन्य मात्र पुरुष, बुद्धि स्वरूप उपाधि के माध्यम से इस मान्त ज्ञान के रूप मे प्रकाशित होने की दृष्टि से ही बद्ध है।

दृश्य का स्वरूप उस पुरुष के लिये ही है,[१] अर्थात् प्रकृति का विविध परिणाम रूप व्यापार उस पुरुष के भोग एव मोक्षरूप पुरुषार्थ की सिद्धि के हेतु ही है। प्रकृति के विविध व्यापारो मे अपना कोई प्रयोजन नही होता है,[२] जिन्होने अपने कैवल्य रूप अर्थ की सिद्धि कर ली है, उनके लिये प्रकृति (दृश्य) का यह स्वरूप नष्ट हो जाता है, तथापि कृतार्थो के प्रति नष्ट हो जाने पर भी उसका नाश नही होता है, क्योकि वह इतर व्यक्तियो के लिये सामान्यरूप से अभिव्यक्त रहता है,[३] अर्थात् अकुशल=अज्ञानी व्यक्तियो के लिये भोक्ता एव भोग्य या द्रष्टा एव दृश्यभाव बना ही रहता है। अतः उनके लिये दृश्य नष्ट न होने से उसका अत्यन्त अभाव नही होता। केवल विवेकज्ञानप्राप्त योगी के लिये ही दृश्याभाव नष्ट होता है। इस विषय मे साख्यसूत्र भी है—"इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः"।[४] वस्तुतः इसका

१ "तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।" (यो० सू० २/२१)

२ तुल०—"इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेष भूतपर्यन्त।
प्रतिपुरुष विमोक्षार्थ स्वार्थ इव परार्थारम्भ॥
वत्सविवृद्धिनिमित्त क्षीर स्ययथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्त तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य॥
नाना विधैरुपायैरुपका रिण्यनुपकारिण पुस।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थक च॥"
(ईश्वरकृष्ण, साख्यकारिका, ५६/५७/६०)

३ "कृतार्थ प्रति नष्टमप्यनष्ट तदन्यसाधारणत्वात्।"
(यो० सू० २/२२)

४ ३६/१६६।

कारण पुरुषो का असख्यत्व है।[1] असख्य तत्व का अन्त नही होता है। असख्य का असख्य से भाग करने पर असख्य ही अवशेष रहेगा। श्रुति भी कहती है—"पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" अकुशल पुरुषो के साथ अनादि दृश्य का अनादि सम्बन्ध होता है। भगवान् व्यास ने भी प्रकृत प्रसग मे लिखा है—"दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिःसयोगः, व्याख्यात इति तथा चोक्त —धर्मिणमनादिसयोगाद्धर्म्ममात्राणामप्यनादिःसयोग इति"। अतएव ऐसी कल्पना नही करनी चाहिये कि किसी काल मे समस्त पुरुष केवली हो जाये तो द्रष्टा एव दृश्य के सयोग का स्वरूप नष्ट हो जायगा।

द्रष्टा एव दृश्य अथवा भोक्ता एव भोग्य– इन दोनो के (भोग्यत्व एव भोक्तृत्व) स्वरूप की प्राप्ति का हेतु यही सयोग है। सूत्रकार ने इस भोक्तृ-भोग्य भाव को "स्व-स्वामिशक्ति" कह कर व्यक्त किया है।[2] यहाँ पर 'स्व" शब्द दृश्यभाव या भोग्यभाव का द्योतक है तथा "स्वामी" शब्द द्रष्टा (पुरुष) अथवा भोक्तृभाव का प्रकाशक है। "शक्ति" शब्द स्वभाव अथवा स्वरूप का बोधक है। समस्त दृश्य पुरुष के भोग-निमित्त होने से, वह (दृश्य) पुरुष का "स्वभूत" (स्वत्व) है और भोक्ता होने से पुरुष उसका स्वामी है। दृश्य एव द्रष्टा का भोग्यभाव एव भोक्तृभाव रूप सम्बन्ध ही "सयोग" है। यही हेयभूत ससार का हेतु है। जब पुरुष प्रकृति से सयुक्त होता है, तब इस सयोग के ही कारण उनके दृश्यत्व एव द्रष्टृत्व रूप द्विविध शक्तियो का प्रकाश होता है। दृश्य की प्राप्ति से भोग एव द्रष्टा की स्वरूपोपलब्धि

---

१ साख्ययोगमत मे पुरुष अनेक है। द्र०—यो० सू० (२/२३, ४/१४)

तथा

"जननमरणकरणाना प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्व सिद्ध त्रैगुण्यविपर्य्ययाच्चैव॥" (सा० का० १८)

श्रुति भी कहती है—

"अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा बह्वी प्रजा सृजमाना सरूपा।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य॥"
(श्वेताश्वतर उपनिषद् ४/५)

इस श्रुति से भी पुरुष बहुत्व सिद्ध होने के साथ-साथ मुक्त पुरुष से त्यक्त होने से उसके प्रति नष्ट होने पर भी प्रकृति (दृश्य) का बद्ध पुरुषो के प्रति भोग्यत्व सिद्ध होता है अर्थात् बद्ध पुरुषो के लिये वह अनष्ट ही है। प्रकृत सूत्र मे इसी श्रुति का भाव अभिव्यक्त हुआ है।

२ "स्वस्वामिशक्त्यो स्वरूपोपलब्धि हेतु सयोग।" (यो० सू०, २/२३)

मे मोक्ष (अपवर्ग) प्राप्त होता है। अतः इस भोग्यत्व एव भोक्तृत्व रूप सम्बन्ध की प्राप्ति का कारण यह सयोग है और इससे विपरीत रूप मे द्रष्टा मात्र के स्वरूप की उपलब्धि का कारण उक्त सयोग का वियोग है।

इस सयोग के कारण ही समस्त जगत् रूप प्रपच का विस्तार है। गीता मे दृश्य एव द्रष्टा को क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ बतला कर इसी सयोग से समस्त स्थावरजगम रूप जगत् की उत्पत्ति बतलाई गई है।[1]

साख्यकारिका मे भी जड प्रकृति एव निष्क्रिय पुरुष को क्रमशः अन्धे एव लॅगडे की उपमा देकर, उनसे समुद्भूत समस्त सृष्टि का कारण यह सयोग ही बतलाया गया है।[2]

द्रष्टा एव दृश्य का यही सयोग साधनपाद सूत्र १७ मे उक्त अस्मितानामक क्लेश है, जिसके द्वारा चित्तस्वरूप "स्व" एव पुरुष-स्वरूप "स्वामी" भूत जड-चेतनात्मक सम्मिश्रण से नवीन जीवभाव को उत्पत्ति होती है। इसी सयोग को ( २-१७ ) मे हेय-हेतु बतलाया गया है। इस सयोग की वर्त्तमानावस्था मे ही इस से मुक्ति प्राप्ति हेतु "स्व" एव 'स्वामी" के स्वरूप का साक्षात्कार किया जाता है।

स्वामिभूत पुरुष स्वभूत दृश्य के साथ दर्शनार्थ अर्थात् ज्ञानप्राप्ति-हेतु सयुक्त होता है। यह पुम्प्रकृति का सयोगजन्य ज्ञान भ्रान्तिज्ञान तथा सम्यक् ज्ञान के भेद से दो प्रकार का होता है। दृश्य के स्वरूप की प्राप्ति-भूत भोग की प्राप्ति भ्रान्तिज्ञान है। द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि अपवर्ग या मोक्ष है। उक्त सयोग से प्रथम दृश्य के स्वरूप की उपलब्धि होती है, जिससे भोग (बन्धन) प्राप्त होता है। तत्पश्चात् द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि होने पर पुरुष को अपवर्ग की प्राप्ति हो जाती है, जिससे उक्त सयोग का वियोग हो जाता है। अतः यह सयोग दर्शन-कार्य ( विवेकख्याति ) पर्यन्त ही रहता है। वस्तुतः शुद्ध दर्शन विवेक-ख्याति ही है। अतः यह दर्शन (विवेकख्याति) उक्त सयोग के वियाग का कारण बन जाता है। भाष्यकार श्री व्यास भी कहते है–"दर्शन कार्यावसानः-सयोग इति दर्शन वियोगस्य कारणमुक्तम्।" (२/२३) यह दर्शन अदर्शन अथवा विपरीत दर्शन का विरोधी होता है। बुद्धि एवं पुरुष की

---

१. "यावत्सजायते किचित्सत्व स्थावर जगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञ सयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥" (गीता १३/२६)

२ "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पग्वन्धवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृत सर्ग॥२१॥"

एकताख्याति या भोगरूप व्युत्थान ही अदर्शन है। विवेकख्याति रूप दर्शन से भोगरूप अदर्शन की निवृत्ति है। अतः उक्त अदर्शन-जन्य सयोग की अवधि दर्शन कार्य पर्यन्त बतलाई गई है। बुद्धिनिवृत्ति की अवस्था ही कैवल्य है। अतः विवेकज्ञान परम्परया कैवल्य का हेतु होता है। वस्तुतः विवेकज्ञान कैवल्य का साक्षात् कारण नही होता है। अज्ञान-निवृत्ति ही कैवल्य का हेतु है, किन्तु अज्ञान-निवृत्ति विवेकज्ञानाभ्यास के द्वारा होती है। अतः विवेकज्ञान को कैवल्य का कारण कहा है।[1]

जिस अदर्शन की निवृत्ति से कैवल्य प्राप्त होता है, वह अविद्या-सस्कार स्वरूप है। अतएव यही अदर्शन दृश्य एव द्रष्टा के पूर्वोक्त सयोग का कारण है।[2] यह अविद्या विपर्यय-ज्ञान-वासना स्वरूप है, जिसका इसी परिच्छेद के आरम्भ मे विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। इसी अविद्या से बुद्धि पुरुष के साथ तादात्म्य अनुभव करती है और चित्त की त्रिगुणात्मक वृत्तियो से वस्तुतः असम्पृक्त होने पर भी पुरुष मे उनका अध्यारोप होता है। अतः अज्ञान (अविद्या) वश जीव अकर्त्ता पुरुष को सुखी, दुःखी एव कर्त्तत्वभाव-युक्त मानता है।[3] इससे बुद्धि न तो कार्यनिष्ठा (गुणाधिकार की समाप्ति) की प्राप्ति करती है, न ही सत्व-पुरुषान्यताख्याति ही प्राप्ति होती है। इस अविद्या (अदर्शन) के अभाव से ही उक्त हेय दु.ख के हेतुभूत सयोग का अभाव होता है। इसी को हान कहते है ( हान=त्याग, अज्ञान का त्याग ) यही द्रष्टा की कैवल्य स्थिति है।[4] जिसे पहले अदर्शन का अभावरूप कैवल्य बतलाया गया है, किन्तु अदर्शन का अभाव विवेक-ज्ञान से होता है। स्खलनशून्य विवेकख्याति ही अज्ञान-नाश (हान) का उपाय है।[5]

---

१ "मात्र दर्शन मोक्षकारणमदर्शनाभावादेव बन्धाभाव समोक्ष इति।
दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनज्ञान कैवल्यकारणमुक्तम् ॥"
(व्या० भा०, यो० सू० २/२३)

२ "यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धि सयोग ।" (व्या० भा० सू० २/२४)
"तस्य हेतुरविद्या ।" (यो० सू० २/२४)

३. तुल०—"तस्मात् तत्सयोगादचेतन चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वे च तथाकर्तेव भवत्युदासीन ॥" (साख्यकारिका न० २०)
तथा
"प्रकृते क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश ।
अहकार विमूढात्मा कर्त्ताहमितिमन्यते ॥" (गीता, ३/७)

४ "तदभावात् सयोगाभावोहान तद्दृशे कैवल्यम् ।" (यो० सू० २५)

५. "विवेकख्यातिरविप्लवाहानोपाय ।" (यो० सू० २/२६)

विवेक का अर्थ द्रष्टा एव दृश्य का भेद एव ख्याति का अर्थ है ज्ञान। अतः बुद्धि एव पुरुष या दृश्य एव द्रष्टा का भिन्न रूप से ज्ञान ही विवेकख्याति है। इसे सत्वपुरुषान्यताख्याति भी कहते है। यही विवेकज्ञान अज्ञान मूल पचक्लेशो की निवृत्ति का उपाय है, किन्तु यह विवेकज्ञान सतत् अभ्यास से दृढ अवस्था-युक्त, स्खलनशून्य अर्थात् समस्त सशय, विपर्ययरहित होना चाहिये। इसीसे सूत्रकार ने "अविप्लवा विवेकख्याति" को हान का उपाय कहा है। अविप्लवा का अर्थ है, निर्भङ्ग। मिथ्याज्ञान या सशय-विपर्यय आदि ही इसके विघ्न है। यहाँ निर्विघ्न को त्रुटिरहित समझना चाहिये। अतः जब समस्त सशय, विपर्यय, आदि से शून्य, निर्मल अडिग विवेक ज्ञान उदय होगा तभी क्लेश निवृत्ति कर सकेगा।

तात्पर्य यह है कि सर्व प्रथम विवेकज्ञान, आचार्य एव शास्त्रादि के उपदेश से उत्पन्न होता है। इस प्रकार का परोक्ष ज्ञान अनादि सस्कारजन्य अविद्या के नाश मे असमर्थ होता है। अतः शास्त्राचार्यादि के उपदेश-श्रवण से उत्पन्न-अपरोक्ष विवेकज्ञान विप्लवयुक्त होता है, क्योकि इस अवस्था मे मिथ्याज्ञान से उत्पन्न व्युत्थान सस्कार चित्त मे वर्तमान रहने से रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियाँ भी विद्यमान रहती है, जो विवेकज्ञान की विच्छेदक है।

शास्त्रादि-श्रवण के अतिरिक्त युक्तिपूर्वक मनन से यह ज्ञान श्रवणजन्य ज्ञान की अपेक्षा दृढतर एव स्फुटतर प्रतीत होता है, किन्तु इस अवस्था मे युक्त ज्ञान भी स्खलनशून्य नही कहा जा सकता है। समाधि-द्वारा सत्वपुरुष का विवेकपूर्ण साक्षात्कार ही अविप्लवा विवेकख्याति कही जा सकती है। इसके लिये दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक योगागो के अनुष्ठान की आवश्यकता है। समाधि-द्वारा बारम्बार धैर्यपूर्वक सतत अभ्यास से ही क्रमशः विवेकज्ञान प्रस्फुट होता है। निरन्तर अभ्यास से सम्प्रज्ञात समाधि की पूर्णावस्था मे मिथ्याज्ञानोत्पत्ति की आशका निरस्त होने पर अज्ञान भृष्ट बीजवत् पुनः ससरण रूप अकुरोत्पत्ति मे असमर्थ हो जाता है साथ ही दृष्ट-अदृष्ट विषयो के प्रति आसक्ति की सम्यक् निवृत्ति हो जाती है। द्रष्टा एव दृश्य का पूर्णतः भेद-ज्ञान होता है। इस अवस्था मे मिथ्याज्ञान से विवेकज्ञान भग्न होने की सम्भावना नही रहती है। अतः अविचल या विप्लवशून्य, निर्मल विवेकख्याति ही हान का विप्लवशून्य उपाय है, गीता मे इसी अवस्था के लिये कहा गया है—

"क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तर ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृति मोक्ष च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥(गीता १३/१४)

उक्त श्लोक मे क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ से तात्पर्य क्रमशः दृश्य एव द्रष्टा का· तथा ज्ञान चक्षुओ से विवेकख्याति का तात्पर्य ग्राह्य है।

अविप्लवा विवेकख्याति से युक्त अवस्था की ही सज्ञा धर्ममेव समाधि है। यही जीवन्मुक्ति भी है। इसी से योगोक्त अविद्यामूलक पचक्लेशो का निवारण होता है।

---

(३) प्रज्ञा एवं ज्ञानदीप्ति—

विवेकख्यातिनिष्ठ योगी को प्रकृष्ट सप्त-सोपानमयी प्रज्ञा प्राप्त होती है,[1] ऐसा योग शास्त्र का कथन है। विवेकख्याति श्रेष्ठतम प्रज्ञा है और वही अन्तिम शुद्ध सत्वमयी प्रज्ञा है। इसके उपरान्त अन्य कोई प्रज्ञा उदित नही होती, अपितु परवैराग्य जन्य असम्प्रज्ञाति समाधि मे इस विवेकख्यातिरूप प्रज्ञा का भी निरोध हो जाता है। अतएव सूत्रकार की "तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा" इस उक्ति से, किसी अन्य प्रकृष्ट प्रज्ञा के सात प्रकार नही समझने चाहिये। वस्तुतः प्रकृत सूत्र मे उक्त "प्रान्तभूमिया" विवेकख्याति के ही भेद स्वरूप क्रमोच्च सप्त सोपान है। विवेक-ख्याति मे निष्ठा प्राप्त होने पर साधक क्रमशः ज्ञान (प्रज्ञा) की जिन सात चरम अवस्थाओ को प्राप्त करता है, उन्ही का यहाँ स्वरूप कथन हो रहा है, क्योकि जैसा कि अभी ऊपर बतलाया जा चुका है विवेकख्याति ही अन्तिम प्रज्ञा है, अतः विवेकप्रज्ञा की प्राप्ति के उपरान्त सूत्रकार को किसी अन्य प्रज्ञा के सात प्रकारो की प्राप्ति का कथन अयुक्तिसगत होगा। सूत्रकार ने पहले "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" बतलाकर "तस्य साप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा" ऐसा कहा है। अन्तिम सूत्र मे "तस्य" का अर्थ है "विवेकख्यातिप्राप्तस्य"। अतः विवेकख्याति युक्त योगी की यह (विवेकख्यातिरूप) प्रज्ञा सात प्रान्तभूमियो वाली होती है, यही अर्थ उचित प्रतीत होता है। अग्रिम सूत्र "योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञान दीप्तिराविवेकख्यातेः" से भी विवेकख्याति ही अन्तिम प्रज्ञा सिद्ध होती है और यहाँ पहले से ही विवेकख्याति प्रज्ञा का प्रकरण चल रहा है। अतः प्रकरण के बल पर भी उक्त "सप्त प्रान्तभूमियाँ" विवेकख्याति ( अर्थात् ख्यातिमान साधक ) की ही है। भाष्यकार भी कहते है "सप्त प्रकारैव प्रज्ञाविवेकिनोभवति"।

प्रस्तुत सूत्र गत् "तस्य" शब्द के अर्थ के विषय मे मतभेद है। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है प्रकृत सूत्र मे "तस्य" शब्द विवेकख्यातियुक्त योगी का परामर्शक है। अतः उक्त प्रकार के योगी को सात प्रकार की चरम अवस्था युक्त प्रज्ञा मिलती है, यह सूत्रार्थ हुआ, किन्तु श्री विज्ञानभिक्षु ने "तस्य" शब्द का अर्थ "विवेकख्यातिरविप्लवाहानोपायः" उक्त सूत्रस्य "हानोपायः" का परामर्शक माना

१. "तस्य सप्तधा प्रान्तभूमि प्रज्ञा।" (यो० सू० २ २७)

है। उनका कथन है कि "विवेकख्याति" स्त्रीलिग है और "तस्य" शब्द पुल्लिग। अतः उसका प्रयोग विवेकख्याति के लिये नही हो सकता है। फिर भी इसी सूत्र मे आये "हानोपायः" का परामर्शक हो सकता है, क्योकि वह पुल्लिग है, किन्तु यह विचारणीय है कि सूत्रोक्त हान का उपाय तो स्वय विवेकख्याति ही है और वह ख्याति स्वय प्रज्ञास्वरूप है। अतः इस प्रज्ञा को सात प्रान्तभूमियो वाली प्रज्ञा-प्राप्ति के कथन से क्या प्रयोजन होगा, यह स्पष्ट नही हो पाता है। अतएव उक्त धारणा नितान्त विचारणीय है। वस्तुतः यह सात प्रान्तभूमियो वाली प्रज्ञा योगी को ही प्राप्त होती है। अतः 'तस्य" पद उसी योगी के लिये प्रयुक्त हुआ है। यही दृष्टि व्यासभाष्य के "सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति" इस उक्ति से भी स्फुट होता है। साथ ही भाष्योद्धृत इस पक्ति मे यह सात प्रकार की प्रज्ञा विवेकख्याति ही है, यह भी स्पष्ट हो जाता है।

उक्त "तस्य" पद का अर्थ करते हुए श्री भावागणेश, नागोजी भट्ट एव अनन्त पण्डित ने भिक्षु जी का अनुसरण करते हुए "हानोपायभूत" विवेकख्याति को सातप्रान्तभूमियुक्त प्रज्ञा की प्राप्ति बतलाई है। शेष श्री भोज, वाचस्पति मिश्र, विवरणकार शकर, राघवानन्द सरस्वती, हरिहरानन्द आरण्य, सदाशिवेन्द्र सरस्वती, प्रभृति विद्वानो ने व्याससम्मत मत की पुष्टि की है।

अतः जब साधक को विवेकज्ञान की उपलब्धि होती है, तो वह प्रारम्भ से अन्त तक क्रमशः सात उच्चतम स्तरो मे आता है। ये अवस्थाए विवेकख्याति मे स्थिति प्राप्ति के लक्षणस्वरूप है। अतः इनमे से एक भी अवस्था के आगम से योगी को यह निश्चय हो जाता है कि अब उसे वास्तविक विवेकज्ञान की प्राप्ति हो रही है। प्रान्तभूमि का अर्थ होता है सीमाभूमि अर्थात् अन्तिम अवस्था। अतएव "प्रान्तभूमिप्रज्ञा" का अर्थ है प्रज्ञा (ज्ञान) की चरम अवस्था। जिस विषय मे प्रज्ञा की प्रान्तभूमि प्राप्त हो जाती है, उस विषय मे आगे और प्रज्ञा नही हो सकती। यह उस विषय की उच्चतम अवस्था है, उसीमे प्रज्ञा की समाप्ति हो जाती है। विवेकख्याति-निष्ठ योगी की प्रान्तभूमियो के नाम क्रमशः (१) ज्ञेयशून्यावस्था, (२) हेयशून्यावस्था, (३) प्राप्यप्राप्त अवस्था, (४) चिकीर्षाशून्यावस्था, (५) चित्त की कृतार्थता, (६) गुणलीनता और (७) आत्मस्थिति है।

इनमे से प्रथम चार अवस्थाए प्रयत्नसाध्य है। इनका सामूहिक अभिधान "कार्यविमुक्तिप्रज्ञा" है। इनके द्वारा कार्य से विमुक्ति प्राप्त होती है। विमुक्ति से तात्पर्य प्रज्ञा की समाप्ति है। प्रयत्न द्वारा साध्य होने से इनका सामूहिक

अभिधान "कार्यविमुक्ति प्रज्ञा" है।[1] अन्तिम तीनो अवस्थाओ की सामूहिक सज्ञा "चित्तविमुक्ति" है। इनकी प्राप्ति "कार्यविमुक्तिप्रज्ञा" प्राप्त कर लेने पर स्वयमेव हो जाती है। अतः ये अप्रयत्नसाध्य है। चित्त विमुक्ति का अर्थ है, चित्त के अधिकार की समाप्ति।

## १—ज्ञेयशून्यावस्था—

इस प्रज्ञा का प्रथम प्रकार ज्ञेयशून्यावस्था है। इस अवस्था मे पहुँच कर योगी यह अनुभव करने लगता है कि जो कुछ भी जानने योग्य था, उसे मैंने जान लिया, इससे अधिक अब कुछ भी ज्ञेय नही है। स्पष्ट है कि इस स्थिति के प्राप्त होने पर ज्ञेय की निवृत्ति हो जायेगी। इस अवस्था मे योगी का चित्त जिज्ञासा की दृष्टि से पूर्ण सन्तुष्ट हो जाता है। जब तक सत्य की प्राप्ति नही होती, चित्त की ज्ञान-पिपासा शान्त नही होती है और मन को वास्तविक सत्य के अन्वेषण मे इधर-उधर भटकते रहने से आत्मतुष्टि नही होती। विवेकी को प्रथम प्रज्ञा प्राप्त होते ही उसकी ज्ञान-पिपासा शान्त हो जाती है। त्रिगुणस्वरूप दृश्य, परिणाम, ताप सस्कार-दुःख एव गुणवृत्ति-विरोध-पूर्ण होने से, हेय है।[2] इसमे कही भी सत्य सुख की उपलब्धि नही हो सकती है। सुख एव ज्ञान हमारे ही अन्दर है। इस प्रकार ज्ञेय का अभाव हो जाने से इस अवस्था मे पूर्वोक्त ज्ञान-जिज्ञासाजन्य असन्तोष लुप्त हो जाता है। यह विवेकज्ञान-निष्ठा की प्राप्ति का प्रथम लक्षण है। इस प्रकार प्रथम प्रज्ञा की प्राप्ति होने पर विषय सुख के दुःखमयस्वरूप सम्यक् ज्ञान से विषयाभिमुखता से सम्यक् निवृत्ति होती है।

## २—हेयशून्यावस्था—

द्वितीय अवस्था मे हेयभूत दुःखो की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। इस अवस्था मे योगी यह अनुभव करने लगता है कि हेय (दुःख) के कारणभूत सयोगजन्य समस्त अविद्या, अस्मितादि क्लेश क्षीण हो चुके है, अतः अब कुछ भी क्षय करने योग्य नही बचा है। "क्षीणा हेयहेतवा न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति" (व्या० भा०), अर्थात् द्रष्टा एव दृश्य का सयोग-स्वरूप हेय-हेतु विनष्ट हो चुका है, अब और इसमे कुछ नाश करने योग्य नही है। इस सयोग के ही कारण समस्त क्लेश बाधा पहुँचाते थे,

---

१. "एषा चतुष्टयी कार्यमिमुक्तिप्रज्ञाया।" (व्या० भा०)
"कार्यान्तरेण विमुक्ति प्रज्ञाया इत्यर्थ।" (वाच० "तत्व वै०")

२ यो० सू० २/१५-१८-२६।

जिनकी सकारण समाप्ति हो चुकी। इस प्रकार द्वितीय प्रज्ञा में क्लेश-नाश के हेतु की गई चेष्टा मे साफल्यप्राप्तिवश उस विषय मे कर्त्तव्य समाप्ति के ज्ञान से सयम-चेष्टा की निवृत्ति होती है।

## ३—प्राप्यप्राप्त अवस्था—

तृतीय अवस्था पूर्ण-ज्ञान-प्राप्ति की अवस्था है। इस अवस्था मे हान के स्वरूप का निरोध-समाधि से प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। अतः चरमगति-विषयिणी जिज्ञासा समाप्त होती है। "साक्षात्कृत निरोधसमाधिनाः हानम्" इस प्रकार की प्रज्ञा उदित होने पर उस विषय मे सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है।

## ४—चिकीर्षाशून्यावस्था—

इस अवस्था मे विवेक की अवस्था से समस्त कुशल धर्मोत्पत्ति विषयक व्यापार की इतिवृत्ति होती है और योगी की अनुभूति इस प्रकार की होती है:— "भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः", अर्थात् विवेकख्यातिरूप मोक्ष का उपाय निष्पादित हो चुका, अतः मोक्ष-सम्बन्धी कोई धर्म निष्पाद्य नही रहा। इस प्रकार मोक्ष धर्म-सम्पादन विषयिणी इच्छा का अभाव हो जाता है। अतः इसे चिकीर्षाशून्यावस्था कहते है, क्योकि यही विप्लव शून्य हानोपाय ( मोक्षोपाय ) है ( २/२६ )। इस अवस्था मे प्रयत्नसाध्य प्रज्ञा समाप्त हो जाती है। यहाँ प्रज्ञा की समाप्ति चित्त के गुणाधिकार की समाप्ति नही है। इसके पश्चात् शेष तीन प्रज्ञाएँ स्वयमेव आविर्भूत होकर चित्त निवृत्ति कर देती है। वही पर-वैराग्य की चरम सीमा है। उसी की अग्रया बुद्धि सज्ञा है। वही बुद्धि-व्यापार की अन्तिम सीमा है। तत्पश्चात् कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है।

## चित्त विमुक्ति-प्रज्ञा—

## ५—चित्तसत्त्व-कृतार्थता—

इस प्रज्ञा मे बुद्धि के अधिकार की समाप्ति हो जाती है—"चरिताधिकार बुद्धि" अर्थात् बुद्धि का भोग एव अपवर्गरूप पुरुषार्थ सिद्ध हो चुकता है। बुद्धि-द्वारा भोगापवर्ग सिद्धि के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नही होता है, अतः इस प्रज्ञा मे बुद्धि विषयक व्यापार से विरक्त होती है।

६—गुणलीनता—

बुद्धि के चरितार्थ हो चुकने से षष्ठ प्रज्ञा मे योगी को-समस्त विघ्न नष्ट हो चुकने से-बुद्धि-स्पदन-निवृत्ति का निश्चय हो जाता है। अतः वह "गिरिशिखर-कूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्त गच्छन्ति न चैषा प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति" अर्थात् पर्वत शिखर के किनारे से गिरे हुए शिलाखण्ड की भॉति पुरुष से सम्भिन्न प्रयोजनाभाववश निराधार स्वकारण मे लयाभिमुख गुण समूह चित्त सहित अस्त हो रहे है, यह अनुभव करता है। प्रयोजन का अभाव हो जाने से अब एक बार विलीन हुए गुणो[1] की पुनः उत्पत्ति नही हो सकती है, इस प्रकार की आत्मसन्तुष्टि का अनुभव करता है गुणलीनावस्था मे योगी को-समस्त क्लिष्टाक्लिष्ट सस्कार क्षीण हो जाने से—चित्त के शाश्वतिक निरोध की स्फुटत्व प्रतीति होती है।

७—आत्मस्थिति—

"एतस्यामवस्थाया गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुषः इति" (व्या० भा०), अतः इस अवस्था मे पुरुष गुणो के सम्बन्ध मे अतीत (परे) होकर आत्मस्वरूप मे प्रतिष्ठिन हो जाता है। आत्मस्थिति ही चरम लक्ष्य है। इस प्रकार आत्मस्थिति मे प्रतिष्ठित चेतन मात्र=स्वप्रकाश ज्योति-स्वरूप, सर्वथा निर्मल पुरुष, केवली (सर्वसम्बन्धशून्य) कहा जाता है। यही जीवनमुक्तावस्था है। यहॉ पर गुण का अर्थ त्रिगुण है।

यह अवस्था कैवल्य नही, अपितु कैवल्य विषयिणी सर्वोत्कृष्ट प्रज्ञा की अवस्था है। कैवल्य मे तो चित्त का प्रतिप्रसव हो जाता है, किन्तु दुःख-सस्पर्श से अतीत होकर जीवित रहने से और विदेह कैवल्य का आश्रय न लेकर योगी जीवन्मुक्त कहा जाता है। "जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति" (व्यासभाष्य ४/३०)। बात यह है कि सप्त-प्रान्तभूमि प्रज्ञा के पश्चात् चित्त के निरुद्ध हो जाने पर, शान्त उपाधि-युक्त पुरुष को मुक्त, कुशल कहा जाता है। जब कि इस प्रज्ञा की भावना करते समय उसे केवल कुशल कहते है। वह जीवन्मुक्ति इसीलिये है कि जीवनकाल मे उसे दुःख की अनुभूति नही होती। सच तो यह है कि विवेक दर्शन मे निष्णात होने

१ यहॉ पर गुणो का तात्पर्य सुख-दुःख मोहरूप बौद्धिक गुण है, मौलिक त्रिगुण नही। चूकि वे ही मूलकारण ही है अत वे किस मे लय प्राप्त करेगे ? प्रकृति स्वय ही त्रिगुण की साम्यावस्था है।

से जीवन्मुक्त को दुःख का सस्पर्श तक नही होता है, जैसे निर्माण-चित्त का आश्रय ग्रहण करके जीवित रहने से भी योगी जीवन-मुक्त होता है। कैवल्य मे विवेक-अविवेक कुछ भी नही रहता। विवेक से अविवेक नष्ट होकर बुद्धि-निवृत्ति होती है। विवेक अग्नि के समान स्वाश्रय को भी नष्ट कर देता है। चित्त-प्रलय-युक्त योगी विदेहमुक्त एव उक्त प्रज्ञावान् यागी जीवन्मुक्त होता है।

किन्तु जिस विवेक-ख्याति – द्वारा योगी मुक्त होता है, उसकी प्राप्ति के लिए दीर्घकालीन साधन की आवश्यकता होती है। इसकी प्राप्ति के साधन योग के अष्ट अग है। इन योगागो के अनुष्ठान से रजोगुण–तमोगुण प्रयुक्त विपर्यस्त ज्ञान रूप क्लेश एव शुक्लकृष्णादि कम-स्वरूप अशुद्धि का नाश होता है और विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञान दीप्ति होती है।[1] ज्ञानदीप्ति का अर्थ है, उत्तरोत्तर स्फुटतर यथार्थ ज्ञान के प्रकाश की अभिव्यक्ति। विवेक-ख्याति इस ज्ञानदीप्ति की चरम सीमा है। जितना अधिक योगाङ्गो का अनुष्ठान किया जाता है, उस अनुष्ठान की गति के अनुसार क्रमशः उतना ही अधिक अविद्या, अस्मिता आदि क्लेश-कर्म रूप अशुद्धि का क्षय होता जाता है। अशुद्धि का तात्पर्य केवल अज्ञान से नही, अपितु अज्ञानमूलक कर्म, तन्मूलक एव तज्जन्य सस्कारो से भी है। योगाङ्गो के निरन्तर अनुष्ठान से क्लेश-कर्म एव कर्म-सस्कार, इन सबका उत्तरोत्तर नाश होता है, क्योकि अविद्या-अस्मिता आदि समस्त क्लेश अज्ञान, अर्थात् विपर्यस्त ज्ञान स्वरूप होते है, तथा योगाङ्गानुष्ठान का अर्थ है अविद्यादि के अवश या अज्ञान से विपरीत कार्य-कलाप, अर्थात् ज्ञानमूलक कर्माचरण अज्ञानमूलक कर्म का विरोधी होता है। अतः योगाङ्गानुष्ठान से अज्ञान का नाश होता है। अज्ञान के नष्ट होने से ज्ञान की और अधिक वृद्धि होती है। ज्ञान की इस उत्तरोत्तर वृद्धि को ही ज्ञानदीप्ति कहते है। यह ज्ञानदीप्ति सत्वपुरुषान्यताख्याति पर्यन्त प्रकर्ष का अनुभव करती है।

इस प्रकार से योगाङ्गो का अनुष्ठान अशुद्धि का वियोग-कारण एव विवेक-ख्याति का प्राप्ति-कारण है। इस प्रसग मे भाष्यकार ने कारण के नौ प्रकारो का विवरण दिया है—(१) उत्पत्ति कारण, (२) स्थिति-कारण, (३) अभिव्यक्ति-कारण, (४) विकार-कारण, (५) प्रत्यय-कारण, (६) प्राप्ति-कारण, (७) वियोग-कारण, (८) अन्यत्व-कारण और (९) धृति–कारण।[2]

---

१ "योगाङ्गोनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक ख्याते।" (यो० सू० २/२८)

२ "उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तय।
वियोगान्यत्वधृतय कारण नवधास्मृतम्॥" (व्या० भा० २/२८)

इन नौ प्रकार के कारणो मे से योगाङ्गानुष्ठान अज्ञान का वियोग कारण है, जिस प्रकार छेदन की जानेवाली वस्तु का परशु विभेद-कारक होने से वियोग-कारण होता है। साथ ही विवेक-ज्ञान का वह प्राप्ति कारण है, जिस प्रकार धर्म कर्म सुख की प्राप्ति का कारण होता है।

यहाँ पर योग अज्ञान का वियोग कारण तथा विवेक-ज्ञान का प्राप्ति कारण है। कोई योगाङ्गो को ज्ञान का कारण कहने से उसका उपादान कारण न समझ ले, इसी से भाष्यकार ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है। विवेक-दर्शन से अविवेक नष्ट होता है और विवेक योगाङ्गानुष्ठान से प्राप्त होता है। इसी रूप मे योगाङ्गपरम्परया मोक्ष का या ज्ञान-प्राप्ति का हेतु है। वस्तुतः मोक्ष का कोई उपादान कारण नही होता। विवेकज्ञान नित्य है। अज्ञान से ही अविवेक (सयोग) की प्रतीति होती है। यह सयोग भी अभिन्न-प्रत्ययमात्र है, जो विवेक-प्रत्यय से नष्ट हो जाता है। योग अशुद्धि का वियोग-कारण और विवेक का प्राप्ति-कारण है। जिस प्रकार सयोग का कोई उपादान कारण नही है, उसी प्रकार, वियोग (मोक्ष) का भी कोई उपादान कारण नही है। मोक्ष विवेकज्ञान से उत्पन्न नही होता, अपितु नित्य है। विवेक-ज्ञान से पुरुष अपने स्वरूप की उपलब्धि करता है, न कि उत्पत्ति। वह तो नित्य मुक्त, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यरूप ही है। स्वरूपतः बद्ध नही। अज्ञान की उपाधिवश ही, उसके इस स्वरूप की उपलब्धि नही होती है। इस उपाधि की निवृत्ति से स्वरूपोपालब्धि होती है।

इसी प्रकार यह शका भी हो सकती है कि ज्ञानका कारण प्रत्यक्ष, अनुमान एव आगम प्रमाण ही होते है। अतः योगाङ्गानुष्ठान विवेक-ज्ञान का कारण कसे कहा जा सकता है? उक्त तीनो प्रमाणो से ज्ञान प्राप्त होता है, योगियो की भी यही मान्यता है, किन्तु योगाङ्गानुष्ठान ज्ञान का कारण किस प्रकार है, यह पहले भलीभाँति स्पष्ट किया जा चुका है। अतएव उक्त रीति से योगाङ्गानुष्ठान द्वारा प्राप्त समाधिजन्य ज्ञान ही परमप्रत्यक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्षदर्शी पुरुषो द्वारा उपदिष्ट ज्ञान ही मोक्ष विषयक विशुद्ध आगम होता है। समाधि से प्राप्त ज्ञान ही ऋतजात सत्य होता है।

---

## (४) योग के अष्ट अंग—

### साधना प्रक्रिया की अवतारणा—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के ये अष्ट अग है।[1] इन्ही के अनुष्ठान से विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञानदीप्ति होती है। तत्पश्चात् सम्प्रज्ञात समाधि परिपक्व हो जाने पर "सर्ववृत्तिनिरोध" रूप असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है। इनमे से धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन योग के अन्तरग साधन है तथा पूर्व के पॉच बहिरग साधन है। इन सबका पृथक नाम-निर्देश, इनकी योगसाधना मे अनिवार्यता का सूचक है तथा "अष्टौ" कहने से ये आठ ही योग के अग है, अधिक नही, यह अभिप्राय है।

"योगसूत्र" के समाधिपाद मे अभ्यास-वैराग्य तथा श्रद्धा, वीर्यादि के सतत् अनुष्ठान से समाधि-सिद्धि बतलाई गई है, किन्तु उनका अन्तर्भाव इन्ही आठो अगो मे है। यथा, प्रत्येक योगाग का बारम्बार अनुष्ठान ही अभ्यास है। वैराग्य का नियमान्तर्गत सन्तोष मे तथा श्रद्धा आदि का यथायोग्य तप आदि मे अन्तर्भाव होता है। पूर्वोक्त परिकर्मो[2] का धारणा, ध्यान और समाधि मे अन्तर्भाव है। साधन पाद मे वर्णित तप, स्वाध्याय एव ईश्वरप्रणिधानरूप क्रिया-योग का नियमो मे सद्भाव है। महाभारत मे भी योग के आठ ही अग बतलाये गए है—"वेदेषु चाप्टगुणिन योगमाहुर्मनीषिणः"।[3] लिङ्ग पु० (१/८/७) कहता है—साधनान्यष्टधा चास्य।

श्री विज्ञानभिक्षु के अनुसार योगारुरुक्ष गृहस्थादि मन्दाधिकारियो के के लिए अष्टागयोग का विधान है।[4] उत्तम और मध्यम अधिकारी-वर्ग के हेतु केवल ज्ञान एव ज्ञानसमुच्चित कर्मो के वर्णन मे उन्होने यह बतलाया है।[5] कुछ भी हो, सच तो यह है कि विविध क्लेश सकुल ससार से निवृत्ति के लिए क्रमशः अन्तर्मुख होने

---

१ "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।" (यो० सू० २/२९)

२. समाधि पाद मे सू० ३३ से ३९ तक चित्त परिकर्म वर्णित है।

३ शान्ति० २१६/७ नीलकण्ठी टीका मे

४. यो० सा० स० पृ० ६०।

५. यो० सा० स० पृ० ६१।

का सुगम साधनमार्ग अष्टागयोग है, जिसमे अन्य किसी साधन की अपेक्षा न होने से यमो का सर्वप्रथम स्थान है। नियम-साधना पहले यमो के साधन की अपेक्षा रखती है। उसी प्रकार क्रमानुसार उत्तरोत्तर आसन, प्राणायामादि स्वपूर्ववर्ती नियम, आसन-जयादि कारण सापेक्ष हे। यमो को अपने पूर्व अष्टागयोग मे से किसी के भी अनुष्ठान की अपेक्षा नही होती है।

इन यमो के नाम है—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह (सग्रह का अभाव)।[1]

"यम उपरमे" धातु से निष्पन्न "यम" शब्द का अर्थ होता है—"निवृत्त होना"। अतः हिसा, असत्य, स्तेय, मैथुन एव परिग्रह की निवृत्तिस्वरूप अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, एव अपरिग्रह योगसम्मत यम है। मनुष्य का समस्त प्राणिवर्ग के प्रति व्यवहार ही बहिर्मुखता की चरम सीमा है। अतः सर्व प्रथम व्यावहारिक जीवन को सात्विक, दिव्य एव योगाभिमुख बनाने के लिये यम प्रथम सोपान है। यमो के सम्यक् आचरण से बाह्य-व्यवहार की शुद्धि होती है और स्थूल क्लेश-कर्मो की निवृत्ति होती है।

## अहिसा—

समस्त प्राणियो के प्रति सब प्रकार से द्रोहत्याग ही अहिसा है, अर्थात् मनसा वाचा, कर्मणा किसी प्राणी को क्लेश न पहुचाने की वृत्ति ही अहिसा है, यही अहिसा सबसे बडा धर्म एव सुख है। अन्य सब धर्म अहिसा की प्रतिष्ठाहेतु ही किये जाते है। विज्ञानभिक्षु ने योगसारसग्रह मे "ईश्वर गीता" के अहिसा परक श्लोको को प्रमाणरूप मे उद्धृत करते हुए शास्त्रोक्त हिसा को अहिसा ही बतलाया है।[2]

---

१. "अहिसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्या परिग्रहा यमा ।" (यो० सू० २/३०)

तथा

"अहिसासत्यमस्तेय ब्रह्मचर्य्य परिग्रहौ ।
यमा सक्षेपत प्रोक्ताश्चित्तशुद्धिप्रदानृणाम् ॥' (यो० सा० स० पृ० ६१)

२ तुल०—'कर्मणा मनसावाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजनन प्रोक्तात्वहिसा परमर्षिभि ॥
अहिसाया परोधर्मो नास्त्यहिसापर सुखम् ।
विधिना या भवेद्धिसा सा त्वहिसैव कीर्तिता ॥"

—आगामी पृष्ठ पर

भाष्यकार कहते है—"नानुपहत्य भुतान्युपभोगः सम्भवति" (२/१५) अतः शरीर धारण करने के लिये जीवपीडा अत्याज्य है।

मुमुक्ष, योग-साधक के लिये हिसा-कर्म सर्वथा सर्वदा परित्याज्य है। वे तो आततायी तथा सर्पादि सदृग हिसक जीवो की भी हिसा नही करते। भिक्षु जी ने जिस गास्त्रोक्त हिसा को अहिसा वतलाया है, वह गौच, आचमनादि मे अज्ञानवश होने वाली हिसा अथवा गृहस्थाश्रमियो से कर्त्तव्याचरण मे होने वाली अनिवार्य हिसा ही समझनी चाहिये।[1] भाष्यकार की "नानुपहत्य भूतानि भोगः सम्भवति" उक्ति से भी यही तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये, क्योकि योगियो के लिये सूत्रकार एव भाष्यकार दोनो ने अहिसा का "महाव्रत" रूप मे पालन करना बतलाया है।

यह भी स्मरणीय है कि केवल वध न करना ही अहिसा नही है, अपितु समस्त प्राणियो के प्रति मन, वचन एव कर्म से, मैत्री, करुणा आदि सद्भावो का पोषण भी अहिसा के अन्तर्गत है। मन, वाणी एव शरीर द्वारा क्रमशः अनिष्ट-

---

१ तुल०—"अत्र यद्वैधहिसाया अहिसात्वमुक्त तच्छौचाचमनाद्यपरिहार्यहिसापर गृहस्थादि-कर्त्तव्यहिसापर वा।" (योगसार सग्रह, पृ० ६४)

---

(गत पृष्ठ का शेषाश)

(यो० सा० सग्रह, पृ० ६२) (ये कूर्मपुराण २/ है)

किन्तु हिसा के स्वरूप का निर्णय मनोवृत्ति के अनुसार किया गया है। क्रूरता, जिघासा, द्वेष आदि दूषित वृत्तिशून्य व्यक्ति से माता-पिता का बध भी परमार्थत हिसा नही है। हिसा मे भी तारतम्य होता है। पिता, माता, भाई, बहिन, सन्तानादि की हिसा और शत्रु की हिसा भी एक कोटि का दुष्कर्म नही। पिता-माता, सतान और भ्राता आदि के बध के लिये शत्रु-बध की अपेक्षा अधिक क्रूर वृत्ति की आवश्यकता होती है, अत इनकी हिसा अधिक जघन्य पाप है। इनके पश्चात् सामान्य मनुष्य, पुन शत्रु, तदुपरान्त उपकारी पशु, पुन सामान्य पशु, फिर अपकारी पशु एव अन्य जीव, तत्पश्चात् सामान्य उद्भिज्ज, अपकारी वृक्ष, भक्ष्य वृक्ष, शस्यादि एव अन्त मे अदृश्य जीवो की हिसा क्रमश मृदुतर होती है। सामान्य ससारियो के लिये आततायी की हत्या एव वृक्षादिनाश अधिक दोषपूर्ण हिसा कोटि मे परिगणित नही होते, क्योकि वे जिस अवस्था मे है, उसमे वे ऐसा करने को बाध्य हो जाने से अधिक दूषित नही होते, किन्तु यह सब व्यवस्था जन-सामान्य के हेतु है।

चिन्तन, परुषभाषण तथा ताडन आदि से किसी प्राणी को पीडा पहुँचाना हिसा है। अतः इससे विपरीत आचरण अर्थात् मन, वचन और कर्म द्वारा सर्वदा और सर्वथा प्राणिमात्र के प्रति द्रोहत्याग योग सम्मत अहिसा है। इसीलिये भगवान व्यास ने समस्त प्राणिवर्ग का अनभिद्रोह कहकर अहिसा की व्याख्या की है।[1]

हाँ, यह अवश्य है कि प्राण-हरण सबसे प्रबल हिसा है, क्योकि प्राण ही प्राणियो की प्रियतम वस्तु है। परुष वचन से मर्मछेदन आदि अपेक्षाकृत मृदुतर हिसाएँ है। साथ ही जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है, इसमे मनोवृत्ति का प्राधान्य होता है। अतः अध्यापनार्थ ताडन, रोग निवृत्यर्थ शल्यक्रिया या आपरेशन, कटु अथवा तत्काल कष्टप्रद औषधि-दान तथा प्रायश्चितादि के हेतु दण्ड-विधान, यदि केवल कल्याण चिन्तनपूर्वक किये जाते है, तो वे अहिसारूप ही है, योग के महाव्रत का इससे सम्बन्ध नही है।

अहिसा के अतिरिक्त शेष चारो यम अहिसामूलक ही है और उनका अनुष्ठान अहिसा की निर्मलता के हेतु किया जाता है। अन्य सत्यादि यमो का अनुष्ठान न करने से असत्यादि द्वारा अहिसा मलिन होने का भय रहता है।[2]

सत्य—

यथार्थ चिन्तन एव कथन सत्यानुष्ठान है, अर्थात् जिस रूप मे किसी वस्तु को प्रत्यक्ष किया हो (देखा हो), जैसा उसे तर्कानुमान से जाना हो, अथवा जैसा आगम से सुना हो, उसी रूप मे उस वस्तु के ज्ञान को मन मे धारण करना तथा दूसरो को बतलाना सत्य है। स्वचित्तगत बोध के विपरीत बोध कराने वाली वाणी असत्य होती है। उदाहरणार्थ 'अश्वत्थामा हतः" युधिष्ठिर का यह वाक्य द्रोणाचार्य के मन मे अयथार्थ ज्ञानोत्पादन होने से असत्य है। कारण युधिष्ठिर के चित्त मे प्रत्यक्ष

---

१ 'तत्रा हिसा सर्वदा सर्वदा सवभूतानामनभिद्रोह ।" (व्या० भा० २/३०)

२ 'स खल्वय ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिसा निदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिसा करोति" (पञ्चशिखाचार्य)। (द्र०—व्या० भा० सू० २ ३०)

तथा

'सत्येन सर्वमाप्नोति सत्ये सर्व प्रतिष्ठितम्। (गो० भा० म० पृ० ६२)

'यथार्थकथनाचार सत्य प्रोक्त द्विजातिभि ॥' (कूर्म २)

३ द्रोणपर्व १९०/५५।

बोध हस्तिमृत्यु विषयक था और युधिष्ठिर के वाक्य से द्रोणाचार्य के चित्त मे उत्पन्न हुआ बोध स्वपुत्र विषयक था और वह उस अयथार्थ बोध को उत्पन्न कराना चाहते थे। अतः ऐसी वाणी वचनाजनक होने से असत्य कोटि मे गण्य है। वचना, भ्रान्ति एव प्रतिपत्तिशून्य बोधकारक वचन ही सत्य है, पर अपकार मूलक वचन भी सत्य नही सत्याभास है।[1] दूसरे के चित्त मे कष्ट पहुँचाने वाले सत्य कथन से भी दुःखात्मक नरक प्राप्त होता है। अतः दूसरे के लिये उपकारक एव यथार्थ ज्ञानोत्पादक वचन ही सत्य है। भगवान् मनु भी कहते है—

"सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रिय।"

अप्रिय सत्य के विषय मे मौनसाधन ही श्रेयस्कर है। अप्रिय सत्य-भाषण से योगियो की दृष्टि से वक्ता का ही अनिष्ट होता है।

## अस्तेय—

"मुष स्तेये" धातु से निष्पन्न "स्तेय" शब्द का अर्थ होता है—चोरी अथवा तस्करता। स्तेयाभाव को अस्तेय कहते है। अतः अस्तेय का अर्थ है चोरी अथवा बलात्कारपूर्वक किसी के द्रव्य को ग्रहण न करना।[2] भगवान् व्यास ने अशास्त्रीय विधि से दूसरे के धन के स्वीकरण को स्तेय तथा उसके विरुद्ध स्तेय मे स्पृहा के अभाव को अस्तेय कहा है। इन्द्रिय से परद्रव्यापहरण तो दूर की बात है, मन से भी अन्यायपूर्वक पर द्रव्य-स्वीकरण के इच्छाराहित्य को अस्तेय कहते है। अतः निजस्वरहित वस्तु के ग्रहण एव उसको ग्रहण-स्पृहा के परित्याग की चेष्टा ही अस्तेय साधन है। इस विषय मे श्रुति भी है—"मा गृधः कस्यस्विद्धनम्"।[3]

## ब्रह्मचर्य—

मन, वाणी एव कर्म द्वारा, सब अवस्थाओ मे, सर्वत्र, समस्त प्राणियो मे,

---

१. तुल०—यदिचैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैवस्यान्न सत्य भवेत् पापमेवभवेत्। तेनपुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्ट तम प्राप्नुयात्।
(व्या० भा० यो० सू० २/३०)

२ तुल०—"परद्रव्यापहरण चौर्याद्वाऽथ बलेन वा।
स्तेय तस्यानाचरणादस्तेय धर्मसाधनम्॥"
(यो० सा० स० पृ० ६२)

३ ६ १"

मैथुन का परित्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है।[1] व्यास ने सामान्यरूप से उपस्थसंयम को ब्रह्मचर्य कहा है, किन्तु उसका तात्पर्य चक्षु आदि समस्त इन्द्रियो की रक्षापूर्वक अर्थात् अब्रह्मचर्य के विषयो से समस्त इन्द्रियो का सयम करके उपस्थसयम करना ब्रह्मचर्य है, ऐसा समझा जाना चाहिये। केवल उपस्थ-सयम को पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार तो सयत गुह्येन्द्रिय युक्त पुरुष स्त्री रागयुक्त दृष्टिपात, अगस्पर्श, आसक्तिपूर्ण वार्तालापादि करते हुए भी ब्रह्मचारी कहा जायगा। वस्तुतः ये अब्रह्मचर्य के लक्षण है, क्योकि इन क्रियाओ से भी चित्त एव अगो मे काम विकार उत्पन्न होता है, जो सर्वथा हेय है। महर्षि दक्षमुनि ने अष्ट मैथुनराहित्य को ब्रह्मचर्य का लक्षण कहा है जो इस प्रकार है :—

"स्मरणं कीर्तन केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियोनिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टांङ्ग प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीत ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥"[2]

कही कही पर "विपरीत ब्रह्मचर्यमनुष्ठेय मुमुक्षुभीः" ऐसा पाठ है।

"योगसार सग्रह" मे समस्त प्राणियो मे सर्वथा मैथुन त्याग को ब्रह्मचर्य कहा है, जिसके अन्तर्गत मनुष्येतर प्राणी भी आते है। अतः मनुष्येतर प्राणियो मे मैथुन-त्याग तभी सिद्ध हो सकता है, जब उपर्युक्त अष्ट अग स्वीकार किये जाये। उपर्युक्त अष्टाग-मैथुन मे "प्रेक्षण" का अर्थ रागपूर्वक दर्शन समझना चाहिये, क्योकि दृष्टिपात्मात्र से विकारोत्पत्ति नही हो जाती है। वस्तुतः वीर्यरक्षा ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य-पालन का यही उद्देश्य होता है—क्योकि वीर्य-नाश को मरण एवं वीर्यरक्षा को जीवन कहा गया है। "मरण बिन्दुपातेन जीवन बिन्दुधारणम्।"[3] यहॉ बिन्दु का अर्थ वीर्य ही है।

## अपरिग्रह—

किसी से कुछ लेने से हृदय अपवित्र हो जाता है। दान-ग्रहण करने वाला

---

१ कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषू सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्याग ब्रह्मचर्य प्रचक्षते॥ (योग सा० स० ६२)

२ द्र०—यो० भा० विवृ०, पृ० ४५०।

३ पातञ्जलयोगप्रदीप—पृ० ३६७।

हीन हो जाता है, उसकी स्वतन्त्रता खो जाती है और वह बद्ध एव आसक्त हो जाता है, क्योकि वस्तुओ के ग्रहण से अर्जन, रक्षण, क्षय, सग एव हिसा आदि दोष उत्पन्न होते है। अतः प्राणधारण के लिये आवश्यक वस्तु से अधिक का अस्वीकरण अपरिग्रह है। भिक्षु के अनुसार सकटकाल मे भी किसी से इच्छापूर्वक उपहार ग्रहण न करना अपरिग्रह है।[1] अपरिग्रह-साधना का उद्देश्य भी हृदयशुद्धि है (परम्पराक्रम से)।

वस्तुओ के ग्रहण और अधिक सग्रह की कामना बढने के साथ-साथ, उसकी रक्षा तथा नष्ट न होने देने की चिन्ता बढती है।

विषयो मे आसक्ति को सग कहते है। वह भी दोष है, क्योकि इससे प्रबल भोगेच्छा जागृत होती है। भोगाभ्यास से विषयराग दृढतर होता है तथा इन्द्रियो मे भोगपाटव की वृद्धि होती है। प्राणिपीडन के बिना भोग सम्भव नही होता[2] और प्राणिपीडन हिसा है। शास्त्रोक्त विधि विपरीत द्रव्य के ग्रहण मे तो स्पष्ट ही दोष है। वैध विषयो के ग्रहण मे भी पूर्वोक्त दोष होते है, अतः योग साधक के हेतु शास्त्रीय विषय भी यथासभव परित्याज्य है। यही अपरिग्रह है। शका हो सकती है कि जब "अस्तेय" मे ही परद्रव्य के अस्वीकरण का विधान है, तो "अपरिग्रह" के अलग विधान का क्या प्रयोजन है ? इसका समाधान यह है कि—"अस्तेय पद से चौर्य एव तस्करता का निषेध किया गया है और अपरिग्रह से दान लेने का निषेध है। अस्तेय का अर्थ अशास्त्रीय ( शास्त्रानुसार जो अपना विषय नही है, वह ) द्रव्य का परित्याग है और अपरिग्रह का अर्थ शास्त्रोक्त द्रव्यो मे भी दोषदर्शनपूर्वक उनका यथाशक्ति परित्याग है। अतः दोनो ही पद सार्थक है।

× × ×

अभी यमो के सामान्य स्वरूप का वर्णन किया गया है पहले योगी के लिये उक्त यमो का महाव्रतरूप मे अनुष्ठान बतलाता गया है। पूर्वोक्त पाँचो यम ही, जाति, देश, काल एव समय (सकेत, नियम विशेष) की सीमा से रहित सार्वभौम रूप मे ( प्रत्येक अवस्था मे ) आचरित होने पर, महाव्रत कहलाते है।[3]

---

१ "द्रव्याणामप्यनादानमापद्यपि यथेच्छया।
अपरिग्रह इत्युक्तस्त प्रयत्नेन पालयेत् ॥
(योगसार सग्रह, पृ० ६२ )

२ "नानुपहत्यभूतान्युपभोग सम्भवति।" (व्या० भा० सू० २/३०)

३ "जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्।" (यो० सू० २/३१)

जाति, देश, काल और समय से अनवच्छिन्न का अर्थ है—इन चारो से यमो को सकुचित न किया जाना। उदाहरणार्थ—

१. जति से अवच्छिन्न हिसा—जैसे गौ आदि पशु अथवा ब्राह्मण की हिसा न करूँगा।

२. देश द्वारा सकुचित हिसा—यथा काशी, प्रयाग आदि तीर्थों मे हिसा न करूँगा।

३ काल द्वारा सकुचित—एकादशी, चतुर्दशी आदि पुण्य तिथियो को हिसा नही करूँगा।

४ समय द्वारा सकुचित—यहाँ समय का अर्थ है—कर्त्तव्य के लिये नियम। अजुन ने क्षत्रिय धर्म-वश महाभारत युद्ध किया था। युद्ध करना क्षत्रिय का कर्त्तव्य है।[1] यही समय द्वारा सकुचित या समयावच्छिन्न हिसा है। इसी प्रकार यज्ञादि मे देव-ब्राह्मणार्थ हिसा भी कर्त्तव्य होने से समयावच्छिन्न हिसाएँ है।

अन्य यमो के लिये भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये, अर्थात् समयावच्छिन्न सत्य-जैसे "प्राणसकट आदि के अतिरिक्त कभी असत्य भाषण नही करूँगा"। समयावच्छिन्न अपरिग्रह, यथा "परिवारपालन की आवश्यकता से अधिक दान ग्रहण" न करूँगा इत्यादि।

उपर्युक्त प्रकार से यमो का पालन अवच्छेद (सीमा) युक्त कहलाता है। इन जाति देश काल और समय के अवच्छेद के हटने पर, सब प्रकार से सभी जाति, देश, काल और समय पूर्णतः यमो का पालन किया जाने पर वे महाव्रत कहलाते है। योगियो के लिये यमो का सार्वभौम महाव्रत ही परिपालनीय होता है।

× × ×

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एव ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम होते है।[2]

---

१. "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥"
(गीता २/३१)

२. "शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा।"
(यो० सू० २/३२)

ईश्वर-प्रणिधान को ईश्वरपूजन भी कहते है।[1] इनमे प्रथम, शौच, बाह्य एव आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। मृत्तिका, जल, गोमय आदि से पात्र, वस्त्र, स्थान एव शरीर के अगो को शुद्ध रखना तथा हित, मित, पवित्र आहार से शरीर को सात्विक, स्वस्थ एव निरोग रखना बाह्य शौच है। मैत्री, आदि पवित्र भावनाओ से अभिमान, असूया, घृणा आदि चित्त के मलो का प्रक्षालन आभ्यान्तर शौच है।

जीवनधारण-हेतु प्राप्त आवश्यक भोगसाधन से अधिक सग्रहेच्छा का अभाव सतोष है।[2] योगी के लिये प्रारब्धवश प्राप्त योगोपयोगी पदार्थो से इतर विषयो के सग्रह की कामना न होना सतोष है। सतोष के विषय मे शास्त्रोक्ति है कि—जिस प्रकार कष्टो से बचने के लिये भूमि को सर्वत्र चर्माच्छादित नही किया जा सकता है, किन्तु जूते पहने जा सकते है। उसी प्रकार सुखप्राप्ति, अनन्त काम्य विषयो के अर्जन से नही हो सकती। सतोष से ही सुख प्राप्त हो सकता है। "सर्वत्र सम्पदस्तस्य सन्तुष्ट यस्य मानसम्। उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैवभू ( शान्ति० . .)

मनु जी ने भी कहा है—

**"सतोष परमास्थाय सुखार्थी सयतो भवेत्।**
**सतोषमूल हि सुख दुःखमूल विपर्य्ययः॥"[3]**

क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, स्थान ( खडा ही रहना ), आसन ( बैठा ही रहना ) आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वो की अवस्थाओ मे अविचलित रहना तप है। वाणी के सयम के लिये काष्ठमौन, आकार-मौन, उक्त द्वन्द्व सहन के हेतु कृच्छ्र, चान्द्रायण, सान्तापन आदि व्रत भी तप के अन्तर्गत आते है। इनका प्रयोग अपनी सामर्थ्य एव आवश्यकतानुसार ही आचरणीय है। यदि शरीर मे इन व्रतो के पालन से व्याधि, पीडा एव इन्द्रिय-विकार की सम्भावना हो तो ये त्याज्य है। चित्तप्रसाद मे बाधक उग्र तप योग मार्ग मे वर्जित है--

---

१ तुल०—"तप स्वाध्यायसन्तोषा शौचमीश्वरपूजनम्।
समासान्नियमा प्रोक्ता योगसिद्धिप्रदायिन॥" (यो० सा० स० पृ० ६३)

२ "यदृच्छालाभतो नित्यमल पुसो भवेदिति।
या धीस्तामृषय प्राहु सन्तोष सुखलक्षणम्॥" (कूर्म २, विष्णु ६)

३ मनुस्मृति, ४/१२।

"युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तास्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा ॥" गीता, ६।१७

वाजिविद्या-प्रवीण सारथि की भाति, शरीर, प्राण एव इन्द्रियो को उचित रीति से स्ववश करना ही तप द्वारा साध्य है ।

श्री भिक्षु ने योगसार सग्रह मे उपवास परक कृच्छ्र, चान्द्रायणादि व्रतो द्वारा शरीरशोषण को ही उत्तम तप कहा है।[1] पर योगसाधक के हेतु उग्र तप वर्जित है। अतः उक्त व्रतो द्वारा शरीरशोषण यदि योगमार्ग मे बाधक सिद्ध हो, तो उसे उत्तम तप नही कहा जा सकता है।[2] भिक्षु जी की तप की व्याख्या योगी की शारीरिक क्षमता पर निर्भर करती है। कृच्छ्रादि तप पापक्षय हेतु आवश्यक होने से पालनीय होते है, द्वन्द्व-सहन मे शक्तिवर्द्धक तप ही उत्तम तप कहा जा सकता है।

उपनिषद्, गीता आदि मोक्ष प्रति-पादक आध्यात्मिक शास्त्रो का नियमित अध्ययन तथा प्रणव, गायत्री आदि का नियमित जप स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय से विषयचिन्तन दुर्बल होता है। परमार्थ मे रुचि एव ज्ञान-वृद्धि होती है। इस प्रकार अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

स्वाध्याय के भी तीन भेद होते है। वाचिक, उपाशु एव मानस। वे क्रमशः एक दूसरे से स्ववैशिष्ट्य-युक्त एव श्रेष्ठ है। दूसरे को स्फुटतः शब्दबोध कराने वाला स्वाध्याय वाचिक कहलाता है। ओष्ठस्पन्दन की क्रिया स्पष्ट प्रतीत होने पर भी जिससे दूसरो को शब्दज्ञान न हो, उस स्वाध्याय को उपाशु कहते है। पद एव वर्ण-सगति के अनुसार बाह्य स्पन्दनशून्य शब्द-चिन्तन को मानस जप कहते है।[3]

---

१ "उपवासपराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभि ।
शरीरशोषण प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ॥" (कूर्म)

२. "शारीर तु तपो घोर साख्या प्राहुर्निरर्थक ।
(महाभारत अनुशासन पर्व, पृ० ६०१३, गीताप्रेस सस्करण) (यह दाक्षिणात्यपाठ है)

३. "स्वाध्यायस्य त्रयो भेदा वाचिकोपाशुमानसा ।
उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य प्राहुर्वेदार्थवादिन ॥
य शब्दबोधजनन परेषा शृण्वता स्फुटम् ।
स्वाध्यायो वाचिक प्रोक्त उपाशोरथलक्षणम् ॥
ओष्ठयो स्पन्दमात्रेण परस्याशब्दबोधक ।

—आगामी पृष्ठ पर

ये तीनो उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ है। वस्तुतः ये तीन जपरूप स्वाध्याय के भेद मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

फलेच्छा परित्यागपूर्वक समस्त कर्मों का, परम गुरू ईश्वर को समर्पण करना ईश्वरप्रणिधान कहलाता है। योगसारसग्रहकार ने इसी को ईश्वरपूजन कहा है तथा स्तुति, स्मरण एव पूजन द्वारा, मन, वचन एव कर्म से निश्चल भक्ति को उसका स्वरूप बतलाया है।[1] सम्पूर्ण क्रियाएँ ईश्वर को अर्पित करने के लिये हर समय भगवत् स्मरण करते रहना आवश्यक है। ईश्वर को विस्मृत करके किया हुआ कर्म पूर्णतः अपने व्यक्तित्व के अहकार पूर्वक होता है। अपने आप मे अकर्तृत्व की भावना तथा भगवत्स्मरणपूर्वक कर्म करने से तथा फल की कामना न करने से, कर्माशय निवृत्त होते है। यही ईश्वरप्रणिधान का वास्तविक स्वरूप एव लक्ष्य है। भगवान व्यास ने भी ईश्वर-प्रणिधान का स्वरूप कथन करते हुए यह उद्धरण दिया है :—

**"शय्यासनस्थोऽथ पथिव्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।**
**ससारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोग भागी॥"**

स्पष्ट है कि उठते-बैठते, चलते फिरते हर समय, स्व अर्थात् अपने आत्म-स्वरूप मे स्थित होकर सशयादि वितर्कों से रहित चित्त से ससार के बीजभूत अविद्यादि के क्षय का चिन्तन करता है, वही अमृतत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार ईश्वर प्रणिधान से आन्तरिक चैतन्य की उपलब्धि एव समस्त विघ्नो का विनाश होता है।

× × ×

कल्याण-पथ मे अनेक विघ्न उपस्थित होते है। पूर्वोक्त यम-नियमो के अभ्यास मे हिसा, अमृतादि वितर्क-बाधा उपस्थित होने पर, उनके प्रतिपक्षो की

---

१. "स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मन कायकर्मभि।
सुनिश्चला शिवे भक्तिरेतदीश्वर पूजनम्॥" (योगसार सग्रह, पृ० ६४)

(गत पृष्ठ का शेषाश)
उपाशुरेष निर्दिष्ट सहस्रो वाचिकाज्जप॥
यत्पदाक्षरसगत्या परिस्पन्दविवर्जितम्।
चिन्तन सर्वशब्दाना मानस त जप विदु॥" (योगसार स०, वि० भि०, पृ० ६३)

भावना करनी चाहिये।[1] वितर्क आदि शब्द से हिसा, अनृत, स्तेय, स्त्रीगमन तथा परिग्रह पाँच प्रकार के वितर्क समझने चाहिये। ये क्रमशः अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के विरोधी है। ये स्वय किये गए, दूसरो से करवाए हुए तथा अनुमोदन किए गए, इस प्रकार तीन प्रकार के कर्मानुसार ये अल्प, मध्यम एव अधिक परिणाम युक्त तथा दुःख एव अज्ञान रूप अनन्त फल प्रदान करने वाले है। इनका कारण लोभ, क्रोध एव मोह होता है। इस प्रकार का चिन्तन ही प्रतिपक्ष की भावना है।[2]

रोग एव अस्वस्थ शरीर भी योग मार्ग मे बाधक है, अतः शरीरशोधन, शरीर के विकार एव रोगनिवृत्ति के साधनो का ज्ञान भी परमावश्यक है। हठयोग मे शरीरशोधन के छः साधन बतलाए गए है। धौति, वस्ति, नेती, नौली त्राटक और कपाल-भाति।[3]

प्राकृतिक नियमो, द्वारा भी शरीर-शोधन एव रोग-निवृत्ति होती है। उन सबके वर्णन से अनावश्यक विस्तार होगा।

× × ×

पूर्वोक्त हिसादि वितर्क जब तक बाधा पहुचाएँ, तब तक बारम्बार प्रतिपक्ष-भावना द्वारा उनका निवारण करते रहना चाहिये। इन वितर्क-विघ्नाङ्कुरो के दग्धबीज तुल्य हो जाने पर, यमादि के सिद्धि-सूचक लक्षण प्रकट होते है। यथा अहिसा मे पूर्ण निष्ठा प्राप्त हो जाने पर उस योग साधक के सान्निध्य मे आनेवाले सभी प्राणी वैरभावशून्य हो जाते है।[4] यम-नियमो की प्रतिष्ठा से तात्पर्य उनके अनुष्ठान मे बाधक वितर्कसमूह की अप्ररोहसमर्थता से है। जब चित्त मे हिसादि वितर्क, उद्बोधक कारण उपस्थित होने पर भी, अनुत्पन्न रहे, तब अहिसादि मे निष्ठा प्राप्त हो चुकी है, ऐसा समझना चाहिए। सम्मोहन-विद्या (Mesmerism) द्वारा इच्छाशक्ति (Will-Power) के उत्कर्ष से मनुष्य एव पशुओ को स्ववश किया

---

१ "वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।" (यो० सू० २/३३)

२ "वितर्का हिसादय कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका।
मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इतिप्रतिपक्षभावनम्॥"

३ "धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकिस्त्राटकस्तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥" (गौरक्षसंहिता)

४ "अहिसा प्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग।" (योग सू० २/३५)

जा सकता है। जिस योगी का चित्त इच्छाशक्ति के अत्यधिक उत्कर्ष से स्वभावतः सर्वथा हिंसाशून्य हो चुका है, उसके मनोभाव से प्रभावित होकर, सामीप्यमात्र से, प्राणिवर्ग हिंसावृत्ति त्याग देते है। अहिंसा सम्बन्धी सिद्धि के विषय मे यह जानना चाहिये कि जिस योगी मे अहिंसा के पूर्वजन्म-सचित सस्कार होते है, उसी के समक्ष हिंसक पशु वैर-त्याग करते है। इसी प्रकार सत्यसम्भाषण मे पूर्ण-निष्ठा प्राप्त होने पर वाक्सिद्धि होती है। सूत्रकार श्रीपतजलि ने इसे 'क्रियाफलाश्रयत्व"[1] कह कर अभिव्यजित किया है। "क्रियाफलाश्रयत्व" का अर्थ है—शुभ-अशुभ क्रियाजन्य धर्माधर्म एव उनके फलस्वरूप स्वर्ग, नरकादि का आधार बन जाना। अथवा अपनी इच्छा के द्वारा दूसरो को प्रभावित करके, उनसे अपने अनुकूल कार्य कराने मे समर्थ हो जाना। सत्यनिष्ठ योगी की वाक्शक्ति अमोघ हो जाती है। सत्यनिष्ठा भी प्रकृष्ट सकल्प शक्ति के कारण ही होती है। कृत्रिम आदेश ( Hypnotic Suggestion ) द्वारा रोग, मिथ्यावादित्वादि का निवारण किया जाता है। यह भारतीय योगियो का भी अनुभव है।[2]

अस्तेय मे प्रतिष्ठित होने पर उस योगी के समक्ष समस्त रत्न उपस्थित होते है।[3] अस्तेयनिष्ठ साधक के निस्पृहभाव के कारण वह सबका परम विश्वासपात्र बन जाता है। उसके प्रभाव से मुग्ध होकर, उसे परम आश्वास स्थल समझ कर, श्रद्धालुओ के द्वारा स्वय रत्न उपस्थित किये जाते है। यहाँ रत्न से तात्पर्य केवल धन-रत्न ही नही, अपितु गुण से भी है। प्रत्येक जाति मे जो श्रेष्ठ है, वह रत्न है— "जातौ जातौ यदुत्कृष्ट तदरत्नमिह प्रोच्यते"।

× × ×

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्यलाभ होता है।[4] वीर्य समस्त शक्तियो का मूल स्रोत है। अब्रह्मचारी को योग सिद्ध नही हो सकता है। वीर्यरक्षण से शारीरिक, मानसिक एव आत्मिक शक्तियो का उत्कर्ष होता है। वीर्यलाभ से साधक को निर्विघ्न योग सिद्ध होता है तथा शिष्यो को भी मोक्षप्रद ज्ञान एव योग सिद्ध कराने की शक्ति आती है। ब्रह्मचर्य-निष्ठा से सारहानि रुक कर वीर्यलाभ

---

१. "सत्यप्रतिष्ठाया क्रियाफलाश्रयत्वम् ।" (यो० सू० २-३६)

२ द्रष्टव्य—हिन्दी अनुवाद पातञ्जल-योग-दर्शन—(हरिहरानन्द आरण्य) पृ० १८६, सा० पा० सू० ३६।

३. "अस्तेयप्रतिष्ठाया सर्वरत्नोपस्थानम् ।" (यो० सू० २-३७)

४. "ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाया वीर्यलाभ ।" (यो० सू० २-३८)

होता है। अतः वीर्यलाभ से अप्रतिहत शक्ति सचित होने से साधक शीघ्र सिद्ध हो जाता है। साथ ही शिष्यो को भी ज्ञानी एव सिद्ध बनाने मे समर्थ जाता है।

अपरिग्रह मे दृढ प्रतिष्ठ होने पर विविध जन्मोके स्वरूप एव जन्म सम्ब कार्यकारण परम्परा (जन्मकथन्ता) का ज्ञान होता है।[1] अर्थात् भूत, भविष्य वर्त्तमान जन्मो मे "मैं" क्या था, कैसा था, आगे क्या होऊँगा, मेरी वर्तमान स्थि कैसी है? इत्यादि आत्मसम्बन्धी स्वरूप विषयक एव प्रकार विषयक जिज्ञा उत्पन्न होने पर जन्मो के स्वरूपो एव प्रकार का साक्षात्कार होता है। वस् किसी से कोई वस्तु लेने पर उस मनुष्य का प्रभाव पडता है। प्राण-धारण के उपयो द्रव्य के अतिरिक्त योगी किसी से कुछ भी नही लेते। अतः किसीके द्वारा अनुगृह न होने से, वे सर्वथा स्वाधीन एव मुक्त स्वभाव हो जाते है। परिग्रह से दाता पापभाजन बनने की सम्भावना रहती है। परिग्रह के पूर्ण परित्याग से चित्त होने पर, उसमे पूर्वापर का यथेष्ठ ज्ञान स्फुरित होता है। वर्तमानावस्था मे श एव विषयो के साथ घनिष्ठता-जन्य मोह भी पूर्वापर ज्ञान का अवरोधक है। अपरि स्थैर्य से शरीर के भोग्य-विषयो मे तुच्छत्वबुद्धि होने पर शरीर मे भी परिग्रहत्व अनुभूति होती है। अतः शारीरिक मोह से परे हो जाने पर भी जन्मकथन्ता सम्बोध होता है।

ये सब सिद्धियाँ यमो मे स्थिरता प्राप्त होने पर उपलब्ध होती है। अ नियम-निष्ठा-जन्य सिद्धियो का वर्णन किया जायेगा।

× × ×

पूर्ण शौच के अनुष्ठान से अपने ही शरीराङ्गो के प्रति घृणा उत्पन्न हो है तथा दूसरो के ससर्ग की वृत्ति का अभाव होता है।[2] यह बाह्य शुद्धि का है। इतना ही नही आभ्यन्तर शौच से तो सत्व (बुद्धि)-शुद्धि, सौमनस्य ( मन प्रफुल्लभाव), एकाग्रता, इन्द्रियो पर विजय एव आत्मदर्शन की योग्यताये सभी क्रम उत्तरोत्तर प्राप्त होती है।

× × ×

---

१ "अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोध ।" (यो० सू० २-३९)

२ "शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सापरैरसंसर्ग ।" (यो० सू० २/४०)

३ "सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च" । (यो० सू० २ ४१)

संतोष से अनुत्तम या परम सुख का लाभ होता है।[1] अनुत्तम सुख का अर्थ है, जिससे उत्कृष्ट अन्य कोई सुख न हो। इसलिये कहा गया है, "सतोष परम सुखं"। वस्तुतः विषय-तृष्णा ही दुःखमूल है। विषय-त्याग से तृष्णा-राहित्यजन्य सुख ही सतोष है। सतोष के समान अन्य कोई सुख नही, यही स्मृति आदि का भी कथन है।[2]

× × × ×

बारम्बार तप के अनुष्ठान से अशुद्धि ( रज एव तम ) का आवरण नष्ट होकर तपोनिष्ठा प्राप्त होने पर शरीर एव इन्द्रियो की सिद्धियाँ प्रादुर्भूत होती हैं।[3] अणिमा, गरिमा, आदि शरीर सम्बन्धी सिद्धियाँ[4] तथा दूर से शब्द श्रवण, दर्शन आदि इन्द्रियो की सिद्धियाँ कहलाती है।

स्वाध्याय के दृढ अभ्यास से इष्टदेवता का साक्षात्कार होता है।[5] प्रणव गायत्र्यादि मन्त्र जप अथवा गीतादि मोक्ष शास्त्राध्ययन को स्वाध्याय कहा गया है, जो शब्दात्मक है। भर्तृहरि के शब्दो मे—

**शब्देवेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी।**
**यन्नेत्रः प्रतिभात्माय भेदरूपः प्रतीयते॥**

( वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड ) तथा

---

१ 'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभ"। ( यो० सू० २/४२ )

२ "यच्चकामसुखलोके यच्चदिव्य महत्सुख।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हते षोडषी कलाम्॥"
( मनु० अ० २ ) ( वायु० ९३/१०१ ), ( शन्ति १७४/४६ )।

तथा

"यादुस्त्यजादुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम्।
ता तृष्णा सत्यजन् प्राज्ञ सुखेनैवाभिपूर्यते" ( महा० आदि० ८५/१४ )

३ "कायेन्द्रियसिद्धिरशुक्षयात्तपस"। ( यो० सू० २/४३ )

४ अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशिता एव यत्रकामावसायिता ये अष्ट काम सिद्धियाँ है। प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता ये इद्रियो की सिद्धियाँ है। इनका वर्णन विभूतिपाद मे है।

५ "स्वाध्यादिष्टदेवतासम्प्रयोग।" ( यो० सू० २-४४ )

एकस्य सर्वबीजस्य यस्यचेयमनेकधा,
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः ॥
( वाक्यपदीय १-४ )

अतः विश्व मे वर्तमान स्थूल, स्क्ष्म या सूक्ष्मतम शक्तियॉ शब्द की ही ( वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती अथवा परा वाक्रूप ) शक्तियॉ है।

अतः मन्त्र जपादिपूर्वक चित्त को समाहित करने पर साधक की अभीष्ट सिद्धि के लक्ष्यभूत आराध्यदेव के सघटक परमाणु-जो विराट विश्व मे व्याप्त विकेन्द्रित समस्त शक्तिमान तत्वो मे विकिर्ण है, उनका स्वलक्ष्य मे सघटन प्रारम्भ हो जाता है और वह सघटन तत्तत् विशिष्ट आराध्य देव के रूप मे अभिव्यक्त होता है। स्वाध्याय की स्थिरता से इच्छा होने पर देवता, ऋषि एव सिद्धादि साधक के समक्ष उपस्थित होते है तथा उसके अभीष्ट की सिद्धि भी करते है।

ईश्वरप्रणिधान मे दृढप्रतिष्ठित होने से समाद्धि सिद्ध होती है।[1] ईश्वर को सर्व-कर्मार्पण से समाधि सिद्ध होती है। ईश्वर प्रणिधान की परिपक्वावस्था मे योगी अपने व्यक्तित्व को विस्मृत कर के सतत् ईश्वर के ध्यान मे निमग्न रहता है। ईश्वर सर्वज्ञ है तथा ध्याता के चित्त पर ध्येय का प्रकृष्ट प्रभाव पडता है। अत इश्वरप्रणिधान की पूर्णा-वस्था मे समाधि सिद्ध होने पर ध्याता मे सर्वज्ञता का आविर्भाव होता है। इस अवस्था मे योगी इच्छामात्र से त्रैकालिक–पदार्थ-विषयक ज्ञान प्राप्त करने के सामथ्य से युक्त होता है। किसी भी देशान्तर, देहान्तर अथवा कालान्तर मे होनेवाले प्रत्येक पदार्थ का वह साक्षात्कार कर सकता है। ईश्वर-प्रणिवान से योग-मार्ग के विघ्नो का भी अभाव होता है। शेष यम-नियम अन्य प्रकार से समाधि के सहायक है, किन्तु ईश्वरप्रणिधान् साक्षात रूप से समाधि का साधक है, क्योकि वह समाधि योग्य भावना-स्वरूप ही है। निरंतर ईश्वर के चिन्तन से ध्याता मे ईश्वरता अभिव्यक्त होती है। निरतर ध्यान करने से व्यक्ति समाधिस्थ हो जाता है, अतः ध्यान के प्रकर्ष से साधक मे ईश्वरता की अभिव्यक्ति होती है, ईश्वर क्लेशकर्मादि से "अपरामृष्ट" है। क्योकि ईश्वर स्वय सब से बडा योगी है। अत ईश्वरप्रणिधान से समाधि-सिद्धि होनी ही चाहिये। गीता मे प्रकारान्तर से यही बात

---

१. "समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।
( यो० सू० २/४५ )
यहाँ पर समाधि शब्द सम्प्रज्ञात समाधि का द्योतक है।

कही कई है ।[1] शका हो सकती है कि जब केवल ईश्वरप्रणिधान से ही समाधि सिद्ध हो सकती है, तो अन्य योगाङ्ग व्यर्थ है, किन्तु ऐसी शका निःसार है। अन्य यम-नियम तथा योगाङ्ग भी ईश्वरप्रणिधान मे सहायक है। पांचो यम, ईश्वर-प्रणिधान के अतिरिक्त चारो नियम एव अहिसादि के आचरण से अशुद्धि का क्षय होता है। आसनादि से द्वन्द्व-निवृत्ति होती है। तदुपरान्त चित्त ईश्वरप्रणिधान मे पूर्णनिष्ठा की प्राप्ति-योग्य बनता है। अतः समाधि के सात अग ईश्वरप्रणिधान के भी उपयोगी साधन होने से व्यर्थ नही है। ईश्वरप्रणिधानरहित शेष योगाङ्ग-साधना से अनेक विघ्न उपस्थित होते रहते है। ईश्वरप्रणिधानयुक्त योग साधना से अल्पकाल मे ही निर्विघ्न समाधि-सिद्धि होती है। अन्य ध्येय न बना कर ईश्वर-परायण होने से समाधि-सिद्धि सुकर है, यही अभिधेय है।

वस्तुतः "समाधिसिद्धि" इस कथन मात्र से ही सम्पूर्ण योगाङ्गो का कथन हो जाता है, क्योकि समाधि के अन्तिम दो साधन है—धारणा एव ध्यान। ध्यान की ही प्रगाढ अवस्था है, समाधि, ध्यान है—धारणागत प्रत्ययो की एकतानता। इनकी प्राप्ति यम, नियम, आसनादिपूर्वक ही होती है। प्रश्न केवल ध्येय विषय का है। जिसमे ईश्वर को ध्येय बनाकर साधना करने से शीघ्र निर्विघ्न योग सिद्ध होता है। ईश्वरप्रणिधान स्वय एक नियम है जो योगाङ्ग है।

यम-नियमो मे से किसी भी एक के नष्ट होने पर सभी व्रत लुप्त हो जाते है। ऐसा शास्त्रो का कथन है।[2] अतः इस शास्त्रोक्ति से भी उक्त शका का निराकरण होता है। समाधिसिद्धि होने पर, क्रमानुसार सम्प्रज्ञात एव असम्प्रज्ञात योग तथा कैवल्य-प्राप्ति होती है।

तृतीय योगाङ्ग है आसन। स्थिरतापूर्वक सुखावह उपवेशन ही आसन है।[3] "आस्यते आसते वा अनेन इति आसनम्"—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके

---

१ अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना पर्युपासते ।
तेपा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम् ॥ (गीता ९/२२)

२ "ब्रह्मचर्यमहिसा च क्षमा शौच तपो दम ।
सन्तोष सत्यमास्तिक्य व्रताङ्गनिविशेषत ॥
एकेनाप्यथ हीनेन व्रतमस्य तु लुप्यते" ॥
(मनु०) तथा कूर्मपुराण उत्तरार्ध, ११ अ० ६९-७०

३. "स्थिरसुखमासनम्" ॥ (यो० सू० २-४६)

द्वारा स्थिरता एव मुख प्राप्त हो वही आसन है। आसन अनेक है। उदाहरणार्थ—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, सिद्धासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यङ्कासन, क्रौञ्चनिषदनासन, हस्तिनिपदनासन, उष्ट्रनिषदनासन एव समसस्थानसनादि। इन सब मे जिस आसन को लगा कर साधक निश्चलता एव सुखपूर्वक देर तक रह सके, वही उसके लिये उपयोगी है। भगवान व्यास ने इन्ही आसनो का नाम कथन किया हे।

### बद्ध पद्मासन—

योग मे पद्मासन अत्यन्त प्रसिद्ध है। वाम जङ्घा के ऊपर दक्षिण पैर तथा दाहिनी जङ्घा पर वाम पाद रख कर, दोनो हाथो को पीठ की ओर से लाकर, वाम पादागुष्ठ को दक्षिण हस्त से पकड कर तथा दक्षिण पादागुष्ठ को वाम हस्त से पकडने से बद्ध पद्मासन लगता है। साथ मे रीढ को सीधा रखते हुए नासाग्र का निरीक्षण भी करना होता है। गीता मे भी आसन के प्रसग मे कहा गया है—

'समकाय शिरोग्रीव धारयन्नचल स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्र स्व दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः सयम्यमच्चितो युक्त आसीत मत्परः॥" (६/१२/१३)

### वीरासन—

अर्ध पद्मासन को कहते है। इसमे एक पॉव एक ऊरू के ऊपर रहता है तथा दूसरा दूसरी ऊरू के नीचे पृथ्वी पर स्थित रहता है।

### भद्रासन—

भद्रासन मे युगल पदतलो को वृषभ के समीप एकत्रित करके उसके ऊपर दोनो हथेलियो को सपुटित करके रखा जाता है।

### स्वस्तिकासन—

वाम पाद को मोडकर दक्षिण जघा एव ऊरु के मध्य स्थापित करके तथा दक्षिण पैर को वाम जघा एव ऊरु के मध्य मे स्थापित करके सीधे बैठने से स्वस्तिकासन सिद्ध होता है।

**सिद्धासन—**

सिद्ध का अर्थ है, "सिद्धिप्राप्त"। यह आसन सिद्ध योगियो का प्रिय आसन है। अतः सिद्धासन कहलाता है। सिद्धासन मे वाम चरण की एडी को सीवनी ( गुदा एव उपस्थेन्द्रिय का मध्य भाग ) मे दृढतापूर्वक लगाया जाता है, जिससे कि पैर का तलवा दाहिने पैर की जघा को स्पर्श करता रहे। इसी प्रकार दाहिने पैर की एडी को उपस्थमूल के ऊपरी भाग मे दृढतापूर्वक लगाकर उस तलवे से वाम जघा को स्पर्श किया जाता है। तत्पश्चात् दोनो पैरो के अगूठे एव तर्जनी को जॉघ एव पिडली के मध्य मे दबाया जाता है। सिद्धासन मे समस्त शरीर का भार एडी एव सीवनी के मध्य की नस पर सतुलित रहना चाहिये।[1] सिद्धासन एव पद्मासन मुख्यतया आत्मबलविकास ( Spiritual development ) मे विशेष लाभकर होते है। योग्य गुरू के निर्देशन मे किये जाने पर शरीर सवर्धन एव रोगचिकित्सा मे भी लाभकर है।

हठयोग मे आसनो का अत्यन्त विस्तृत एव विशद वर्णन है, पर उनका स्वास्थ्य से अधिक सम्बन्ध है। यहाँ पर केवल योगोपयोगी आसनो का वर्णन किया गया है। वैसा सभी आसनो से स्वास्थ्यलाभ होता है। साथ ही योग-साधक का स्वस्थ होना भी आवश्यक है। पूर्वकथित पद्म, स्वस्तिकादि आसनो का योग से साक्षात् सम्बन्ध है। सुदृढ पेशियो से युक्त होना योगाभ्यासियो के लिये आवश्यक है। गेदरबी शरीर प्रायेण अनुपयुक्त ही है।

भिक्षु जी ने अपने "योगसार सग्रह" मे ईश्वरगीतादि मे उक्त स्वस्तिक, पद्म तथा अर्धासन इस तीन को ही योग साधना मे अधिक उपयोगी बतलाया है। तथा उनके लक्षण ईश्वर गीता के ही श्लोको मे दिये है।[2]

---

१ देर तक सिद्धासन की स्थिति मे बैठने से नाडीसमूह मे जलन सी होने लगती है, ऐसा योगियो का अनुभव है। ऐसी स्थिति मे नितम्बो के नीचे आठ इञ्च मोटी गद्दी अथवा कपडा लगा देना चाहिए। सिद्धासन वीर्य-रक्षण मे अत्यन्त उपयोगी हे।

२ "आसन स्वस्तिक प्रोक्त पद्ममर्धासन तथा
आसनाना तु सर्वेषामेतदासनमुत्तमम् ॥
ऊर्वोपरिविप्रेन्द्रा कृत्वा पादतलेउभे।
समामीतात्मन पद्ममेतदासनमुत्तमम्।

—आगामी पृष्ठ पर

आसन अपनी सुविधानुसार कोई भी अपनाया जाय, सभी आसनो मे मेरुदण्ड को सीधा रखना चाहिये, जिससे वक्ष, ग्रीवा एव शिर उन्नत एव सम अवस्था मे रहे। आसन के प्रकरण मे गीता मे कहा गया है—"सम काय शिरोग्रीव धारयन्नचल स्थिरः"। श्रुति भी कहती है—

**'त्रिरुन्नत स्थाप्य सम शरीरम्'**।[1]

योग-साधना मे स्थान का भी प्रकृष्ट प्रभाव पडता है। अतः योगाभ्यास शुद्ध, शान्त एव एकान्तस्थल मे करना चाहिये।

आहार-शुद्धि भी अत्यन्त आवश्यक है। आसन पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होना चाहिये। गीता मे आसन-स्थापना की विधि बतलाते हुए पवित्र स्थान मे नीचे कुशासन-उसपर क्रमशः मृगचर्म तथा वस्त्र बिछाकर बैठने को बतलाया गया है।[2]

मूल जालन्धरादि बन्ध तथा खेचरी आदि मुद्राओ का अवलम्बन भी शीघ्र ही आसनज तथा कुण्डलिनी की जागृति मे सहायक है। हठयोग मे इन क्रियाओ का

---

१ श्वेता० उप० अ० २/८

२ "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मन ।
नात्युच्छ्रित नातिनीच चैलाजिन कुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्र मन कृत्वा यतचित्तेन्द्रिय क्रिय ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
सम कायशिरोग्रीव धारयन्नचल स्थिर ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्र स्व दिशश्चानवलोकयन् ।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रतेस्थित ।
मन सयम्य मच्चितो योगमासीतमत्पर ॥"
(गीता० ६/११-१२-१३-१४)

---

(गत पृष्ठ का शेषाश)

एकपादमथैकस्मिन्विन्यस्तोरुणि सत्तमा ।
आसीतार्धासनमिद योगसाधनमुत्तमम् ॥
उभे कृत्वापादतले जानूर्वोरन्तरेण हि ।
समासीतात्मन प्रोक्तमासन स्वस्तिक परम् ॥" (यो० सा० स०—आसनप्रकरण)

विस्तृत वर्णन किया गया है। महर्षि पतजलि एव उनके व्याख्याकारो ने इन विषयो का स्वतत्र वर्णन नही किया है।

× × ×

शरीर की स्वाभाविक चेष्टा को शिथिल करने तथा अनन्त के चिन्तन से भी आसन सिद्ध होता है।[1] "प्रयत्नशैथिल्यानन्त समापत्तिभ्यां"। प्रकृत स्थल मे प्रयत्न से तात्पर्य शरीर की स्वाभाविक चेष्टा से है और आसन स्थिर सुख का हेतु है। आसन का कारण प्रयत्न नही, प्रत्युत आसन शरीर की स्वाभाविक चेष्टा का नाशक होने से विरोधी है। साथ ही प्रयत्न को आसन का हेतु मानने पर, आसन स्वाभावसिद्ध हो जाने से, उसका ( आसन का ) उपदेश भी व्यर्थ होगा। अतः प्रयत्न की शिथिलता के लिये आसनजयेच्छु को सर्वदा अभ्यास करना चाहिये।

जब तक शरीर की स्वाभिक चेष्टा रहेगी, अङ्गमेजयत्वादि के कारण एकाग्रता एव स्थिरता प्राप्त नही हो सकेगी। चित्तैकाग्र्य एव स्थैर्य के बिना आसन-ध्यानादि, विशेषतः प्राणायाम, सिद्धि नही होना। अतः आसन लगाकर शरीर को शव के तुल्य निश्चेष्ट छोड देना चाहिये। आसन के समय हाथ-पैर कुछ भी न डुलाना चाहिये। इस प्रकार आसनभ्यास करने मे उस पर विजय शीघ्रतर प्राप्त होती है तथा शरीर मे पीडा का बोध भी कम होता है।[2] अनन्त मे समापन्न चित्त भी आसनजयी होता है।

सूत्रगत "अनन्त" शब्द के विषय मे, व्याख्याकारो मे भेद है। भाष्यकार व्यास ने "अनन्त" पाठ मान कर ही सूत्र की व्याख्या की है। श्री भोज एव हरिहरानन्द आरण्य ने "अनन्त" के स्थान पर "आनन्त्य" पाठ स्वीकार किया है। इस इस प्रकार सूत्र के दो अर्थ हो सकते है। एक तो अनन्त शब्द का अर्थ "शेषनाग" लिया जा सकता है। यह वाचस्पति, भिक्षु-सम्मत दृष्टि है। राघवानन्द, भावागणेश नागोजीभट्ट एव सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने भी इसका अनुसरण किया है। इस मत के

१ "प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्" (यो० सू० २/४७)

टि०—किसी किसी ने "प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्या च" (यो०सू० २/४७) ऐसा पाठ माना है।

२ आसन के आरम्भिक अभ्यास मे कठिनाई प्रतीत होती है और शरीर के विविध अगो मे पीडा की अनुभूति होती है। अभ्यास की दृढ अवस्था मे आसन-स्थिति सुकर हो जाती है।

अनुयायियो का कथन है कि स्थैर्यप्राप्ति हेतु, स्थिर वस्तु का चिन्तन ही अपेक्षित है। भगवान् शेषनाग से अधिक स्थिर ध्येय- आलम्बन और कोई नही हो सकता है। वे स्वय स्थिर न हो, तो उनके सहस्र फणो पर स्थित ब्रह्मान्ड भी स्थिर नही रह सकता है। अनन्त नाग को विष्णु की तामसी शक्ति माना गया है।[1]

दूसरे मतानुसार, यहॉ अनन्त मे समापत्ति का अर्थ आकाशादिगत आनन्त्य मे चित्त की तादात्म्यावस्था है। "मेरा शरीर शून्यवत् होकर, सर्वदिक् व्यापी अनन्त आकाश मे मिल गया, मै सर्वव्यापी" अनन्त आकाश के तुल्य हूँ, एतादृशी भावना ही "आनन्त्य" मे समापत्ति है। ऐसी भावना करने से स्वशरीर के अस्तित्व का भान नही रहता है और उसकी चेष्टाएँ भी अवरुद्ध होती है। अतः इस प्रकार भी आनन्त्य मे समापत्ति से चित्त स्थिर होकर आसनजय प्राप्त होता है।[2]

चन्द्रिकाकार ने द्विविध पाठो के अनुसार व्याख्या की है। अभ्यास दृष्टि से आनन्त्य मे समापत्ति श्रेयस्कर है, ऐसा अभ्यासियो का मत है।[3]

× × ×

आसनसिद्धि से द्वन्द्वो का अनभिघात होता है।[4] अतः जब साधक मे शीत-उष्ण, सुख-दुख, मान-अपमानादि को अविचलभाव से सहन करने की शक्ति आजाय तब उसे आसन सिद्ध हो चुका है, ऐसा समझना चाहिये। आसन मुख्यतः प्राणायाम का अनिवार्य साधन है।

× × ×

आसनसिद्धि के पश्चात् श्वास एव प्रश्वास की नैसर्गिक गति का नियमन प्राणायाम कहलाता है।[5] बाह्य वायु का नासिका-द्वारा अन्दर प्रविष्ट करना श्वास

---

१. पातालानामधश्चास्ते विष्णोर्या तामसी तामसी तनु (विष्णु २/ )

२ द्रष्टव्य—पातञ्जल-योग-दर्शन—(हरि० आ०) पृ० १९३।

३ वही

४ "ततो द्वन्दानभिघात"। (यो० सू० २/४८)

५ "तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद प्राणायाम"। (यो० सू० २/४९)
श्वास-प्रश्वास शरीर-यन्त्र के गतिनियामक यन्त्र (Fly-Wheel) की भॉति है तथा प्राण का स्थूलतम रूप है। जिस प्रकार एक बडे इजन मे दूर से दिखाई देने वाले

—आगामी पृष्ठ पर

कहलाता है। कोष्ठस्थ वायु का नासिका से बाहर निष्कासन प्रश्वास कहलाता है। इन श्वास एव प्रश्वासो की स्वाभाविक गति का, रेचक, पूरक तथा कुम्भक द्वारा विच्छिन्न करना प्राण का आयाम अर्थात् प्राणायाम कहा जाता है।

पूरक प्राणायाम मे श्वास का विच्छेद नही, अपितु सद्भाव ही होता है। इसी भॉति रेचक मे प्रश्वास का सद्भाव होता है। केवल कुम्भक मे श्वास एव प्रश्वास की गति विच्छिन्न होती है, फिर भी स्वाभाविकरूप से चलने वाले श्वास-प्रश्वासो की अनियमित गति का विच्छेद होने के कारण, प्रत्येक प्राणायाम मे उनका गति विच्छेद-ग्राह्य है।

× × ×

प्राणायाम-बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति के भेद से-तीन प्रकार का होता है। पुनः देश, काल एव सख्या द्वारा नियमित एव परीक्षित होकर (वह) दीर्घ सूक्ष्म हो जाता है।[1]

जब प्रश्वास-पूर्वक गति का अभाव किया जाता है, तब उसे रेचक प्राणायाम कहते है। जब श्वासपूर्वक गतिरोध किया जाता है, तब वह पूरक प्राणायाम कहलाता है। तृतीय प्रणायाम मे एक हो बार के विधारक प्रयत्न द्वारा, प्राण की बाह्य एव अभ्यान्तर उभय वृत्तियो का रोध किया जाता है।[2] इसे स्तम्भवृत्ति-प्राणायाम

१ "बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसख्याभि परिदृष्टोदीर्घसूक्ष्म।" (यो० सू०, २/५०)

२ "निष्क्राम्य नासा विवराद्शेष प्राण बहि शून्यमिवानिलेन।
निरुद्धय सन्तिष्ठति रुद्धवायु स रेचको नाम महानिरोध॥
बाह्ये स्थित घ्राणपुटेनवायुमाकृष्य तेनैव शनै समन्तात्।
नाडीश्च सर्वा परिपूरयेद् य स पूरको नाममहा निरोध॥
न पूरको नैव च रेचकोऽत्र नासापुटे सस्थितमेव वायुम्।
सुनिश्चल धारयतेक्रमेण कुम्भाख्यमेतत्प्रवदन्ति तज्ज्ञा॥"
(पात० यो० द०—हरि० आ०, पृ० १६६, योगियाज्ञवल्क्य)

(गत पृष्ठ का शेषाश)

एक ही बडे चक्र की गति से अन्दर के समस्त सूक्ष्म से सूक्ष्म यन्त्रो मे गति का सचार होता है, उसी भॉति, श्वास-प्रश्वास के द्वारा, शरीर के प्रत्येक अग मे स्नायु-प्रवाहो से यथायोग्य शक्ति का नियमन होता है। चित्त भी इन स्नायविक शक्ति-प्रवाहो से गतिशील है। अत श्वास-प्रश्वास के नियन्त्रण द्वारा, शरीर एव चित दोनो को स्ववश किया जा सकता है।

कहते है। स्तम्भवृत्ति के विषय मे भगवान् व्यास ने बडा सुन्दर दृष्टान्त दिया है । तदनुसार जिस प्रकार तप्त प्रस्तर अथवा लौह खण्ड पर प्रक्षिप्त जल एकसाथ सब ओर से सकुचित हो जाता है, उसी भॉति स्तम्भवृत्तिक प्राणायाम की क्रिया मे बाह्य एव आभ्यतर उभय वृत्तियो का युगपत् अभाव हो जाता है। अपने शरीर मे भरे हुए वायु का निग्रह करके, पूर्ण कुम्भवत् स्थिर रहने के कारण, इस प्राणायाम को कुम्भक भी कहते है।[1] उपर्युक्त तीनो प्राणायाम, पुनः देशपरिदृष्ट, काल-परिदृष्ट एव सख्या-परिदृष्ट के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते है।

देश-परिदृष्ट प्राणायाम का अर्थ है-शरीर के किसी स्थान विशेष मे प्राण को आबद्ध रखना। जितनी दूर तक जिस प्राणायाम का विषय होता है, वह उसका देश कहलाता है। रेचक का देश बाहरी और नासाग्र से लेकर द्वादश अगुल-पर्यन्त आदि है। पूरक का देश शरीर के भीतर मस्तक से लेकर पादतलपर्यन्त है।[2] कुम्भक का भी यही देश है।[3] भिक्षु ने रेचक पूरक दोनो के समुच्चित देशो को कुम्भक का देश बताया है।[4]

काल-परिदृष्ट प्राणायाम का अर्थ है--क्षणसमूह[5] के परिमाण-द्वारा प्राण का नियमन करना। यथा इतने क्षण तक पूरक, इतने क्षण तक रेचक तथा इतने क्षण तक कुम्भक इत्यादि। इतने समय तक रेचक, पूरक या कुम्भक करने है, यह ध्यान रखते हुए प्राणो का नियमन करना ही काल-परिदर्शन पूर्वक प्राणायाम है।

उद्घात-क्रम से या मात्राओ की गणना पूर्वक किया गया प्राणायाम सख्यापरिदृष्टि कहलाता है। हाथ को तीन बार जानु के चतुर्दिक् फिरा कर चुटकी बजाने मे जितना समय लगता है, उसे मात्रा कहते है, अथवा स्वस्थ मनुष्य के स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास काल को मात्रा कहते है।[6] द्वादश मात्रा-पर्यन्त प्राण की

---

१ "स्वदेहेपूरित वायु निगृह्य विमुञ्चति ।
सम्पूर्णकुम्भवत्तिष्ठेत्कुम्भक स हि विश्रुत ॥" (द्र०-यो० सा० स० प्राणायाम प्रसग)

२ द्रष्टव्य तत्त्व० (२/५०), यो० वा०, (२/५०) इत्यादि ।

३ "कुम्भकस्य च पूरकदेश एव विषय । त्रयाणा सहानुष्ठाने पूरकान्तरमेव विषयात् । स, चोक्तलिङ्गानुपलब्ध या निश्चेय ।"

४ द्रष्टव्य—यो० वा० (१/५०), यो० सा० स० (प्राणायाम प्रकरण) ।

५ क्षण=निमेष-क्रिया का चतुर्थ भाग (तत्त्व० १/५०) ।

६ "स्वजानुमडल पाणिना त्रि परामृश्य छोटिकाऽवच्छिन्नकालोमात्रा ।" (तत्त्व० १/५०)
"श्वासप्रश्वासावच्छिन्नकालोमात्रा"—(भास्वती, १/५०)

गति रुद्ध रखने पर एक उद्घात सिद्ध होता है। चौबीस मात्रापर्यन्त प्राण स्थिर रखने पर द्वितीय उद्घात तथा ३६ मात्रापर्यन्त प्राण स्थिर रखने पर तृतीय उद्घात कहा जाता है। १२ मात्रा-परिमित प्राणायाम मृदु, २४ मात्रा-परिमित प्राणायाम मध्य एव ३६ मात्रा परिमित तीव्र कहलाता है।[1] इतने श्वास-प्रश्वास मे इतने उद्घात होते है, इस प्रकार श्वास प्रश्वास या उपर्युक्त मात्राओ की सख्या द्वारा प्राणायामकाल का निर्णय किये जाने से, इस प्राणायाम का सख्या-परिदृष्टि करते हैं। इस प्रकार धैर्यपूर्वक दीर्घकालीन अभ्यास द्वारा शनैः-शनैः प्राणायाम दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है। इसके दीर्घत्व एव सूक्ष्मत्व की परीक्षा वायु-विहीन स्थान मे की जाती है।

श्री वाचस्पति, भिक्षु प्रभृति विद्वानो ने प्राणायाम की दीर्घसूक्ष्मता की परीक्षाविधि इस प्रकार बतलाई है। रेचक प्राणायाम करते समय, नासिकाग्र से प्रादेशमात्र, वितस्ति तथा हस्तपरिमित देश आदि मे रुई रख कर दीर्घ सूक्ष्मता की परीक्षा की जाती है।

पूरक प्राणायाम मे श्वास की दीर्घता मे-आभ्यन्तर प्रदेश मे-वृद्धि होती है। अभ्यास हो जाने पर, पूरक करते समय अन्दर पिपीलिका के स्पर्श जैसा बोध होता है।[2] नाभि-चक्र पर्यन्त प्राण-स्थैर्य होने पर पूरक प्राणायाम को दीर्घ-सूक्ष्म समझना चाहिये। इसी प्रकार कुम्भक की आभ्यन्तर देशो मे उक्त पिपीलिकावत् स्पर्श की अनुपलब्धि से परीक्षा कर लेनी चाहिये। जितने अधिक समय तक स्तम्भवृत्ति साधी जा सके, उतना ही प्राणायाम दीर्घ-सूक्ष्म होगा। वक्ष्यमाण बाह्य कुम्भ की दीर्घ-सूक्ष्मता की परीक्षा करते समय बाह्यप्रदेश मे नासिकाग्र मे तूल रखने पर, उसकी स्पन्दन-

---

१ "द्वादशमात्र कनीयान् मध्यमो मात्रा चतुर्विश ।
उत्तम षट्त्रिशन्मात्रो मात्राभेदा स्मृतास्तज्ज्ञै (यो० सा० स०)
अपि च —
"नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्घात ईरित ।
मध्यमस्तु द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रक ।
मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घात षट्त्रिशन्मात्र उच्यते ।" (पात० यो० द०—हरि० आ० पृ० २००)

नोट—"योगवासिष्ठ' के अनुसार श्री भिक्षु ने "योगसारसग्रह" मे एव तदनुसार नागोजी भट्ट प्रभृति टीकाकारो ने पूर्वोक्त प्राणायाम की दीर्घसूक्ष्मता की परीक्षा के विषय मे उपर्युक्त क्रम के साथ-साथ, पूरक मे षोडषमात्रा, कुम्भक मे चौसठ मात्रा तथा रेचक मे बत्तीस मात्राओ का कथन किया है।

२ द्रष्टव्य—तत्त्व०, यो० वा० इत्यादि विविध व्याख्यान।

शून्यता से कुम्भक की परीक्षा की जाती है। कुम्भक की दीर्घता-सूक्ष्मता का निश्चय-दीर्घकाल तक विधारण की निरायासता से होता है।

काल-द्वारा परीक्षा करते समय छत्तीस मात्रा पर्यन्त-जब तीनो प्राणायाम स्थिर हो जाये-तब उन्हे दीर्घसूक्ष्म समझना चाहिये।

उद्घातक्रम या सख्यापरिदृष्ट प्राणायाम के विषय मे बतलाया जा चुका है। प्रथम उद्घात तक प्राण सयत रखने पर मृदु, द्वितीय उद्घात तक मध्य एव तृतीय उद्घातपर्यन्त प्राण स्थिर हो जाने पर तीव्र प्राणायाम कहलाता है। इसी भाँति उत्तरोत्तर अभ्यासवश प्राणायाम घडी, प्रहर, दिन, सप्ताह, पक्ष, मासादि पर्यन्त दीर्घसूक्ष्म होता जाता है। यहाँ सूक्ष्मता का तात्पर्य प्रवीणता (प्रवीणता जनित् निरायासता ) से है। वायुसचार प्रसृत न होकर उसकी सूक्ष्मता होना ही प्रवीणता है। प्राणायाम विषयक यह विवरण टीकाकारो के व्याख्यानानुसार प्रस्तुत किया गया है, वैसे प्राणायाम का विषय गुरुपरम्परागम्य ही है।

उपर्युक्त तीनो प्रकारो से प्राणायाम की दीर्घसूक्ष्मता की परीक्षा की जा सकती है। पर तीनो मे से किसी भी एक विधि से परीक्षा कर लेना पर्याप्त है। तीनो प्रकारो से परीक्षा करने की आवश्यकता नही है।

विविध टीकाकारो ने प्राणायाम के प्रसगगत उद्घात शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किये है। वाचस्पति के अनुसार प्राण को ऊर्ध्वगामी एव स्ववश कर के, विजित वायु को रोक देना उद्घात है—"प्रथमोद्वातकर्मता नीत उद्वातो वशीकृतो विजितो निगृहीतः" (तत्व)।

विज्ञानभिक्षु के मतानुसार श्वास-प्रश्वास का रोधमात्र उद्घात है। "वायोरुद्धनन गतिनिरोध इति यावत्"।

भोज के अनुसार नाभिमूल से प्रेरित वायु का शिर मे अभिहनन उद्घात है—"नाभिमूलात्प्रेरितस्यवायोः शिरसि अभिहननम्" (भोजवृत्ति)।

हरिहरानन्द आरण्य की दृष्टि से श्वास-प्रश्वास का गतिरोध करने से, उनके ग्रहण एव त्याग हेतु जो उद्वेग होता है, वह उद्घात है। "श्वासाय प्रश्वासाय च य उद्वेगः स उद्घातः"। ( भास्वती )

शेष टीकाकारो ने उद्घात की व्याख्या नही की है।

वस्तुतः श्री भिक्षु ने उद्घात की आशिक व्याख्या की है। उन्होने

सामान्य रूप से वायोरुद्धनन गतिनिरोधइति यावत्" कहकर, वायु का गतिरोधमात्र उद्घात बतलाया है, किन्तु वायु का गतिरोध तो प्राणायाममात्र से भी होता है। अतः प्रारम्भिक प्राणायाम तथा उद्घात मे कोई स्पष्ट अन्तर लक्षित नही होता। एतावता किस प्रकार का गतिरोध उद्घात है, यह स्पष्ट नही हो पाता। सम्भवतः यह उद्घात की आदिम अवस्था की व्याख्या है। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या अस्पष्ट है।

स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने "भास्वती" मे उद्घात का जो लक्षण दिया है, उसकी अपेक्षा उनके "पातजलयोगदर्शन" मे की गई उद्घात की व्याख्या अधिक स्पष्ट और सुन्दर है।

वस्तुत: श्री भोजकृत लक्षण ही उद्घात का पूर्ण और अन्तिम लक्षण सिद्ध होता है, ऐसा विद्वानो का कथन है। साथ ही भोजकृत लक्षण का आधार प्राचीन योगाचार्य देवल की "प्राणापानव्यानोदानसमानाना सकदुद्गमन मूर्धानमाहत्य निवृत्तिश्चोद्घातः"—यह व्याख्या प्रतीत होती है।[1] वाचस्पति मिश्र कृत व्याख्या भी, भोजकृत उद्घात के लक्षण मे पर्यवसित होती है।

योगसाधना मे प्रथम इडा द्वारा पूरित वायु ले जाकर, विपुलशक्ति के आश्रयभूत मूलाधार पद्म पर तीव्र आघात किया जाता है। इससे प्राण ( वायु ) ऊर्ध्वगमन हेतु उद्विग्न होता है। किन्तु साधक स्तम्भ-वृत्ति-द्वारा, उस उद्वेग को निगृहीत करके, विजित वायु को बलपूर्वक रोक देता है। यही उद्घात है, जो कम से कम १२ मात्रापर्यन्त प्राण स्थिर रखने पर होता है। तृतीय उद्घात पर्यन्त प्राण स्थिर रखने पर उत्तम (दीर्घसूक्ष्म) प्राणायाम कहा जाता है।

प्रसिद्ध योगी विवेकानन्द ने स्वरचित "राजयोग" नामक पुस्तक के प्राणायाम विषयक प्रकरण मे, उद्घात का अर्थ कुण्डलिनी का जागरण बतलाया है। प्रकृतसूत्र (२/५०) की व्याख्या करते हुए वे कहते है—"इस प्राणायाम का फल है—उद्घात, अर्थात् कुण्डलिनी का जागरण।" स्वामीजी (विवेकानन्द) के अनुसार यही प्राणायाम का मुख्य उद्देश्य भी है।

श्री भोज ने "नाभिमूल" से प्रेरित वायु का उद्घात बताया है, "मूलाधार" से प्रेरित वायु का नही। इसका कारण यह है कि नीचे की ओर नाभिपर्यन्त प्राणायाम स्थिर हो जाने पर भी, उसकी दीर्घसूक्ष्म सज्ञा होती है।

साधक प्रारम्भिक अवस्था मे पूरित वायु को नीचे की ओर मूलाधार तक

---

१ द्रष्टव्य -भूमिका "भोजवृत्ति"—( स० रामशकर भट्टाचार्य ) पृ० १२-१३

ले भी नही जा सकता है। अभ्यास द्वारा शनैः-शनैः वहाँ तक पहुँच कर प्राण-निरोध करता है, प्रथम तो अपान वायु से टकराकर ही उद्घात होता है।

दीर्घसूक्ष्म पूरक मे प्राणवायु का समान के अतिक्रमणपूर्वक, अपान वायु से सयोग होता है और रेचक मे अपान वायु, समान का अतिक्रमण करके, प्राणवायु से सयुक्त होता है। अतः कई योगाचार्यो ने प्राण एव अपानवायु का सयोग करना ही, प्राणायाम का लक्षण किया है।[1]

पूर्वोक्त तीनो प्राणायाम "सहित प्राणायाम" कहलाते है, अर्थात् इस प्रकार पूरक के पश्चात् कुभक फिर रेचक अथवा रेचक के बाद पूरक तत्पश्चात् कुभक किया जाता है।[2] इस प्रकार तीनो प्राणायामो का अभ्यास सम्मिलित रूप से किया जाता है।

उक्त प्राणायाम के विषय मे श्री भिक्षु तथा नागोजी भट्ट मे अगर्भ एव सगर्भ के भेद से भी प्राणायाम की विशेषता प्रदर्शित की है। जप-ध्यान से रहित प्राणायाम अगर्भ कहलाता है तथा जप-ध्यानादि पूर्वक किया गया प्राणायाम सगर्भ कहलाता है।[3] इनमे सगर्भ प्राणायाम अपेक्षाकृत उत्तम होता है। जप एव ध्यान के स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार की है। प्राण सयमपूर्वक व्याहृति, प्रणव एव शिरोमन्त्र सहित गायत्री का तीन बार जप करे यही आयतप्राण प्राणायाम कहलाता है।[4] योगी याज्ञवल्क्य ने प्राणापान के निरोध पूर्वक मात्राओ के प्रमाण के अनुसार प्रणवोच्चारण पूर्वक प्राणायाम की विधि बतलाई है।[5]

---

१ "प्राणापानसमायोग प्राणायाम इतीरित ।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेंचकपूरककुम्भकै" ॥ ( योगियाज्ञवल्क्य ६/२ )

२ द्रष्टव्य—यो० सा० स—पृ० ६७ ।

३ "अगर्भश्च सगर्भश्च द्वितीयस्तु तयोर्वर ।
जपध्यान विनाऽगर्भसगर्भ तत्समन्वित ॥ (यो० सा० स० प्राणा० प्र० पृ० ७२)

४ "सव्याहृति सप्रणवा गायत्री शिरसा सह ।
त्रिर्जवेदायतप्राण प्राणायाम स उच्यते" ॥ (यो० सा० स० प्राण० प्र० पृ० ७२)
व्याहृति रहस्यात्मक उक्ति है। सप्त व्याहृतियो का स्मरण सध्या के समय प्राणायाम मे किया जाता है। प्रणव के साथ ऊपर के सात लोको का क्रम से कथन ही, सात व्याहृतियो का स्मरण है।

५ "मात्राप्रमाणयोगेन प्राणापाननिरोधनात् ।
ॐकारेण तु कर्तव्यः प्राणायामो यथोदित ॥" (यो० सा० स० प्रा० प्र० पृ० ७२)

केवल प्रणव-जप का विधान परम-हसो के हेतु है। स्मृतियो मे पूरक, कुम्भक तथा रेचक करते समय क्रमशः, नाभि, हृदय तथा ललाट मे ब्रह्मा, विष्णु और शिव के स्वरूप का ध्यान बतलाया गया है। साथ ही सयत-चित्त यतियो के लिये प्रणवजप के साथ परब्रह्म के ध्यान का आदेश दिया गया है।

उक्त तीनो प्राणायामो के अतिरिक्त "पातजल-योगसूत्र" मे बाह्य एव अभ्यन्तर विषयो को आक्षिप्त करने वाले चतुर्थ प्राणायाम का भी विधान है।[1] इस चतुर्थ प्राणायाम की केवल कुम्भक तथा शून्यक सज्ञा भी है।[2] सूत्रस्थ "आक्षेपी" शब्द का अर्थ है—अक्षिप्त करने वाला अर्थात् अतिक्रमण करने वाला या अपेक्षा न रखने वाला।

जैसा पहले भी प्रदर्शित किया जा चुका है, रेचक तथा पूरक बाह्य तथा आभ्यन्तर विषय ( देश ) की अपेक्षा रखने वाले है। देश-कालादि से नियमित होने के कारण वे उनके ( देशादि के ) साथ अतिक्रान्त हो जाते है। उक्त दोनो प्राणायाम दीर्घकालीन अभ्यासवश अत्यन्त सूक्ष्म हो जाते हैं। दीर्घकालीन अभ्यासवश क्रमशः भूमिजय के पश्चात् अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण बाह्याभ्यन्तर उभयथा वृत्तियो की गति का अभाव होता है। वही सूक्ष्म स्तम्भवृत्ति, प्रकृत चतुर्थ प्राणायाम है। पूर्वोक्त स्तम्भवृत्तिरूप तृतीय प्राणायाम सकृत् प्रयत्न-साध्य तथा चतुर्थ प्राणायाम से अपेक्षाकृत अल्पकालस्थायी है। चतुर्थ प्राणायाम दीर्घकालीन प्रयत्न द्वारा साध्य तथा चिरकालस्थायी है। तृतीय, सहितकुम्भक, देश, काल, सख्या आदि से परिदृष्ट होकर दीर्घ सूक्ष्म होता है तथा रेचक पूरक की अपेक्षा रखने वाला है। केवक कुम्भक रेचक पूरक की अपेक्षा नही रखता। वह इन सबमे परे अवस्था का द्योतक है। श्री आई० के० टैमनी के अनुसार पूर्वोक्त तीनो प्राणायाम की सिद्धि के उपकरणमात्र है।[3]

---

१ "बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थ" (यो० सू० २/५१)

२ "रेचक पूरक त्यक्त्वा सुखयद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्त स वै केवल कुम्भक.।
रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः शून्यकस्तथा।
एव चतुर्विध प्रोक्त प्राणायामो मनीषिभि" ॥ (योगसार सग्रह पृष्ठ ७३)

३. The fourth kind of Pranayama referred to in the Sutra under discussion is the real Pranayama for which all the previous practices are merely a preparation "
(Page 266—Science of Yoga)

उद्‌घात के प्रकर्ष हेतु तृतीय स्तम्भ वृत्ति अभ्यसनीय है। उक्त स्तम्भवृत्ति ही अत्यन्त विशद होकर अन्त मे इच्छानुसार दीर्घकाल-व्यापी, चतुर्थ प्राणायाम का रूप धारण करती है।[1]

केवल कुम्भक सिद्ध जो जाने पर साधक के समक्ष आकाश-गमनादि समस्त सिद्धियाँ आविर्भूत होती है। इस अवस्था को प्राप्त योगी के लिये कुछ भी दुर्लभ नही रह जाता है।

वस्तुतः चतुर्थ प्राणायाम ही यथार्थ प्रणायाम है, क्योकि इस अवस्था मे ही योगी प्राण पर पूर्ण विजय या आधिपत्य प्राप्त करता है। केवल श्वास-प्रश्वास का नियमन ही प्राणायाम नही,[2] अपितु सम्पूर्ण प्राणशक्ति[3] का सयम प्राणायाम है। सूत्र-

---

१ एवमभ्याससक्रमेण यदा देशकालसख्याभि परिच्छेद्यौ रेचकपूरकौ विनैव मास-सवत्सरादि स्थायी बहुदेशस्थायी व्यापी वा कुम्भको भवति स केवलकुम्भकश्चतुर्थः प्राणायाम ।"

(योगसार सग्रह प्राणा प्र० पृ० ७०)

२. द्रष्टव्य—"राजयोग" ( स्वामी विवेकानन्द ), पृष्ठ ३६ ।

३. **प्राण—**

स्वाभाविक श्वास प्रश्वास ही प्राण नही है और न प्राण आत्मतत्व ही है, जैसा कि पाश्चात्य विद्वान् समझते हैं। प्राण वह जड तत्व है, जिससे श्वास-प्रश्वास आदि समस्त क्रियाएँ एक जीवित शरीर मे होती है। लोकलोकान्तर और समस्त जड-जंगम-स्थावर पदार्थ प्राणशक्ति से उत्पन्न होकर, उसी के आश्रय से जीवित रहते है और प्रलयकाल मे उसी मे लीन हो जाते है —"सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवा—भिसविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" ( छान्दोग्य उपनिषद १/११/५ )। समस्त इन्द्रियवर्ग का कार्य प्राणशक्ति से चल रहा है। अत उपनिषदो मे कही-कही पर, इन्द्रियो के लिये भी प्राण शब्द प्रयुक्त हुआ है।

मनुष्य के शरीर मे वृत्ति के कार्य-भेद से, इस प्राण को दस भिन्न-भिन्न नामो से अभिहित किया गया है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनजय ये दस प्रकार के प्राण वायु है।

"प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायव ।
नाग कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनजय ।"
(गोरक्ष सहिता, गोरक्षकृत विवेकमार्तण्ड ३६)

—आगामी पृष्ठ पर

कार एव भाष्यकार ने "श्वास-प्रश्वास" का गति-विच्छेद प्राणायाम इसलिये बतलाया है कि स्थूल से आरम्भ कर ही सूक्ष्म तत्त्व पर अधिकार किया जा सकता है। श्वास-प्रश्वास प्राण का स्थूलतम रूप है। अत॰ प्रथम उन्ही का आयाम ( सयम ) करना पड़ेगा। किन्तु श्वास-प्रश्वास के नियमन मात्र को प्राणायाम मानना सूत्रकार एव भाष्यकार को भी अभीष्ट नही है। इसीलिये उन्होने प्राणायाम के चार भेद बतलाये है। चतुर्थ प्राणायाम मे सम्पूर्ण बाह्याभ्यन्तर प्राणशक्ति पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। प्राण पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर कोई भी शक्ति अवशेप नही रह जाती, क्योकि प्राण ही प्रत्येक शक्ति का मूल स्रोत है। महर्षि विवेकानन्द के शब्दो मे "प्राण जगत्

( गत पृष्ठ का शेषाश )

१. **प्राण—**

श्वास-प्रश्वास को अन्दर-बाहर ले जाना, मुख और नासिका द्वारा गति करना, भुक्त-पीत, अन्न-जल को पचाकर पृथक् करना, अन्न को पुरीष, जल को पसीना व मूत्र तथा रस आदि को वीर्य बनाना प्राणवायु का कार्य है। यह शरीर के ऊपरी भाग मे, हृदय से नासिका पर्यन्त विद्यमान है। ऊपरी इन्द्रियो का कार्य इसी के अधीन है।

२. **अपान—**

वायु का कार्य मल, मूत्र एव गर्भ आदि को बाहर निकालना है। यह नीचे की ओर गतिशील तथा नाभि से पादतल पर्यन्त विद्यमान है। निचली इन्द्रियो का कार्य इस पर आश्रित है।

३. **समान—**

समान वायु का कार्य पचे हुए रसादि को, समस्त अगो एव नाडियो मे अनुपातपूर्वक विभाजित करना है। यह शरीर के मध्य भाग अर्थात् नाभि से हृदय तक स्थित है।

४. **व्यान—**

इसका मुख्य स्थान उपस्थमूल से ऊपर है। यह समस्त स्थूल एव सूक्ष्म नाडियो मे गति-पूर्वक, शरीर के सब भागो मे रुधिर-सचार करता है।

५. **उदान—**

यह कण्ठदेश मे स्थित रह कर शिर पर्यन्त गति करता है। देह का उठाये रखना इसका कार्य है। इसी के द्वारा शरीर के व्यष्टि प्राण का समष्टि प्राण से सम्बन्ध है। उदान वायु से ही मृत्युकाल मे, सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से बाहर निकलना तथा सूक्ष्म शरीर के कर्म, गुण और वासनाओ के अनुसार गर्भ मे प्रवेश होता है। योगी इसी के द्वारा स्थूल शरीर से निकल कर विभिन्न लोको मे घूम आते है।

—आगामी पृष्ठ पर

उत्पत्ति की कारणस्वरूपा, अनत सर्वव्यापी विक्षेपकरी शक्ति है।"[1] बाह्याभ्यन्तर समस्त शक्तियो की मूल अवस्था प्राण है।

प्रत्येक गति गुरुत्वाकर्षण या चुम्बक शक्ति, स्नायविक शक्तिप्रवाह (Nerve Current), विचारशक्ति, विविध शारीरिक-क्रियाशक्ति, सब कुछ प्राण का ही प्रकाश है। उन्नतम विचार शक्ति से लेकर सामान्यतम शारीरिक शक्तियाँ प्राण की ही विकसित अवस्थाएँ है। विविध शक्तियो मे परिणत प्राण तत्व का यथार्थ ज्ञान और सयम ही प्रकृत प्राणायाम है। प्राणायाम-साधना का उद्देश्य सम्पूर्ण प्रकृति के वशीकरण की शक्ति का अर्जन है। समस्त आध्यात्मिक एव आधिभौतिक शक्ति को प्राण की सामान्य शक्ति मे पर्यवसित या सीमित किया जा

१ द्रष्टव्य—"राजयोग" (स्वामी विवेकानन्द)।

(गत पृष्ठ का शेषाश)

शेष पाँच वायुओ मे, नागवायु उद्गार, अर्थात् छीकने आदि, कूर्मवायु निमीलन सकोचन-कार्य, कृकर वायु क्षुधा, तृषा आदि और धनञ्जय पोषण इत्यादि तथा देवदत्त जृम्भण निद्राआदि का कार्य करता है। किन्तु इन दशो मे पूर्वोक्त पञ्चप्राण ही मुख्य है। बाद मे कहे गए नाग, कूर्मादि प्रथम पाँच के ही अन्तर्गत है। इनका वर्णन ग्रन्थो मे इस प्रकार है—

"निश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्मेति कीर्तिता।
अपान वायो कर्मैतत् विण्मूत्रादिविसर्जनम्॥
हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्मेति चेष्यते।
उदानकर्मतत्प्रोक्त देहस्योन्नयनादि यत्॥
पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म कीर्तितम्।
उद्गारादि गुणो यस्तु नागकर्मेति चोच्यते॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुत वै कृकरस्य च।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्रीकर्मेति कीतितम्॥
धनञ्जयस्य शोफादिसर्वकर्मप्रकीर्तितम्॥"

(योगियज्ञावल्क्य, ४/६६-६६)

"हृदिप्राणोवसेन्नित्यमपानो गुह्यमण्डले।
समानो नाभि देशे तु उदान कण्ठमध्यग॥
व्यानो व्यापी शरीरे तु प्रधाना पञ्चवायव॥"

(गोरक्षसहिता, ३०)

सकता है। प्राणजित् योगी अपने मन पर ही नही, अपितु प्रत्येक व्यक्ति के मन पर विजय-प्राप्ति की क्षमता रखता है, क्योकि प्राण ही सम्पूर्ण शक्तियो का मूल है।

मनःशक्ति से आरोग्य (Mind Healing), विश्वास से आरोग्य (Faith-Healing), प्रेततत्व विद्या (Spiritualism), ईसाई विज्ञान (Christian Science)[1], वशीकरण विद्या (Hypnotism) एव (Telepathy) आदि के मूल मे भी ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से प्राणायामशक्ति ही कार्य कर रही है। भेद केवल इतना है कि उक्त विद्याओ के प्रयोगकर्ता इस प्राण-शक्ति के स्वरूप से अनभिज्ञ है, अतः उसे नवीन आविष्कार समझते है। योगी इस शक्ति का नियत्रण एव प्रयोग ज्ञानपूर्वक करते है। मनोवृत्ति प्राण की सूक्ष्मतम एव उन्नतम अभिव्यक्ति है। तेज अथवा शक्ति के प्रत्येक विकास, प्राणसयम-जन्य ही है। प्राण के विविध प्रकाशो को जीत कर उसे यथेच्छरूप से चलाना राजयोग का उद्देश्य है। योगविद्या का लक्ष्य अल्पकाल मे आत्मोन्नति की गति तीव्र करके मुक्ति प्राप्त करना है। यह कार्य एकाग्रतापूर्वक साध्य है। एकाग्रता की शक्ति-प्राप्ति का विज्ञान ही राजयोग है।

मन को उत्तरोत्तर उच्च से उच्चतर स्पन्दन-विशिष्ट बनाना ही योगोक्त समाधि है। जब प्राणायाम से बाह्य साधनो द्वारा प्राण के स्थूल रूपो पर विजय प्राप्त की जाती है, तब उसे भौतिक अथवा पदार्थ-विज्ञान कहते है। जब प्राणायाम-क्रिया से, प्राण की मानसिक-शक्तियो को, मानसिक उपायो द्वारा सयत किया जाता है, तब वह राजयोग कहलाता है। आई० के० टैमनीके अनुसार—प्राणो के माध्यम के अतिरिक्त, अन्य किसी प्रकार से द्रव्य एव शक्ति का सम्बन्ध असम्भव है, प्राण जो व्यक्तीकरण के समस्त क्षेत्रो मे विद्यमान है, एक ओर यदि द्रव्य एव शक्ति का सम्बन्धसूत्र है, तो दूसरी ओर चैतन्न्य एव बुद्धि का भी सयोजक है।[2]

---

१ विश्वास द्वारा आरोग्यादि ही ईसाई विज्ञान कहलाते है। इसके मतानुयायियो का कथन है कि वे ईसा का ठीक ठीक अनुसरण करते है। इसी से इसका नाम ईसाई विज्ञान पड गया। (द्र०—राज०—विवेकान्द, २५) प्रेततत्व विद्या आदि का विवरण "त्रिविध परिणाम का सयम" शीर्षक मे द्रष्टव्य है।

२ "Pran which exists on all the planes of manifestation is the connecting link between matter and energy on the one hand and consciousness and mind on the other Matter in association with energy cannot effect consciousness except through the agency of pran."

( Science of yoga) P. 258

प्राण का आध्यात्मिक स्वरूप क्या है, इसे हम शरीर-विधान-शास्त्र (Physiology) की सहायता से बडे सरल ढग से समझ सकते है। योगशास्त्र मे मेरुदण्ड के अन्दर बाईं ओर इडा और दाईं ओर पिगला तथा बीच मे मेरुमज्जा के मध्य मे सुषुम्ना नामक नाडी का वर्णन मिलता है। मेरुमज्जा कटिप्रदेशस्थ मेरुदण्ड के कुछ अस्थिसमूह के पश्चात् ही समाप्त हो जाती है, किन्तु धागे के समान एक सूक्ष्म पदार्थ लगातार नीचे की ओर गया है। सुषुम्ना यहाँ भी अत्यन्त सूक्ष्मरूप मे स्थित है। इस नाडी का मुँह नीचे बन्द रहता है। पास ही मे कटिप्रदेशस्थ नाडी-जाल (Sacral-Plexus) है। शरीर विज्ञानानुसार यह त्रिकोणाकार है। यही पर योगोक्त मूलाधार पद्म है। मेरुमज्जा के अन्दर विभिन्न नाडी-जालो के केन्द्र स्थित है। ये केन्द्र ही योगोक्त चक्रो या पद्मो के रूप मे लिये जा सकते है।

शरीर-विज्ञान को चेतना के केन्द्र के रूप मे वर्णित इन चक्रो की जानकारी नही है और न वह उन्हे, सूक्ष्म प्राणवायु या सूक्ष्म प्राण-शक्ति के केन्द्र के रूप मे ही जानता है। यद्यपि स्थूल शरीर और तत्सम्बन्धी सारी विशेषताएँ शरीर-विज्ञान का ही विषय है। अत: जो केवल शरीर-विज्ञान का आश्रय लेते है, उन्हे प्रायः निराश रहने की ही सम्भावना है। इस विषय मे सर आर्थर एवलॉन ने, एक सुविदित थियोसोफी मतानुयायी लेखक का उल्लेख किया है, जो इसे "चेतना-केन्द्र" और "कुण्डलिनी-ज्योति" कहता है। साथ ही इस विषय को उसने अपना व्यक्तिगत अनुभव भी बतलाया है।[1]

उपर्युक्त पद्मो मे से प्रथम मूलाधार, अन्तिम सहस्रार तथा नाभिचक्र (मणिपुर) ये तीन विशेष महत्वपूर्ण है।[2] स्नायुप्रवाह दो प्रकार के है। एक केन्द्र की ओर ले जाने वाले है, जिन्हे अन्तर्मुखी अथवा ज्ञानात्मक कहते है। दूसरे केन्द्र से दूर ले जाने वाले, जिन्हे बहिर्मुखी अथवा गत्यात्मक कह सकते है। इनमे से प्रथम, मस्तिष्क मे सम्वाद पहुँचाते है, दूसरे मस्तिष्क से अगो मे। किन्तु अन्त मे सब मस्तिष्क मे मिल जाते है। मस्तिष्क मे पहुँच कर मेरुमज्जा एक "बल्ब" की तरह के अण्डाकार पदार्थ मे समाप्त होती है। इसे मेडुला (Medulla) कहते है। यह मस्तिष्क से असलग्न रहकर, वहाँ एक तरल पदार्थ मे तैरा करता है। इससे

१. "सर्पेन्ट-पावर", पृ० ६।

२. ये पद्म या चक्र सात है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार। इनका विशेष विवरण विभूतिपाद के—"नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्"—सूत्र की व्याख्या मे दिया गया है।

सिर पर चोट लगने पर भी उसकी शक्ति तरल पदार्थ मे बिखर जाने से बल्ब को आघात नही पहुँचता है।

श्वास-प्रवास को नियमित करनेवाला स्नायुकेन्द्र ठीक वक्षःस्थल की सीध मे मेरुदण्ड मे स्थित है। समस्त स्नायु-प्रवाहो पर इसका कुछ न कुछ अधिकार है। अतः यह समस्त स्नायुप्रवाह को प्रभावित करता है।

भौतिक-विज्ञान का विद्युत्-तत्व भी महत्वपूर्ण है, जिसे सब केवल एक गति के रूप मे ही जानते है। अन्यान्य जागतिक गतियो से वह किस प्रकार विशिष्ट है—यह ज्ञेय है। समस्त परमाणुओ की अनवरत एक दिशा मे गतिशील अवस्था ही वैद्युत-गति है। यदि किसी स्थान मे स्थित समस्त वायु-परमाणु अविच्छिन्न एक ही ओर प्रवर्तित किये जायॅ तो वह स्थान महान् विद्युदाधारयन्त्र ( Battery ) वत् बन जायगा।

द्विविध स्नायु-समूह पर, विद्युत् का प्रयोग करने से, उन दोनो मे धनात्मक तथा ऋणात्मक दो विपरीत शक्तियॉ उद्भूत होती है।[1] अतः स्पष्ट है कि इच्छाशक्ति ( Will-Power ) स्नायुप्रवाह मे प्रवर्तित ( परिणत ) होकर विद्युद्रूप बन जाती है। शरीर की समस्त गति एकाभिमुखी कर देने से, शरीर इच्छाशक्ति का महान् विद्युदागार बन जाता है। योगी का उद्देश्य उक्त प्रबल इच्छाशक्ति की उपलब्धि ही है।

प्राणायाम मे भी श्वास-प्रश्वास को नियन्त्रित करके समस्त शरीर-परमाणुओ मे एकाभिमुखी गति उत्पन्न की जाती है। जब सब ओर भागने वाला मन एकाग्र होकर सबल इच्छाशक्ति ( Strong Will-Power ) मे परिवर्तित होता है, तब स्नायु-प्रवाह मे भी विद्युत्वत् गति उत्पन्न होती है। इस प्रकार प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास-केन्द्र को अधिकृत करके उसकी सहायता से शेष केन्द्रो को भी नियत्रित किया जाता है। योगोक्त प्राणायाम-साधना का उद्देश्य मूलाधारस्थ कुण्डलिनी को जागृत करना है। मूलाधार समस्त शक्तियो का आगार है। इस शक्ति को कुण्डलिनी जाग्रत करके सहस्रार मे पहुँचाना ही योग से साध्य है। यह ३॥ कुण्डल के आकार मे, मूलाधार मे स्थित है, अतः इसे कुण्डलिनी कहते है। जब कुण्डलिनी उद्बुद्ध होकर श्रेणीभूत षट्चक्रो को एक-एक कर भेदन करती हुई ऊर्ध्वगमन करती है, तो उत्तरोत्तर दिव्य ज्ञान का उद्घाटन तथा अद्भुत शक्तियो का स्फुरण होता है। अन्त मे षट्चक्र-

---

१. द्रष्टव्य—विवेकानन्द कृत "राजयोग" मे "प्राण का आध्यात्मिक स्वरूप" शीर्षक।

भेदन के पश्चात् कुण्डलिनी सहस्रार मे प्रविष्ट हो जाती है, तब योगी अपने नित्य मुक्त स्वभाव की उपलब्धि करके आनन्द-विभोर हो जाता है।[1]

इसके लिये सुषुम्ना को जगाना अनिवार्य है। पहले बतलाया जा चुका है कि इडा और पिंगला मेरुमज्जा मध्यस्थ ज्ञानात्मक एव कर्मात्मक स्नायु-समूह-स्तम्भ ही है। इन्ही दोनो नाडियो से मुख्यतः अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी शक्तिप्रवाह प्रवाहित होते है और ये मस्तिष्क मे बिजली के तार की भाँति कार्य कर रहे है। इस शक्ति-प्रवाह को विना स्नायु के ही सुषुम्ना के मध्य से, बेतार के तार की भाँति प्रवाहित करने पर उस समस्या की मीमासा हो जाती है।

जागृतावस्था मे बाह्य विषयाभिघात जन्य प्रवाह शरीर के किसी केन्द्र मे पहुँचने पर प्रतिक्रिया होती है, जिसका फल स्वैर-केन्द्रो (Automatic-centres) मे, सामान्य गतिमात्र है। किन्तु चेतन-केन्द्रो (Conscious-centres) मे यह गति अनुभव के बाद होती है। प्रत्येक प्रतिक्रिया से उत्पन्न सवेदनाएँ शरीर के अन्दर सचित है। उन्ही के अभिघात से स्मृति, स्वप्नादि, मृदु प्रक्रियाएँ हुआ करती है।

जिस स्थान पर मूलाधार (Sacral Plexus) स्थित है, उसे दीर्घकालीन चिन्तनोपरान्त उष्ण होते देखा जाता है, ऐसा शरीर-विज्ञान वेत्ताओ का अनुभव है। अतः गतिप्रवाहो की अवशिष्ट सस्कार समिष्ट के सचयस्थल को ही मूलाधार कहते है।[2] "सर्पेन्ट पावर" मे सर आर्थर एवलॉन ने इसे ( मूलाधार को ) "चतुःपरिमाण ज्योतिष्केन्द्र के सदृश" बतलाया है तथा सस्कारो के सग्रहस्थल को "भौतिक परमाणुओ से निर्मित सघन जाल" कहा है, जब कि वे लिखते है—"अभ्रकेन्द्र ( आकाश ) जड माध्यम को सचेत रखता है और कहा जाता है कि यह एक चतुःपरिमाण वाले ज्योतिष्केन्द्र से सादृश्य रखता है, परन्तु उनके मध्य मे भौतिक परमाणुओ से निर्मित, एकहरी पर्त का अत्यन्त घना बुना हुआ जाल है, जो स्तरो के बीच पारस्परिक व्यवहार को समय से पूर्व ही विकसित होने से रोकता है।[3]

---

१ पतञ्जलि तथा उनके व्याख्याकारो ने कुण्डलिनी का नाम नही लिया है, क्योकि यह विषय गुरु-परम्परागम्य ही है।

२ द्रष्टव्य—"राजयोग" पृ० ६४।

३ The " etheric" cntre which keeps alive the physical vehicle is said to correspond with an"astral" centre of four dimen-

—आगामी पृष्ठ पर

मूलाधार मे स्थित पूर्वोक्त कुण्डलीकृत क्रियाशक्ति का अभिधान कुण्डलिनी है। इसका उत्थापन दीर्घकालीन धारणा, ध्यानादि की साधना के उपरान्त होता है। विपुल-शक्ति-आगार कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर जब क्रमशः एक-एक चक्र-भेदन करती हुई सुषुम्ना-मार्ग मे भ्रमण करती है, तो उत्तरोत्तर तीव्रातितीव्र प्रतिक्रिया होती है। विभिन्न केन्द्रो के अभिघात से उत्पन्न तत्कालीन प्रतिक्रिया जाग्रतावस्था से भी अनन्तगुनी प्रबल होती है। अन्ततः समस्त ज्ञान एव अनुभवो के केन्द्रभूत सहस्रार मे इस शक्ति-पुंज के प्रवृष्ट होने पर, मस्तिष्क तथा उसकी अनुभूतियो के सम्बद्ध प्रत्येक अणु- परमाणु प्रतिक्रिया करने लगता है। इस समय मस्तिष्क से ज्ञान का पूर्ण आलोक एव आत्मानुभूति का स्फुरण होता है। योगी को सूक्ष्म या कारण जगत् का भी सम्यक् ज्ञान हो जाता है। उसके लिये इस अवस्था मे कुछ भी अज्ञेय नही रह जाता। यही प्राणशक्ति का चमत्कार है। इस अवस्था की प्राप्ति ही प्राण का पूर्ण आयाम है।

× × ×

प्राणायाम योगाङ्गो मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके अभ्यास से प्रकाश का आवरण[1] उत्तरोत्तर क्षीण होकर अन्त मे नष्ट हो जाता है[2] तथा धारणा की योग्यता प्राप्त होती है।[3] किसी सांख्याचार्य ने प्राणायाम को ही सर्वश्रेष्ठ तप बतलाया है। "तपो न पर प्राणायामात्तनो विशुद्धिर्मलाना दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।"

**प्रत्याहार—**

इन्द्रियो का अपने-अपने विषय से असम्बद्ध रहने पर चित्त के स्वरूप का

---

१ पुनर्जन्म के हेतुभूत कर्म ही प्रकाश के आवरण है। द्रष्टव्य-पचक्लेश एव उनके निवारण के उपाय।

२ "तत क्षीयते प्रकाशावरणम" ॥ ( यो० सू० २-५२ )

३ "धारणासु च योग्यतामनस" ( यो० सू० २-५३ )

(गत पृष्ठ का शेषाश)

sions, but between them is a closely woven sheath or web composed of a single compressed layer of physical atoms, which prevents a premature opening up of communication between the planes.

(The Serpent power, P. 8)

अनुकरण जैसा करना प्रत्याहार कहलाता है।[1] वस्तुतः प्रत्याहार का अर्थ है, उल्टा लोट लौटाना (प्रति+आहार, प्रति=प्रतिलोम=विपरीतभाव)। प्रत्याहार-साधना मे स्वभावतः बहिर्मुखी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो से विमुख करके अन्तर्मुखी बनाई जाती है, अतः उसे प्रत्याहार कहते है। भगवद्गीता मे प्रत्याहार का वर्णन इन शब्दो मे किया गया है—

> "यदासहरते चाय कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः
> इन्द्रियाणीन्द्रिआर्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥" (२/५८)

तथा महाभारत के अश्वमेध पर्व (४२/४६) मे—

> "विद्वान् कूर्म इवाङ्गानि कामान् सहृत्य सर्वतः।
> विरजा : सर्वतो मुक्तो यो नरः स सुखी सदा ॥"

उसी की इस प्रकार व्याख्या की गई है।

प्रत्याहार साधना के लिये यत्नविशेष की आवश्यकता नही पडती। इन्द्रिय-व्यापार चित्त की गति के अधीन है। यम, नियम, प्राणायामादि के अनुष्ठान से चित्त बाह्य विषयो से विरत हो चुकता है। अतः इन्द्रियाँ भी स्वतः विषयो से प्रत्याहृत हो जाती है। इस समय अर्थात् विषयो की असम्पृक्तावस्था मे चित्त का जैसा स्वरूप होता है, उसका इन्द्रियाँ भी अनुकरण सा करती है। इसी से सूत्रकार ने "चित्तस्वरूपानुकारइव" ऐसा प्रयोग किया है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ अनुकरण जैसा करती है, पर वास्तव मे अनुकरण नही करती, क्योकि चित्त तो प्रथम बाह्य विषयो से विमुख होकर बाद मे आत्मतत्वाभिमुखी होता है, किन्तु इन्द्रियाँ केवल बाह्य-विषयो से विमुख होती है, चित्तवत् आत्मतत्वाभिमुख नही होती। इस प्रकार प्रत्याहार इन्द्रियो का धर्म है, चित्त का नही। बिना प्रत्याहार के ध्यान-प्रक्रिया सम्भव नही होती। "चित्तस्वरूपानुकार इव" की व्याख्या मे भगवान् व्यास ने बडी सुन्दर उपमा द्वारा भाव स्पष्ट किया है। वे कहते है कि जिस प्रकार मधुकरराज के उड जाने पर उसका अनुकरण करने वाली समस्त मक्खियाँ पीछे से उड जाती है, उसके बैठने पर वे भी बैठ जाती है, उसी भाँति चित्त का व्यापार जब तक प्रवर्त्तित रहता है, तब तक इन्द्रियाँ भी अपने व्यापार मे सचेष्ट रहती है। (मधुकरराज= मक्षिकारानी-(Queen Bee) चित्तनिरोध होनेपर इन्द्रियगण भी निरुद्ध हो जाते है।

---

१ "स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा" प्रत्याहार । ( यो० सू० २/५४ ।

यहाँ यह स्मर्तव्य है कि स्वेच्छापूर्वक इन्द्रिय-निग्रह करना ही उक्त प्रत्याहार है। इन्द्रियो के स्व विषय ग्रहण त्यागमात्र को प्रत्याहार नही कहा जा सकता है। यो तो उन्मादी, मृगी-रोगी ( Hysteric ) को भी एक प्रकार का प्रत्याहार होता है। कृत्रिम आदेश (Hypnotic Suggestion) के वशीभूत प्राणी को तो अच्छी तरह प्रत्याहार होता है, उन्हे लवणयुक्त पदार्थ को मधुर कहकर दिया जाय, तो वे मीठे का ही स्वाद पाते है। किन्तु उक्त अवस्थाएँ विवश अवस्थाएँ है। योगाङ्गीभूत प्रत्याहारपूर्ण स्ववश अवस्था है। योगी जब चित्त को अन्तर्मुख करता है, तो इन्द्रियाँ भी बाह्य-विषय का ग्रहण नही करती। इसी भाँति शब्दादि किसी बाह्य विषय पर चित्त स्थिर करने पर इन्द्रियाँ केवल उसी विषय के व्यापार मे सलग्न रहती है, अन्य विषय ग्रहण नही करती। इन्द्रियो को निग्रहीत करके उन्हे स्वेच्छानुवर्त्तिनी बना लेना ही प्रत्याहार-साधना है।

**धारणा :**

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि से जब चित्त-चाञ्चल्य सम्यक्रूपेण निवृत्त हो जाय, तब उसे किसी देश-विशेष मे बाँधना अर्थात् स्थिर करना धारणा कहलाता है।[1]

देश का अर्थ यहाँ बाह्य-आभ्यन्तर आध्यात्मिक देशो से है। ये देश नाभिचक्र (मणिपुर), हृदय-कमल ( अनाहत चक्र ), नासिकाग्र, जिह्वाग्र, भ्रूमध्य, ब्रह्मरन्ध्र तथा चन्द्र, सूर्य, ध्रुव आदि है। इन देशो अर्थात् आध्यात्मिक स्थल विशेषो मे वृत्ति मात्र से चित्त को स्थिर कर देना धारणा है।

"योगसार-सग्रह" मे पर्वत—शिखर भी धारणा का देश बतलाया गया है।[2] श्री भिक्षु ने यह शका भी उठाई है कि मूर्ति आदि ध्येय के विषय मे तो देश का कथन युक्तिसगत प्रतीत होता है, किन्तु सत्व-पुरुषान्यताख्याति तथा शुद्ध ब्रह्मविषयिणी धारणा मे, उक्त ध्येय असीम अपरिच्छिन्न होने से देश-बन्ध से क्या सम्बन्ध हो सकता है? साथ ही शका-निवृत्त करते हुए यह बतलाया है कि जिस प्रकार

---

१ देशबन्धश्चित्तस्यधारणा—( यो० सू० ३-१ )

२ "हृत्पुण्डरीके नाभ्या वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके।
एवमादिप्रदेशेषु धारणाचित्तबन्धनम् ॥" ( कूर्म पु० )
पर्वमस्तके पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। इस श्लोक मे शरीर के आभ्यतर विषय वर्णित है। सम्भवत यहाँ पर "पर्वणि" या पर्वसु पाठ शुद्ध होगा।

अग्नि सर्वव्यापी होने पर भी, अग्नि का इन्धनादि ही आश्रय स्थल है तथा उसके तीव्र घर्षण से अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठता है, उसी भाँति ब्रह्म-प्रकृत्मादि सर्वव्याप्त होने पर भी हृदय आदि उपाधियो मे उनका साक्षात्कार होने से वे ही उनके देश मान्य है।[1]

आभ्यन्तर देश मे साक्षात् अनुभव के द्वारा चित्त-बन्ध तथा बाह्य-विषयो मे वृत्तिमात्र अर्थात् ज्ञानमात्र से चित्त का बन्ध धारणा कहलाता है।[2]

योगसारसग्रहकार ने धारणा का काल द्वादश आयाम बतलाया है "धारणा द्वादशायामा" अर्थात् जितनी देर मे द्वादश आयाम ( प्राणायाम ) होते है, उतनी देर तक पूर्वोक्त देशो मे जब चित्त-स्थिर रहे, तब उसे धारणा कहते है।

**ध्यान—**

उक्त (धारणा के हृत्पुण्डरीकादि) देश मे ध्येयाकार चित्तवृत्ति (रूप ज्ञान= प्रत्यय ) का निरन्तर एक-रस प्रवाह ध्यान कहलाता है।[3] इसी को "ईश्वरगीता" मे देश सम्बन्धिनी स्थिति का आश्रय लेकर अन्य वृत्तियो से असम्पृष्ट बुद्धि की वृत्तियो का प्रवाहरूप ध्यान कहा गया है।[4] जिस वृत्तिमात्र से चित्त धारणाकाल मे ध्येय से सम्बद्ध होता है, वह वृत्ति जब अविच्छिन्न गति से भासित होने लगे तब वही ध्यान कहलाती है। धारणा मे इस वृत्तिका धारा-प्रवाह प्रत्ययान्तरो ( अन्य वृत्तियो ) की उत्पत्ति होने से खडित भी होता रहता है। ध्यानावस्था मे यह धाराप्रवाह अविरल गति से प्रवाहित होता है। "ईश्वर-गीता" मे ध्यानकाल द्वादशधारणापर्यन्त अवधारित किया गया है—"ध्यान द्वादशधारणाः"।

सूत्रकार एव भाष्यकार ने सामान्यरूप से देश-विषयक धारणा एव ध्यान कह दिया है। फिरभी उनका तात्पर्य देशमात्र के धारणा एव ध्यान से नही, अपितु अधिकरणभूत उक्त देशो मे चतुर्भुजादि भगवद्विग्रह के चिन्तन से ही है। तात्पर्य यह है कि उक्त देशो का चिन्तन नही, अपितु उनमे स्थित परमात्मा आदि का ध्यान

१ द्रष्टव्य—योगसार सग्रह।

२ द्रष्टव्य—"भास्वती"—हरिहरानन्द आरण्य।

३ "तत्रप्रत्ययै कतानताध्यानम्" ( योठ सू० ३-२ )

४ "देशावस्थितिमालम्ब्य बुद्धेर्या वृत्तिसतति।
वृत्यन्तरैरसम्पृष्टा तद्ध्यान सूरयो विदु॥"
(द्रष्टव्य—योगसार सग्रह का धारणा प्रसग) कूर्म पु०

करना चाहिये। "गरुड-पुराण" मे भी इस प्रसग मे ब्रह्मरूप परमेश्वर की धारणा एव ध्यान बतलाए गए है।[1] भगवान् शकराचार्य ने भी गीता के—

**"सम कायशिरोग्रीव धारयन्नचल स्थिरः।**
**सम्प्रेक्ष्यनासिकाग्र स्व दिशश्चानवलोकयन् ॥"**

इस श्लोक का भाष्य करते हुए "आत्मसस्थमनः कृत्वा" इस भगवत्-उक्ति को प्रमाणरूप मे उद्धृत किया है तथा आधारभूत नासिकाग्र देश मे आत्म-सबधी ध्यान का उल्लेख किया है।

× × ×

**समाधि—**

वही ध्यान जब स्व-स्वरूपशून्यवत् होकर ध्येय के स्वरूपमात्र का प्रकाशक बनता है, तब समाधि कहलाता है।[2]

ध्यानावस्था मे ध्याता ( चित्त ), ध्यान ( चित्तवृत्ति ) तथा ध्येय ( चित्तवृत्ति का विषय ), इन तीनो का आभास होता है। अभ्यास की दृढता से ध्येय के स्वभावावेश-वश ध्यान का आकार लुप्त हो जाता है, केवल ध्येय के स्वरूप का भान होता है, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही है कि इस अवस्था मे ध्यान की सत्ता ही नही होती, क्योकि ध्येय का प्रकाशक तो ध्यान ही होता है। ध्यान का अस्तित्व सर्वथा अस्वीकार कर देने पर ध्येय का निर्भासक कौन होगा ? वस्तुतः समाधि, ध्यान एव ध्येय की तन्मयावस्था है। जिस प्रकार जल मे प्रक्षिप्त लवण ( नमक ) वर्तमान रहने पर भी जल-स्वरूप ही प्रतिभासित होता है, उसी भॉति समाधिकाल मे ध्यान विद्यमान रहने पर भी अपने स्वरूप को त्याग कर ध्येय से अभिन्न रूप मे भासता है। वस्तुतः ध्यान का अभाव नही हो जाता, फिर भी उसके स्वरूप के अभाव जैसी प्रतीति होती है। इसी भाव को सूत्रकार ने "इव" पद से अभिव्यजित किया है, अर्थात् स्वरूप शून्य के जैसा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव मे स्वरूप शून्य नही होता है। ध्यान की ही चरम उत्कृष्ट सीमा समाधि है। यह

---

१. "प्राणायामैर्दशभिर्यावत्कालकृतो भवेत्।
स तावत्कालपर्यन्त मनो ब्रह्मणि धारयेत् ॥"
( गरुड पुराण २१८/२२७/२२६ और ४६ )

२. "तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि।" ( यो० सू० ३-३ )

चित्तिस्थिति की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। इन्द्रियो से अत्युत्कृष्ट विषय-सम्पर्क होने पर भग्न भी हो सकता है, किन्तु समाधि इस तरह नही टूटती है।

उक्त अवस्था जब द्वादश ध्यान-पर्यन्त स्थिर रहने लगे, तब वही समाधि नाम से कही जाती है। "ध्यानद्वादशक यावत्समाधिरभिधीयते"।[1] तथा—

**"धारणापञ्चनाडीका ध्यानस्यात्षष्टिनाडिकम्।**
**दिनद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥"[2]**

अर्थात् पॉच नाडिका (घटिका या घडी) पर्यन्त एकाग्र चित्तस्थिति धारणा, साठ घडी-पर्यन्त स्थिरवृत्ति ध्यान तथा बारह दिन तक एकाग्र चित्तस्थिति समाधि कही जाती है। इस विषय मे स्वामी ब्रह्मलीनमुनि ने लिखा है कि वास्तव मे ढाई घडी तक एकाग्र चित्तस्थिति भी समाधि ही है, अन्यथा उतने ही समय मे होने वाला अनुभवसिद्ध समाधिसुख अनुपपन्न हो जायगा। कारण उस समय मे समाधि के बिना समाधि-सुख मिलना ही असम्भव है, पर वह होता है।[3]

---

१. द्रष्टव्य—योगसार सग्रह।

२. स्कन्दपुराण (काशी खण्ड ४१)।

३. यो० भा० वि०—पृ० ५०६।

## ( ५ ) इन्द्रियनिग्रह की आवश्यकता।

इन्द्रिय-निग्रह योग-साधन का प्रवेशद्वार है। इन्द्रिय-निग्रह से शरीर एव मन दोनो पर विजय प्राप्त हो सकती है। जब तक इन्द्रियो को स्ववश नही किया जायगा योगी योग-साधना मे कथमपि साफल्य नही प्राप्त कर सकता है। योग के अष्टाङ्गो मे प्रत्याहार का स्वतन्त्र अस्तित्व है। इसी से इन्द्रिय-निग्रह का महत्व स्पष्ट होता है। यम-नियम से प्रारम्भ कर प्राणायाम, प्रत्याहार पर्यन्त पच योगाङ्ग प्रधानतः देह, प्राण एव इन्द्रिय-निग्रह स्वरूप ही है।[1] अन्तिम तीन चित्तनिरोधस्वरूप है। शरीर का निग्रह इन्द्रियवश्यताधीन ही है। प्राण का स्वय बाह्येन्द्रियो मे अन्तर्भाव किया जाता है।[2] प्राणायाम का योग-साधना मे कितना उत्कृष्ट महत्व है, यह योग के अष्टाङ्ग-वर्णन मे स्पष्ट ही हो चुका है। उस प्राणायाम-साधना से भी निग्रह-द्वारा इन्द्रिय-विकार ही नष्ट किये जाते है।[3] प्राणायाम के पश्चात् प्रत्याहार के द्वारा प्रत्येक इन्द्रिय को स्व-विषयो से प्रत्याहृतकर के सम्यक्-रूपेण इन्द्रियाँ निगृहीत की जाती है। इसी अवस्था को "योगसूत्र" मे इन्द्रियो की "परमवश्यता"[4] कहा गया है। सूत्रस्थ "ततः" शब्द का अर्थ प्रत्याहार से है, अर्थात प्रत्याहार-द्वारा इन्द्रियो की उत्कृष्ट वश्यता प्राप्त होती है। इन्द्रियो को निगृहीत किये बिना ध्यान सिद्ध नही होता।[5]

वस्तुतः इन्द्रियो को निगृहीत न करने से वे बारम्बार अपने विषयोपभोग मे आसक्त रहेगी। यह आसक्ति ही राग है। राग स्वय क्लेश है। रागात्मिका वृत्ति वर्तमान रहने पर इन्द्रियाँ भोग के हेतु चचल होती है इस चाञ्चल्य से चित्त भी अस्थिर होगा। अतः इस प्रकार चित्त कभी भी समाहित नही हो सकता। भगवान्

१ द्रष्टव्य—योगसार सग्रह, पृ० ७३

२. द्रष्टव्य—"पचक्लेश तथा उनके निवारण के उपाय शीर्षक" गत सू० २/१९ की व्याख्या।

३. दह्यन्ते ध्मायमानाना धातूना हि यथा मला।
तथेन्द्रियाणा दह्यन्ते दोषा प्राणस्य निग्रहात्॥ ( मनु )

४. "तत परमावश्यतेन्द्रियाणाम्" ( यो० सू० २-५५ )

५. "अनिर्जित्येन्द्रियग्राम यस्तु ध्यानपरो भवेत्।
मूढात्मानं तु त विद्याद्ध्यान चास्य न सिध्यति॥" (यो० सा० स०, ७४ )

मनु ने भी कहा है कि विषय-सयुक्त इन्द्रियो से दोष प्राप्ति अवश्यम्भावी है, उन्हे निगृहीत करने पर ही सिद्धि सभव है।[1] जब इन्द्रियो को उनकी स्वतः प्रवृत्ति से निवृत्ति नही किया जायगा, तो भोगाभ्यास बढने से वैराग्य भी नही उत्पन्न होगा। वैराग्य बिना योगाभ्यास मे उन्नति नही हो सकती है। कारण स्पष्ट है। भोगाभ्यास से विषयोपभोग मे विषयभोग की लालसा ही बढती है। इससे बारम्बार चित्त विषयोपभोग मे प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति से पुनः रागात्मक सस्कार बनते है। ये सस्कार क्लेश-मूल है। अतः क्लिष्ट कर्माशय ही उपचित करते है। क्लिष्ट कर्माशय का विपाक भी क्लेशदायक होता है। जैसा कि जाति, आयु और भोग के प्रकरण मे हम देख चुके है। इस प्रकार अनिगृहीत इन्द्रियो से मनुष्य बारम्बार क्लेश, कर्म और विपाक के अनन्त भँवर मे भ्रमित होता रहता है। अतः योगाभ्यासेच्छु की प्रथम आवश्यकता-इन्द्रिय-निग्रह है। भोग-ऐश्वर्य मे आसक्तेन्द्रिय व्यक्ति का चित्त कदापि समाहित नही हो सकता है। गीता ( २/४४ ) मे भी कहा गया है—

"भोगैश्वर्यप्रसक्ताना" तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिःसमाधौ न विधीयते ॥

अनिगृहीत इन्द्रियाँ विनाश-मार्ग की ओर ही अग्रसर करती है। बिना इन्द्रिय-जय के हम स्वय अपने ही ऊपर अधिकार प्राप्त नही कर सकते है। विजितेन्द्रिय चित्त ही अपने ऊपर, दूसरो के ऊपर तथा समस्त लौकिक एव दैविक शक्तियो के ऊपर राज्य करता है। महाभारत मे निगृहीतेन्द्रिय तृष्णारहित व्यक्ति को सब प्राणियो का सुहृद और मित्र तथा ब्रह्म के समान बतलाया गया है :—

"कामानात्मनि सयम्य क्षीणतृष्णः समाहितः।
सर्वभूतसुहृन्मित्रो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥"
( अश्वमेध ८२/४७ )

यदि दूसरो के चित्त पर अधिकार प्राप्त करना है, तो सर्वप्रथम अपने शरीर व चित्त पर विजय प्राप्त करना होगा। अपने शरीर पर विजय पाने के लिये पहले इन्द्रियो की स्वेच्छाचारिता को नष्ट करना होगा। इन्द्रियो को स्ववश करने के लिये इन्द्रिय-निग्रह करना पडेगा। प्रत्येक दिव्य शक्ति का प्रादुर्भाव इन्द्रिय

१ "इन्द्रियाणा प्रसगेन दोषमृच्छत्यसशयम्।
सनियम्य तुतान्येव तत सिद्धि नियच्छति।" ( मनु० २/९३ )

निग्रह के पश्चात ही हो सकता है। इन्द्रिय-निग्रह के लिये उन्हे अपने अपने विषयो से बलपूर्वक प्रत्याहृत करना पडेगा। यही प्रत्याहार की साधना से साध्य है।

अब प्रश्न उठता है कि इस इन्द्रिय-निग्रह का वास्तविक स्वरूप क्या है ? "ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम" सूत्रकार की इस उक्ति की व्याख्या करते हुए भगवान् व्यास ने इस विषय मे चार विकल्प उपस्थापित किये है।

प्रथम मतानुसार शब्दादि विषयो का व्यसन न होना ही इन्द्रियजय है। अर्थात् विषयो मे इतनी अधिक आसक्ति नही होनी चाहिये कि उनके सेवन बिना रहा ही न जा सके। जो मनुष्य को कल्याणपथ से वञ्चित कर दे, ऐसी आसक्ति व्यसन कहलाती है। "व्यस्यति एन श्रेयसः इति व्यसनम् सक्तिः"। अतः उक्त मतानुयायियो के अनुसार शास्त्रोक्त विषय सेवन उनकी दृष्टि मे व्यसन नही है। श्री विज्ञानभिक्षु ने उक्त मत की व्याख्या करते समय, इसी मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब और अधिक शास्त्र विरुद्ध विषयोपभोग मे भी इन्द्रियाँ प्रवृत्ति होती है, ऐसी तीव्र आसक्ति व्यसन है। अतः शास्त्र अविरुद्ध विषयोपभोग ही इन्द्रियजय है।

द्वितीय मतानुसार स्वेच्छापूर्वक विषयो से सम्प्रयुक्त होना, अर्थात् इन्द्रियाधीन न होना ही इन्द्रियजय है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय चाचल्य तो भोग्याधीन है। भोग्य-विषय समक्ष आते ही इन्द्रियाँ भोग हेतु आतुर हो उठती है। इस प्रकार इन्द्रियो मे चांचल्य होते ही विषयोपभोग प्रारम्भ कर देना इन्द्रिय-परवशता है। उक्त रीति से इन्द्रिय-परवश न होकर, उनके वेग को रोक कर, जब अपनी इच्छा हो तभी विषयो से सयुक्त होना चाहिये। इस प्रकार का इन्द्रिय-अपारतन्त्र्य ही इन्द्रियजय है।

तृतीय मतानुसार राग-द्वेष निवृत्त होने से उन विषयो की सुख-दुःखादि से शून्य प्रतीति ही इन्द्रियजय है। यह अवस्था तटस्थता का द्योतक है। जब सम्पूर्ण जगत मे दुःखद अनुभूति से अनुकूल प्रतिकूल विषयो के प्रति उदासीनता उत्पन्न होती है, तो उन विषयो मे राग-द्वेष भी निवृत्त हो जाता है। राग द्वेष की निवृत्ति से उन विषयो के प्रति सुखप्रद एव दुःखप्रद अनुभूति भी नही रहती है। अतएव सम्पूर्ण विषयो का सुख-दुःखादि शून्य ज्ञान होता है। प्रकृत मत मे इस अवस्था की प्राप्ति ही इन्द्रियजय की अवस्था है। अर्थात विषय सम्प्रयोग की प्रवृत्त तो बनी रहती है,

किन्तु उसमे सुख-दुःख का अनुभव नही होता है। स्वेच्छापूर्वक विषय सम्पर्क भी परमार्थ विषयक अज्ञान की सूचना देता है।

इन सबसे परे चतुर्थ मत है। भगवान जैगीषव्य के अनुसार चित्त की एकाग्रता के कारण, चित्ताधीन इन्द्रियो की विषयो मे सर्वथा प्रवृत्ति-शून्यता ही इन्द्रियजय है। यही प्रत्याहार से प्राप्य है तथा इसी को सूत्रकार ने "इन्द्रियो की परमावश्यता" कहा है। यह उक्त तीनो वश्यताओ से अत्यन्त श्रेष्ठ है, क्योकि चित्त के निरुद्ध होने पर उसके आधीन इन्द्रियां भी निरुद्ध हो जाती है। अतः पुनः इन्द्रियजय के हेतु उपायान्तर की अपेक्षा नही रहती है। सच तो यह है कि उक्त तीन इन्द्रियजय नही, अपितु प्रच्छन्न इन्द्रिय-लौल्य ही है। पूर्वोक्त तीनो मतो मे किसी न किसी प्रकार इन्द्रियाॅ विषय-विषधर से सम्बद्ध बनी रहती है। अतः पथभ्रष्ट होने की आशका बनी रहती है। विष-विद्या मे प्रवीण व्यक्ति भी वशीकृत सर्प को गोद मे लेकर निश्चिन्त नही सो सकता है। उसी भांति पूर्वोक्त तीन प्रकार से निगृहीतेन्द्रिय व्यक्ति भी, विषय भोगते हुए क्लेश-शका से विनिर्मुक्त नही हो सकता है। अतः अन्तिम प्रकार की इन्द्रियवश्यता ही इन्द्रिय-निग्रह का वास्तविक स्वरूप है।

इन्द्रियो की इस परमावश्यता द्वारा ही सम्पूर्ण प्रकृति पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है।

इन्द्रियाॅ प्रत्येक प्रकार की सवेदना (अनुभूति) एव क्रिया की केन्द्रस्वरूपा है। अतः इन्द्रियो पर पूर्ण विजय प्राप्त करते ही हर एक स्नायु, प्रत्येक मांसपेशी, वशीभूत हो जाती है। उसके हम सचालक बन जाते है और उससे मनचाहा कार्य करवा सकते है। जब जिस स्थान पर चाहे चित एकाग्र करके दिव्य प्रकाश की उपलब्धि कर सकते है। जिस प्रकार जिस कमरे मे हम बिजली जलाना चाहते है, उसका स्वीच आन करते ही वहाॅ विद्युत-प्रकाश फैल जाता है। इस प्रकाश को हम अपनी इच्छानुसार जितनी देर चाहते है, उतनी देर प्राप्त करते है और आवश्यकता पूर्ण हा जाने पर स्विच आफ कर देते है।

ऐसा ही श्री आई० के० टैमनी ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

" The successful practice of Pratyahara as we have Seen in the previous Sutra gives complete control over the

Indriyas in the sense that we no longer remain their slaves but become their master, switching them off and on as we switch off and on electric light in our room." (Science of yoga–Page 272)

इन्द्रियजय के पश्चात् ही चित्त धारणा, ध्यान और समाधि योग्य बनता है। अतः इन्द्रियनिग्रह की परम आवश्यकता है।

इन्द्रियजयके उपरान्त ही आध्यात्माग्नि प्रज्ज्वलित होती है। "महाभारत" मे कहा गया है कि जिस प्रकार इन्धन के जलाये जाने पर, अग्नि की महान ज्योति का प्रकाश होता है, उसी प्रकार इन्द्रियो के निरोध द्वारा महान आत्मा का प्रकाश होता है—

"यथाग्निरिन्धनैरिद्धो महाज्योतिः प्रकाशते।
तथेन्द्रियनिरोधेन महानात्मा प्रकाशते॥"

( अश्वमेध ४२/४६ )

यम, नियम से लेकर प्रत्याहार पर्यन्त, समस्त योगाङ्ग मुख्यरूप से शरीर एव इन्द्रियनिग्रहात्मक ही है, यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है। पूर्व प्रकरण मे वर्णित तज्जन्य सिद्धियो से भी यह सिद्ध होता है कि किस प्रकार इन्द्रिय-निग्रह द्वारा प्रकृति की विविध शक्तियो पर, अपने ऊपर तथा दूसरो के चित्त पर अधिकार प्राप्त होता है। प्रत्याहार रूप पूर्ण इन्द्रियनिग्रह के पश्चात धारणादित्रय के माध्यम से, किस प्रकार सम्पूर्ण प्रकृति पर पूर्णतः आधिपत्य प्राप्त होता है, यह सयम के विविध स्वरूपो के वर्णन से स्पष्ट होगा।

---

# योग - दर्शन

## ( भाष्यार्थ-बोधनी )

व्यास तथा अन्य व्याख्याकारों के आधार पर
'पातंजल-योग-सूत्र' का विवेचनात्मक
एवं तुलनात्मक अध्ययन

### तृतीय अध्याय



(१) सयम का स्वरूप और उसके अङ्ग ।
(२) प्रज्ञालोक का उदय ।
(३) चित्त का समाधिपरिणाम, एकाग्रता-परिणाम तथा निरोधपरिणाम ।
(४) त्रिविध परिणाम का सयम ।
(५) विविध सयमो का ज्ञान ।
(६) कैवल्य - प्राप्ति का साधन ।



## (१) संयम का स्वरूप और उसके अंग

योग के अष्ट–अङ्गो मे से अन्तिम तीन अर्थात् धारणा, ध्यान एवं समाधि का सामूहिक अभिधान सयम है।[1] सयम शब्द का उपर्युक्त अर्थ उसका वाच्यार्थ नही है, वरन् यह योगशास्त्र के विभूति-प्रकरण मे ही धारणादि-त्रय की तान्त्रिकी परिभाषा है। भाष्यकार कहते है—"तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा सयम इति"।[2] योगजन्य सिद्धियो की उपलब्धि मे प्रत्येक सिद्धि मे बारम्बार तद्विषयक धारणा, ध्यान एव समाधि लगाने की आवश्यकता होती है। विभूति-प्रकरण मे बारम्बार इन तीनो के विविक्त व्यवहार से विस्तार होगा। अतः शब्दलाघव एव भापा-सौष्ठव के हेतु, योग के विभूतिप्रकरण मे धारणा, ध्यान एव समाधि को सयम मात्र कहकर अभिहित किया गया है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि जब धारणा, ध्यान एव समाधि एक ही विषय से सम्बद्ध हो, तभी उनकी सयम सज्ञा होगी। यदि धारणा अन्य विषयिणी हो, ध्यान अन्य विषयक हो और समाधि किसी और विषय की लगाई जाए, तो ऐसी अवस्था मे इन तीनो के लिये सयम शब्द का व्यवहार नही किया जा सकता है। वैसे समाधि कहने से ही धारणा एव ध्यान का समावेश हो ही जाता है। क्योकि समाधि, धारणा एव ध्यान पूर्वक ही होती है। धारणा की ही प्रकृष्टावस्था मे ध्यान तथा ध्यान की उत्कृष्टावस्था मे समाधि का स्वतः आविर्भाव हो जाता है। अतः शका हो सकती है कि जब समाधि मे धारणा एव ध्यान ऊह्य रहते है, तो समाधि को ही सयम क्यो न कहा जाय ? साथ ही धारणा एव ध्यान का पृथक् कथन भी व्यर्थ है। इसका उत्तर यह है कि सयम का कथन विभूतिपाद मे ध्येय विषय के सम्यक् ज्ञान एव उसके वशीकरण के साधन रूप मे किया गया है। इसमे ध्येय-विषय की एक-देशीय समाधि अर्थात् उसके किसी एक स्वरूप को लक्ष्य करके समाहित होने से प्रयोजन सिद्ध नही होता है, वरन् ध्येय विषय की भिन्न-भिन्न दिशाओ, उसके विविध भावो की धारणा-पूर्वक समाहित होना पडता है। किसी एक विषय के सयम मे अनेक बार धारणा ध्यान एव समाधि की आवश्यकता पड सकती है। अतः इस दृष्टि से ही उक्त तीनो साधन सयम सज्ञा

---

१. "त्रयमेकत्रसयम" (यो० सू० ३-४)

२ व्या० भा० ३/४।

से परिभाषित हुए है। इसी अभिप्राय से "परिणाम-त्रय सयमादतीतानागतज्ञान" (विभूतिपाद के) इस सूत्र के भाष्य मे, भाष्यकार श्री व्यास ने, तेन (सयमेन) परिणामत्रय साक्षात्क्रियमाणम्" इत्यादि ऐसा कहा है। भाष्यकार की इस उक्ति मे "साक्षात्क्रियमाणम्" का अर्थ धारणा, ध्यान एव समाधि का बारम्बार प्रयोग करके ध्येय विषय से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु का साक्षात्कार करना है। "सयम" की व्याख्या करते हुए भास्वतीकार श्री हरिहरानन्द आरण्य की—"ध्येयविषयस्य सर्वतः पुनः पुनः क्रियमाणानि धारणाऽऽदीनि सयम इति"—इस उक्ति से भी इसी बात की पुष्टि होती है। अतएव धारणा, ध्यान एव समाधि का पृथक् कथन तथा सयम की भिन्न कल्पना निष्प्रयोजन नही कही जा सकती है। साथ ही समाधि को सयम नही कहा जा सकता है। सयम के तीन अगो मे से समाधि तो स्वय ही एक अग है। सयम अगी है और धारणा, ध्यान तथा समाधि उसके अग हैं। किसी ध्येय विषय के प्रत्येक स्वरूप पर सर्वथा अधिकार प्राप्त करना उसका सयम है। जबकि समाधि उसके किसी भी एक रूप को लेकर हो सकती है।

जैसा कि सयम के स्वरूप से स्वतः स्पष्ट है, धारणा, ध्यान एव समाधि ही इसके अग है। इसका वर्णन योग के अष्ट अगो मे हो चुका है। अतः पुनरुक्ति अनावश्यक है। इस विषय मे केवल इतना विशेष और समझ लेना चाहिये कि ध्येय विषय के वैविध्यानुसार धारणा अनेक प्रकार की होने पर भी, मुख्यतः द्विविध ही होती है। तत्वज्ञानमय धारणा तथा वैषयिक धारणा। तत्वज्ञानमय धारणा साख्यमतावलम्वी ज्ञानयोगियो की ही होती है। तत्वज्ञानमय धारणा मे प्रथम समस्त विषयो की इन्द्रियो मे प्रतिक्रिया को लक्ष्य कर भावना की जाती है। अर्थात् वैषयिक क्रिया द्वारा इन्द्रियो मे अभिहनन होने पर इन्द्रियो की चञ्चलता को लक्ष्य करना ज्ञानयोग का प्रथम साधन है। तत्पश्चात् इन्द्रियगण अभिमानात्मक है, अभिमान की प्रतिसवेदना 'मै पन" अर्थात् व्यावहारिक पुरुष द्वारा होती है। इस प्रकार क्रमशः धारणा करते हुए ज्ञानस्वरूप आत्मा मे प्रतिष्ठा की प्राप्ति का प्रयास किया जाता है। इस धारणा मे मुख्य आश्रय तत्वज्ञान होने पर भी अन्यान्य धारणावत् इन्द्रियादि के आभ्यान्तरिक आध्यात्मिक देशो का अवलम्ब ग्रहण करना पडता है।

वैषयिक धारणाओ मे शब्द एव ज्योति की धारणा मुख्य मानी जाती है। ज्योति की धारणाओ मे हार्दज्योति के आश्रयपूर्वक बुद्धि-तत्व की धारणा प्रधान है। यही समाधिपाद मे "ज्योतिष्मती प्रवृत्ति" के नाम से व्याख्यान हुई है। शाब्दिक

धारणाओ मे अनाहतनाद अत्यन्त प्रसिद्ध है। शास्त्रो मे इसके चिनाद, शखनाद, घण्टनाद आदि कई भेद बतलाए गए है। इनकी साधना नीरव स्थल मे चित्तस्थिर करके की जाती है। प्राणायाम पूर्वक अनाहत नाद की भावना करने से विशेष लाभ होता है। अभ्यास-क्रम से ये नाद प्रथम दक्षिण श्रोत्र मे, तत्पश्चात् समस्त शरीर, हृदय, सुषुम्ना-मध्य तथा मस्तक मे भी सुने जाते है, ऐसा शास्त्रज्ञो व योगियो का कथन है। उक्त रीति से आध्यात्मिक प्रदेशो मे अनाहत नाद-श्रवण करने के अभ्यासोपरान्त, क्रमशः बिन्दु मे पहुँचा जाता है। यह बिन्दु क्या है ? विस्तारशून्य शब्द का मानसिक भावमात्र ही बिन्दु है। वस्तुतः क्रिया की धारा ही शब्द है। अतएव शब्द मे चित्तस्थैर्य से दैशिक विस्तारज्ञान का अभाव होना है। वही बिन्दु कहलाता है। इसी से मन मे पहुँच होती है। शास्त्रो मे नाद के अन्तर्गत बिन्दु और बिन्दु के भीतर मन बतलाया गया है। इस मन का विलय होने पर परम-पद की प्राप्ति बतलाई गई है।[1]

ज्योतिर्धारणाओ मे मार्गधारणा भी अन्यतम है। मूलाधार आदि सुषुम्ना मे ग्रथित षट्चक्र ही उक्त मार्ग है। शास्त्रो मे इनकी ब्रह्ममार्ग, पिण्डब्रह्माण्ड–मार्ग, अर्चीरादि-मार्ग इत्यादि अनेक सज्ञाये दृष्टिगोचर होती है। प्राणायाम के प्रसग मे हम विपुलशक्ति-आगार, कुण्डलिनी से परिचित हो चुके है। मार्गधारणा मे इसी ऊर्ध्वगामिनी कुडलनी की ज्योतिर्मयी धारणापूर्वक मूलाधार से, एक-एक करके, षट्चक्र भेदन-क्रम से सहस्रार मे पहुँचना होता है। इन चक्रो के साथ क्रमशः भूः, भुवः, स्वः आदि उत्तरोत्तर उच्च लोको का सम्बन्ध है। इन लोको मे ही जीव की आध्यात्मिक अवस्थानुसार गति होती है। अध्यात्मिक उत्कर्ष से क्रमशः शरीराभिमान का परित्याग होता है। अभिमान-त्याग के साथ-साथ उतरोत्तर उन्नतर लोको की प्राप्ति होती है। निरभिमानता की प्रत्येक अवस्थानुसार ही उच्च से उच्चतर लोको का सम्बन्ध है। मूलाधार आदि चक्र-भेदन के साथ-साथ पार्थिव, आप्य, तैजस आदि अभिमान के त्याग के साथ-साथ शरीरेन्द्रियादि के अभिमान का भी परित्याग करके, मनः स्थान आज्ञाचक्र मे प्रवेश होता है, फिर सहस्रार मे पहुँच होती है।[2] सहस्रार

---

१. पात० यो० द० ( आरण्य )—पृ० २१०

२ "मही मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवह"
स्थित स्वाधिष्ठाने हृदिमरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपिभ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथ

—आगामी पृष्ठ पर

मे सत्यलोक या ब्रह्मलोक है, ऐसा शास्त्रो का कथन है। यहाँ पहुँच कर ज्ञान का प्रसाद प्राप्त होता है। परवैराग्य द्वारा पुरुष तत्व की उपलब्धि होती है तथा लोकातीत परमपद की प्राप्ति होती है।[1]

यह स्मर्त्तव्य है कि धारणामात्र से सम्यक्ज्ञान एव परमपद की प्राप्ति नही हो सकती है। अतएव प्रथम पूर्वोक्त विधि से धारणा मे स्थिति प्राप्त हो जाने पर उक्त विधि से ध्यान करना चाहिये। ध्यान परिपक्व हो जाने पर समाधिनिष्ठ होकर सयम प्राप्त करने पर ही लक्ष्यसिद्धि सम्भाव्य है। धारणा की प्रकर्षावस्था ही ध्यान तथा ध्यान की अत्यन्त उत्कृष्टावस्था ही सभाधि है। अतः धारणा के उक्त विवरण से ही सयम के शेष दो अगो-ध्यान एव समाधि की व्याख्या अवगन्तव्य है।

ये तीनो धारणा, ध्यान एव समाधि योग के पूर्वोक्त पांच अग यम-नियमादि की अपेक्षा अन्तरङ्ग साधन है।[2] प्रत्याहार के प्रकरण मे भी बतलाया जा चुका है कि योगाङ्गो मे प्रत्याहार पर्यन्त पांचो अग विशेषकर शरीर एव इन्द्रिय-निग्रह रूप ही है। अतः उन्हे योग का बहिरग साधन कहा गया है। चित्त वृत्तियो का निरोध योग है। धारणा, ध्यान एव समाधि का चित्तवृत्तिनिरोध से साक्षात सम्बन्ध है। यद्यपि पूर्व-कथित पाचो योगाङ्गो मे भी किसी न किसी सीमा तक वृत्तिया निरुद्ध होकर चित्त निग्रह होता ही है, तथापि अन्तिम तीन चित्त निरोधस्वरूप ही है। अतः उन्हे अन्तरग साधन कहा गया है। समान विषययुक्त साधन ही अन्तरग कहलाते है। सम्प्रज्ञात योग तथा धारणादि साधन-त्रय समान चित्तावस्था मे उत्पन्न होते है। अत उन्हे उसका अन्तरङ्ग साधन कहा गया है। धारणा, ध्यान एव समाधि समान विषयक है, यह पहिले ही स्पष्ट हो चुका है। चित्त की एकाग्रावस्था मे सम्प्रज्ञात योग का आविर्भाव होता है। समाधि मे तत्व समूहो का प्रस्फुट परिज्ञान होता है। एकाग्रस्वभाव चित्त द्वारा उक्त ज्ञान के रक्षित रहने से ही उसे सम्प्रज्ञान कहा

१ द्र० ( प्राणतत्व १३ )

२ "त्रयमन्तरग पूर्वेभ्य"( यो० सू०, ३-७ )

---

(गत पृष्ठ का शेषाश)

सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे ॥" ( सौन्दर्यलहरी—९ )

इस श्लोक मे "कुलपथ" शब्द उपर्युक्त सुषुम्नामार्ग का द्योतक है। इसका विशेष विवरण लक्ष्मीधर की टीका मे द्रष्टव्य है।

जाता है। अतः धारणादि साधन त्रय इस सम्प्रज्ञात समाधि के ही अन्तरङ्ग साधन हैं।

× × ×

सम्प्रज्ञात समाधि-सम्पन्न योगी सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान हो सकता है, किन्तु उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। क्योंकि इतर वृत्तियां निरुद्ध हो जाने पर भी चित सर्वथा परिणामशून्य नहीं हो पाता है। अतः शरीर धारण का बीज बना ही रहता है। इस देहबीज के मर्जित होने पर ही पुनर्जन्म से निवृत्ति होती है। निर्बीज समाधि में विवेकख्याति से भी वैराग्य होने पर बीज की दग्धावस्था आती है और फिर यह अप्ररोह-समर्थ बनता है। अतएव धारणादि तीनों साधन सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग साधन होने पर भी असम्प्रज्ञात समाधि के लिये बहिरंग ही हैं, जैसा कि सूत्रकार की इस उक्ति से भी सुस्पष्ट है—"तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य।"[1]

जिस प्रकार यम-नियमादि प्रथम पाँच योगाङ्ग परम्परया सम्प्रज्ञात योगोपयोगी होने पर भी असमान चित्तवृत्ति विषयक होने से उसके बहिरंग साधन हैं, उसी भाँति अन्तिम तीनों साधन परम्पराक्रम से असम्प्रज्ञात समाधि के उपकारक होने पर भी समान चित्त-वृत्ति राहित्यवश उसके बहिरङ्ग ही मान्य हैं। धारणादि साधन-त्रय सविषयक अर्थात किसी न किसी साध्य विषय सहित ही साध्य हैं। असम्प्रज्ञात समाधि में इस त्रिपुटी (धारणा, ध्यान और समाधि) का अभाव होने से वह निर्विषयक है। अतः उसका इन तीनों से विषय साम्य नहीं है।

जिसके बिना साध्य सिद्ध न हो वह उसका साक्षात साधन कहलाता है। इस त्रिपुटी जन्य सम्प्रज्ञात समाधि से भी वैराग्य होने पर निर्बीज समाधि का आविर्भाव इनकी अभावावस्था में होता है। जिसके अभाव में ही उस अवस्था का उदय हो उसे उसका अन्तरंग कैसे माना जाय? उसका अन्तरंग तो पर-वैराग्य है। धारणादि त्रिपुटी को असम्प्रज्ञात का साधन मानने पर तो वह घट के प्रति रासभ के समान पञ्चम अन्यथा सिद्धवत् सिद्ध होगा।

वस्तुतः संयमलाभ से समाधि की उच्चतम अवस्था की उपलब्धि नहीं होती, वरन् योगी एक निम्नतर भूमि में अवस्थित रहता है। इस अवस्था में समस्त दृश्यमान संसार वर्तमान रहता है और संयम जन्य समस्त सिद्धि इसी जगत के अन्तर्गत है।

---

१. "तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य" (यो० सू० ३-८)

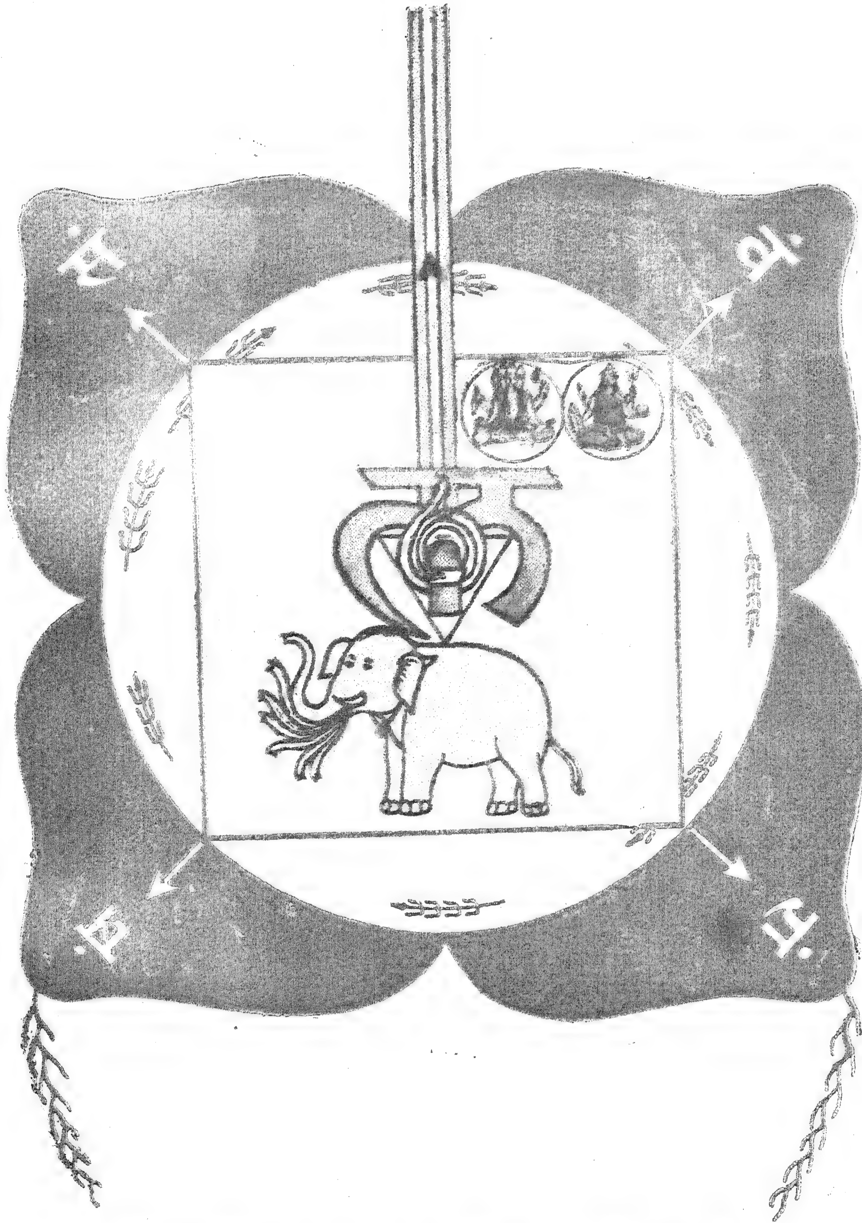
"Sabija Samadhi is concerned with knowledge and power exercised within the realm of Prakrti on this side of the gate which leads to Kaivalya. Nirbija Samadhi, on the other hand, aims at transcending the realm of Prakrti and living in the state of Enlightenment implied in Kaivalya".

(The Science of Yoga, page 292)

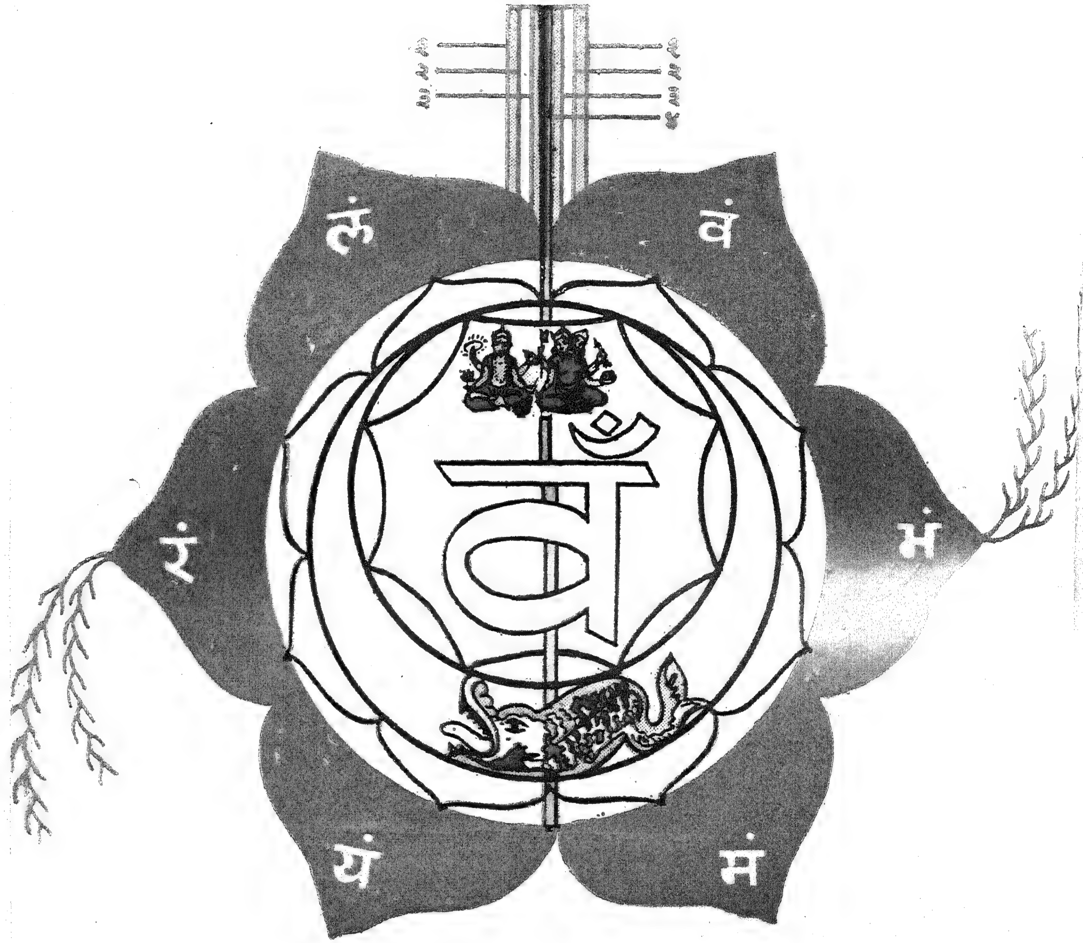
सयम द्वारा समस्त शक्तियाँ अधिकृत हो जाती है। सयम ही ज्ञानलाभ का मुख्य यन्त्रस्वरूप है। स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम और सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एव सूक्ष्मतम आदि विविध प्रकार के भेदोपभेद से ज्ञान एव सयम के अनन्त विषय है। प्रथम स्थूल वस्तुओ से सयम प्रारम्भ करके क्रमशः सूक्ष्मतम वस्तु मे सयम किया जाता है। सयम के विविध विषयो का वर्णन आगे "विविध सयमो का ज्ञान" शीर्षक मे किया जायगा।

---

१ साइन्स ऑफ योग—पृ० २९२



मूलाधार चक्र




स्वाधिष्ठान चक्र

## (२) प्रज्ञालोक का उदय।

सयम-जय से प्रज्ञा के आलोक का उदय होता है।[१] प्रज्ञा से तात्पर्य समाधि-जन्य प्रज्ञा से है। सयम-जय का अर्थ है, अभ्यास की दृढतावश सयम की परिपक्वावस्था को प्राप्त करना। सयम की दृढता से साधक को जिस समाधि-जन्य बुद्धि की उपलब्धि होती है, उसे प्रज्ञा कहते है। इसके उत्कर्ष से ध्याता को ध्येय तत्व का यथार्थ साक्षात्कार होता है। श्री वाचस्पति कहते है—"वस्तुस्वरूप-साक्षातकारिणी प्रज्ञा"। अतः तत्व साक्षात्कार की स्फुटतर प्रतीति ही प्रज्ञा का प्रकाश और उत्कर्प है। सयम जितना अधिक स्थिर होता है, क्रमशः उसके साथ ही साथ, उक्त समाधिप्रज्ञा भी उत्तरोत्तर निर्मल होती जाती है। सयम की प्रारम्भिक अवस्था मे योगी को वस्तु का अस्फुट ज्ञान होता है। अभ्यासवश इस अस्फुट ज्ञान की स्फुटतर प्रतीति होने लगती है। साथ ही प्रारम्भावस्था मे योगी का चित्त स्थूल तत्वो का साक्षात्कार करने मे ही समर्थ होता है। सयम-स्थैर्य के क्रमानुसार वह उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर एव व्यवहित पदार्थो की प्रत्यक्षानुभूति मे समर्थ बनता है। यही समाधि-प्रज्ञा की निर्मलता या वैशारद्य है। चित्त जितना अधिक सूक्ष्म तत्वो मे सयत किया जाता है, समाधिप्रज्ञा उतनी ही अधिक विशद होती जाती है। जैसे-जैसे सयम का अभ्यास दृढ होता है, ध्येय तत्व का उतना ही प्रकृष्ट-रूप से यथार्थ साक्षात्कार होता है। बुद्धि मे विजातीय प्रत्यय से रहित ध्येय की निरन्तर शुद्ध, सात्विक, स्फूर्ति ही प्रज्ञालोक है। इस प्रज्ञालोक का स्फुरण स्थूल पदार्थो से प्रारम्भ कर विवेकख्याति पर्यन्त होता है।

स्थूल-सूक्ष्म के भेद से सम्प्रज्ञात समाधि की चार अवस्थाओ, सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विचारा का वर्णन सूत्रकार ने समाधि पाद मे किया है।[२] आनन्दानुगत एव अस्मितानुगत समाधियो का भी सविचारा-निर्विचारा समापत्तियो मे ही अन्तर्भाव होता है। प्रज्ञालोक का तात्पर्य है—सम्प्रज्ञात समाधि मे प्राप्त होने वाली प्रज्ञा का प्रकाश। सूत्रकार ने इसका विभिन्न समापत्तियो के रूप मे वर्णन

---

१ "तज्जयात्प्रज्ञालोक" (यो० सू० ३/५)

२ "वितर्कविचारानन्दाऽस्मिताऽनुगमात्सम्प्रज्ञात" ( यो० सू० १/१७ )

किया है। प्रज्ञा तथा समापत्ति मे अविनाभाव सम्बन्ध है। निम्नोच्च क्रम से तद्-तत् समाधि प्रज्ञा विशेष की सवितर्का, निर्वितर्का आदि सज्ञा होती है। इनका विशेष विवरण प्रथम अध्याय के पचम शीर्षक 'सम्प्रज्ञात एव असम्प्रज्ञात समाधि" मे दिया गया है। किस प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्म तत्व विषयक प्रज्ञा का आलोक उदित होता है, यह वही पर द्रष्टव्य है।

उक्त वितर्कादि समाधि की अवस्थाओ को योग की भूमियाँ भी कहा जाता है। "तस्य भूमिषु विनियोगः" तस्य अर्थात उस सयम का भूमियो से सम्बन्ध है। इस सूत्र मे जिन भूमियो की ओर सकेत किया गया है, वह सयम के विषय के विविध स्तरो को लक्ष्य करता है। प्रथम निम्नभूमियाँ जीत कर अर्थात पहले स्थूल तत्वो का साक्षात्कार करके, अनन्तर उसके बाद की भूमि मे क्रमशः सूक्ष्मतर तत्त्वो मे सयम करना चाहिये। स्मृति भी है—"स्थूले विनिर्जित ततः सूक्ष्मे शनैर्नयेत"।[1] पृथिव्यादि प्रत्येक तत्व की, स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व, ये पाँच पाँच अवस्थाएँ है।[2] ये भी योग की भूमियाँ कहलाती है, अतः पहले स्थूल, फिर स्वरूप—इस क्रम से स्थूल से सूक्ष्मभूमि मे सयम अवगन्तव्य है।[3] तात्पर्य यह है कि जिस भूमि के पश्चात, जो अव्यवहित अग्रिम अजित भूमि है, उसी मे सयम करते हुए क्रमानुसार तत्वसाक्षात्कार करना चाहिये। तभी प्रज्ञा का आलोक स्फुटरूपेण प्रतिभासित होगा। अतः मध्य की किसी बिना जीती हुई भूमि का उल्लघन नही करना चाहिये। पूर्व भूमि को बिना जीते हुए, अग्रिम भूमियो मे सयम प्राप्त नही हो सकता है, क्योकि जिसने स्थूल तत्व को ही नही समझा है, वह सूक्ष्म तत्व क्या समझेगा अतएव पूर्व भूमिका पर विजय प्राप्ति के उपरान्त ही अग्रिम भूमि मे सयम प्राप्त होगा, अन्यथा नही। फिर जब अग्रिम भूमि मे सयम ही नही प्राप्त होगा, तो उसके फलस्वरूप प्रज्ञालोक के प्रस्फुटन का तो प्रश्न ही नही उठता है। अतः सोपान क्रम से प्रथम ग्राह्य, फिर ग्रहण, तत्पश्चात् ग्रहीतृ विषय मे सयम का विनियोग करना चाहिये। अन्तिम ग्रहीतृ विषयक समापत्ति को विशदावस्था मे अध्यात्म-प्रसाद होता है। जैसा कि समाधि पाद के "निर्विचारवैशारद्ये, अध्यात्म प्रसादः"

१ यो० सा० स०, पृ० ७८।

२ यो० सू० ३/४४।

३. "पृथिव्यादीनास्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वभूमिपू क्रमेण जेतव्यासु, स्थूलया भूमो सयम कृत्वा, तज्जयानन्तर स्वरूप एवानन्तरे सयमो विनियोजनीय"।
( भाष्यविवरण, ३/६, पृ० २३६ )

इस सूत्र मे वर्णित है।[1] योगी विवेकख्याति रूपी उत्कृष्टप्रज्ञा को स्फुट-आलोक से आपूर्ण हो जाता है। इसी को ऋतम्भरा प्रज्ञा भी कहा गया है।[2] यही वास्तविक प्रज्ञा का आलोक है।

तत्व-विषयिणी प्रज्ञा के विषय मे समाधि पाद मे विवरण दिया गया है। विभूतिपाद मे मुख्यरूप से सयम के अन्यान्य विषय वर्णित है। इस पाद मे "परचित्तज्ञान", "भुवनज्ञानादि" सयम के अनेक विषयो मे जिस रीति से अव्याहत शक्ति एव ज्ञान का विकास होता है, मुख्यतः वही उक्त हुआ है। फिर भी प्रज्ञालोक से, प्रधानतः सम्प्रज्ञात समाधि की वितर्क, विचारादि समापत्तियो से प्राप्त तात्विक प्रज्ञालोक का अर्थ ग्रहण करना चाहिये, क्योकि योगी का लक्ष्य कैवल्य-प्राप्ति है और तत्वविषयक प्रज्ञा उसकी सोपानस्वरूपा है। "भुवनज्ञानादि" के सयम मे अन्यान्य विषय तो मुमुक्षु के लिये अन्तराय रूप ही है। अतः उनके चक्कर मे नही फॅमना चाहिये।

वस्तुतः संयम का विधान चित्त के वशीकरण एव आत्मोन्नत्ति के हेतु है, न कि इधर उधर के प्रलोभन-पूर्ण सांसारिक पदार्थो के प्रत्यक्ष हेतु। सयमन्द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि की समस्त भूमियो को जीत कर विवेकख्याति के पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा कैवल्य प्राप्त करना ही योगी का लक्ष्य है, विभूतियो की प्राप्ति नही। विभूतियो के प्रलोभन से तो साधक के पथभ्रष्ट होने की ही आशका हो सकती है। विभूतियो के साक्षात्कारोपरांत साधक पथभ्रष्ट न भी हो, तो भी उतना समय तो व्यर्थ नष्ट होता ही है। जितने समय मे अनेक विभूतियो के प्रत्यक्ष मे सयम का प्रयोग किया जाता है, उतने काल मे अग्रिम भूमिका जीत कर, कैवल्य प्राप्ति मे शीघ्रता हो ही सकती है। अतः उक्त विभूतियो मे चिरकाल तक सयम का प्रयोग कर समय व्यर्थ नष्ट नही करना चाहिये।

वितर्क विचारादि अथवा स्थूल, स्वरूपादि के क्रमपूर्वक ही योग की भूमियो मे संयम का विनियोग करना चाहिये, क्योकि निम्न भूमियो को जीते बिना अन्तिम या प्रान्तभूमियो[3] मे सयम प्राप्त नही होता है। इस बात का अभी प्रतिपादन किया गया है, किन्तु ईश्वर की कृपा से जिस साधक को प्रान्तभूमियो मे सयमलाभ

---

१. द्रष्टव्य—"सम्प्रज्ञात एव असम्प्रज्ञात समाधि" ( ग्रहीतृ समापत्ति )

२. "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" समाधिपाद सू० ४८

३ प्रान्तभूमियाँ—द्र० "प्रज्ञा तथा ज्ञानदीप्ति" सीर्षक।

की योग्यता प्राप्त हो गई हो उसके लिये निम्नभूमियो मे समाहित होने की अपेक्षा नही होती है।

समाधिपाद मे ईश्वरप्रणिधान के प्रकरण मे यह बतलाया जा चुका है कि ईश्वरप्रणिधान से ईश्वर की प्रसन्नता या कृपा प्राप्त होती है। ईश्वर प्रसाद से समाधि लाभ तथा समाधि फल शीघ्रतर आसन्न होता है। भगवान की प्रतिज्ञा है कि अपने शरणागत अनन्य भक्तो के योग क्षेम का निर्वाह वे स्वय करते है, जैसा कि गीता के नवम् अध्याय मे कहा गया है—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां मे जनाः पर्युपासते।
तेषा नित्याभियुक्तानां योगक्षेम वहाम्यहम् ॥"

इस श्लोक का तात्पर्य यह नही है कि ईश्वर अनन्य भक्तो का योगक्षेम स्वय करते हैं, अन्यो का नही, अपितु भगवान के अनन्य चिन्तक मे ध्यान प्रकर्षवश स्वय इतना सामर्थ्य हो जाता है कि निष्पक्ष एव सर्वज्ञ साक्षी ईश्वर को, उस (अनन्य भक्त) के कर्मविपाक के रूप मे, योग–क्षेम का निर्वाह करना हो पडता है। अतः तीव्र ईश्वर-प्रणिधान से साधक को निम्म भूमियाँ जीते बिना भी ईश्वरप्रसादवश सूक्ष्मतत्वो का ज्ञान हो सकता है। इसी दृष्टिकोण से वर्तमान सूत्र के भाष्य मे, भाष्यकार ने कहा है कि—"ईश्वर प्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु सयमो युक्तः।" क्योकि निम्न भूमियो पर विजय प्राप्ति से अग्रिम भूमि मे सयमलाभ ही अभिप्रेत है। जब प्रथम एव मध्यम भूमियो मे सयम किये बिना ही उसके लक्ष्यभूत चरम भूमि मे चित्तस्थिति प्राप्त है तो पूर्व भूमियो मे सयमानुष्ठान भी निरर्थक है। अतएव ईश्वर की कृपा से जिस साधक को प्रान्तभूमि मे सयम की योग्यता स्वतः प्राप्त हो गई हो, उसे अवर भूमियो मे सयम का प्रयोग युक्त नही है।

जिस साधक को अग्रिम भूमि मे अनायास सयम लाभ हुआ हो, उसके विषय मे शका हो सकती है कि उसके पास इस बात का क्या प्रमाण है कि वह अन्तिम भूमि ही है, अर्थात् साधक को यह ज्ञान कैसे होगा कि ईश्वरप्रणिधान से उसमे योग की जिस भूमि का आविर्भाव हुआ है, वह प्रथम है या द्वितीय है या तृतीय है अथवा चतुर्थ है? इसके उत्तर मे भाष्यकार की उक्ति है—कि अमुक पूर्व-भूमि के अनन्तर अमुक उत्तर भूमि होती है, इस विषय के ज्ञान मे स्वय योगाभ्यास ही उपाध्याय है, अर्थात् योगबल से स्वतः उत्तर-भूमि परिज्ञात हो जाती है। इस विषय मे यह शास्त्रोक्ति प्रमाण है—

"योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥" (व्या० भा०)

अर्थात् योग, योग से या योगाभ्यास द्वारा ही जाना जाने योग्य है। योगाभ्यासी को ही योग का यथार्थ ज्ञान होता है, क्योकि याग, योग के द्वारा ही सिद्ध या प्रवर्तित होता है । जो (साधक) प्रमादरहित होकर या सावधानी पूर्वक योग साधना करता है, वह दीर्घकाल तक योग मे रमण करता है, अर्थात् अप्रमत्त योगी ही दीर्घ काल-पर्यन्त समाधि-सुख का अनुभव करता है ।

शास्त्र द्वारा किसके बाद, किस प्रकार, किस भूमि मे सयमादि क्रिया नियोज्य है, यह सामान्य ज्ञान साधक को योग साधना से पूर्व ही प्राप्त होता है। योग-साधना के समय, योग के इस विशेष ज्ञान के विषय मे स्वय योग ही प्रमाण है, यह सिद्ध हुआ ।

उपर्युक्त समस्त भूमियो के विजयोपरान्त योगी मे विवेकख्याति रूप प्रज्ञा के आलोक का उदय होता है ।

---

## (३) चित्त का समाधि-परिणाम, एकाग्रता-परिणाम तथा निरोध-परिणाम।

सर्वार्थता, अर्थात् व्युत्थानावस्था का क्षय तथा एकाग्रता का उदय होना चितका समाधि-परिणाम कहलाता है।[1] सर्वार्थता—अर्थात् सब प्रकार के विषयो का चिन्तन करने वाली वृत्ति। एकाग्रता—एक ही ध्येय विषय का चिन्तन करने वाली वृत्ति। इन दोनो का क्रमशः तिरोभाव एव आविर्भाव समाधि-परिणाम कहा जाता है।

"ता" ( तल्+आप् ) प्रत्यय स्वभाव ( असाधारण धर्म ) का द्योतक है। चित्त स्वाभावतः चचल है। अतः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के ग्रहण मे सलग्न रहता है। किसी विषय के एकाग्र चिन्तन का प्रयास करने पर चित्त बारम्बार शब्द स्पर्शादि विविध विषयो की ओर प्रवृत्त होता है। चित्त की सर्वग्राही वृत्त एकबार ही नष्ट नही हो जाती। इसके लिये अध्यवसायपूर्वक दीर्घकाल तक साधना करनी पडती है। काल-क्रमानुसार शनैः-शनैः व्युत्थान कालिक वृत्तियो का तिरोभाव होता जाता है। समाधि के अभ्यास से व्युत्थान-वृत्तियो के लोप के साथ ही साथ एकाग्रता का अधिकाधिक आविर्भाव होता है। सर्वार्थता एव एकाग्रता दोनो चित्त के ही धर्म है। अतः चित्त, व्युत्थानकाल तथा एकाग्रताकाल, दोनो मे अनुगत रहता है। चित्त मे बारम्बार व्युत्थान सस्कार आविर्भूत होते है और साधक बलात् चित्त को बारम्बार एकाग्र करता है। इस प्रकार अभ्यास के परिपाकानुसार विक्षेपकारी व्युत्थान-सस्कार मन्द पडते जाते हैं और एकाग्रता की वृत्ति प्रबलतर होती जाती है। समाधि के अभ्यास से चित्त अपने व्युत्थान धर्म का परित्याग करता हुआ एकाग्रतारूप धर्म मे परिणत होता है। व्युत्थान के नाश से उसका अत्यन्त नाश नही समझना चाहिये, क्योकि सत् वस्तु का अत्यन्त अभाव नही होता है। एकाग्रता के अभ्यास से व्युत्थान धर्म केवल तिरोहित होता है अर्थात् अतीतावस्थापन्न हो जाता है। उसका अत्यन्ताभाव नही होता है। इसी प्रकार एकाग्रता के उदय से भी, किसी असत् वस्तु की उत्पत्ति नही समझनी चाहिये, क्योकि असत् का अस्तित्व ही अशक्य है। इसीलिये पहले बतलाया जा चुका है कि सर्वार्थता एव एकाग्रता दोनो एक ही धर्मी चित्त के

१ "सर्वार्थैकाग्रतयो क्षयोदयो चितस्य समाधि-परिणाम।" (यो० सू० ३'११)

दो धर्म हैं। व्युत्थानावस्था मे चित्त मे एकाग्रता रूप धर्म अप्रकट रूप मे अनुगत रहता है। व्युत्थानदशा के तिरोहित होने पर एकाग्रता धर्म प्रकट हो जाता है। अतः एकाग्रता के आविर्भाव से किसी सर्वथा नवीन वस्तु की उत्पति नही हो जाती है। केवल अनागतावस्था मे छिपा हुआ चित्त का एकाग्रता धर्म वर्तमानावस्थापन्न होता है। इस प्रकार उक्त दोनो धर्मो मे अनुगत होता हुआ चित्त समाहित होता है। सर्वार्थता के तिरोभाव पूर्वक एकाग्रतारूप धर्म का विवर्धनशील परिणाम ही चित्त का समाधि-परिणाम है। एकाग्रता का सस्कार तथा तन्मूलक एकाग्रप्रत्यय का सकलन ही चित्त का समाधि-परिणाम है।

उपर्युक्त समाधि-परिणाम सम्प्रज्ञात समाधि की अपरिपक्वावस्था का द्योतक है। समाधि की दृढ अवस्था मे चित्त एकाग्रता रूप से परिणत होता है। किसी एक वस्तु के निरन्तर चिन्तन के प्रारम्भिक अभ्यास मे प्रथम उसमे प्रत्ययान्तरोत्पत्ति से विक्षेप आते रहते है, जैसा कि प्रथम समाधि-परिणाम मे बतलाया जा चुका है। चित्त के समाधि-परिणाम की दृढता से क्रमशः विक्षेप कम होकर अन्ततः नष्ट हो जाते है, अर्थात् विघ्न उपस्थित नही होते है। इन विक्षेपो के कारण ही चित्त मे ध्येय विषय से इतर वृत्तियो का उदय होता है। इससे प्रत्ययप्रवाह विसदृश हो जाता है। विक्षेपो का पूर्णतः अभाव हो जाने से प्रत्ययप्रवाह का असादृश्य दूर हो जाता है। इस प्रकार जब चित्त शान्त एव उदित दोनो अवस्थाओ मे तुल्य-प्रत्यय युक्त बनता है, तब उसे चित्त का एकाग्रता परिणाम कहते है।[1] सूत्रस्थ शान्त शब्द का अर्थ है अतीत। उदित अर्थात् वर्तमान प्रत्यय। अतः जब शान्त प्रत्यय अर्थात् अतीत वृत्ति एवं उदित अर्थात् वर्तमान प्रत्यय दोनो एक समान उत्पन्न हो, मन उन्हे एक साथ ग्रहण कर सके, तब उसे चित्त का एकाग्रता-परिणाम कहते है। इस समय चित्त अतीत प्रत्यय एव वर्तमान प्रत्यय दोनो को ही एक साथ ग्रहण कर सकता है। चित्त की एकाग्रा-वस्था मे काल का भान नही रहता है। सारा समय वर्तमान मे एकीभूत सा प्रतीत होता है। चित्त का यह परिणाम समाधि समाप्ति पर्यन्त एकरस रूप मे प्रवाहित रहता है। समाधि से उत्थान होने पर पुनः विक्षेपप्रत्यय भी उदित हो जाते है।

समाधि-परिणाम एव एकाग्रता-परिणाम के विवेक का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है। सम्प्रज्ञात समाधि की प्रारम्भिक अवस्था मे प्रथम क्षण मे व्युत्थानप्रत्यय उत्पन्न होकर शान्त होता है। तदुपरान्त द्वितीय क्षण मे एकाग्रता-प्रत्यय उदित होता है। इसमे शान्त होने वाला प्रत्यय विक्षेपरूप है और आविर्भूत होने वाला प्रत्यय उस विक्षेप का निरोधस्वरूप है। एतावता विक्षेप की उपशान्ति

१. "तत पुन शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्येकाग्रतापरिणाम ।" (यो० सू० ३-१२)

एव निरोधोपजननरूप चित्त का परिणाम समाधि-परिणाम नाम से अभिहित होता है। अभ्यास की दृढता से सम्प्रज्ञातसमाधि की ही परिपक्वावस्था मे विक्षेपकारी प्रत्यय का अत्यन्ताभाव हो जाता है। अतः प्रतिक्षण निरोधप्रत्यय का अविरल प्रवाह प्रवाहित रहता है। अर्थात् प्रत्येक विनष्ट एव उत्पद्यमान प्रत्यय निरोधस्वरूप ही होता है और उनके विनाश एव आविर्भाव का बोध नही होता। एकाग्रता-परिणाम को चलचित्र ( सिनेमा ) के दृष्टान्त से भलीभाँति समझा जा सकता है।

हमारे चित्त पर किसी वस्तु का चित्र १/१०[1] सेकेन्ड तक प्रतिबिम्बित रहता है। सिनेमा मे हमारे नेत्रो के समक्ष प्रत्येक चित्र क्रमशः १/१० से० से पूर्व ही पर्दे पर आ जाता है। इससे चित्र के हटजाने का भान नही होता है, वरन् उसमे निरन्तरता की प्रतीति होती है। पर वस्तुस्थिति ऐसी नही होती। चित्त मे हमे जितनी देर मे एक ही अखण्ड दृश्य की अनुभूति होती है, उतनी देर मे पर्दे पर सैकडो चित्र उपस्थित एव तिरोहित हो जाते है। मस्तिष्क से एक चित्र हटने से पूर्व ही दूसरा चित्र उपस्थापित हो जाने से उनकी निरन्तर उपस्थिति का भ्रम होता है। उनकी पृथक-पृथक उपस्थिति का भान नही होता है। यदि सिनेमा रील का हर एक चित्र बिल्कुल एक ही प्रकार का खिचा हो तो पूरी सिनेमा-रील दिखलाई जाने पर भी हमे ऐसा प्रतीत होगा कि हम एक ही रुके हुए चित्र को निरन्तर देख रहे है। लेकिन वास्तव मे यह भ्रम ही है। यदि फिल्म के चित्रो के आने-जाने की गति १/१० से० से अधिक कर दी जाय तो हमे यह ज्ञान हो सकेगा कि एक ही प्रकार के बने अनेक चित्रो की माला हमारे सामने से, क्रमशः नियमित क्षणो के अन्तर से, निकलती जा रही है। इसी प्रकार एकाग्रता-परिणाम मे चित्त मे एक ही प्रकार के अनेक प्रत्ययो की पक्ति द्रुतगति से प्रकटित एव तिरोहित होती है। उनके आवागमन की गति इतनी तीव्र होती है कि हमे उसका विवेक नही होता है। अत निरन्तर एक प्रत्यय की स्थिर प्रतीति होती है। सम्पूर्ण विश्व प्रत्येक क्षण क्रमशः प्रकट एव अन्तर्हित होता है, किन्तु क्षण का अन्तर इतना सूक्ष्म होता है कि उसका अनुभव न हो पाने से दृश्य मे निरन्तरता की प्रतीति होती है। इस बात को हम बल्ब के उदाहरण से भी भलीभाँति समझ सकते है। बिजली के बल्ब मे हमे सर्वदा चमक ही दिखलाई देती है। पर वास्तव मे उसकी यह दीप्ति सतत वर्तमान नही रहती है, वरन् अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर के साथ क्रमशः प्रकाश एव अन्धकार का अनुवर्तन होता रहता है। पूर्व प्रत्यय एव पर प्रत्यय के ऐसे लय-उद्भव का पूर्वोक्त क्रम, केवल

१ द्रष्टव्य—"साइन्स ऑफ योग" (आई० के० टैमिनी) पृ० २६६।

समाधि सवेदना मे ही नही, अपितु निम्नतम स्तर से लेकर आत्मा तक, अनुभूति एव विचार के प्रत्येक क्षेत्र मे विद्यमान है। जहाँ प्रकटीकरण है, वहाँ अनैरन्तर्य भी अवश्यम्भावी है, जिसे सूत्रकार पतजलि ने ( ३/१५, ४/३३ मे ) क्रम कह कर समझाया है।[1]

सार यह है कि चित्त मे सदैव नवीन नवीन प्रत्ययो के लय एव उत्पत्ति का क्रम प्रवर्तित रहता है, भले ही उनका आकार पूर्णतः एक समान होने से उनकी उत्पत्ति एव विनाश का आभास न हो। निरन्तर एक प्रत्यय विद्यमान नही रह सकता है। पूर्ववर्णित परिणामद्वय सम्प्रज्ञात समाधिकालिक ही है। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था मे ये परिणाम नही होते है, क्योकि उस अवस्था मे चित्त मे किसी भी प्रत्यय की उत्पत्ति नही होती है। उनका सस्कारमात्र ही अवशेष रहता है। असम्प्रज्ञात की अवस्था मे चित्त का निरोध-परिणाम होता है। निरोध-परिणाम समस्त चित्त वृत्तियो के निरुद्ध हो जाने पर समाधि-अवस्था मे सबसे बाद की अवस्था है। फिर भी सूत्रकार ने चित्त के समाधिकालीन परिणामत्रय मे सर्वप्रथम निरोध-परिणाम का ही वर्णन किया है, क्योकि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इस लक्षणानुसार योगासाधना के प्रारम्भ से ही किसी न किसी सीमा तक वृत्त निरोध आरम्भ हो जाता है, किन्तु वास्तविक निरोध-परिणाम का समाधि की अन्तिम अवस्था मे आविर्भाव होता है। साथ ही निरोध-परिणाम के परिपाक हेतु प्रथम समाधि-परिणाम और एकाग्रता परिणाम का अभ्यास अनिवार्य है। भले ही अभ्यास एव वैराग्य की तीव्रतावश उन अवस्थाओ मे अल्पकाल तक अवस्थिति आवश्यक हो। वास्तविक निरोध "सर्ववृत्तिनिरोधस्वरूप" है। उसकी प्राप्ति के हेतु पूर्व-वर्णित विधानानुसार समाधि-परिणाम और एकाग्रता-परिणाम को अवस्थाओ को पार करना अवश्यमभावी है। चित्त अनन्त वृत्तियो का आगार है। उनका अभाव अकस्मात ही नही हो सकता है। दीर्घकाल मे शनैः शनैः उनका लोप होता है। अन्त मे सम्प्रज्ञात की चरमावस्था मे विवेकख्यातिरूपी एक ही वृत्ति अवशिष्ट रहती है। उस सात्विक वृत्ति का भी अभाव हो जाने पर सर्ववृत्ति-निरोध-स्वरूप असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है।

अब प्रश्न उठता है कि यह निरुद्ध अवस्था आती कैसे है ? चित्त स्वभावतः चचल है। उसमे एक के बाद एक वृत्ति का उदय होता ही रहता है। उसके स्वाभाविक वृत्ति-प्रवाह को प्रत्यावर्तित करने पर चित्त कुछ समय अवरुद्ध अवश्य

---

१ द्रष्टव्य—"साइन्स ऑफ योग"—पृ० २९९।

होगा। विषयो के द्वारा अनुपरञ्जित रहना ही यह अवरुद्धावस्था है। जिस प्रकार तेजी से जा रही कार मे बैक-गेयर लगा देने पर, वह एकदम पीछे की ओर नही हटने लगती, अपितु कुछ समय रुकती है, फिर पीछे लौटती है। फिर भी उसके रुकने का भान हमे नही होता है। इसी प्रकार स्वभावतः व्युत्थान की ओर प्रवर्तित चित्त को उन विषयो से प्रत्याकर्षित करने पर यह एक क्षण रुकता है, फिर निरोधोन्मुख होता है। इस प्रकार व्युत्थानोन्मुखता की दशा मे आने के पूर्व बीच मे जिस क्षण मे चित्त रुकता है, वही निरोध-क्षण है। अभ्यास की आरम्भिक अवस्था मे हमे इस निरुद्ध-क्षण का किंचितमात्र भी आभास नही होता है, किन्तु उसके अस्तित्व की स्वीकृति अपरिहार्य है, क्योकि अभ्यास की दृढता से निरुद्धावस्था मे वृद्धि होती है और उसका अनुमान होता है। योगी का लक्ष्य इसी निरुद्धावस्था का विस्तार तथा इच्छानुसार उस स्थिति की प्राप्ति ही है। निरोधक्षण के अभ्यास द्वारा बारम्बार इस निरुद्धावस्था के विस्तार को सूत्रकार ने "निरुद्धक्षणचित्तान्वयः" कह कर व्यक्त किया है, अर्थात् चित्त को निरुद्धक्षणो से अन्वित करना।

उक्त त्रिविध परिणामो के भेद को स्पष्ट करते हुए "साइन्स आफ योग" के रचयिता आई० के० टैमनी ने इसी बातो को इन शब्दो मे समझाया है—

"The impression which holds the field of consciousness is called Vyutthana Samskara and the impression which opposes or tries to replace the Vyutthana Samskara is called Nirodha Samskara in this Sutra Between two successive impressoins there must be a momentary state in which the mind has no impression at all or is present in an—unmodified condition The object of Nirodha Parinama is to produce at will this momentary state and gradually extend it, so that the mind can exist for a considerable duration in this unmodified state".

(The Science of Yoga, Page 294)

शका हो सकती है कि व्युत्थान का अभिभव तो समाधि-परिणाम तथा एकाग्रता-परिणाम की दशा मे ही हो चुकता है, फिर एकाग्रता-परिणाम के बाद की अवस्था मे व्युत्थान कहाँ से आया ? इसका समाधान यह है निरोध-समाधि की अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधि के सस्कार भी व्युत्थान सस्कार ही मान्य है। दूसरा यह विशेष भी ध्यान मे रखना चाहिये कि "निरोध" शब्द के तीन अर्थ है। एक तो "निरूध्यतेऽनेनेति निरोधः परवैराग्यः" (तत्व०), वाचस्पति की इस उक्ति अनुसार निरोध शब्द का अर्थ परवैराग्य है। दूसरे निरोध शब्द का अर्थ है, अवरोध या

रुकावट (=सचारहीनता)। तीसरे निरोध पद का अर्थ निरोध या परवैराग्य का सस्कार समझना चाहिये। योग मे निरोध शब्द इन तीनो ही अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है।

निरोध-परिणाम क्या है, यह "निरोध" पद के तीनो अर्थो को ध्यान मे रख कर ही समझा जा सकता है। निर्बीज समाधि के प्रसग मे भाष्यकार श्री व्यास ने यह शका उठाई है कि गुणवृत्त चचल है और समस्त वृत्तियो का निरोध हो जाने पर भी, असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था मे, चित्त तो विद्यमान रहता ही है। अतः उस निरुद्धावस्था में त्रिगुणात्मक चित्त का परिणाम किस प्रकार का होता है ? पुनः भाष्यकार ने अपनी शका के समाधान मे सूत्रकार की इस उक्ति को प्रस्तुत किया है – "व्युत्थाननिरोध-सस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोध परिणामः"[1] अर्थात् व्युत्थान सस्कारो का तिरस्करण तथा निरोधसस्कारो का आविर्भाव, इस प्रकार इन दोनो क्रियाओ से अन्वित निरोधकालीन चित्तपरिणाम को उसका निरोध परिणाम कहते है। निरोधकाल मे प्रथम परवैराग्य द्वारा व्युत्थान-संस्कारो को अभिभूत किया जाता है। अतः सूत्रस्थ प्रथम "निरोध" पद का अर्थ है—परवैराग्य। व्युत्थान-सस्कार दबा देने पर एक क्षण चित्त सर्वथा सस्कारशून्य (अन-मोडीफाइड) होता है। अतः प्रकृत सूत्रस्थ द्वितीय "निरोध" शब्द—इसी अप्रत्यक्ष सस्कारशून्य अवरुद्धावस्था का द्योतक है। तत्पश्चात इस निरुद्धावस्था के संरक्षण हेतु, नवीन-नवीन निरोध सस्कारो या परवैराग्य के सस्कारो की उत्पत्ति की जाती है, क्योकि परवैराग्य से ही व्युत्थान-सस्कार अतिक्रात रह सकते है। इस प्रकार सूत्रगत तृतीय "निरोध" पद का अर्थ परवैराग्य का सस्कार सिद्ध होता है। एकाग्रभूमिक चित्त मे जितनी वृत्तिया उत्पन्न होती है, उनके समस्त सस्कार वृत्तिनाश के पश्चात भी चित्त मे सचित रहते है। निरोध (परवैराग्य) भी चित्त का ही धर्म है। अतः निरोधकालीन निखिल सस्कार भी चित्त मे उपचित रहते है। इस प्रकार उक्त दोनो धर्मो अर्थात् व्युत्थान (एकाग्रभूमिक) सस्कार तथा निरोधसस्कार का आश्रयभूत धर्मी एक ही चित्त होता है। निरोध के अभ्यास से व्युत्थान तथा निरोध द्विविध सस्कारो मे सघर्ष चलता है। एकाग्रता का अभ्यास परिपक्व होने से उसके सस्कार बारम्बार निरोध सस्कारो के बीच मे उत्पन्न होते है और योगी बारम्बार प्रबल निरोध सस्कारो द्वारा उन्हे आक्रान्त करता है। निरोधाभ्यास की दृढता

---

१. "व्युत्थान निरोधसस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणाम।" (यो० सू० ३-९)

के क्रमानुसार व्युत्थान सस्कार ( एकाग्रभूमिक सस्कार ) भी उत्तरोत्तर अदृश्य होते जाते है। उपर्युक्त विधि से द्विविध सस्कारो मे अन्वित चित्त का परिणाम निरोध परिणाम कहा जाता है। इस अवस्था मे केवल सस्कार ही अवशिष्ट रहते है और उन्ही का सघर्षपूर्वक आविर्भाव एव तिरोभाव होता है तथा कोई भी वृत्ति उत्पन्न नही होती है। इसीलिये निरोधकालीन चित्त को सस्कारमात्र शेष[1] कहा गया है। चित्त का यह निरोध परिणाम लक्षित नही होता है, केवल निरोध की अभिवृद्धि से इसका अनुमान किया जाता है। क्योकि जब निरोध सस्कार बढता है, तो अवश्य ही वह व्युत्थान सस्कारो को अभिभूत करके बढता है। अतः यह अपरिदृष्ट परिणाम है।

स्वामी श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य ने, इस विषय मे बडा ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है। उनके अनुसार निरोध परिणाम प्रत्यय स्वरूप न होने के कारण स्फुटरूपेण ज्ञानगोचर न होने पर भी परिणाम है। ठीक वैसे ही जैसे कि एक स्प्रिग ऊपर एक गुरु भार रखने से स्प्रिग नही उठता, परन्तु उसका अभिभव और भाव का प्रादुर्भावरूप जो सघर्ष चलता है वह जाना जाता है। उपरिकथित स्प्रिग तथा भार के दृष्टान्त मे यदि स्प्रिग को तपा कर उसके स्थितिस्थापकता-सस्कार (इलोस्टिसिटी) को नष्ट कर दिया जाय, तो जैसे अभिभव-प्रादुर्भाव सघर्ष समाप्त हो जाता है, वैसे ही निरोध सस्कार नष्ट हो जाने पर कैवल्य है।[2]

कारण की निवृत्ति के साथ कार्य भी निवृत्त हो जाता है, ऐसा विधान है। अविद्या नष्ट होने पर अविद्यामूलक समस्त रागादि क्लेश भी विनष्ट हो जाते है। अतः शका हो सकती है कि व्युत्थानवृत्तिमूलक व्युत्थान सस्कार, व्युत्थानवृत्ति निवृत्ति होते ही विनष्ट हो जाने चाहिये। फिर समाधि परिणाम तथा एकाग्रता-परिणाम मे वृत्ति निरुद्ध हो जाने पर भी, निरोध परिणाम के काल मे व्युत्थान-सस्कार कहाँ से आ गये तथा उनके अतिक्रमण के हेतु तीव्र निरोध सस्कारोत्पति की क्या आवश्यकता है?

कारण दो प्रकार के होते है—निमित्त कारण तथा उपादान कारण। निमित्त कारण :—यथा घटोत्पत्ति मे कुलाल तथा उत्पादन कारण :—जैसे घट की ही उत्पत्ति मे मृत्तिका कारण है। इनमे निमित्त कारण की निवृत्ति से कार्य का सर्वथा अभाव नही होता, केवल उसकी उत्पत्ति की गति अवरुद्ध हो जाती है।

---

१ द्रष्टव्य—"योग का अनुशासन एव उसका स्वरूप" १/१

२. पात० यो० द०—पृ० २२०।

कुलाल की निवृत्ति से घट ( कार्य ) की निवृत्ति तो नही होती। केवल नवीन घटोत्पत्ति नही हो सकती है, किन्तु मिट्टी के अभाव मे घटोत्पत्ति की सम्भावना ही नही है। इसी प्रकार उक्त सस्कारो का उपादान कारण वृत्तियाँ नही, अपितु चित्त है। वृत्तियाँ तो उनका निमित्त कारण है। अतः निमित्तभूत वृत्तियाँ निवृत्त होने पर भी, वृत्तियो के सस्कार वर्तमान रहते है, क्योकि उनका उपादान चित्त उस समय भी विद्यमान है। चित्त निवृत्ति के लिये वृत्ति निरोध के पश्चात् निरोधसस्कारो द्वारा व्युत्थान सस्कारो का नाश, तदुपरान्त निरोधसस्कारो का विलय, इस क्रम को अपनाना अनिवार्य है।

पूर्ववर्णित निरोध परिणाम उसकी अपरिपक्व अवस्था का सूचक है। इसमे व्युत्थान सस्कारो के उदय की आशका बनो रहती है। व्युत्थान-सस्कारो को पूर्णतः दबाने के लिये अविच्छिन्न निरोधपरिणाम अभ्यसनीय है। निरोध सस्कार के अभ्यास से उस ( चित्त ) की प्रशान्तरूप से वहनशील गति होती है।[1] दीर्घकाल तक सतत अभ्यास से क्रमशः व्युत्थान सस्कारो का सर्वथा अभिभव हो जाता है। अत॰ चित्त मे निरन्तर विरोध सस्कारो का भी उदय एवं विलय होते रहने से, शात समतल धारा की भाति चित्त मे एकरस निरोध प्रवाहित होता है। चित्त की निरोध परम्परामात्र-वहनशील स्थिति ही उसकी प्रशातवाहिता है। व्युत्थान-सस्कारो को पूर्णरूपेण तिरोभूत करने के लिये इसी प्रशातवाहिता की अपेक्षा होती है। चित्त का यह सतत निरोध-परिणाम,' निरोध, संस्कारो का एकाग्रता-परिणाम है। अतः इस प्रकार चित्त का एकाग्रता-परिणाम समाधिमात्र मे, समाधि-परिणाम केवल सम्प्रज्ञात योग मे तथा निरोध परिणाम असम्प्रज्ञात मात्र मे होता है। इन्ही तीनो परिणामो के अन्तर्गत समाधि की प्रत्येक अवस्था आ जाती है।

---

१. "तस्य प्रशान्तवाहिता सस्कारात्" ( यो० सू० ३/१० )

## (४) त्रिविध परिणाम का संयम।

पिछले शीर्षक मे चित्त की समाधिकालीन अवस्थाओ के व्याज से जिन तीन, धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणामो का वर्णन किया गया है, उनसे भूत एव इन्द्रियो मे भी धर्म, लक्षण एव अवस्था परिणाम व्याख्यात हो गये है, ऐसा समझ लेना चाहिये। यही सूत्रकार ने भी कहा है।[1]

चित्त के समाधिकालीन परिणामो[2] के वर्णन मे धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणामो का सूत्रकार तथा भाष्यकार किसी ने भी नाम निर्देश नही किया है। फिर भी इनकी व्याख्या किस प्रकार हो गई, यह आगे स्पष्ट होगा। पूर्ववर्णित समाधि, एकाग्रता एव निरोधपरिणाम-त्रय ही प्रकृत धर्म, लक्षण एव अवस्था परिणाम हैं, ऐसा भ्रम नही करना चाहिये। जिस प्रकार निरोध आदि चित्त के परिणाम हैं, भूत एव इन्द्रियो मे भी उसी प्रकार के परिणाम होते है, यही भाव सूत्रस्थ "एतेन" शब्द से सूचित होता है। निरोध आदि प्रत्येक परिणाम मे धर्म, लक्षण एव अवस्था परिणाम निहित है—यही भाष्यकार श्री व्यास ने उद्घाटित किया है।

परिणाम का अर्थ है अन्यथा-भाव।

किसी वस्तु मे भिन्नत्व या परिणाम तीन प्रकार से ज्ञात होता है। धर्म सम्बन्धी भेद से, लक्षण-भेद से तथा अवस्थान्तर होने से। एक धर्म का क्षय तथा अन्य धर्म का उदय होने पर जो भेद लक्षित होता है, उसे धर्मपरिणाम कहते है। भोज के अनुसार—"धर्मी के अवस्थित रहते हुए, पूर्व धर्म की निवृत्ति होने पर, उसे अन्य धर्म की प्राप्ति होना धर्म परिणाम है" (भोजवृत्ति)। निरोध-परिणाम मे चित्त के विद्यमान रहते हुए ही व्युत्थान सस्कारो का अभिभव तथा निरोध-सस्कारों का प्रादुर्भाव होता है। अत इसमे चित्त की व्युत्थानत्यागपूर्वक, निरोध मे स्थिति

---

१. "एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः" (यो० सू० ३-१३)

२. जहद्धर्मान्तर पूर्वमुपादत्ते यदा परम्।
तत्त्वादप्रच्युता धर्मी परिणाम स उच्यते॥ (युक्तिदीपिका मे उद्धृत)

ही उसका धर्म-परिणाम है। इस प्रकार निरोध-परिणाम के कथन से धर्म-परिणाम व्याख्यात हुआ। अतीत, अनागत और वर्त्तमान के कालभेद से लक्षित हाने वाला भेद, लक्षण-परिणाम कहलाता है। प्रत्येक धर्म इन तीनों लक्षणो से युक्त है। अर्थात् निरोध या व्युत्थान पहले था अब नही है, अथवा इस समय है या आगे होगा आदि। चित्त मे जब तक निरोध-सस्कार रूप धर्म का उदय नही हुआ था, तब तक वह अनागत लक्षण वाला था। निरोध धर्म के उदित होने पर, वही निरोध वर्तमान लक्षणसम्पन्न तथा तिरोहित हो जाने पर अतीत लक्षण युक्त होता है। निरोध परिणाम मे अनागत काल का परित्याग, पूर्व धर्म के तिरोभाव स्वरूप है और वर्तमान लक्षण का लाभ, उत्तर धर्म के आविर्भाव स्वरूप है। अतः उक्त रीति से निरोध परिणाम के द्वारा ही लक्षण परिणाम भी व्याख्यात हो गया।

इसी प्रकार समाधिकाल मे व्युत्थान सस्कार वर्तमान लक्षण को त्याग कर अतीत लक्षणता को प्राप्त होता है और निरोध सस्कार अनागत भाव ( लक्षण ) को छोडकर वर्तमान लक्षणापन्न होते है। पुनः व्युत्थान-सस्कारो के उदयकाल मे उसके सस्कार वर्तमान लक्षण सम्पन्न होगे, अतः निरोधकाल मे वे अनागत लक्षण युक्त होते है इत्यादि क्रम से निरोधादि परिणामत्रय के व्याख्यान से, धर्म, लक्षणादि परिणाम कथित हुए, ऐसा विवेक कर लेना चाहिये।

लक्षण-परिणाम भी स्थूल तथा सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का होता है। व्युत्थान सस्कारो के वर्तमान काल मे निरोध-सस्कारो की अनागतभाव से अवस्थिति निरोध-सस्कारो का सूक्ष्म लक्षण-परिणाम है तथा व्युत्थान सस्कारो का स्थूललक्षण परिणाम है। इसी प्रकार व्युत्थान-सस्कारो की अतीत दशा मे निरोध-सस्कारो की वर्तमान दशा, उनका स्थूल लक्षण परिणाम है तथा व्युत्थान-सस्कारो का सूक्ष्म लक्षण परिणाम है।

धर्मी का परिणाम धर्म के अन्यथात्व से अनुभूत होता है, इसीलिये एक ही चित्त रूप धर्मी के अवस्थित रहते हुए, व्युत्थानधर्म से निरोधरूप धर्म की प्राप्ति, धर्म परिणाम है—ऐसा कहा गया है। धर्मो का परिणाम लक्षण-भेद-द्वारा परिकल्पित होता है। इसी कारण भाष्यकार ने "धर्मत्वमनतिक्रान्तः"[1] अर्थात् "धर्म को अतिक्रमण न करके", ऐसा लक्षणपरिणाम की व्याख्या करते हुए कहा है। तात्पर्य

१. साख्य-योग सत्कार्यवादी है असत् वस्तु की उत्पत्ति नही होती है।

यह है कि उक्त तीनो लक्षण परिणाम एक ही धर्म की समयावस्थिति के भिन्नत्वरूप है। उनमे धर्म नही बदलता है। उदाहरणार्थ पूर्व वर्णित निरोधादि परिणामो मे, निरोध अथवा व्युत्थानरूप धर्म का वर्तमानादि दशा रूप लक्षण-परिणाम होता है। जिस प्रकार धर्मी का धर्म परिणाम, धर्म का लक्षण परिणाम होता है। उसी प्रकार अतीत, वर्तमानादि लक्षणो का अवस्था-परिणाम होता है। अतः लक्षण का परिणाम अवस्था भेद द्वारा ही कल्पनीय है। इस अवस्था मे लक्षण भेद की विवक्षा नही रहती है। अतीतादि तीनो को एकत्र कर, एक ही लक्षणयुक्त धर्म का, अवस्था भेद से, भिन्न-भिन्न रूपो मे व्यवहार होता है। उदाहरणार्थ-निरोधकाल मे निरोध-सस्कार तथा व्युत्थान-सस्कार दोनो ही विद्यमान रहते हैं। किन्तु व्युत्थान की अपेक्षा निरोध सस्कार प्रबल होने से, उनका व्युत्थान से भिन्न रूप मे व्यवहार होता है। निरोध की वर्तमान-स्थिति मे निरोध-सस्कारो की प्रबलता तथा व्युत्थान-सस्कारो की दुर्बलता ही उनका अवस्था-परिणाम है। इस स्थल मे भी व्युत्थान-सस्कारो की क्षीणता तिरोभाव-स्वरूप है और निरोध-सस्कारो की प्रबलता अविर्भावस्वरूप है, यही क्रिया पूर्व-वर्णित निरोध-परिणाम है। अतः निरोध-परिणाम की व्याख्या से ही अवस्था-परिणाम का कथन भी सिद्ध होता है। इसी तात्पर्य से सूत्रकार ने कहा है कि चित्त के उक्त तीनो परिणामो से ही भूत एव इन्द्रियो मे भी धर्म, लक्षण ओर अवस्था परिणाम व्याख्यात हो गए। उदाहरणार्थ भूत एव पृथ्वी आदि धर्मियो का प्राणी, घट आदि रूप धर्म-परिणाम। प्राणी, घट आदि धर्मो का अतीत, अनागत, वर्तमान रूप लक्षण-परिणाम। वर्तमान लक्षणापन्न मनुष्य, पशु घटपटादि का, बाल्य, कौमार, यौवन, नव, पुराणादि रूप अवस्थापरिणाम। इसी प्रकार इन्द्रियो मे-यथा नेत्रेन्द्रिय का नील-हरितादि आलोचन-ज्ञानरूप धर्म-परिणाम, उक्त आलोचन-ज्ञान का अतीत, वर्त्तमानादि लक्षण-परिणाम तथा वर्तमान रत्न आदि के आलोचन-ज्ञान का स्फुटत्व एव अस्फुटत्व रूप अवस्था-परिणाम समझना चाहिये।

इस प्रकार भूत एव इन्द्रियादि समस्त जगतिक पदार्थो मे प्रतिक्षण धर्म, लक्षण एव अवस्थारूप परिणाम हुआ करते है।

उक्त विधानानुसार प्रत्येक धर्मी का धर्मों से, धर्मो का लक्षणो से तथा लक्षणो का अवस्था-भेद से परिणामक्रम का चक्र सतत प्रवर्तित रहता है। गुणो का स्वाभाविक चाचल्य ही प्रवृत्ति का मूल है। अतएव गुणवृत्त क्षण-मात्र भी धर्म, लक्षण एव अवस्था परिणाम से शून्य नही रहता है। अतः त्रिगुणात्मक भूतेन्द्रियादि सम्पूर्ण पदार्थों का धर्म, लक्षण एव अवस्था-परिणाम स्वतः सिद्ध है।

धर्मी एव धर्म के उक्त परिणाम व्यावहारिक ही होते है, तात्विक नही। वास्तव मे धर्मी एव धर्म दोनो सर्वथा भिन्न नही होते है। धर्म, धर्मी का स्वरूपमात्र ही तो है। धर्मी की विक्रिया ही धर्म से विस्तारपूर्वक कथित हुई है, किन्तु तात्विक दृष्टि से व्यवहारिक दृष्टिकोण मे भिन्नता है। इसी भेद के अवलम्बन से धर्मी एव धर्म की भिन्न सत्ता स्वीकृत होती है। किन्तु इन दोनो की यह व्यावहारिक सत्ता भी अपरिहार्य है। व्यवहार मे भी धर्मी और धर्म अभिन्न मानने से समस्त धर्म-समुदाय कारण-रहित या मूल-शून्य सिद्ध होगा। इससे दोष प्रसक्त होगा। कारण-सत् वस्तु को मूलतः असत् कहना सर्वथा अन्याय्य है। असत् की उत्पत्ति ही असिद्ध है। जब धर्म का अस्तित्व अनुभव-सिद्ध है, तो उसके कारण भूत धर्मी का अस्त्वि भी अस्वीकार नही किया जा सकता है, क्योकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति अशक्य है। उदाहरणार्थ यदि घटरूप धर्म को ही सर्वस्व या समष्टि मान कर, उससे भिन्न धर्मी की सत्ता सर्वथा अस्वीकृत की जाय, तो घट पूर्ण होने पर घटत्वधर्म मात्र का अभाव मानना चाहिये और उस घटाभाव से चूर्णत्व धर्म की उत्पत्ति स्वीकार की जानी चाहिये। इस प्रकार तो सत्कार्यवाद की उत्पत्ति ही असिद्ध हो जाएगी।[1] सत्कार्य-वाद के अनुसार तो मृत्तिका धर्मी है और घट धर्म है। घटत्व एव चूर्णत्व दोनो एक ही मृत्तिका रूप धर्मी के धर्म है। घट के नष्ट होने से अभिप्राय है—घटत्वरूप धर्म का अभिभव एव चूर्णत्व धर्म का आविर्भाव होना। घट, शराब, चूर्ण आदि एक मृत्तिका धर्मी के ही विविध धर्म है, क्योकि घटादि सभी मे मृत्तिका उपादान रूप से परि-व्याप्त है। अतः व्यवहार दृष्टि से घट एव मृत्तिका मे धर्म-धर्मी रूप से विवेक करना ही उपयुक्त है। साथ ही उन धर्म एव धर्मी को सर्वथा भिन्न तत्व के रूप मे भी स्वीकार नही किया जा सकता है। तात्विक दृष्टि से या सामान्य धर्म के क्रम से, धर्म एव धर्मी मे प्रभेद नही किया जा सकता और उस मौलिक दशा मे अतीत, अना-गतादि प्रत्येक धर्म की समष्टि एकमात्र धर्मी के रूप से ही निर्णीत होती है। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य करके भाष्यकार श्री व्यास ने "धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मः धर्मि-विक्रियैवेषा धर्मद्वारा प्रपच्यत" अर्थात् धर्मी का स्वरूपमात्र ही धर्म है। धर्म के माध्यम से धर्मी का विकार ही प्रपचित होता है, अर्थात् अतीत, अनागत एव वर्तमान लक्षणादि सबकी धर्म प्रपच से प्रतीति होती है। वस्तुतः धर्मी का विकारमात्र ही धर्म, लक्षण एव अवस्था परिणाम, इन विभिन्न सज्ञाओ से व्यवहृत होता है। जिस प्रकार सुवर्ण पात्र को तुडवा कर कटक-कुण्डल आभूषणादि बनवाने पर भावान्यथात्वही होता

१ इसी असत्कार्यवाद को स्वीकार कर बौद्धो ने अपने पृथक् मत की स्थापना की है।

है, द्रव्यान्तर नही होता। उन कटक, कुण्डलादि स्वर्ण-निर्मित प्रत्येक पदार्थो मे ( धर्मो मे ) एक सुवर्ण जाति (धर्मी) से ही प्रत्यभिज्ञा होती है। इसी प्रकार चित्त आदि धर्मी वे ही रहते है, केवल उनके व्युत्थान, निरोधादि धर्म तथा अतीत, अनागत, वर्तमान अध्वो (लक्षणो) मे परस्पर परिवर्त्तन होते रहते है।

धर्म-परिणाम के प्रसग मे भाष्यकार श्री व्यास ने एकान्तवादी बौद्ध-सम्प्रदाय- सम्मत दोष का उद्भावन एव निराकरण किया है। बौद्ध मतानुसार प्रत्येक धर्म क्षणिक है, अतः प्रतिक्षण नवीन धर्मोत्पत्ति होती रहती है। साख्ययोग मे परिणामवाद स्वीकार किया जाता है। अतः परिणाम होने पर भी तत्वान्तर नही होता—ऐसी साख्ययोगियो की मान्यता है। इस विषय मे प्रतिपक्षियो की आपत्ति है कि यदि धर्मान्तर की अवस्था मे सर्वथा नवीन तत्व की उत्पत्ति स्वीकृत नही की जाती है, तो धर्म एव धर्मी अभिन्न है। साथ ही सब अवस्थाओ मे धर्मी अपरिवर्तित रहने से कूटस्थ नित्य सिद्ध होगा। अतः इस प्रकार मृत्तिकादि धर्मी को, घटादि समस्त परिणत धर्म एव अवस्थाओ मे अनुगत होने से, कूटस्थ नित्य मानना पडेगा। किन्तु योगमत मे चितिशक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ कूटस्थ नित्य नही माना जाता है। यह मृत्तिकादि समस्त धर्मी चिति शक्ति की भाँति एकान्त नित्य न होने से, उक्त कौटस्थ्य दोषारोपण भ्रान्तिमात्र ही है। योगमत मे अपरिणामी तत्व को अत्यन्त नित्य माना गया है। किन्तु घटादि तो क्या, लोकत्रय मे स्थित समस्त पदार्थ परिणाम द्वारा अपगत (नष्ट) होते है। नष्ट होने पर अर्थ-क्रिया के अयोग्य हो जाने से उनकी अत्यन्त नित्यता असिद्ध है। समस्त जागतिक पदार्थों का अतीत लक्षग-परिणाम देखे जाने से उनमे नित्यत्व का निषेध प्रमाणसिद्ध है। साथ ही उक्त सकल पदार्थ शशविषाण अथवा आकाशकुसुम की भाँति अलीक भी नही है। क्योकि वर्तमान काल मे उनका सद्भाव होता है। आकाश-कुसुमादि तो कभी भी नही देखे जाते है। मृत्तिकादि समस्त जागतिक पदार्थ वर्तमान अवस्था मे अर्थ क्रिया करते देखे जाते है तथा अर्थ-क्रियाकारित्व नष्ट होने पर, अर्थात् वर्त्तमानावस्था को त्यागने पर भी अतीत अवस्था मे सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते है। अतः अत्यन्त अनित्य भी नही है। उक्त वर्णन से मृत्तिकादि धर्मी शशविषाणादि की अपेक्षा नित्य तथा चितिशक्ति की अपेक्षा अनित्य सिद्ध होते है। एतावता मृत्तिकादि धर्मी एकान्त नित्य असिद्ध होने से उनके कौटस्थ्य नित्य की आशका सारहीन है।

शका हो सकती है कि यदि अतीनकाल मे मृत्तिकादि धर्मी की सत्ता होती

है, तो उसका अनुभव क्यो नही होता ? स्पष्ट है कि अतीत काल मे उक्त धर्मी स्वकारण मे विलीन हो जाने से अत्यन्त सूक्ष्मतावश उनकी सत्ता की प्रतीति लौकिक लोगो मे नही होती है।

प्रत्येक धर्मी के विविध धर्म उसमे प्रत्येक क्षण निहित रहते है। धर्मी के विकार काल मे विक्रिया का जो अश अनुभवगम्य रहता है, वह वर्त्तमान धर्म कहलाता है। अवशिष्ट अश की पूर्व-वर्णित रूप से अतीत एव अनागत सज्ञा होती है। यह भी अवगम्य है कि वर्तमान अध्व-युक्त भाव पदार्थ ( अर्थात् वर्तमान धर्म ) अतीत एव अनागत अध्वो से अवियुक्त ही है, क्योकि जो पहले अनागत ( भावी ) था वही अब वर्तमान है और धर्मान्तर की प्राप्ति होने पर वही अतीत एव अनागत होगा। भाष्यकार श्री व्यास ने वर्त्तमानादि लक्षणत्रय को तीनो अध्वो की सज्ञा दी है। उदाहरणार्थ व्युत्थानावस्था मे जब निरोध भावी होने से अनागत है, तब वह प्रथम अध्व से युक्त है। पुनः निरोध का अभिव्यक्ति-काल उसका द्वितीय अध्वा है। व्युत्थान-सस्कारो-द्वारा जब निरोध पुनः आक्रान्त होता है, तब निरोध की अतीत दशा उसका तृतीय अध्वा है। इसी प्रकार व्युत्थान के विषय मे भी तीनो अध्वो की कल्पना कर लेनी चाहिये। उक्त रीति से ये तीनो अध्व या तीनो लक्षण एक दूसरे से युक्त ही है, असम्बद्ध नही। अन्तर केवल समान्य एव विशेष-भाव से स्थिति का है। अतीत एव अनागत अवस्था मे धर्म सामान्य रूपेण अनुगत रहता है। वर्तमान काल में वही धर्म उसी धर्मी मे अनुगत रहते हुए अर्थ-क्रिया-कारित्व की सामर्थ्य से सम्पन्न रहता है।

इस विषय मे भाष्यकार श्री व्यास ने, किसी प्रतिवादी के प्रतिवाद की चर्चा करते हुए लिखा है कि यदि तीनो अध्व तीनो से अवियुक्त होते है, तो अध्वसकर प्राप्त होगा। यद्यपि कारण अतीत एव अनागत काल कभी वर्त्तमान नही हो सकते है। वर्त्तमान धर्म की अभिव्यक्ति द्वारा ही यह अनुमान होता है कि इसकी अभिव्यञ्जना के पूर्व अवश्य ही भावी सस्कार के रूप मे यह धर्म विद्यमान था, क्योकि जो सत् है, उसी की अभिव्यक्ति हो सकती है। आकाश-कुसुम के तुल्य अलीक पदार्थ की उत्पत्ति असभव है। इसी प्रकार पूर्वोक्त वर्तमान धर्म के स्थान पर धर्मान्तर की उत्पत्ति से पूर्व धर्म के अतीत्व का अनुमान होता है। इस निवृत्ति धर्म के भी सस्कार चित्त पर विद्यमान रहते है, यह मानना ही पडेगा, क्योकि उक्त पूर्व धर्म से अपर धर्म की उपशान्ति के पश्चात् पूर्व धर्म की पुनः उत्पत्ति देखी जाती है। अतः अनागत एव अतीत धर्मद्वय काल्पनिक या अनुमानगम्य भाव पदार्थ

है। उनकी अभिव्यक्ति नही देखी जाती है। इस दृष्टि से वे अवर्तमान भाव पदार्थ है।

जो वर्तमान ही नही हो सकता है, उसका वर्तमान के साथ साकर्य होने का तो प्रश्न ही नही है। शका हो सकती है[1] कि जब अनागत एव अतीत अध्व की वर्तमानता ही असिद्ध है, तो वे वर्तमान से अवियुक्त कैसे कहे जा सकते है ? साथ ही अनागत एव अतीत अध्वो की सत्ता की कल्पना ही क्यो की जाय ? वह भी तो व्यर्थ ही है। परन्तु ये शकाएँ भी युक्तिसगत नही है। अनागतादि लक्षण-त्रय को वियुक्त नही कहा जा सकता है, क्योकि अनागतादि तीनो एक धर्म के तीन अध्वा है, भिन्न धर्म के नही। अनागत विनष्ट होकर वर्तमान अथवा वर्तमान नष्ट हो कर अतीत उत्पन्न होता हो ऐसा नही है। वरन् अनागत धर्म ही वर्तमान होता हुआ, धर्मान्तरोत्पत्तिकाल मे, अतीत होता है। वस्तुतः एक ही धर्म जब अन्य धर्मक अध्वो के व्यापार-द्वारा व्यवहित होने से स्व-व्यापार नही करता है, तब अनागत कहलाता है, जब व्यापार मे प्रवृत रहता है, तब वर्त्तमान कहलाता और स्वव्यापार से निवृत्त हो जाने पर वही धर्म अतीत सज्ञा से युक्त होता है।

पूर्वोक्त वर्णन से अनागत एव अतीत लक्षणो की कल्पना भी सार्थक सिद्ध हो चुकी है। अन्तर केवल सामान्य एव विशेष का है। भले ही अनागत एव अतीत की सत्ता अनुभवगम्य न हो, फिर भी अनुभव का अभाव प्रमाण सिद्ध वस्तु का अपलाप नही कर सकता है। किसी एक स्त्री मे अनुरक्त चित्त अन्य स्त्रियो मे विरक्त तो नही कहा जा सकता। यह अवश्य है कि अन्य स्त्रियो मे से राग किसी मे अतीत तथा किसी मे अनागत लक्षक है, क्योकि उन (अन्य) स्त्री रूप उद्बोधक के उपस्थित होने पर उनके प्रति राग की अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती है। इसी प्रकार किसी धर्म के आविर्भूत एव निवृत्ति होने से, अभिव्यक्ति से पूर्व उसका सस्काररूप वे अनागतकाल एव निवृत्त होने से उसका अतीत रूप से अवस्थान प्रमाण (अनुमान) सिद्ध है। जो वस्तु प्रमाणसिद्ध है, उसकी कल्पना निर्थक कथमपि नहीं हो सकनी है। इस इस प्रकार तीनो लक्षण अवियुक्त रह कर भी अध्व-साकर्यदोष से शून्य है। क्योकि वर्तमान दशा का अर्थ है—व्यापारसलग्न धर्म की प्रत्यक्षरूप से अभिव्यक्ति और अनागत तथा अतीत, जैसा कि पहले भी प्रदर्शित किया जा चुका है, सामान्य या सस्काररूप से अवस्थित रहते है। ये दोनो अर्थ-क्रियाकारित्व धर्म-शून्य होते है। वर्तमान धर्म अभिव्यक्त-स्वरूप होने से विशेष है। अतः विरुद्ध होने पर भी इन तीनो

---

१ यह शका बौद्धो की हे।

के एक साथ वर्तमान रहने मे दोष नही है। विशेष के साथ ही विशेष का विरोध होता है। सामान्य का विशेष से विरोध नही देखा जाता। ऐसा ही भाष्यकार ने पचशिखाचार्य का वचन उद्धृत करते हुए कहा है—"रूपातिशया वृत्यन्तिशयाश्च परस्परेण विरुद्ध्यन्ते सामान्यानित्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते।" किन्तु व्यवहार मे वर्तमान धर्म का सद्भाव ही माना जाता है—जैसे निरोधकाल मे व्युत्थान सस्कार भी सूक्ष्मतः विद्यमान रहते है, फिर भी निरोध धर्म अभिव्यक्त होने से निरोध की ही वर्तमानावस्था कही जाती है। भाष्यकार कहते है—क्रोध के अभिव्यक्ति काल मे राग का उदय न होने से चित्त को राग शून्य नही कहा जा सकता है, क्योकि क्रोध शान्ति के अनन्तर राग धर्म की पुनः अभिव्यक्ति देखी जाती है। भविष्य मे राग का उदय पूर्वकाल मे उसकी सस्काररूप से अवस्थिति मे ही प्रमाण है, क्योकि जो सत् है, उसी की उत्पत्ति होती है। धर्मो का त्रिलक्षणत्व व्यावहारिक दृष्टि से है तथा अध्वत्रय मे धर्म का एकत्व तात्विक या धर्मी की दृष्टि से है।

पूर्वोक्त अनागत वर्तमानादि अध्वत्रय घटादि धर्म के ही होते है। मृत्तिकादि धर्मी के नही। अत धर्मी भी तीन अध्वो वाला होता है, ऐसी भ्रान्ति नही करनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि लक्षण परिणाम केवल धर्म का होता है, धर्मी का नही। क्योकि घट-पटादि धर्म ही अवस्थातर को प्राप्त होते हुए भिन्न अवस्था वाले से भेदपूर्वक ज्ञानगोचर होते है, मृत्तिकादि धर्मी से भिन्नरूप मे नही, क्योकि वह समस्त अवस्थाओ मे अनुस्यूत है। धर्म-परिणाम धर्मी का होता और लक्षण-परिणाम धर्म का, धर्मी का नही, यही इन दोनो मे भेद है।

जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है, वे घट आदि धर्म व्यक्त एव अव्यक्त अवस्था वाले है। व्यक्त अर्थात् वर्त्तमान तथा अव्यक्त अर्थात् अनागत एव अतीत। उनमे से लक्षित या व्यक्त धर्म नवीन, पुराण, बाल्य, यौवन इत्यादि अवस्थाओ को प्राप्त कर भिन्न रूप से निर्दिष्ट होते है। इस भेद का आश्रय अवस्थान्तर ही होता है, द्रव्यान्तर नही, अर्थात् एक ही धर्मी मे पूर्व अवस्था अतीत होने पर उत्तरावस्था की प्राप्ति होना अवस्था-परिणाम कहलाता है। प्रकृत प्रसग मे एक ही धर्मी चित्त मे व्युत्थान-सस्कारो के व्यतीत होने पर निरोध-सस्कारो की अभिव्यक्ति अवस्था परिणाम है।

जिस प्रकार १ का अक दो शून्य से पूर्व स्थितिकाल मे शत, एक शून्य से पूर्व दश, तथा शून्य रहित स्थिति में एक कहलाता है। अथवा जिस प्रकार एक ही स्त्री, सम्बन्ध भेद से, माता, पुत्री, बहिन तथा पत्नी कहलाती है, उसी प्रकार

चित्त या मृत्तिकादि धर्मी, एक रहने पर भी, अवस्था रूप निमित्त के भेद से भिन्नवत् प्रतीत होते है। वस्तुतः धर्मी मे एकत्व ही होता है।

अवस्था-परिणाम के विषय मे भी प्रतिपक्षियो द्वारा कौटस्थ्यदोष निर्दिष्ट किया गया है। तदनुसार अध्वो के व्यापार से व्यवहित होने के कारण, धर्मी, धर्म, लक्षण एव अवस्था चारो ही कूटस्थ सिद्ध होगे। क्योकि जिस अवस्था मे अध्वो के व्यापार से व्यवहित होने के कारण धर्म अपने व्यापार को नही करता है तब अनागत, व्यापार सलग्न होने पर वर्तमान तथा व्यापार से निवृत हो जाने पर अतीत, कहलाता है। अतः पुरातन अवस्था सूक्ष्म रूप से विद्यमान है और आगे भी रहेगी, उसी प्रकार नवीन भी वैसी थी और रहेगी। अतः धर्म एव धर्मी त्रिकाल मे वर्तमान है। त्रिकालस्थायी ही कूटस्थ नित्य है। इस प्रकार अवस्था भी कूटस्थ नित्य सिद्ध हुई। किन्तु उक्त तर्क भी युक्तिसगत नही है।

नित्यत्वमात्र ही कौटस्थ्य नही होता। धर्म-परिणाम विषयक कौटस्थ्य-दोष के निरसन मे यह बतलाया जा चुका है कि एकान्त नित्य को ही कूटस्थ कहते है, अर्थात् अपरिणामी नित्य ही कूटस्थ होता है। परिणामी का उपादान भी परिणामी ही होता है। प्रधान गुणी अर्थात् मूल प्रकृति, नित्य होने पर भी, गुणो की विमर्द-विचित्रतावश, विकारशील है। अतः योगमत मे प्रकृति को भी कूटस्थ नित्य नही माना गया है। जब मूलधर्मी (प्रकृति) ही कूटस्थ नही है तो उसके विकारभूत बुद्धि चित्तादि धर्मी के कौटस्थ की कल्पना भी निरर्थक ही है, क्योकि इन सभी का आविर्भाव एव तिरोभावरूप परिणाम हुआ करता है।

पुरुष (चितिशक्ति) सर्वदा, सर्वथा अपरिणामी एकरस स्वरूप से स्थित है। अतः केवल पुरुष ही कूटस्थ नित्य है।

"विमर्द-वैचित्र्य" का अर्थ श्री भिक्षु ने विनाश की कूटस्थ से विलक्षणता किया है। श्री वाचस्पति सम्मत मतानुसार, गुणो की न्यूनाधिकता के कारण पारस्परिक अभिभाव्य-अभिभावकता रूप विचित्रता है।

गुणो की उपर्युक्त पारस्परिक न्यूनाधिकता ही विकारो की विभिन्नता का हेतु है। विकारशील तत्वो मे मूल प्रकृति ही पूर्णतः नित्य है। अन्य बुद्ध्यादि प्रकृतियो मे अपनी-अपनी विकृति से, अपेक्षाकृत नित्यता होने से ही नित्यत्व का व्यवहार होता है। यथा घटत्व एव पिडत्व की अपेक्षा मृत्तिका नित्य है।

भाष्यकार श्री व्यास ने इस विषय मे शब्दादि को उदाहृत करके निम्न

प्रकार से समझाया है। शब्द आदि तन्मात्र अविनाशी है तथा उनके धर्म रूप आकाश, पृथिवी आदि पचभूत विनाशी है। वर्तमान स्थल मे "विनाशी" से तात्पर्य तिरोभावी का है। "अविनाशी" पद से स्वकार्य की अपेक्षा अतिरोभावी का अर्थ ग्राह्य है। यह आपेक्षिक अविनाशी कहलाता है।

अतः साराश यह है कि आविर्भाव-तिरोभावशील पृथिव्यादि भूत पचक गन्धादि तन्मात्रो का कार्य होने से विनाशी कहे जाते है। शब्दादि तन्मात्र आकाशादि भूतो की अपेक्षा ही अविनाशी या नित्य माने जाते है, कूटस्थ नित्य होने से नही। इसी प्रकार महत्तत्व की अपेक्षा अतिरोभावी होने से प्रधान नित्य है। कूटस्थता से नित्य नही है। इसी दृष्टि से उक्त भूत, महत्तत्त्वादि मे परिणाम शब्द का व्यवहार होता है। उक्त रीति से प्रत्येक कारण रूप धर्मी अपने कार्य की अपेक्षा से नित्य कहा जाता है। पुरुष किसी की अपेक्षा से नही, वरन् स्वभाव से ही नित्य है। अतः अवस्थादि मे कूटस्थता का दोपारोपण सारहीन है।

धर्म, लक्षण एव अवस्था परिणाम की विविधता का हेतु भी गुणविमर्द की विलक्षणता ही है। उदाहरणार्थ मृत्तिकारूप धर्मी, प्रथम पिण्डकार रूप धर्म से परिणत होकर, घटाकाररूप धर्म को प्राप्त होता है। यह धर्म-परिणाम है। घटाकार अभिव्यक्त होकर अनागत लक्षण को त्याग कर वर्तमान लक्षण प्राप्त करता है। यह उसका लक्षण परिणाम है। घट पुनः नवीनता पुराणता का अनुभव करता हुआ अवस्था परिणाम को प्राप्त होता है। केवल लक्षणो का ही अवस्था परिणाम हो, यह आवश्यक नही है। धर्मी का धर्मान्तर भी अवस्थान्तर है लक्षणान्तर भी एक अवस्था है। अतः एक अवस्थान्तर रूप द्रव्य परिणाम ही विभिन्नरूप से प्रदर्शित किया गया है।

पहले बतलाया जा चुका है कि यह धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणाम त्रिविध होने पर भी धर्मी के स्वरूप का अतिक्रमण न कर, नित्यप्रति धर्मी के स्वरूप मे भी अनुगत रहते है। अतएव धर्म-धर्मी मे अभेद होने से एक धर्मपरिणाम ही इन तीनो परिणामो मे व्याप्त है।

अब प्रश्न उठता है कि यह परिणाम क्या है? वर्तमान धर्म के पूर्व धर्म की निवृत्ति होने पर उत्तर धर्म की अभिव्यक्ति ही परिणाम है। जैसे पूर्व-कथित मृत्तिकारूप धर्मी के पिण्डरूप धर्म की निवृत्ति होने पर घट की अभिव्यक्ति परिणाम है।

प्रश्न उठता है कि जिसके धर्म, लक्षण और अवस्थारूप तीनो परिणामो का व्याख्यान किया गया है, उस धर्मी का स्वरूप क्या है ? सूत्रकार के अनुसार शान्त, उदित और अव्य-पदेश्य, तीनो धर्मों का अनुपाती द्रव्य ही धर्म है ।[1] तात्पर्य यह है कि भूत, भविष्य एव वर्तमान अवस्थायुक्त समस्त धमो या कार्यो मे जो सर्वदा कारण-रूप से अनुस्यूत है वही धर्मी कहलाता है ।

"धर्मोऽस्यास्तीति धर्मी" इस विग्रह के अनुसार जिसका धर्म हो उसे धर्मी कहते है । अतः प्रथम धर्म क्या है, यह जान कर ही धर्मी शब्द का स्फुट अर्थज्ञान हो सकता है ।

धर्मी की योग्यता से अवच्छिन्न अर्थात धर्मी की योग्यता से विशेषित शक्ति ही उसका धर्म है । इसकी सत्ता फलोत्पत्ति की भेद से अनुमित होती है । कारण मे निहित कार्य-निर्माण की योग्यता ही उक्त शक्ति है । यद्यपि इसका प्रत्यक्ष नही होता है तथापि कार्य-लिगक अनुमान से इसका अस्तित्व सिद्ध होता है । उदाहरणार्थ घट की उत्पत्ति मृत्तिका से ही होती है, तन्तु से नही और तन्तु से घट निर्माण होता है, मृत्तिका से नही । अतः अनुमान द्वारा यह सिद्ध होता है कि घटोत्पति की योग्यता मृत्तिका मे ही है, तन्तु मे नही तथा पटोत्पत्ति की योग्यता तन्तु मे ही है, मृत्तिका मे नही । इस योग्यता से विशिष्ट शक्ति ही धर्म है, अर्थात क्रिया आदि के द्वारा किसी पदार्थ का बुद्धभाव ही धर्म है । उदाहरणार्थ अग्नि मे दहन की योग्यता है । दहन उसका धर्म है । अग्नि धर्मी है । इस दाहिका शक्ति का बोध दाह रूप क्रिया के अनुभव से होता है । दहन से विशेषित शक्ति ही अग्नि का एक धर्म है । इसी प्रकार सर्वत्र कारण मे कार्य-निर्माण की योग्यता रूप शक्ति अवगम्य है । किसी एक धर्मी का एक ही धर्म नही होता है, अपितु एक धर्मी के अनेक धर्म होते है । जैसे मृत्तिका मे घट, चूर्ण, पिण्ड, शराब, कुल्हड, सुराही आदि अनेक धर्म निहित है ।

शका हो सकती है कि मृत्तिका आदि कारण को धर्मी तथा घटादि कार्य को धर्म कह देना ही पर्याप्त है, फिर मृत्तिकादि कारण मे निहित घटादि-निर्माण की योग्यता रूप शक्ति धर्म है, इत्यादि शब्दाडम्बर की क्या आवश्यकता है ? स्पष्ट है कि जब एक ही धर्मी मे अनेक धर्म निहित है, तो घटादि किसी एक धर्म के कथन से ही उसके समस्त धर्मों का व्यपदेश नही हो सकता है । यदि घटमात्र को मृत्तिका का धर्म मानो तब तो उपर्युक्त शका युक्तिसगत हो सकती है । तदनुसार घटकाल मे

१ 'शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ।' (यो० सू० ३/१४)

ही मृत्तिका को भी धर्मी कहा जा सकता है। किन्तु उक्त कार्य-निर्माण की योग्यता को धर्म मानने पर एक की उत्पन्नावस्था मे अन्य कार्यों की उत्पत्ति की योग्यता धर्मी मे है । अथवा उत्पन्न कार्य की ध्वसावस्था मे भी उसके पुनरुत्पाद की सामर्थ्य धर्मी मे रहने से भत, भविष्य, वर्तमान काल-त्रय मे उसका धर्मीत्व सिद्ध होता है–यही धर्मी का लक्षण भी है।

उनमे से वर्तमान धर्म व्यापार मे प्रवृत्त रहने से अनुभूत होकर धर्मान्तरो से भिन्न होता है। अनागत एव अतीत काल मे धर्म सामान्य ( अनभिव्यक्त ) रूप से धर्मी मे समन्वित रहता है। अतः धर्मि-स्वरूप होने से उसका विवेक नही होता है। तीन प्रकार के शान्त, उदित एव अव्यपदेश्य धर्मों मे उदित अर्थात् वर्तमान की व्याख्या की जा चुकी है। व्यापार से निवृत्त धर्म शान्त या अतीत कहलाता है। व्यापारयुक्त वर्तमान तथा जिनके होने की सम्भावना है, या कभी वर्तमानावस्था प्राप्त न होने से अकथनीय है, वे ही अव्यपदेश्य या अनागत धर्म कहलाते है। किसी भी धर्मी का वर्तमान धर्म विशिष्ट रूप से प्रतीत होता है। किन्तु अतीत एव अनागत धर्म धर्मी मे सामान्यरूपेण अर्थात् अविशिष्टभाव से निहित रहते है, अतः उनकी भिन्न प्रतीति नही होती है। अतीत एव अनागत धर्मो के सद्भाव का अनुमान-द्वारा निश्चय होता है ।

वर्तमान धर्म अनागत धर्म के समनन्तर है अर्थात् अव्यवहित परवर्ती है। उसी प्रकार समस्त अतीत धर्म वर्तमान के समनन्तर है। वर्तमान धर्म-समूह अतीत के परवर्ती नही होते हैं, क्योकि अनागत एव अतीत की जैसी पूर्वपरता है, वैसी अतीत एव वर्तमान की नही होती है। वर्तमान धर्म के अतीत हो जाने पर उसमे पुनः वर्तमानता की उत्पत्ति दृष्टिगत नही होती है।[1] यह स्मरणीय है कि सत्कार्यवाद के अनुसार भी पूर्व-अभिव्यक्त घट-पटादि की पुनः उत्पत्ति नही होती।

यदि अतीत धर्म की पुनः वर्तमानता स्वीकार की जायगी, तब तो अनिर्मोक्ष सिद्ध होगा। अविद्या आदि क्लेश एक वार नष्ट हो जाने पर भी पुनः वर्तमान होगे तो मुक्तात्मा को पुनः ससारापत्ति होगी, किन्तु शास्त्र एव योगियो के प्रत्यक्ष अनुभव से नित्य मुक्तत्व प्रमाण-सिद्ध है। उसी प्रकार यदि अतीत घट की

१. नोट—योगबल अथवा विज्ञान की शक्ति से अतीत वस्तु भी पुन वर्तमान भावापन्न हो सकती है। इस प्रकार पुन उत्थित वस्तु क्षणो के भेद से युक्त प्रतिरूपक मात्र होती है। (द्र०—भारतीय सस्कृति और साधना, पृ० १६६)

भी पुनः वर्तमानता मानी जाय, तो यह "यह वही घट है", इस प्रकार अतीत घट की भी प्रत्यभिज्ञा होनी चाहिये, किन्तु वह नही होती। अतएव अतीत का अनुत्पाद प्रमाण सिद्ध है।

भूत एव वर्तमान धर्मो के विषय मे तो स्मरण एव अनुभव प्रमाण भूत है। अब अनागत धर्म के विषय मे शका होती है कि जिसका व्यपदेश ही अशक्य है, उसके अस्तित्व मे क्या प्रमाण ? कार्य-निर्माण के शक्तिभूत समस्त अनागत धर्मों को भगवान् व्यास ने सर्वशक्तिमान् बतलाया है, अर्थात् समस्त अव्यपदेश्य धर्म सर्वात्मक है। साराश यह है कि समस्त परिणामी पदार्थो मे निहित कार्योत्पत्ति की योग्यता रूप शक्ति ही अनागत धर्म है तथा उसमे समस्त विकार उत्पन्न करने का सामर्थ्य विद्यमान है। सब वस्तुओ मे समस्त कार्यो की उत्पत्ति की योग्यता के विषय मे पूर्वाचार्यो का वचन भी प्रमाण है।[1] उदाहरणार्थ—जल एव पृथ्वी के परिणामभूत रस, गन्धादि का सर्वात्मक वैश्वरूप्य ( असख्य भेदोपभेद ) स्थावरो मे दृष्टिगोचर होता है। नित्यप्रति प्रत्यक्ष अनुभव के विषयीभूत वृक्ष, लता आदि वनस्पतियो के फल, मूल, पत्रादि, मे मधुरता, अम्लता, तिक्तता, सुगन्धता, मृदुत्व, काठिन्य आदि के रूप मे जो अनन्त वैचित्र्य लक्षित होता है, वह जल एव भूमि का ही परिणाम है। इसी भाँति उद्भिज्जभोजी प्राणियो मे वृक्षादि स्थावरो के असख्य पारिणामिक भेद देखे जाते है तथा जगमो के स्थावरो मे परिणाम देखे जाते है। उदाहरणार्थ द्राक्षा, दाडिम-फल आदि के भक्षण से मनुष्यो मे अपूर्व सौन्दर्य एव स्वास्थ्य-वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। यह जगमो मे स्थावरो का परिणाम है। इसी प्रकार स्थावरो मे जगमो का परिणाम भी दृष्टिगोचर होता है।

शका होती है कि जब समस्त वस्तु सर्वात्मक है, तो प्रत्येक पदार्थ से प्रत्येक कार्य, प्रत्येक अवस्था मे उत्पन्न होना चाहिये। किन्तु कार्योत्पत्ति के हेतु केवल कारण की ही उपस्थिति नही, अपितु उपयुक्त सहकारी निमित्तो की भी आवश्यक्ता होती है। यथायोग्य देश, काल, आकार तथा निमित्त रूप सहकारी कारण एकत्र होने पर ही कार्य अभिव्यक्त होता है। अन्यथा उपादान कारण उपस्थित रह कर भी कार्योत्पत्ति मे असमर्थ है। जिस प्रकार केसर की उत्पत्ति का कारण भूमि होने पर भी सर्वत्र उसकी उपलब्धि नही होती। उसके लिये काश्मीर देश रूप सहकारी कारण अपेक्षित है। वही पर केसर उत्पन्न होती है,

१. "जलभूम्यो पारिणामिक रसादि वैश्वरूप्य स्थावरेषु दृष्ट तथा स्थावराणा जङ्गमेषु जङ्गमाना स्थावरेषु।" —(व्या० भा० ३/१४)

सर्वत्र नही । नेत्र के अत्यन्त समीपस्थ देश मे दृष्टि अच्छी नही होती । कालकी अपेक्षा धान्य की उत्पत्ति भी भूमि से ही होती है तथापि वह वर्षकाल रूप सहकारी कारण सापेक्ष है । अतः धान्योत्पत्ति वर्षाऋतु मे ही होती है, ग्रीष्म, शीतादि मे नही । अथवा बालिका सहसा ही तरुणी नही हो जाती है, कालक्रम के अनुसार ही तरुणावस्था का आगम होता है । आकार की अपेक्षा—जैसे गोल साँचे मे वर्गाकार मुद्रा नही ढल सकती है । गाय से गौ की ही आकृति का बच्चा उत्पन्न होता है, मनुष्याकार का नही, क्योकि मनुष्याकृति के प्रसवहेतु संस्थान-विशेष अर्थात् आकृति-विशेष रूप सहकारी निमित्त अपेक्षित है । जीव सुख दुःखादि का कारण है तथापि सुख-दुःखादि की प्राप्ति भी पुण्य-पापरूप निमित्त से ही होती है । पुण्यात्मा को ही सुख तथा पापात्मा को ही दुःख प्राप्त होता है । अतः यद्यपि समस्त अनागत धर्म सर्वात्मक है, तथापि उपयुक्त देश-कालादि सहकारी के अभाव-वश सब वस्तुओ से समस्त देश एव समस्त काल मे समस्त कार्यो की अभिव्यक्ति नही होती है । पूर्वोक्त अभिव्यक्त (वर्तमान) एव अनभिव्यक्त ( अनागत एव अतीत ) धर्मो मे अनुगत सामान्य-विशेषात्मक अन्वयी द्रव्य की ही धर्मी सज्ञा है । वर्तमान धर्म अभिव्यक्त होने से विशेष कहलाता है । अतीत एव अनागत अनभिव्यक्त रहने से सामान्यरूप से स्थित है । अनागत, अतीत एव वर्तमान घटादि धर्मो मे, मृत्तिकादि धर्मी सर्वत्र अनुगत रहने से सामान्य-विशेष उभयात्मक होते है । अतः धर्मी अनुभव-सिद्ध एव धर्मो मे सर्वव्याप्त होने से स्थायी है ।

बौद्ध मत मे यह प्रपच धर्ममात्र एव निरन्वय है । वे धर्मी की सत्ता स्वीकार नही करते । अतः उनके मत मे प्रत्येक क्षण नवीन चित्त की उत्पत्ति होती है, क्योकि वे अनेक धर्मो मे अनुगत एक ही चित्त रूप द्रव्य-सामान्य का अन्वय अस्वीकार करते है । उक्त मत के अनुसार चित्तका धर्मीत्व अस्वीकार कर, उसे धर्ममात्र एव निरन्वय मानने पर भोग की सिद्धि नही होती है । क्योकि जब चित्त क्षणिक है, तो अन्य क्षण मे उत्पन्न होने वाला चित्त पूर्ववर्ती कृत-कर्म फल का भोक्ता कैसे होगा ? कर्म कोई और करे तथा फल कोई और भोगे ऐसा तो होता नही । अतः अपने समस्त धर्मो मे अनुगत एक स्थायी व्यक्ति ही धर्मी होता है । वही प्रथम कर्म करता है, उत्तरकाल मे फल का उपभोग करता है । अन्यथा चित्तवृत्तियो का निरोध अवं क्लेशनिवृत्ति-हेतु योग-साधना भी व्यर्थ सिद्ध होगी । इस प्रकार यह मत अकृत-अभ्यागम तथा कृत-विप्रणाश दोषो से दुष्ट है ।

इसके अतिरिक्त उक्त क्षणिक विज्ञानवाद मे पूर्व-अनुभूत पदार्थ की स्मृति का

भी अभाव होगा, क्योकि अनुभवकर्त्ता तो क्षणिक होने से अनुभवनाश के साथ ही नष्ट हो गया। फिर अन्य क्षण मे समुत्पन्न नवीन चित्त उस पूर्वानुभव से शून्य है। अतः उसे अन्य व्यक्ति-कृत अनुभव की स्मृति कैसे हो सकती है? अन्य के द्वारा अनुभूत विषय का अन्य किसी को स्मरण नही हो सकता—यह निर्विवाद है।

इतना ही नही क्षणिक-विज्ञानवाद मे अभिज्ञानाभाव रूप दोष भी प्रसक्त होगा। वह भी अनिष्ट ही है। एक स्थायी आत्मा न मानने पर किसी वस्तु की उसी रूप मे प्रत्यभिज्ञा नही हो सकती है, क्योकि जिसने प्रथम वस्तुसाक्षात्कार किया था वह विनष्ट हो गया। अतः पुनः उसी वस्तु का सन्निकर्ष होने पर, "यह वही पदार्थ है, जिसे मैने पहले देखा था", इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा नही होनी चाहिये, क्योकि दूसरी बार वस्तु का प्रत्यक्षकर्त्ता प्रथम बार के द्रष्टा से भिन्न है। जिसने प्रथम अनुभव किया हो उसी को प्रत्यभिज्ञा भी होती है, किसी अन्य को नही। अथवा धर्म का अन्यथात्व होने पर भी विविध धर्मो मे अनुगत एक ही द्रव्य रूप धर्मी की प्रत्यभिज्ञा होती है, वह नहीं होनी चाहिये, किन्तु ऐसा होता है। उदाहरणार्थ सुवर्ण-निर्मित कटक, कुण्डलादि समस्त धर्मान्तरत्व-प्राप्त पदार्थों मे एक ही सुवर्ण द्रव्य रूप धर्मी की प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः उसे धर्ममात्र, निरन्वय कह कर प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध वस्तु का अपलाप नही किया जा सकता है। इन सब प्रमाणो के आधार पर सर्व-धर्मानुगत एक स्थायी धर्मी मानना ही युक्तिसगत है।

स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा मे भेद समझ लेना चाहिये। स्मृति केवल सस्कार-जन्य होती है। प्रत्यभिज्ञा, इन्द्रिय-सन्निकर्ष एव सस्कार, उभयजन्य है। स्मृति अनुभव से भिन्न है और प्रत्यभिज्ञा अनुभव-स्वरूप ही है। उदाहरणार्थ—"बहिन की मृत्यु के बाद या बहिन से असन्निकृष्ट अवस्था मे वह मेरी बहिन थी"—इत्याकारक ज्ञान ही स्मृति है तथा "यह वही बालक है, जिसे मैने प्रयाग मे पढाया था" एतद्रूपक प्रत्यक्ष अनुभव प्रत्यभिज्ञा है। उक्त स्मृति एव प्रत्यभिज्ञा उभयात्मक ज्ञान पूर्वापर-स्थायी धर्मी मे ही होते है, क्षणिक मे नही। अतः समस्त जागतिक प्रपंच धर्म-मात्र एव धर्मीशून्य नही है।

× × ×

धर्म एव धर्मी की भिन्न सत्ता सिद्ध हो जाने पर भी, एक धर्मी के अनेक धर्म मानने पर आकस्मिकत्वपत्ति अर्थात् बिना करण के कार्योत्पत्ति की आपत्ति होती है। एक धर्मी का एक ही परिणाम होता है, यह नियम है। अतः एक ही धर्मी से अनेक धर्मोत्पत्ति के विषय मे आपत्ति होती है। भाष्यकार श्री व्यास ने भी इस

विषय में शंकापूर्वक उसका समाधान किया है। "एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्ते क्रमान्यत्व परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति" तात्पर्य यह है कि यद्यपि एक धर्मी का एक ही परिणाम होना है, तथापि क्रम के भेद से परिणामो (धर्मो) मे भी भेद हो जाता है। अतः परिणामान्यत्व का कारण क्रमान्यत्व है। यही सूत्रकार ने भी कहा है।[1] यद्यपि सहकारी कारण का क्रिया मे भेद होने पर ही परिणामो मे भेद होता है, अतः आकस्मिकत्वपत्ति दोप का प्रसग नही उठना है, तथापि विभिन्न क्रिया (क्रम) रूप कारण की उपस्थिति से ही परिणाम ( कार्य या धर्म ) मे भेद देखा जाता है, आकस्मिकरूप से नही। उदाहरणार्थ मृत्तिका से घट के सर्जन एव भर्जन मे, चूर्ण-मृत्तिका, पिण्ड मृत्तिका, घट-मृत्तिका, कपाल मृत्तिका तथा कण-मृत्तिका, इस क्रक से मृत्तिकारूप धर्मी का परिणाम होता है। चूर्णादि प्रत्येक धर्म मे एक मृत्तिका-रूप धर्मी अनुगत है। फिर भी विभिन्न क्रमो के अनुरोध से चूर्णाकार, पिण्डाकार, घटाकार आदि, अनेक परिणाम होते है। उक्त परिणाम-परपरा सर्वानुभूत है। स्पष्ट है कि चूर्ण एव पिण्ड का आनन्तर्यक्रम भिन्न है, पिण्ड एव घट की अन्तरता का क्रम अन्य है तथा घट से कपाल एव कपाल से कण की अनन्तरता का क्रम भी परस्पर भिन्न है। क्रमो के उक्त भेद ही परिणामो की विभिन्नता का हेतु है। अतः दोप नही है। अब देखना है कि यह क्रम क्या है? जिस धर्म का जो परवर्ती धर्म होता है, वही उसका क्रम कहलाता है। दृष्टान्त स्वरूप, पिण्ड के प्रच्युत होने पर घट की उत्पत्ति उसका धर्म-रूप परिणामकम है। अर्थात् पिण्डरूप धर्म अन्तर्हित होने पर घट-रूप धर्मान्तर की अभिव्यक्ति होती है। अतः पिण्ड का अव्यवहित परवर्ती धर्म होने से पिण्डाकार से घटाकार की अभिव्यक्ति धर्म-परिणामरूप क्रम है। मृत्तिका के चूर्णादि पूर्व वर्णित समस्त क्रम भी धर्मपरिणामक्रम के अन्तर्गत ही गण्य है। इसी प्रकार सर्वत्र धर्म-परिणामक्रम योजनीय है।

धर्म-परिणाम-क्रम की भाँति लक्षण एव अवस्था-परिणामो का भी क्रम होता है। घट की अनागतभाव से वर्तमान मे स्थिति उसका लक्षण-परिणामक्रम है। इसी प्रकार पिंड का वर्तमान भाव को त्याग कर अतीतभावापन्न होना भी उसका लक्षण परिणामक्रम है। अनागत का क्रम वर्तमान है और वर्तमान का क्रम अतीत है। अतीत लक्षण का कोई क्रम नही होता है, क्योंकि उसका समनन्तर कुछ भी नही है। पूर्वापरीभाव ही क्रम कहलाता है। अतीत के पश्चात् कुछ भी न होने से, न तो वह किसी का पूर्ववर्ती है, न उसका कोई परवर्ती है। अनागत के

१. "क्रमान्यत्व परिणामान्यत्वे हेतु ।" (यो० सू० ३/१५)

बाद वर्तमान होता है, अतः वह वर्तमान का पूर्व-वर्ती है और वर्तमान उसका परवर्ती है। इसी प्रकार वर्तमान अतीत का पूर्ववर्ती है तथा अतीत उसका परवर्ती है। इस प्रकार अनागत एव वर्तमान की पूर्वपरता युक्त होने से उनका क्रम होता है। अतीत के पश्चाद्भावी का अभाव होने से अतीत का कोई क्रम नही होता है। अतः अनागत एव अतीत इन दो लक्षणो का ही क्रम होता है।

इसी प्रकार अवस्था परिणाम का भी क्रम होता है। नवीन घट की अन्त मे पुराणता दृष्टिगत होती है। अभिनव घट अकस्मात् ही पुराण नही हो जाता है। पुराणता की यह अवस्था क्षण-परम्परा के क्रमानुसार ही प्राप्त होती है। अवस्थान्तर की यह क्रिया प्रतिक्षण होती रहती है, किन्तु क्षण-परम्परा से अवच्छिन्न परिवर्तन का प्रकृत क्रम सूक्ष्मता के कारण ज्ञात नही होता है। घट की पुराणता का सूक्ष्म क्रम जब एकत्र होकर स्थूल रूप धारण करके चरम अवस्था को प्राप्त करता है, तब उसका स्फुट ज्ञान होता है। अतः प्रतिक्षण परिवर्तमान परिणामक्रम का प्रत्यक्ष न होने पर भी घट की अति पुराणता देखकर उसके प्रतिक्षण अवस्थान्तरत्व का अनुमान होता है। उदाहरणार्थ प्रभात मे प्रफुल्लित नवीन पुष्प के प्रतिक्षण कुम्हलाने की क्रिया का अनुभव नही होता है, किन्तु सध्याकाल मे उसे बिल्कुल मुरझाया देखकर प्रतिक्षण इस परिवर्तन का अनुमान होता है। अथवा बाल्य, कौमार, यौवन आदि स्थूल परिवर्तनो को देखकर किसी व्यक्ति के प्रतिक्षण होने वाले अवस्थान्तर का अनुमान होता है, क्योकि अवस्थाओ का विकास क्रमशः ही होता है, अकस्मात नही।

उपरिवर्णित धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणामक्रमो मे से अवस्था-परिणाम-क्रम स्थूलभाव को प्राप्त होने पर ही स्पष्ट प्रतीत होता है। फिर भी अवस्थापरिणाम का क्रम प्रतिक्षण-प्रवर्तित रहता है। धर्म-परिणाम तथा लक्षण-परिणाम सदैव नही होते है। वे कभी-कभी ही प्रवृत्त होते है। अतः धर्म तथा लक्षण-परिणामो से यह अवस्था-परिणाम विशिष्ट होता है।

सारांश यह है कि धर्मी के विविध धर्मों का परिवर्तन अनियमित रूप से अकस्मात् ही नही हो जाता है, वरन् प्रकृति के पूर्ण निश्चित नियमो के सूक्ष्म गणितानुसारी ढग से, क्रमपूर्वक ही परिवर्तन होता है।

आधुनिक युग मे विज्ञान की प्रगति ने भी यह अन्तिम रूप से सिद्ध कर दिखाया है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे गोचरीभूत विविध दृश्यो के पीछे

आधारभूत प्राकृतिक नियम कार्यशील है, जिनके द्वारा प्रत्येक धर्म का ( दृश्यका ) गणित के सूक्ष्मतम नियमो का क्रमवद्ध रीति से सचालन एव नियमन होता है।[1]

अतः प्रत्येक धर्म, लक्षण तथा अवस्था एक निश्चित क्रम के अनुरोध से ही होता है। भले ही उस क्रम का अनुभव सर्व सामान्य को न हो। यह भी स्मर्तव्य है कि उक्त क्रम धर्म एव धर्मी की भिन्न सत्ता की स्थिति मे ही होते है, अन्यथा नही। कारण को धर्मी एव कार्य को धर्म मानने पर ही इस क्रम की उपलब्धि होती है। यह नियम नही है कि किसी वस्तु के धर्मी को प्रत्येक अवस्था मे धर्मी ही कहा जाय, क्योकि कार्य की अपेक्षा ही कारण को धर्मी कहा जाता है। अपने कारण की अपेक्षा से वह भी धर्म ही है। इसी प्रकार कारण की अपेक्षा से ही कार्य की धर्म सज्ञा होती है। अपने कार्य की अपेक्षा वह धर्म भी धर्मी कहलाता है। उदाहरणार्थ मृतिकाघट रूप कार्य की अपेक्षा से धर्मी कहलाती है, किन्तु अपने कारणभूत पृथिवीभूत की अपेक्षा से वह भी कार्य (धर्म) ही है। महत्तत्व-पर्यन्त समस्त धर्म-धर्मी-भाव, कार्य कारण सापेक्ष ही है, एकान्त नियत नही। निरपेक्ष धर्मी तो केवल अव्यक्त प्रधान ही है। वह किसी की विकृति नही है, अतः वही मूल धर्मी है। महत्तत्व से पारभ कर स्थूलभूत पर्यन्त समस्त विकार उसी के विभिन्न परिणाम है।

प्रश्न उठता है कि महत्तत्व से लेकर स्थूल घट-पटादि पर्यन्त समस्त विकार ही जब अपने कार्य की अपेक्षा धर्मी है, फिर मूल-प्रकृति को ही सम्पूर्ण विकारो का धर्मी कहने से क्या तात्पर्य है ?

इसका उत्तर यह है कि प्रकृति से भिन्न पदार्थो मे धर्मित्व का व्यवहार कार्य की अपेक्षा से औपचारिक रूप मे होना है। अतः स्वप्रकृति की अपेक्षा अन्य धर्मियो मे धर्मत्व सिद्ध होने से, उनका धर्मीत्व काल्पनिक है। प्रकृति किसी का भी धर्म न होने से तथा महत्तत्वादि से घटादि पर्यन्त समस्त पदार्थ प्रधान प्रकृति की विकार-परम्परा-मात्र होने से, प्रकृति ही मुख्य धर्मी है। अतः दोष नही है। जगत् मे ऐसा कोई धर्म या विकार नही है, जिसमे प्रकृति तत्व पूर्णतः व्याप्त न हो। अन्य धर्मी स्वकारण मे लय हो जाने से अनित्य भी है। प्रधान ही एकमात्र नित्य परिणामी है।

पहले यह बतलाया जा चुका है कि धर्मी एव धर्म मे भेद रहने पर ही

---

१. द्र०—"साइन्स ऑफ योग"—आई० के० टैमनी, पृ० ३०५ व ३०६।

उक्त परिणाम-क्रम की उपलब्धि होती है। साथ ही उस अवस्था मे धर्म एव धर्मी का एकत्व भी अवास्तविक ही होता है, क्योकि धर्मान्तरत्ववश धर्मी एव धर्म मे किञ्चित् भिन्नता तो अवश्य ही होती है। जिस अवस्था मे वस्तुतः धर्मी मे धर्म का अभेद-उपचार होता है, उस अवस्था मे वह धर्मी ही धर्म भी कहा जाता है और उस समय उक्त परिणामक्रम भी एक (अभिन्न) रूप से ही भासित होता है। ऐसा ही भाष्यकार की "यदा तु परमार्थतो धर्मिणोऽभेदोपचारद्वारेण स एवाभिधीयते धर्मस्तदायमेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते", (व्या० भा० ३/१५) इस उक्ति से भी से भी स्फुट होता है। परमार्थ दृष्टि से अलिग प्रकृति मे पहुच कर ही, धर्म एव धर्मी मे अभेद होता है, उस समय धर्म एव धर्मी मे भेद की स्थापना नही हो सकती है। उस समय केवल यही कहा जा सकता है कि तीनो गुण परस्पर अभिभाव्य अभिभावकता रूप विक्रिया की शक्ति रूप से स्थित है। "शक्तिरूप मे स्थित" कहने का तात्पर्य है— अव्यक्त रूप मे स्थित यह अनुमेयमात्र है। किन्तु कौन किसकी विकारशक्ति के रूप से स्थित है, यह नही बतलाया जा सकता है। क्योकि गुणो की विषम अवस्था मे ही विकार भेद का विवेचन होता है। अव्यक्त अवस्था मे त्रिगुण मे साम्य होता है। अतः परिणामक्रम दृष्टिगोचर नही होता है।

पूर्वोक्त विविध परिणाम केवल बाह्य पदार्थो के ही नही, अपितु, आन्तरिक पदार्थो मे भी होते है। अतएव परिणामक्रम के प्रकरण मे प्रसगतः भाष्यकार श्री व्यास ने, चित्त के धर्म-भेदो का भी प्रतिपादन किया है। 'चित्त के धर्म दो प्रकार के है। प्रत्यक्ष एव परोक्ष। उनमे प्रत्ययस्वरूप अर्थात् प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एव स्मृत्यात्मक धर्म प्रत्यक्ष है। निरोध आदि सस्कारमात्र ( वस्तुमात्र ) स्वरूप अलक्ष्य धर्म है। निरोध आदि वस्तुमात्र ( अलक्ष्य धर्म ) सात प्रकार के होते है—

निरोध, धर्म, सस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा तथा शक्ति।[1] इन सातो का अनुमान एव आगम-द्वारा ही ज्ञान होता है, प्रत्यक्ष रूप से नही।

१ निरोध से असम्प्रज्ञात समाधि कालीन चित्तवृत्तिनिरोध का तात्पर्य है। यह चित्त का धर्म होता है और सस्कारशेष रूप कार्यलिगक अनुमान तथा योग-विज्ञान के शास्त्र-द्वारा ज्ञात होता है।

---

१ "निरोध धर्म सस्कारा परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टाशक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिता ॥इति॥" (व्या० भा० सू० ३-१५)

२ धर्म शब्द त्रिविपाक सस्कारभूत पुण्य एव पाप का द्योतक है। चित्त का पुण्य-अपुण्य रूप धर्म भी सुख-दुःखादि कार्यलिंगक एव आगम द्वारा ही विदित होता है, इसका प्रत्यक्ष नही होता।

३ चित्त का सस्काररूप धर्म स्मृति रूप कार्य के द्वारा अनुमित होता है। वासनारूप स्मृति-फल से सस्कार का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। इसका भी साक्षात्कार नही होता है और अनुमान एव आगम-द्वारा ही इसकी भी सिद्धि होती है।

४ जिस अलक्ष्यक्रम से चित्त प्रतिक्षण परिणत होता है, वही उसका परिणाम है। चित्त त्रिगुणात्मक है तथा त्रिगुण सर्वदा चचल-स्वभाव रहते है। अतः गुणो के स्वभाव्य से विवश चित्त भी सर्वदा परिणामशील ही है। किन्तु इसका यह परिणाम-क्रम अति सूक्ष्म होने से अनुभूत नही होता। अतः इस परिणाम का भी अनुमान एव आगम से ही सत्व ( सत्ता ) सिद्ध होता है।

५. प्राणवृत्ति को जीवन कहते है। यह भी अज्ञातरूप से होने वाला प्रयत्न विशेष है। चित्त के प्राणधारणरूप धर्म का श्वास-प्रश्वास की क्रिया से अनुमान होता है।

६ चेष्टा-शब्द से इन्द्रिय-सचालिका चित्त की क्रियारूप चेष्टा ग्राह्य है। चित्त की चेष्टा के बिना इन्द्रिय-सन्निकर्ष नही होता और इन्द्रिय-सन्निकर्ष के बिना ज्ञान नही होता है। चित्त की इच्छारूप चेष्टा ज्ञात होती है। किन्तु इच्छा उत्पन्न होकर बाद मे किस प्रकार वह शक्ति कर्मेन्द्रिय मे आती है, इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव नही होता है। अतः ज्ञान प्राप्ति के हेतु तद् तत् इन्द्रियो के सयोग से चित्त की चेष्टा अनुमित होती है तथा शास्त्र से भी ज्ञात होती है।

७ शक्ति–सत्कार्यवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य अभिव्यक्ति से पूर्व भी सूक्ष्म रूप से कारण मे विद्यमान रहता है। प्रत्येक क्रिया की यह योग्यता रूप सूक्ष्म अवस्था शक्ति नाम से कही गई है। स्थूल राग-द्वेषादि के दर्शन से चित्त मे उनकी सूक्ष्मरूपेण स्थिति सिद्ध होती है। सूक्ष्म राग-द्वेषादि का भी प्रत्यक्ष नही होता है, किन्तु उनकी

स्थूल अवस्था को देखकर उनकी शक्ति रूप से स्थिति अनुमित होती है। शास्त्रो-द्वारा भी उनकी सूक्ष्म वर्तमानता प्रमाणसिद्ध है।

यम-नियमादि समस्त योगागो पर अधिकार-प्राप्त योगी को अभीप्सित वस्तु मे सयम करने से, उस वस्तु का सम्यक् साक्षात्कार होता है। प्रकृत प्रसग मे पूर्व वर्णित धर्म, लक्षण तथा अवस्था-परिणामभय मे सयम ( धारणा, ध्यान एव समाधि ) करने से समस्त अतीत एव अनागत पदार्थो का साक्षात्कार होता है।[1]

समाधि-प्रज्ञा मे चित्त अत्यन्त निर्मल होता है। अतः उस काल मे भावित प्रत्येक वस्तु स्फुटतः प्रकाशित होती है। त्रिपरिणामक्रम मे सयम-शक्ति का प्रयोग करने से त्रिकालवर्ती समस्त सूक्ष्म-व्यवहित वस्तुओ का स्फुट साक्षात्कार होता है। अतः सयम का विषयीभूत तत्व जिस क्रम से जिस-जिस अवस्था को प्राप्त करता हुआ वर्तमान स्थिति को पहुचा है और भविष्य मे जिन अवस्थान्तरो को, जितने काल मे पहुँचेगा, उन सबका भेद-प्रभेद पूर्वक यथार्थ साक्षात्कार होता है।

सामान्य प्रज्ञा से भी हेतु-द्वारा अनुमान कर किसी सीमा तक अतीत एव अनागत विषयो का ज्ञान होता है। किन्तु सामान्य प्रज्ञा से प्राप्त ज्ञान भी सामान्य ही होता है। सयम-शक्ति से उसके हेतु-द्वारा गम्य विषय एव उसकी परम्परा का भी विशिष्ट परिज्ञान होता है।

योग की इन प्राप्तियो (सिद्धियो) के विषय मे जन-सामान्य की पहुँच न होने से इनका उन्हे विश्वास नही होता है। फिर भी योगी के प्रत्यक्ष अनुभव से प्रमाण-सिद्ध वस्तु का अपलाप नही किया जा सकता। इस विषय मे शास्त्र आदि भी प्रमाण है। वर्तमान युग के दिव्यदृष्टि (Clair Voyance), मानसिक सक्रमण (टेलीपैथी) ब्रह्म-वाद (स्प्रिचुवलिज्म)[2] इत्यादि सामान्य प्रयोगो द्वारा भी यह प्रमाणित हो चुका है कि

१. "परिणामत्रयसयमादतीतानागतज्ञानम्।" (यो० सू० ३/१६)

२ Clair Voyance (दिव्यदृष्टि)—पाश्चात्य विज्ञानियो की सम्मोहन शक्ति के बल से पात्र को प्रयोगकर्त्ता अपनी इच्छा-शक्ति से सम्मोहन-निद्रा मे साकार "तुम दिव्य दृष्टि सम्पन्न हो गए हो, तुम प्रत्येक वस्तु का साक्षात्कार कर सकते हो, प्रत्येक गुप्त बात को बतला सकते हो" इत्यादि प्रकार के आदेश देता है। तत्पश्चात् वह पात्र प्रत्येक पूछी हुई गुप्त बात का उत्तर देता है और उत्तर ठीक भी होते है। प्रारम्भ मे दिव्य-दृष्टि को क्रमश बढाया जाता है। पहले कमरे की वस्तुओ के विषय मे, फिर अन्य

—आगामी पृष्ठ पर

स्थूल नेत्र, कर्ण, नासिका आदि ही ज्ञानप्राप्ति के एकमात्र माध्यम नही है। इनके परे भी ज्ञानशक्ति का कोई आधार है, जिसके द्वारा उच्चतर एव सूक्ष्मतर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। कभी कभी यथार्थ स्वप्नो-द्वारा भावी घटनाओ की पूर्वसूचना मिल जाती है। इससे चित्त मे भविष्य-ज्ञान की योग्यता की सत्ता (सत्ता) सिद्ध होती है। जब चित्त मे भूत-भविष्य के ज्ञान की शक्ति विद्यमान है, तो अवश्य ही साधन-बल से उसे अविकृत किया जा सकता है। न्यूटन ने सेब के पतन को देख कर गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का अविष्कार किया था। इसी प्रकार यदि जीवन के किसी सफल स्वप्न का तत्वानुसधान किया जाय, तो सम्भव है कि यौगिक नियम एव युक्तियाँ जन-सामान्य को ज्ञानगम्य हो सके। अतीत एव अनागत का ज्ञान एक स्वाभाविक सत्य है। जिस प्रणाली-द्वारा उनका स्फुट ज्ञान हो सकता है, वही परिणाम-त्रय का सयम है।

---

(गत पृष्ठ का शेषाश)

स्थानो तथा समाचारो और अन्त मे दूर देशो की गुप्त बातो को मालूम किया जाता है। पहले इसका प्रयोग छोटे बालको पर तथा अन्त मे प्रत्येक बडे मनुष्य पर किया जा सकता है।

Telepathy (मानसिक सक्रमण)—इस प्रयोग मे दो प्रयोगकर्त्ता भिन्न-भिन्न स्थानो मे बैठकर एक ही निश्चित समय पर ताल-युक्त प्राणायाम आदि करके, एक समाचार (मैसेज) भेजता है और दूसरा उसे ग्रहण करता है। तालयुक्त प्राणायाम हाथ की कलाई मे अगूठे की ओर नब्ज देखने वाली नाडी की धडकन की गति पहिचानने मे अभ्यस्त होने पर किया जा सकता है। इसमे सुखासन मे बैठ कर उस नाडी की गति को १ से ६ तक गणना-पूर्वक पूरक, १ से ३ तक आभ्यन्तर कुम्भक तथा पुन १ से ६ तक गिन कर रेचक, फिर १ से ३ तक गिनकर बाह्यकुम्भक किया जाता है। इस प्रकार यह एक प्राणायाम कहा जाता है। मात्राओ को क्रमश यथाशक्ति बढाकर इसी प्रकार के प्राणायाम करने चाहिये। यह प्राणायाम अनुलोम-विलोमरीति से भी किया जा सकता है। इसके अभ्यास से मन एकाग्र करके बेतार के तार वाले यन्त्र ( वायरलेस टेलीग्राम ) अथवा रेडियो ( रेडियो ) की भाँति दूर देश मे स्थित दो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से तालयुक्त होकर, अपनी विचार तरङ्गो को एक दूसरे तक पहुँचा सकते है।

**स्प्रिचुलिज्म ( ब्रह्मवाद )**—पान के आकार का लकडी का पतला तख्ता जिसके दोनो ओर धातु के दो पहिये तथा किनारे पर पेंसिल लगी होती है—प्लानचेट कहलाता है। प्लानचेट पर अगुली रखने से उनकी मैगनेट-पावर से वह घूमने

—आगामी पृष्ठ पर

शका हो सकती है कि सयम के विषय का ही साक्षात्कार होता है, अन्य विषय का नही। प्रकृत स्थल मे सयम का विषय तो परिणामत्रय है, फिर उससे अतीत एव अनागत का किस प्रकार ज्ञान हो सकता है ? जैसे घट-सयुक्त नेत्रो से घट का ही ज्ञान होता है, किसी अन्य वस्तु का नही। इसका समाधान यह है कि परिणामत्रय के सयम से, उन परिणामो मे विद्यमान रहने से अतीत, अनागत आदि समस्त धर्मो का भी साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार घट-सयुक्त चक्षु से घटज्ञान के साथ-साथ, घट के रूप, रग आदि का प्रज्ञान होता है, उसी प्रकार धर्म, लक्षणादि परिणाम-त्रय के सयम से, उन परिणामो के साक्षात्कार के साथ ही—उन परिणामो मे वर्तमान सूक्ष्म-व्यवहित अतीत, अनागत, आदि का भी प्रत्यक्ष होता है। अतः कोई दोष नही है।

---

(गतपृष्ठ का शेषाश)

लगती है। प्लानचेट द्वारा मृत आत्माओ को बुलाकर समाचार मालूम किये जाते है। प्रयोगकर्त्ता के चित्त की एकाग्रता एव हृदय की शुद्धता को अपेक्षानुसार, उसमे पूछे हुये प्रश्नो के ठीक-ठीक उत्तर प्राप्त होते है। इसी प्रकार हाथ की अगुलियो मे पेसिल पकड कर कर कागज पर रखने से सम्बद्ध पेसिल जब अगुलियो की मैगनेट पावर से चलती है, तब भी चित्त शुद्धि के क्रमानुसार बहुधा ठीक उत्तर मिलते है। इसी तरह छोटी टेबिल पर कइ प्रयोगकर्त्ता एकाग्रतापूर्वक विशिष्ट विचारो के साथ-हाथ की अगुलियाँ रखते हे। अगुलियो की विद्युत-शक्ति (परसनल मैगनेटिज्म) के द्वारा, उस मेज का एक एक पाव उठता है और इस तरह प्रयोगकर्त्ताओ की चित्तशुद्धि के अनुसार उनके प्रश्नो के उचित उत्तर मिलते हे।

प्लानचेट अथवा किसी मीडियम (पात्र)—द्वारा मृत आत्माओ (स्प्रिट्स) को बुलाकर, इस प्रकार मालूम किये जाने वाले समाचारो मे अधिकाश, प्रयोगकर्त्ता के स्वय के ही विचार होते है। प्लानचेट-विद्युत (मैगनेट)—शक्ति से उन्ही की विचारधारा आवर्तित होती है और मीडियम अपने ही विचार व्यक्त करता है। आकाश (ईथर) मे प्रत्येक विचार तरङ्गित रहते है। अत कभी-कभी उच्च दिव्यदृष्टि सम्पन्न व्यक्ति-जिस मृत व्यक्ति की आत्मा बुलाई जाती है—उसके विचार भी ग्रहण करने लगता है। कभी-कभी कोई व्यक्ति मृत्यु के समय अपने किसी दूरस्थ सम्बन्धी से कुछ बातें कहना चाहता हे, पर बिना कहे मृत्यु हो जाती है। ऐसी अवस्था मे उसके वे विशेष विचार उसकी प्रबल शक्ति-वश किसी न किसी मे उस व्यक्ति तक पहुच जाते हे।

## (५) विविध सयमो का ज्ञान ।

सूत्रकार ने जिस क्रम से सयम के विविध विषयो का उपस्थापन किया है, उसमे सर्वप्रथम परिणामत्रय के सयम का पिछले शीर्षक मे वर्णन हो चुका है। तदनुसार सयम का दूसरा विषय शब्द, अर्थ एव ज्ञान के विभागो का सयम है। शब्द अर्थ एव ज्ञान मे पारस्परिक अध्यास होने से उनकी अभिन्न प्रतीति होती है, इन तीनो के विभागो मे सयम करने से पशु-पक्षी आदि समस्त प्राणियो की भाषा का ज्ञान हो जाता है।[1] प्रकृत स्थल मे शब्द से अभिप्राय अर्थयुक्त वर्णसमूह का है, जिसका जिह्वा द्वारा उच्चारण एव श्रोत्रेन्द्रिय से श्रवण होता है। जैसे वक्ता के वागिन्द्रिय मे वर्त्तमान "गो" शब्द।

इसका दूसरा विभाग है अर्थ। अर्थ अर्थात् वाच्य या उच्चरित शब्द का विषय, जैसे "गो" का अर्थ है, सास्नादि युक्त पशुविशेष, जो गोचर गौशाला आदि मे रहता है।

तीसरा विभाग है प्रत्यय या ज्ञान, जिसका अर्थ शब्द एव अर्थ की वक्ता एव श्रोता के मनोभाव स्वरूप, विषयाकार चित्तवृत्ति है। जैसे गौ शब्द एव अर्थ का ज्ञान कराने वाली वक्ता एवं श्रोता की मनोगत चित्त-वृत्ति।

इस प्रकार शब्द, अर्थ एव ज्ञान ये तीनो परस्पर अत्यन्त भिन्न सत्तावान् है। क्योकि गो शब्द वक्ता के वागिन्द्रिय मे रहता है, "गो" अर्थ गोचर, गोशाला आदि मे रहता है और "गो" का ज्ञान वक्ता एव श्रोता के मन मे रहता है। इस प्रकार इन तीनो के सर्वथा भिन्न होने पर भी अभिधान साम्यवश एव सतत् अभ्यासवश अध्यास के कारण उनमे व्यवहार सांकर्य की प्राप्ति होती है। अर्थात् परस्पर एक मे दूसरे का आरोप होता है और उनकी अभिन्न प्रतीति होती है। इन तीनो को अभिन्न न समझ कर शब्दार्थप्रत्यय के विवेकज्ञानपूर्वक, उनके विभागो अर्थात् केवल शब्द, केवल अर्थ और केवल ज्ञान मे अलग-अलग सयम करने से समस्त प्राणियो की वाणी (भाषा) का ज्ञान हो जाता है।

---

१ "शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सकरस्तत्प्रविभागसयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्"।
( यो० सू० ३-१५ )

इस विषय के स्पष्टीकरण-हेतु शब्द के विविध प्रकारो का ज्ञान आवश्यक है। शब्दो के तीन प्रकार है—वर्णात्मक, ध्वन्यात्मक तथा स्फोटात्मक।

१. क, ख, ग, घ इत्यादि वर्णों से निर्मित वाणीजन्य शब्द वर्णात्मक कहलाते है।

२ ध्वनि ही जिनकी आत्मा है, ऐसे शख आदि के शब्द, ध्वन्यात्मक कहलाते है। इन्ही का दूसरा नाम नादात्मक शब्द भी है। ये यत्नपूर्वक प्रेरणा की गई उदान वायु के एक प्रकार के विशिष्ट परिणाम हैं। ये ही एक के बाद एक शब्द के तरग-क्रम को उत्पन्न करते हुए श्रोता के कर्णेन्द्रिय तक पहुँचते है।

३. अर्थस्फुरण का हेतुभूत बुद्धिमात्र से ग्राह्य शब्द स्फोटात्मक कहलाता है। "स्फुटत्येर्थोऽस्मादिति स्फोटः", इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस शब्द के द्वारा अर्थ स्फुटित से, यह स्फोट कहलाता है। यह नित्य, निरवयव एव अक्रम होता है।

भाष्यकार श्री व्यास ने इस प्रसग मे, साख्य-सम्मत शब्दार्थ-तत्व को अत्यन्त सारयुक्त एव युक्तिसगत रीति से विभागपूर्वक समझाया है।

वाक् इन्द्रिय क, ख, ग इत्यादि वर्णों का उच्चारण मात्र करती है। मानवीय भाषा सामान्य तौर पर इन्ही वर्णो मे एक से अधिक प्रत्येक के सयोग से निष्पादित होती है। अतः ये वर्ण ही शब्द एव वाक्य के मौलिक विभाग है। इन आकारादि समस्त वर्णो के शरीर मे आठ उत्पत्ति-स्थान बतलाए गए है—उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, (दन्तमूल), नासिका, ओष्ठ एव तालु।[1]

इनसे वागिन्द्रिय के व्यापार की शरीर के अन्दर ही सिद्धि होती है, बाह्य देश मे नही। अतः शब्दोत्पत्ति के अनन्तर श्रोता के श्रोत्र एव बुद्धि से ग्राह्य शब्द वाक् इन्द्रिय के व्यापार नही होते, क्योकि वक्ता का वाक्यत्र श्रोता के श्रोत्रादि देश से असम्बद्ध है। इसी दृष्टि से भाष्यकार ने कहा है कि वाणी वर्णो मे प्रयोजवती है, अर्थात् केवल वर्णोत्पति ही वाणी का विषय है। वाणी का विषयभूत शब्द ही वर्णात्मक कहलाता है।

---

१. "अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर कण्ठ शिरस्तथा।
जिह्वामूल च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥" ( पाणिनीय शिक्षा )

शब्दो के अकारादि वर्णात्मक विभाग के अतिरिक्त क्रन्दन आदि शब्दो का भी युक्तिपूर्वक वर्णविभाग किया जा सकता है। बैलगाडी, घोडागाडी के सचालन मे उनके भगाने, रोकने और पुचकारने आदि के हेतु प्रयुक्त होने वाले वर्णात्मक शब्द इसी कोटि के अन्तर्गत आते है। बैल एव घोडो के सचालन आदि के लिये सभी सचालक कुछ निश्चित शब्द-सकेतो का ही प्रयोग करते है। उक्त अक्षर-सकेत को लेखबद्ध देख कर विज्ञ-व्यक्ति उसके ह्रस्व, दीर्घ उच्चारण-द्वारा कुशलतापूर्वक, उक्त पशु-सचालन कर सकता है। पशु आदि के लिए सकेतित वर्णोच्चारण प्रायः सामान्य क, ख आदि वर्णो से भिन्न होता है। गो-वत्स आदि के वार्तालाप मे ह्रस्व, दीर्घ इत्यादि शब्दो का उच्चारण एव तदनुसार उनके व्यवहार को देख कर भी उनकी भाषा का अनुमान होता है। गो, वत्स आदि के उक्त शब्द भी वर्णो के इस विभाग मे गणनीय है। प्राणी-द्वारा उच्चारित शब्द इसी प्रकार के वर्णस्वरूप है। जिस प्रकार रूप के सात मौलिक वर्णों के विविध सयोग से समस्त रग बनते है, उसी प्रकार मौलिक वर्णो के विभिन्न क्रम-सयोग से समस्त प्रकार के शब्द एव वाक्य निर्मित होते है। ये सभी वागिन्द्रिय के ही विषय है। वक्ता-द्वारा उच्चारित शब्द किसी बाह्य विषया-भिघातजन्य वृत्ति अथवा स्मृति की अभिव्यक्ति स्वरूप होते है।

कान केवल ध्वनि के परिणाम को विषय करते है। ध्वनि का परिणाम भी अन्य ध्वनि ही है। अतः वर्ण का उच्चारण वाक् इन्द्रिय करती है और उससे उत्पन्न ध्वनि को कान ग्रहण करते है। वर्णसमूह का उच्चारण एक साथ नही हो सकता है। एक-एक कर जिस क्रम से वाणी-द्वारा वर्ण उच्चारित होते है, उसी क्रम से तज्जन्य ध्वनि-परिणाम का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है। वाणी-द्वारा कोई भी शब्द उच्चरित होने पर उससे ध्वनि की तरग उत्पन्न होती है, उस तरग से दूसरी ध्वनि-तरग उत्पन्न होती है। शब्द अथवा ध्वनि क्रम की यह धारा उदानवायु का परिणाम-स्वरूप होती है—श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द का ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध है। अतः शब्द की तरगो का यह प्रवाह कर्णेन्द्रिय से गृहीत होता है। श्रोत्रग्राह्य शब्द भी शब्दार्थ का बोधक नही है, क्योकि कर्णेन्द्रिय भी वर्णध्वनि को क्रमशः असम्बद्धरूप मे ग्रहण करती है। अर्थ का स्फुटीकरण बुद्धि का कार्य है, श्रोत का नही। कर्ण-ग्राह्य शब्द ही ध्वन्यात्मक या नादात्मक शब्द कहलाता है।

पद वर्णो का समष्टि रूप होता है। यह बुद्धि का विषय है। कई वर्णो को मिला कर एक पद बनता है। पद के उच्चारण के समय पदान्तर्गत समस्त वर्ण क्रमशः ही उच्चरित होते है। अतः उच्चारण के समय प्रत्येक वर्ण क्रमशः उत्पन्न एव

विलीन होते है। इस प्रकार पद का एकत्व, न तो वागिन्द्रिय का विषय है, न श्रोत्रेन्द्रिय का, वरन् यह एकत्व मानसिक ही होता है। पदान्तर्गत समस्त वर्णो के उच्चारण एव श्रवणोपरान्त तत्सस्कारजन्य मानसिक प्रतिक्रियारूप ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, जो प्रत्येक वर्ण को विषय करके उसे एकसाथ ग्रहण करती है। पद से उत्पन्न इस एकीभूत बुद्धि के द्वारा ही अर्थ, स्फुट होता है। अतः इस बुद्धि के उस अवर्ण और अर्थज्ञान मे सहायक तत्व को पदस्फोट कहते है। यही पूर्वोक्त स्फोटात्मक शब्द है, जिस स्फोटात्मकता के कारण, इस विचारधारा को स्फोटवाद कहते है।

वर्णों मे पद की भ्रान्ति नही करनी चाहिये, क्योकि जैसा पहले भी बतलाया जा चुका है, समस्त वर्णोच्चारण एकसाथ असभव है। उनमे पूर्वापरी भूत क्रम अवश्यम्भावी है। एकसाथ न रह सकने से वे परस्पर असह्ययोगी है। अतः वर्ण आविर्भूत होकर पदत्व-प्राप्ति के पूर्व अर्थ को स्पष्ट किये बिना ही तिरोहित हो जाते है। इन वर्णों के सयोग से ही पद बनता है, अतः ये पद के उपादान है। किन्तु व्यक्ति रूप से प्रत्येक वर्ण अपदस्वरूप है। वर्णो के सयोग बहुत प्रकार के हो सकते है। अतः तज्जन्य पद भी असख्य हैं।

शका हो सकती है कि जब प्रत्येक वर्ण ही अपदस्वरूप है तो क्रम विशेष मे आबद्ध वर्णसमूह का किसी अर्थ के वाचकरूप मे सकेत क्यो किया जाता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि वर्ण पद से भिन्न है, फिर भी अवस्था एव अवस्थावान् मे किंचित् अभेद भी होता है। अतः वृक्ष के बीज एव अँकुर की भांति वर्ण एव पद मे अभेद-सत्ता भी कल्पनीय है। बतलाया जा चुका है कि वर्ण पद के उपादानभूत है। कोई भी पदार्थ अपने उपादान से सर्वथा भिन्न नही होता। जैसे घट मृत्तिका-भिन्न होने पर भी मृत्तिका उपादान होने से घट को मृत्तिका से सर्वथा भिन्न नही कहा जा सकता। साथ ही घटाकार मे अपरिणत मृतिका को घट भी नही कहा जा सकता है। इसी प्रकार मौलिक रूप मे वर्ण पदस्वरूप नही है, किन्तु अनेक वर्णो को किसी क्रम विशेष मे स्थापित कर किसी अर्थ विशेष का बोधक वर्णो (सकेत के बल पर) बनाया जाता है। अतः उक्त रीति से समस्त वर्ण क्रमविशेष मे स्थित होकर, समस्त पदार्थो के वाचक वन सकते है।

बाह्य दृष्टि से प्रत्येक स्थूल वर्ण भिन्न होने पर भी, उनमे अन्तरग ऐक्य है। जिस उपादान के द्वारा प्रत्येक वर्ण की अभिव्यक्ति होती है, वह एक ही मूलप्रकृति है। प्रत्येक वर्ण की सर्ववर्णात्मकता तथा सर्वाभिधान-सामर्थ्य के मूल मे भी यही रहस्य है। स्थूलरूप मे कार्य की अभिव्यक्ति-हेतु, एक वर्ण का दूसरे वर्ण के साथ

सघटन किया जाता है। किन्तु योगी जब किसी वर्ण की ओर अन्तर्मुखी दृष्टिपात करता है, तो वह समस्त वर्णो की उक्त मूलप्रकृति का ही साक्षात्कार करता है।[1] इस प्रकार वर्णों मे सर्वाभिधान की योग्यता है।

प्रत्येक वर्ण अपने अन्यान्य वर्णो के साथ, भिन्न-भिन्न क्रम से सम्बद्ध होकर मानो असख्यरूप धारण करता है। विभिन्न पदो मे पूर्व वर्ण उत्तर वर्ण के साथ तथा उत्तर-वर्ण पूर्व वर्ण के साथ क्रम विशेष से सम्बद्ध होकर अखण्ड पदस्फोट विशेष मे तादात्म्य प्राप्त करता है। उक्त रीति से आनुपूर्वी विशेष-सापेक्ष बहुत से वर्ण, अर्थ सकेत से नियमित होकर दो, तीन, चार, पॉच इत्यादि किसी भी सख्या मे सर्वाभिधान शक्ति-सम्पन्न होते है। उदाहरणार्थ—"गोः" इस पद मे गकार, औकार तथा विसर्ग इस क्रम से व्यस्थापित तीनो वर्ण मिलकर सास्ना आदि-सम्पन्न "गोः" प्राणी रूप अर्थ का सकेत करते है। एकवार्णिक पद मे इस क्रम का कोई प्रयोजन नही होता है।

भाव यह है कि गकारादि प्रत्येक वर्ण भिन्न रूप से पद नही है। अतः वे "गोः" प्राणी के अर्थबोध की शक्ति से विहीन है। फिर भी एक निश्चित आनुपूर्वी से सयुक्त वर्णत्रय पदत्वलाभ करते है। इस प्रकार वे "गो" प्राणी रूप अर्थ के बोधन मे समर्थ लगते है। अतः वर्णो-द्वारा अर्थसकेत के विषय मे आपत्ति नही होनी चाहिये।

वर्णो के सयोग-क्रम के भेदानुसार पद भी असख्य होते है। पद प्रायः अनेक वर्णो के सयोग से ही निर्मित होते है, यह पहले बतलाया जा चुका है। अतः अनेक वर्ण एक साथ नही, वरन् क्रमशः ही उच्चरित होते है। विलीयमान, एव प्रकट हुए द्रव्यो का वास्तविक समाहार नही होता है। साथ ही पद मे उच्चरित एव श्रुत समस्त ध्वनिक्रम को एकत्र किया जाता है। अतः प्रकृत पद, उस एकीभूत बुद्धि से निर्भास्य, मनोभावमात्र सिद्ध होता है। यह पद वर्ण ध्वनि के पूर्वापराक्रम से रहित-समूहस्वरूप होता है। बुद्धि-द्वारा वर्ण समूह को, ध्वनिसस्कारो द्वारा पद के रूप मे क्रमबद्ध करके एकत्र करना, नादानुसहार कहलाता है। इस प्रकार नादानुसहार-पूर्वक, बुद्धि-द्वारा प्रकाश्य पद ही, अर्थ-सकेत रूप वाचक कहलाता है।

बुद्धि-ग्राह्य मानस-पद, वाणी के द्वारा अभिव्यक्त वर्णावयवसमूह स्वरूप पद के समान क्रमिक एव विभाजनीय नही होता है, क्योकि उच्चारित पद मे प्रत्येक वर्ण क्रमानुसार लय एव उदय होता है, किन्तु मानस पद एक ही प्रयत्न से निष्पन्न तथा एक ही बुद्धि का विषय होता है। बौद्ध पद के एक बुद्धि-विषयत्व मे अनुभव

---

१. द्र०—"भा० सस्कृति और साधना"—प० गोपीनाथ कविराज, पृष्ठ १६५।

प्रमाणभूत है। उच्चार्यमाण वर्णावयव-समूहस्वरूप पद वर्णो के लयोत्पत्तिशीलत्व के कारण अनेक बुद्धि का विषय है। मानसपद बुद्धि से एक साथ अनुभूत होता है। बुद्धि से अनुभवगम्य विषय वर्तमान ही होता है, लीन नही। अव्यक्त रहने के कारण किसी वस्तु का ज्ञात न होना ही उसकी लीन अवस्था है। मानस पद एक प्रयत्न से साध्य है, ऐसा नित्य प्रति अनुभव होता है। अतएव यह पद एक प्रयत्नाक्षिप्त, अविभाज्य, अक्रम, वर्णभिन्न तथा बुद्धि मात्र से ग्राह्य है। इसकी अभिव्यक्ति उच्चारित पदस्थ अन्तिम वर्ण के प्रत्ययरूप व्यापार से होती है। वर्णक्रम सुनते समय प्रत्येक वर्ण के विविक्त ज्ञान के साथ-साथ क्रमशः चित्त पर उसके सस्कार भी पडते जाते है। इन सस्कारो से स्मृति होती है। इस प्रकार इन समस्त सस्कारो को स्मृति-द्वारा एकत्र करके उपस्थापित करने से बौद्ध पद का निर्माण होता है।

अर्थबोधक बुद्धि-निर्मित पद स्वय अवर्ण होने पर भी दूसरे को उसका बोध कराने पर वर्णो का आश्रय ही ग्राह्य है। अपने श्रवणाज्ञान के क्रमिक सस्कारो से वर्णो द्वारा ही उस ज्ञान का भाषण होता है।

इस बौद्धिक पद का व्यवहार शब्दार्थ-प्रत्यय के सकर-स्वरूप से ही होता है, क्योकि सकेत अध्यासस्वरूप ही है। "यह प्राणी गौ है", "गौ सास्ना आदि से युक्त प्राणी होता है", इत्याकारक इतरेता-अध्यास या आरोप स्वरूप स्मृति ही सकेत कहलाती है। तु० गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरितिज्ञानम् (महाभाष्य, पस्पशा)।

मानव प्रकृति अनादि वाग्व्यवहार की वासना से वासित है। अतः उपयुक्त सस्कार उपस्थित होने पर मानव-शिशु सहज ही वाक्-व्यवहार सीख जाता है। यह शिक्षा मूलतः श्रवण द्वारा ही होती है। बालक को जिस रूप मे पद का ज्ञान होता है, उसी रूप मे पद के अर्थसकेत का भी। शब्द, अर्थ एव प्रत्यय के पारस्परिक अध्यासात्मक, लोक-व्यवहार की वासना चित्त मे अनादिकाल से विद्यमान रहती है। अतः शिशु शब्दार्थप्रत्यय को सहज ही अभेदज्ञानपूर्वक सिद्धवत् ग्रहण करता है। यह शिक्षा सर्वप्रथम वयोवृद्ध व्यक्तियो द्वारा ही प्राप्त होती है। शिशु गुरुजनो को इसी प्रकार की अध्यासात्मक भाषा का प्रयोग करते देखता है, पुनः स्वय भी इन तीनो का सकीर्ण रूप से प्रयोग करता है।

शब्द-व्यवहार सकेतमूलक होता है। अतः अर्थ-भेद की व्यवस्था सकेत-द्वारा ही सिद्ध होती है। जन-सामान्यगम्य भाषा के प्रयोग के हेतु स्थूल रूप से वर्णो के सकेत-द्वारा पद-समूह का विभाग किया जाता है। अर्थात् "इतने वर्ण-समूह-विशेष

से यह पद निर्मित हुआ" एव "इस पद के द्वारा इस अर्थ का सकेत किया, इस शब्द का यह अर्थ वाचक है" इत्यादि रूप से किसी न किसी व्यक्ति-द्वारा पद एव अर्थ का सकेत किया जाता है।

इस प्रकार पद (शब्द), पदार्थ एव स्मृत्यात्मक प्रत्यय तीनो मे पारस्परिक अध्यारोपवश सकर होता है। सकर-प्रावल्यवश उनका विवेचन नही किया जा सकता है। इस तीनो के प्रविभागो का ज्ञाता ही इस विषय का सर्ववित् कहा जाता है। योगी समाधि-द्वारा विभागपूर्वक इनका असकीर्ण साक्षात्कार करते है। इस प्रकार निर्वितर्का प्रज्ञा-द्वारा उन्हे समस्त प्रकार के पदो का अर्थज्ञान हो जाता है। बतलाया जा चुका है कि केवल शब्द मे समाधि लगाने पर शब्द मात्र निर्भासित होता है। इसी प्रकार केवल अर्थ या केवल प्रत्यय मे ध्यान लगाकर समाहित होने पर अर्थमात्र अथवा प्रत्ययमात्र का निर्भास होता है। इसी भाँति भावना-प्रवीण योगी किसी से भी अज्ञात-अर्थयुक्त शब्द का श्रवण करके, उस शब्द मात्र मे सयम-द्वारा उच्चारणकर्त्ता के वाग्यत्र मे प्रवेश करता है। वहाँ से पुनः वाक्यत्र के प्रतोजकस्वरूप वक्ता के अन्त.करण (मन) मे प्रविष्ट होता है। इस प्रकार वक्ता का मन जिस प्रयोजन से वाक्यो-च्चारण के हेतु प्रेरित होता है, उसका अर्थज्ञान योगी को हा जाता है।

वाक्य से क्रियापदयुक्त पद समूह विशेष का तात्पर्य समझना चाहिए। वाक्यशक्ति—अर्थात् वाक्य के द्वारा गम्य अर्थ को समझाने की शक्ति। उक्त वाक्य-शक्ति सभी पदो मे रहती है। किसी भी एक पद का उच्चारण करने पर किसी न किसी रूप मे उससे अभिहित पदार्थ की "सत्ता" ("है", "था" आदि) का बोध होता है। "है", "था" इत्यादि प्रकार की क्रियायुक्त वाक्यवृत्ति ही शक्ति (वाक्यशक्ति) कहलाती है। उदाहरणार्थ "वृक्ष" ऐसा कहने से "है" "था" अथवा भविष्य मे "होगा", एतद्रूपा सत्तासूचक क्रिया का स्वतः अध्याहार होता है क्योकि पदार्थ कभी भी सत्ता के नियम को भग नही करता। अतः कारक के साथ उसके सत्ता-बोधक क्रिया-पद का अध्याहार करना ही पडता है। इसी प्रकार साधन (कारक) के बिना क्रिया भी निष्पन्न नही हो सकती है। अतः केवल क्रियापद सुनने पर उसके साथ साधन-बोधक कारक सूचक पद का अध्याहार करना ही पडता है। भाष्यकार श्री व्यासने इस प्रसग मे अनेक उदाहरणो-द्वारा विषय स्पष्ट किया है। जैसे "पचति" इस पद के कहने पर "चैत्र", इस कारक पद का अध्याहार करना पडता है। तात्पर्य यह है कि एक पद का प्रयोग किये जाने पर आकाक्षित पद अध्याहृत करके उसके अन्वयपूर्वक ही अर्थ समझा जाता है।

साराश यह है कि समस्त पद वाक्यार्थ-पूरक ही होते है। अतः वाक्य ही सर्वत्र वाचक माना जाता है, पद नही। पूर्वोक्त रीति से जिस प्रकार वर्ण, पद का विभाग होने से, सर्व-अभिधान-शक्ति-सन्पन्न है, उसी प्रकार वाक्य का अंश होने से समी पद वाक्यार्थद्योतन शक्ति से सम्पन्न है। यही भाष्कार श्री व्यास ने भी कहा है—"सर्वपदेषु चास्ति वाक्यार्थशक्तिः"। अतः प्रत्येक वर्ण मे अन्य सहकारी वर्णों के साथ मिलकर पदत्वलाभ की शक्ति निहित है। इसी प्रकार प्रत्येक पद मे भी क्रिया-कारकादि सूचक पदो से अन्वित होकर वाक्य बनाने की शक्ति विद्यमान रहती है।

इसकी पुष्टि वाक्य के अर्थ मे पद-रचना देखने से भी होती है। जैसे "जवेति" अर्थात् "प्राणान्धारयति", "जीता है" अर्थात् "प्राण धारण करता है।" इसी प्रकार "श्रोत्रिय" अर्थात् वेद का अध्ययन करने वाला-इन दोनो उदाहरणो मे पद एव वाक्य दोनो के अर्थों मे पूर्ण ऐक्य भी पद की वाक्यार्थशक्तिमत्ता मे प्रमाणस्वरूप है।

शका हो सकती है कि जब पद मे ही वाक्यार्थ-शक्ति निहित है, तो वाक्य का व्यवहार ही व्यर्थ है, क्योकि वाक्यार्थ-बोधक रूप प्रयोजन की सिद्धि पद के प्रयोग-मात्र से सिद्ध हो जावेगी। इस विषय मे यह स्मरणीय है कि पद मे वाक्यार्थ-शक्ति वर्तमान रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति पद मे नही, वाक्य मे ही होती है। फिर अनेकार्थ पद के अर्थ के विषय मे भी कभी शका उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति मे प्रकृतपदगत प्रकृति-प्रत्यय का विभाग करके ही उसका निश्चय होता है कि वह क्रिया पद है या कारकपद। उदाहरणार्थ "भवति", "अश्व", "अजापय" इत्यादि सदिग्ध पदो मे नाम एव आख्यात (सुबन्त एव तिङ्न्त) एकरूप होने से उनके ठीक अर्थ का निश्चय नही हो सकेगा।

"भू सत्तायाम्" धातु से निष्पन्न, लट् लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन मे "भवति" शब्द क्रियापद का अर्थ होता है "होना"। स्त्रीलिङ्ग "भवति शब्द के सम्बो-धन मे" "भवति" कारकपद का अर्थ "आप" होता है। इसी प्रकार नाम और आख्यातभेद से "अश्व" पद के क्रमश. "घोडा" व "गत्यर्थक" "स्वि" धातु से "तुम गए थे" मे दो अर्थ होते है। "अजापयः" नाम का अर्थ बकरी का दूध और "अजा-पयः" आख्यात का अर्थ तुमने जय प्राप्त कराया था, इस प्रकार दो अर्थ इस पद से निकलते है। अतः इस प्रकार के श्लिष्ट पद प्रयुक्त होने पर उनके अर्थ के विषय मे शका होती है। इस शका का निवारण व्याकरण की रीति से प्रकृति प्रत्यय के पृथक्करण-द्वारा ही हो सकता है। इस क्रिया से पद का स्वरूप वाक्यार्थ परक हो जायगा। अत पदमे वाक्यार्थ-शक्ति वर्तमान रहने पर भी वाक्य रचना व्यर्थ नही है।

शिलष्ट पदो की व्याख्या का विषय व्याकरण का क्षेत्र है। इसे भाष्यकार ने प्रसगवश ही प्रस्तुत किया है। मुख्य विषय शब्दार्थज्ञान के साकर्य एव विभागो का स्फुट प्रदर्शन किया जा चुका है।

× × ×

सयम-द्वारा सस्कारो का साक्षात्कार करने से पूर्व जन्मो का ज्ञान होता है।[1] सस्कार दो प्रकार के होते है। एक तो स्मृति रूपक फलनाश को उत्पन्न करने वाला, राग-द्वेषादि क्लेशो के हेतु भूत, जो वासना स्वरूप है। दूसरे त्रिविपाक अर्थात् जाति, आयु एव भोग के हेतुभूत धर्म-अधर्मरूप, जो शुभ-अशुभ कर्मों से उत्पन्न होते है। यह कर्माशय कहलाता है पिछले शीर्षक मे वर्णित परिणाम चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन आदि के समान ये सस्कार भी चित्त के अलक्ष्य धर्म है। इनका निष्पादन इह जन्म तथा पूर्व जन्म कृत कर्मो-द्वारा होता है और ये ग्रामोफोन-प्लेट के रिकार्ड की भॉति चित्त मे असस्कृतरूप मे अकित रहते है।

जीवन मे प्राणी-द्वारा किया गया प्रत्येक अनुभव अतीत हो जाने पर भी सर्वथा नष्ट नही हो जाता है, वरन् हर एक अनुभव चित्त पर अपना सस्कार छोडता जाता है। अतः यह चित्त जन्म-जन्मान्तरो मे कृत कर्म-सस्कार का एक रैकार्ड है। जिस प्रकार ग्रामोफोन बजाने पर ग्रामोफोन-प्लेट मे अकित प्रत्येक ध्वनि सस्कार अभिव्यक्त हो उठते है, उसी प्रकार चित्त मे अभिव्यक्त रूप से स्थित सस्कारो को भी उचित प्रणाली का अनुसरण करके, जागृत किया जा सकता है। इस प्रकार उन जन्म-जन्मान्तरो मे सचित सस्कारो का देश-काल-निमितादि-पूर्वक स्फुट परिज्ञान हो सकता है। ये सस्कार चित्त मे अज्ञातरूप से रहते है, फिर भी अनुमान एव शास्त्रो के पठन, श्रवण आदि से इनकी सत्ता सिद्ध होती है, तथा शास्त्रा-नुमान-द्वारा अपरोक्ष रूप मे ज्ञात सस्कारो का अवलम्ब ग्रहण करके ही उनमे सयम करके सम्यक् साक्षात्कार किया जाता है। सर्वथा अज्ञात विषय का सयम नही किया जा सकता है। साथ ही जो ज्ञात हो उसमे सयम भी व्यर्थ है। अतः शास्त्रानुमान से ज्ञात विषय का ही सयम-द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है।

पूर्व जन्म-कृत कर्मो के सस्कार, चित्त पर अङ्कित है और उनकी स्फुटतः अभिव्यक्ति हो सकती है। इस विषय मे श्रद्धालु व्यक्ति के हेतु शास्त्र एव अनुमान तो प्रमाण है ही, भौतिकवादी जनसमुदाय के विश्वास-हेतु वर्तमानकालीन हिप्नो-

१. "सस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्" ( योग सू० ३-१८ )

टिज्म के प्रयोग इस बात की और भी निश्चितरूप से पुष्टि करते है। मोहनिद्रा (हिप्नोटिज्म) की अनेक घटनाएँ इस विषय मे प्रमाणभूत है। उदाहरणार्थ—एक ऐसा व्यक्ति, जिसे किसी भाषा-विशेष का मौलिक ज्ञान भी न था, मोहनिद्रित (हिप्नाटिक) अवस्था मे, उसी भाषा को स्खलनशून्य गति से बोलता हुआ एव सर्वथा नवीन व्यक्तित्व मे पाया गया।[1]

पूर्व-जन्मो के ये सस्कार अवश्य ही किसी ऐसे वाहक (शुद्ध अन्तःकरण) मे सचित रहते है, जिसका विविध जन्मो मे स्थूल शरीर बदल जाने पर भी पुनर्निर्माण नही होता है। इन सस्कारो का एक से दूसरे शरीर मे वाहक कारण शरीर है। इसी को दूसरे शब्दो मे "कर्माशय" कहते है। जाति, आयु एव भोग का मूल कारण[2] होने से कर्माशय की कारण शरीर सज्ञा है। उच्च कोटि के योगी जो इन सुप्त सस्कारो को चेतन कर उनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता रखते है, सयम के द्वारा पूर्व जन्मो का प्रस्फुट ज्ञान प्राप्त कर सकते है।[3]

देश, काल और निमित्त के अनुभव के बिना इन सस्कारो का साक्षात्कार नही हो सकता है। साथ ही पूर्व जन्म के ज्ञान की प्राप्ति के हेतु, पूर्व-जन्म को संयम का विषय नही बनाया जा सकता है, क्योकि वह अतीत हो चुका है। अतीत वस्तु का अवलम्ब अग्राह्य है। फिर पहले कितने, कब और कहाँ जन्म हुए थे, यह भी अज्ञात है। समस्त पूर्व जन्मो के सस्कार चित्त मे सचित है और शास्त्रानुमान-द्वारा परोक्षतया ज्ञात भी है। अतः उनमे ही सयम सभव है। यह भी बतलाया जा चुका है कि देश, काल एव माता पिता आदि निमित्त के बिना सस्कारो का प्रत्यक्ष नही हो सकता है। अतः सस्कारो मे सयम करने से सस्कारो के ज्ञान के साथ-साथ उनके कारणभूत पूर्वजन्मो का ज्ञान होता है। अपने सस्कारो मे सयम करने से, जिस प्रकार अपने पूर्व जन्मो का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार किसी दूसरे व्यक्ति के सस्कारो मे सयम करने से, उस व्यक्ति के भी पूर्व-जन्म परिज्ञात होते है।

इस विषय के पुष्टीकरण के हेतु भगवान् व्यास ने योगीश्वर आवट्य एव योगिराज जैगीषव्य का सवाद उद्धृत किया है। उसे प्रकृत सूत्र के भाष्य मे ही

---

१ द्रष्टव्य—"साइन्स आफ योग" ( आई० के० टैमनी ) पृ० ३१६

२ द्र०-१ पचक्लेश एव उनके निवारण के उपाय।

३ द्रष्टव्य—"साइन्स ऑफ योग" ( आई० के० टैमनी ) पृष्ठ ३१६

देखना चाहिये। भगवान् जैगीषव्य विवेक-ज्ञान-सम्पन्न थे और उन्होने दश महाकल्पो मे व्यतीत हुए अपने समस्त पूर्व जन्मो का साक्षात्कार किया था, ऐसी प्रसिद्धि है। भगवान् आवट्य के विषय मे भी अनुश्रुति है कि वे योगबल से स्वेच्छामय दिव्य लीलाविग्रह धारण करके विचरण करते थे।

"सस्कारसाक्षात्कारणात्पूर्वजातिज्ञानम्" इस प्रकृत सूत्र के उपक्रम मे व्यास भाष्यगत "परत्राप्येवमेव सस्कारसाक्षात्कारणात्परजातिसवेदनम्", इस पक्ति का अर्थ श्री वाचस्पति मिश्र ने यह किया है कि—सस्कारो का साक्षात् करने से योगी को जैसे अपने पूर्व जन्म का ज्ञान होता है, वैसे ही दूसरे के पूर्वजन्म का भी ज्ञान होता है। किन्तु श्री विज्ञानभिक्षु इस अर्थ को नही मानते है। उन्होने सूत्रगत "पूर्वजातिज्ञानम्" तथा भाष्यगत "परजातिसवेदनम्" को एक साथ मिलाने का यत्न करते हुए दूसरे के पूर्व जन्म के ज्ञान को अपने ही अनागत जन्मके ज्ञान के अर्थ मे खीचा है, जो सूत्र मे वर्णित न होने से, प्रसगगत नही ज्ञात होता। क्योकि अन्य जन्म के कारणभूत रागादि नष्ट हो चुकने से पूर्ण योगी का अनागत जन्म होता ही नही है।

भगवान् व्यास भी—"सोपक्रम निरुपक्रम च कर्म तत्सयमात् अपरान्तज्ञानम-रिष्टेभ्यो वा"—इस सूत्र के उपक्रम मे उक्त दोनो प्रकार के कर्मो को अर्थात् शीघ्र फलप्रद तथा विलम्ब से फल देने वाले कर्मो को "एकभविक" बतलाते है। यहाँ श्री वाचस्पति मिश्र ने, इस सूत्र के भाष्यगत "एकभविकत्व" की व्याख्या मे कहा कि पूर्वोक्त द्विविध कर्मो को योगी एक ही काल मे अनेक शरीर धारण करके, भोग कर समाप्त कर देता है, जिससे उसका भावी जन्म असिद्ध है।

इसके अतिरिक्त योगी अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों को ज्ञानाग्नि द्वारा भी भस्म कर सकता है।

उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर, भिक्षु जी ने, "परजातिसंवेदनम्" के द्वारा जिस अनागत जन्म का प्रतिपादन किया है, वह तो यहाँ सिद्ध होने की क्षमता ही नही रखता।

विवरणकार शकर, भोज, रामानन्द यति, नागोजी भट्ट इत्यादि अन्य सब विद्वानो का भी यही मत है कि सस्कार के साक्षात्कार से अपने और दूसरे के पूर्वजन्मोका ज्ञान होता है, अनागत जन्म का नही। हाँ, किसी अयोगी के अनागत जन्म का पता सिद्ध योगी अवश्य लगा सकता है, पर स्वय उस योगी का अनागत जन्म असिद्ध है।

× × ×

किसी अन्य व्यक्ति के चित्त विषयक सयम करने से उसके चित्त का ज्ञान होता है।[1]

भोज आदि विद्वानो के अनुसार प्रथम मुखरागादि लिङ्ग के द्वारा परिचित अनुमित होता है। इस प्रकार परोक्षरूपेण ज्ञात चित्त मे सयम करने से, उस चित्त का रागादि धर्म सहित अथवा तद्धर्म रहित रूप से चित्त का साक्षात्कार होता है।

श्री विवेकानन्द ने प्रत्यय का अर्थ "चिह्न विशेष" लिया है। तदनुसार प्रत्येक व्यक्ति के शरीर मे कुछ विशिष्ट चिह्न रहते है, जिनके द्वारा उसको दूसरे व्यक्तियो से पृथक् करके पहचाना जाता है। जब योगी किसी मनुष्य के इन विशेष चिह्नो मे सयम करते है, तब वे उस मनुष्य के मन का स्वभाव जान लेते है। वैसे प्रत्यय का अर्थ चित्तवृत्ति है, जो चित्त नही उसका धर्म है, किन्तु धर्मी धर्म मे अभेद-विवक्षा से प्रत्यय का अर्थ चित्त किया गया है।

श्री भिक्षु जी ने सूत्रगत "प्रत्यय" शब्द का अर्थ स्वचित्त किया है। विवरणकार आदि अन्य विद्वानो के मत मे उक्त "प्रत्यय" शब्द परचित्तार्थक है, क्योकि अपने चित्त मे सयम करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान नही हो सकता है, जिसका सूत्र मे कथन किया गया है।

श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य ने "स्व" एव पर दोनो ही चित्तो की वृत्ति का अर्थ प्रत्यय शब्द से ग्रहण किया है। पुनः परचित्तज्ञान मे अपने चित्त के सयम का उपयोग इस प्रकार बतलाया है।

"वस्तुतः प्रत्यय यहाँ पर दोनो प्रकार का प्रत्यय है। अपने किसी एक प्रत्यय को विविक्त कर साक्षात्कार न कर सकने से पराया प्रत्यय कैसे साक्षात् किया जायगा? पहले अपना प्रत्यय जान कर पर-प्रत्यय के ग्रहण के लिये स्वचित्त को शून्यवत् करना और उसे पर प्रत्यय के ग्रहणार्थ उपयोगी कर, पराया प्रत्यय जानना चाहिये। जिसका चित्त जानना है उसकी ओर लक्ष्य रख कर अपने चित्त का शून्यवत् करने पर उसमे जो भाव उठते है वे ही परचित्त के भाव होते है।"[2]

इस प्रकार दूसरे के चित्त-विषयक संयम से उस व्यक्ति के चित्त का धर्म

---

१. "प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्" ( यो० सू० ३-१६ )

२ द्रष्टव्य-पातञ्जल योग दर्शन-स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, ( पृष्ठ २५३-५४ )

विशिष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है। परन्तु उसके चित्तगत राग-द्वेपादि के आलम्बन का ज्ञान नही होता है, क्योकि उक्त चित्तगत राग-द्वेपादि का आलम्बन योगी के सयम का विषय नही होता है।[1] तात्पर्य यह है कि योगी जिस व्यक्ति के चित्त मे सयम करता है, उसके विषय मे यह तो ज्ञात हो जाता है कि वह राग-द्वेषादि विपय-वासनाओ से सकुल है, अथवा वैराग्य सम्पन्न है इत्यादि, किन्तु उसके चित्त-गत राग-द्वेषादि किस व्यक्ति के प्रति है, यह परिज्ञात नही होता है, क्योकि उन राग-द्वेषादि का विषयभूत व्यक्ति योगी के सयम का विपय नही है।

तत्कालीन रागद्वेपादि के आलम्बनज्ञान को लक्ष्य करके पुनः सयम करने से अवश्य ही उसके आलम्बन का भी ज्ञान होना चाहिये।

वार्तिककार श्री भिक्षु ने "न च तन् सालम्बन" इस सूत्र को सूत्र नही, वरन् इससे पूर्ववर्ती "प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्" इस सूत्र का भाष्य माना है, भाष्यकार श्री व्यास ने इसका पृथक् सूत्र के रूप मे, सूत्र की भाषाशैली के अनुरूप भाष्य किया है। श्रीभोज, वाचस्पति प्रभृति विद्वानो ने भी इसकी एक पृथक् सूत्र के रूप मे ही व्याख्या की है। अतः उसे पृथक् सूत्र मानना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

× × ×

अपने शरीर के रूप मे सयम करने से उसकी ( रूपकी ) ग्राह्य-शक्ति रुक जाने पर, दूसरे के नेत्रो के प्रकाश का सयोग न हो सकने से योगी को अन्तर्धान सिद्ध होता है।[2]

रूप मे ग्राह्य ( दूसरो से देखे जाने की ) शक्ति है तथा नेत्र मे रूप को ग्रहण करने की शक्ति है। इन दोनो शक्तियो के सयोग से दर्शन-क्रिया सम्पन्न होती है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी शरीर से निकलने वाली प्रकाश-रश्मियो के नेत्र की प्रकाशकिरणो से टकराने पर ही शरीर दृष्टिगोचर होता है। यदि नेत्र एव शरीर से इस प्रकाश का सम्पर्क अवरुद्ध कर दिया जाए, तो शरीर अदृश्य हो जायेगा। शरीरस्थ रूप मे सयम करने से, उपर्युक्त नेत्र एव शरीर के मध्य, उक्त प्रकाश की गति स्तम्भित हो जाती है। अतः रूप का सयम करने वाले योगी का शरीर सबके मध्य वर्तमान रहने पर भी अदृश्य हो जाता है, क्योकि चक्षु से स्फुटित

---

१ "न च तत् सालम्बन तस्याविषयीभूतत्वात्" ( यो० सू० ३-२० )

२ "कार्यरूपसयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्" । (यो० सू० ३-२१)

होने वाली तेजस किरणो से शारीरिक रश्मियो का सयोग नही हो पाता है।[1] इस प्रकार रूप विषयक सयम से रूप के तिरोधान-कथन से ही शब्दादि शेष चारो का अन्तर्धान भी अवगम्य है।

स्थूल शरीर पचभूतो का कार्य है। पचभूतो का पचतन्मात्रो से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योकि पचभूत स्वय तन्मात्रो के कार्य है। पच स्थूल भूतो का कार्य होने से भूतो के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पाँचो गुण शरीर मे क्रमशः श्रोत्र, त्वक, चक्षु, रसना एव घ्राण के विषय के रूप मे रहते है। अतः पचतत्व, उनके गुण-स्वरूप पचतन्मात्र एव ज्ञानेन्द्रियो मे अत्यन्त घनिष्ठ आन्तरिक सम्बन्ध है। इन तीनो के पारस्परिक सादृश्य का आन्तरिक सम्बन्ध, उस मनोविज्ञान का अभिन्न अग है, जो कि योग-विज्ञान का आधार है।

सम्पूर्ण चाक्षुष दृश्य, रूप तन्मात्र, तेजस् तत्व एव नेत्रेन्द्रिय की पारस्परिक क्रियाओ पर निर्भर है। रूप मे सयम करने पर तत्व, तन्मात्र एव ज्ञानेन्द्रिय की सयोजिका शक्ति का ज्ञान योगी को हो जाता है और वह इन शक्तियो का इच्छा-नुसार प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार योगी को रूपवान् के विवेचन की शक्ति प्राप्त होती है, जिससे वह आपातदृष्टि से सबके समक्ष अन्तर्हित हो सकता है, क्योकि रूप एव रूप-विशिष्ट वस्तु के परस्पर सम्बद्ध होने पर ही उसका ज्ञान होता है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श आदि भुतो मे सयम करने से, उनकी भी ग्राह्य-शक्ति स्तम्भित हो जाती है, जिसके ज्ञान से योगी के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध किसी भी गुण का अन्य किसी की इन्द्रियो से, सन्निकर्ष नही हो सकता है। यही अन्तर्धान का सामर्थ्य है। इसके प्रभाव से योगी को न कोई देख सकता है, न छू सकता है, नही उसके शरीर-जन्य शब्द को कोई सुन सकता है, न उसके शरीर के रस का आस्वाद कर सकता है और न उसके शरीर के गन्ध को सूघ सकता है। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या के अन्त मे भाष्यकार श्री व्यास ने, "एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम् वेदितव्यम्" ऐसा कहा है, अनन्त पडित ने इस वाक्य को पृथक् सूत्र के रूप मे स्वीकार किया है, किन्तु वाचस्पति, भोज, श्री भिक्षु प्रभृति अधिकाश प्रामाणिक विद्वानो की व्याख्या से इसकी एक स्वतन्त्र सूत्र के रूप मे सत्ता सिद्ध नही होती है।

× × ×

पूर्वकृत कर्मो मे से वर्त्तमान आयु के विपाकप्रद कर्म दो प्रकार के होते है,

१. द्रष्टव्य—साइन्स ऑफ योग, पृष्ठ ३११।

सोपक्रम अर्थात् शीघ्र फलप्रदान करने वाले तथा निरुपक्रम अर्थात् विलम्ब से फल-प्रदान करने वाले। इन सोपक्रम तथा निरुपक्रम कर्मो मे सयम करने से, अपरान्त अर्थात् मृत्यु का ज्ञान होता है, अथवा अरिष्टो से भी मरणज्ञान हो जाता है।[1] इनमे जो कर्म तीव्र वेग से अपना फल अर्थात् आयु को नष्ट करने मे सलग्न है, वे सोपक्रम कहलाते है, क्योकि वे उपक्रम सहित अर्थात् अपने फलप्रदान रूप व्यापार से युक्त है। जो कर्म तत्काल फलप्रदान करके, कालान्तर मे फल देने वाले है, वे निरुपक्रम कर्म कहलाते है, क्योकि वे उपक्रमशून्य, अर्थात् तत्काल फलप्रसवरूप व्यापार से रहित है। इनमे सयम करने से योगी को अपरान्त अर्थात् मृत्यु का ज्ञान हो जाता है इस शरीर का वियोग, किस काल मे एव किस अवस्था मे होगा? सोपक्रम एव निरुपक्रम कर्म-भेद एकभविक कर्माशय के ही होते है, क्योकि इह जन्म मे भोक्तव्य कर्म ही सोपक्रम एव निरुपक्रम हो सकते है। आगामी जन्म, जिनका प्रारब्ध भी अनिश्चित् है, उनके उपक्रम का तो कोई प्रश्न ही नही उठता है।

सोपक्रम एव निरुपक्रम कर्म-विषयक सयम के अतिरिक्त अरिष्टो के द्वारा भी मरण-ज्ञान होता है। अरिष्ट का अर्थ है विपरीत चिह्न। "अरिखि त्रासयति इति अरिष्टम् सन्निहितमरण चिह्नम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार शत्रु के समान त्रास-दायक, सन्निहित मरण-सूचक चिह्न अरिष्ट कहलाते है। इन अरिष्टो के तीन भेद होते है:—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

**आध्यात्मिक—**

"आत्मनि,[2] इति अध्यात्मम्, अध्यात्मम् भवम् इति आध्यात्मिकम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार शरीर रूप आत्मा के भीतर होने वाले अरिष्ट आध्यात्मिक कहे जाते है। उदाहरणार्थ अगुली आदि से कान बद करने पर भी अपने शरीर के अन्दर का घोष (शब्द) न सुनाई देना अथवा नेत्र मुद्रित करने पर ज्योतिकण न दिखाई देना आदि आध्यात्मिक अरिष्ट है।

**आधिभौतिक—**

"भूते इति अधिभूतम् अधिभूतम् भवम् इति आधिभौतिकम्", इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राणीरूप भूत मे होनेवाला अरिष्ट आधिभौतिक कहलाता है। जैसे मरणा-

---

१. "सोपक्रम निरूपक्रम च कर्म तत्सयमात् अपरान्तज्ञानमारिष्टेभ्योवा"। (यो० सू० ३-२२)

२. कुछ व्याख्याकार आत्मनिअधि इति अध्यात्मम् कहते है। जो व्याकरण द्वारा असमीचीन है। भूते अधि भी भूतो होगा।

सन्न व्यक्ति अकस्मात् यमदूतो अथवा अतीत पितरो आदि को देखता है। यमदूत तथा मृत पिता, पितामह इत्यादि प्राणीरूप भूत है। अतः तत्सम्बद्ध अरिष्ट आधि-भौतिक कहलाते है।

आधिदैविक—

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थानुसार देवसम्बन्धी अरिष्ट आधिदैविक कहलाता है—"देवे अधि इति अधिदेवम्, अधिदेवम् भवम् इति आधिदैविकम्"। सहसा स्वर्ग या सिद्ध आदि का दर्शन होना आधिदैविक अरिष्ट है अथवा सब कुछ विपरीत दिखाई देने लगना भी अरिष्ट है। जैसे धर्म मे अधर्मबुद्धि हो जाना। मानवलोक मे स्वर्लोक की बुद्धि हो जाना इत्यादि। इसी प्रकार प्राणी की मृत्यु के सान्निध्यकाल मे उसकी प्रकृति भी बदलती देखी जाती है। जैसे उदार-वृत्ति व्यक्ति का कृपण हो जाना। अधार्मिक का धार्मिक हो जाना इत्यादि।

इस प्रकार अरिष्टो-द्वारा आसन्न मृत्यु का भाव जन-सामान्य को भी हो जाता है, किन्तु अयोगी का यह ज्ञान परोक्ष एव सदिग्ध होता है। योगी को निश्चित रूप से तथा देश, काल एव अवस्था पूर्वक मृत्यु का अपरोक्ष ज्ञान होता है।

भारतीय समाज मे मृत्यु का पूर्व-ज्ञान अत्यन्त आवश्यक एव महत्वपूर्ण समझा जाता है। इसमे जीवन के अन्तिम दिनो मे भजन-पूजन मे एकाग्रता का उद्देश्य निहित है। गीता मे मृत्युकालीन जीवन एव विचारो को सयत एव नियमित रखने का विशेष उपदेश दिया गया है, क्योकि जीव की मृत्युकालीन भावना पर ही मरणोपरान्त गति-निर्भर है। मृत्यु-विज्ञान के द्वारा परम पद तक प्राप्त हो सकता है, इससे अधिक और क्या कहा जाय ? श्रीमद्गीता (८/६) मे भगवान् ने स्पष्ट घोषणा की है :—

"यं य वापि स्मरन् भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तम् तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥"

सोपक्रम तथा निरुपक्रम कर्मो मे संयम करके योगी अनन्त शरीर धारण कर अल्प काल मे अपना समस्त भोग समाप्त कर लेता है (तत्व०)। इस प्रकार मृत्युकालीन देश, काल एव परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर शीघ्र ही शरीर के बन्धन से मुक्त हो सकता है।

मैत्री आदि मे सयम करने से मैत्री आदि का प्रकृष्ट बल प्राप्त होता

है।[1] प्रथम पाद सूत्र ६३ मे चित्त-प्रसाद हेतु मैत्री, करुणा आदि भावनाओ का विधान है,[2] उन्ही भावनाओ के निरन्तर प्रवाहरूप सयमात्मक दृढ अभ्यास से योगी को अत्यन्त प्रकृष्टरूप से मैत्री-बल, करुणा-बल, मुदिता बल प्राप्त होता है। इसके प्रभाव से योगी ससार के प्रत्येक व्यक्ति को मित्र बना कर सुखी कर सकता है। करुणा-बल से उनके दुःखो का साधन सहित निवारण कर सकता है तथा खिन्न-चित्तो को मुदिताबल से पूर्णतः आनन्दित कर सकता है और इस प्रकार स्वय भी परम प्रसन्न रहता है। उसके हृदय से ईर्ष्या-द्वेष सम्यक् विनष्ट हो जाते है, तथा वह सर्वप्रिय एव सबका परम विश्वासपात्र बन जाता है। हिंसक जन्तु एव शत्रु भी उसके साथ वैर त्याग कर परम शान्ति का अनुभव करते है।

मनोविज्ञान का यह तथ्य सर्व विदित है कि—यदि हम गुण-विशेष या भावविशेष का आग्रहपूर्वक निरन्तर ध्यान करे, तो उस गुणविशेष की क्रमशः चरित्र मे अधिकाधिक अभिवृद्धि होती जाती है। यहाँ तक कि वह हमारे चरित्र का अभिन्न अग ही बन जाता है। सयम की अवस्था मे यह प्रवृत्ति और भी प्रकृष्टरूप से एव शीघ्र गति से बढती है, क्योकि समाहित अवस्था मे मस्तिष्क का चित्त का (चित्ताधिष्ठानभूत) उस गुण विशेष से तादात्म्य हो जाता है। अतः योगी मे ये गुण अत्यन्त उत्कृष्ट एव सबलरूप से आविर्भूत होते है।

श्री आई० के० टैमनी का कथन है कि उत्साह (साहस) एव दया जैसे स्पष्ट गुण अनिश्चित एव धूमिल वस्तुएँ नही है जैसी कि वे अविकसित (निम्न-लोअर) मस्तिष्क को अवभासित होती है, वरन् उस असीम शक्ति के वास्तविक सजीव एव क्रियाशील सिद्धान्त है, जिसका पूर्ण दिग्दर्शन निम्नस्तरीय जगत् मे अपर्याप्त साधन-वश नही हो सकता है। जब हम किसी सिद्धान्त अथवा गुण का चिन्तन-मात्र करते है, तो उसकी कान्ति मन्द गति से ही स्फुटित होती ( जैसी कि वह थी )। हमारे गम्भीर एव साग्रह चिन्तन की अभिवृद्धि के अनुरोध से यह कान्ति क्रमशः उज्ज्वलतर होती जाती है। यहाँ तक कि मस्तिष्क उसी मे तालबद्ध हो जाता है, किन्तु किसी गुण विशेष मे सयम किये जाने पर, मस्तिष्क जब उसी (गुण) मे तन्मय हो जाता है, तब इसकी अभिव्यक्ति की कोई सीमा नही रहती है।"[3]

---

१. "मैत्र्यादिषु बलानि" ( यो० सू० ३/३४ )

२. "मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणा भावनातश्चित्तप्रसादनम्" ( यो० सू० १/३३ )

३. साइन्स ऑफ योग, पृ० ३२३।

चित्त-प्रसाद के हेतु भूत साधन-चतुष्ट्य मैत्री, करुणा, मुदिता एव उपेक्षा मे से व्याख्याकारो ने उपेक्षा मे सयम का कथन नही किया है, क्योकि चित्त की उपेक्षा-वृत्ति भावनास्वरूप नही, अपितु परित्यागरूप है। उपेक्षा पापीजनो के प्रति कर्त्तव्य है। अतः उपेक्षा की भावना का अर्थ हुआ पापी पुरुषो का भी चिन्तन करना। चिन्तनीय विषय ही भावना-योग्य है। अतः उपेक्षा-वृत्ति को भावनापक्ष मे न्यस्त नही किया गया है। इसी से उसमे सयम का भी विधान नही है। सयम का विषय न होने से उपेक्षा से कोई बल प्राप्त नही होता है।

श्री भोज ने अपनी "राजमार्तण्डवृत्ति" मे उपेक्षा मे सयम का विधान करके, उसके फलस्वरूप उपेक्षाबल की प्राप्ति बतलाई है।

बल मे सयम करने से हस्ती आदि के समान बल प्राप्त होता है।[1]

हाथी, सिह, वायु, वैनतेय आदि के बल एव वेग मे सयम करने से, उनके समान बल एव अव्याहत गति प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि हाथी आदि जिस किसी का बलविषयक सयम किया जाता है, योगी को उसी के समान प्रकृष्ट बल प्राप्त होता है।

× × ×

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाशन्यास से सूक्ष्म, व्यवहित एव विप्रकृष्ट अर्थात् दूर-देशस्थ वस्तुओ का ज्ञान होता है[2]। सम्प्रज्ञात एव असम्प्रज्ञात समाधि के प्रसग मे चित्तस्थिति के प्रकरण मे "विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति"[3] का वर्णन किया गया है। उस ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का सयम-द्वारा ज्ञेय विषय पर न्यास करने से उसका सम्यक् ज्ञान लब्ध होता है। चाहे वह विषय परमाणु की भाँति अत्यन्त सूक्ष्म हो, भूमि अथवा पर्वत आदि व्यवधानो से व्यवहित हो, अथवा अत्यधिक दूर-देशस्थ हो। सूर्यादि के आलोक से घटपटादि प्रत्येक वस्तु का स्थूल नेत्र-ज्योति के क्षेत्रानुसार ज्ञान होता है। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति मे विभु बुद्धिसत्त्व के साथ ज्ञातव्य वस्तु का सयोग होने पर उसका ज्ञान होता है। सामान्य इन्द्रियप्रणालीजन्य-ज्ञान से इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। ज्योतिष्मती की विषद भावना से हृदय मे विश्वव्यापी आलोकभाव का विस्तार होता है।[4] अतः सूक्ष्म, व्यवहित एव दूर-

---

१. "बलेषु हस्तिबलादीनि" ( यो० सू० ३-२४ )

२. "प्रवृत्त्यालोकन्यासात्, सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।" ( यो० सू० ३-२५ )

३ "विशोका वा ज्योतिष्मती" (यो० सू० १-३६)

४. पातञ्जल-योग-दर्शन—हरिहरानन्द आरण्य। पृष्ठ २५८।

देशस्थ प्रत्येक वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। दिव्य-दृष्टि नामक क्षुद्र सिद्धि की की यह अन्तिम दिशा है।[1]

सूक्ष्मता, गूढता एव दूरस्थता, ये सब ज्ञानेन्द्रियो के क्षेत्र की सीमाओ के कारण ही है, वर्त्तमान युग मे भी उच्च कोटि के विशुद्ध भौतिक जड साधनो के प्रयोग से, विज्ञानशास्त्र द्वारा इन सीमाओ का अतिक्रमण कर ज्ञानेन्द्रियो के क्षेत्र को बढाया जा रहा है। दूरदेशस्थ वस्तु के निरीक्षण मे दूरदर्शनयन्त्र ( टेलिस्कोप ), सूक्ष्म तत्त्व के अन्वेषण मे सूक्ष्मदर्शनयन्त्र ( माइक्रोस्कोप ) तथा व्यवहित वस्तु के ज्ञान मे एक्सरे के उपकरण से नेत्रो को असाधारण सहायता मिलती है। कुछ दृष्टियो से ये प्रयोग आश्चर्यजनक होने पर भी जड साधनो की यह सहायता अन्ततः स्थूल-ज्ञानेन्द्रियो तक ही सीमित है। अतः स्थूल पाञ्चभौतिक जगत् के परे तन्मात्र आदि के सूक्ष्म तथ्यो का उद्घाटन इनके द्वारा नही हो सकता है और वह यौगिक रीति से सयम करने पर ही प्राप्य है। फिर भी उपर्युक्त आधुनिक प्रयोगो से इन तथ्यो का अनुमान तो हो ही सकता है। यह भी स्मरणीय है कि इन जड उपकरणो के प्रयोग भी विद्युत् पर आधारित है, जो कि स्थूल जगत मे प्रकाश एव शक्ति का एक मुख्य प्रतीक है।

× × ×

सूर्य मे सयम करने से समस्त भुवनो ( भुवनविन्यास ) का ज्ञान होता है।[2] इन भुवनो का विस्तार सप्त लोकसमूह है, अर्थात् अवीचि आदि सप्त महानरक, भूः, भुवः इत्यादि सात लोक एव महातल, रसातल आदि सातो पाताल-समूह, सब भुवन कहलाते है। उनमे अवीचि नामक महानरक से प्रारम्भ कर मेरु-पृष्ठ पर्यन्त भूमि-लोक है ( भूर्लोक है )। सुमेरु पर्वत की पीठ से लेकर ध्रुव तारक पर्यन्त ग्रह, नक्षत्र एव ताराओ से विचित्र अन्तरिक्ष लोक है। इसी को भुवः लोक भी कहते है। तत्पश्चात् पाँच प्रकार के स्वर्लोक है। जिनमे प्रथम तथा द्वितीय के नाम क्रमशः महेन्द्र एव प्राजापत्य है। इन स्वर्लोको मे दूसरे प्राजापत्य लोक को ही महर्लोक कहा जाता है, तदुपरान्त तीन प्रकार के ब्राह्मस्वर्लोक है, जो क्रमशः जनलोक, तपोलोक एवं सत्यलोक कहलाते है। "व्यासभाष्य" मे इन लोको के प्रमाण मे सग्रह श्लोक दिया गया है।[3] इनका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है। प्रथम भूर्लोक, सबसे नीचे स्थित

---

१. पातञ्जल-योग-दर्शन—हरिहरानन्द आरण्य। पृष्ठ २५८।

२. "भुवनज्ञान सूर्येसयमात्" ( यो० सू० ३-२६ )

३. "ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोक प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिविताराभुविप्रजा ॥" (द्रष्टव्य-व्या० भा० सू० ३-२६)।

है, तत्पश्चात् क्रमशः ऊपर की ओर भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक तथा अन्त मे सप्तम सत्यलोक स्थित है। पाँचो प्रकार के स्वर्लोक दुःख सम्बन्धशून्य तथा सुखप्रद होने से स्वर्गलोक कहलाते है।

भूर्लोक के अशभूत सप्त नरको एव पातालो का विवरण इस प्रकार है— भूमि के निम्नभाग मे स्थित लोको मे सब से नीचे अवीचि नामक महानरक है। उससे उत्तरोत्तर ऊपर की ओर, क्रमशः घन, सलिल, अनल, अनिल एव आकाशलोक है। इन्ही के दूसरे नाम क्रमशः महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र, एव अन्धतामिस्र हैं। ये सातो महानरक भूमियाँ है। अन्य कुम्भीपाक आदि छोटे-छोटे नरक भी इन्ही के अन्तर्गत है। इन नरको मे प्राणी स्वकृत अनन्त पापकर्मो को, दीर्घ-स्थायी आयु को ग्रहण करके, भोगते है। अतः इन नरको मे पापी जन-वर्ग का ही निवास है। पृथिवी के ही निम्नभाग मे इन सप्त महानरको के ऊपर महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल तथा पाताल नामक सप्त पताल लोक है।[1]

"व्यासभाष्य" मे भुवनो का अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। यह स्मर्तव्य है कि सूत्रस्थ "सूर्य" का अर्थ स्थूल सूर्य नही, अपितु सूर्यद्वार है, जैसा कि "एतद्योगिना साक्षात्करणीय सूर्यद्वारे सयम कृत्वा ततोऽन्यत्रापि", इस उक्ति से भी निर्विवाद सिद्ध है। मुण्डक उपनिषद् मे, "सूर्यद्वारेण ते विरजा" आदि उक्तियो से, सूर्यद्वार का वर्णन किया गया है। अनेक टीकाकारो नें सूर्य-नाडी होने से प्रकृत सूत्रस्थ सूर्य का अर्थ पिगला नाडी[2] किया है, यह ऊपर भी प्रदर्शित किया जा चुका है। "विवरण" टीका मे "व्यासभाष्य" को सुगम बता कर इस सूत्र की व्याख्या नही की गई है।

श्री भोज तथा अनन्त पडित ने सूत्रस्थ "सूर्य" का अर्थ सामान्य सूर्य लिया है, जिससे यही प्रकट होता है कि वे सूर्य शब्द से भौतिक सूर्य का अर्थ ग्रहण करते है। श्री नागोजी भट्ट एव भावा गणेश ने सूर्यमण्डल का अर्थ ग्रहण किया है, किन्तु यह "व्यासभाष्य" से प्रमाणित किया जा चुका है कि सूर्य का अर्थ स्थूल भौतिक सूर्य नही सूर्यद्वार है। योगियो का अनुभव भी इस विषय मे प्रमाण है। सूर्य अथवा सूर्यमण्डल मे सयम करने से केवल सूर्य अथवा सूर्यमण्डल का ही ज्ञान होता है, चतुर्दश

१. पातालो का उक्त विन्यासक्रम व्यासभाष्य के अनुसार है। ग्रन्थान्तरो मे विशेष कर पुराणो मे अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल तथा पाताल यह क्रम ग्रहण किया गया है।

२. पातञ्जल योग प्रदीप—स्वामी ओमानन्द, पृष्ठ ५१७।

भुवनज्ञान नही होता—ऐसा सयम मर्मज्ञो का कथन है[1]। भुवन स्थूल तथा सूक्ष्म दोनो प्रकार के है, जिनमे अवीचि आदि नितान्त ज्योति-विहीन लोक भी सम्मिलित हैं। अतएव स्थूल भौतिक प्रकाश से उनका दर्शन अशक्य है। जहाँ तक स्थूल सूर्यालोक का विषय है, सयम से वही तक उसके द्वारा वस्तु का प्रकाश भी सम्भव है। स्पष्ट है कि सामान्य सूर्यालोक से समस्त भुवनज्ञान असम्भव है। जिस ऐन्द्रियिक प्रकाश मे द्योतक आलोक अपेक्षित नही होता है, जिसमे अपने ही प्रकाश से अपनी अभिव्यक्ति होती है, ऐसी इन्द्रिय-शक्ति के द्वारा ही भुवनज्ञान होता है[2]।

"सयम का स्वरूप तथा उसके अग" शीर्षक मे धारणा के प्रसग मे पिंड तथा ब्रह्माण्ड ( Microcosm & Macrocosm ) मार्ग की चर्चा के विषय मे बतलाया जा चुका है। उनके सामञ्जस्यानुसार सुषुम्ना-गत चक्रो एव भूः भुवः आदि लोको की एकता उक्त हुई है। समस्त लोकातीत आत्मा प्राणिवर्ग मे गण्य है। विभु बुद्धि-सत्व इन्द्रियादि की वृत्ति तथा अशुद्धयावरण के कारण ही सकीर्णवत् रहता है। बुद्धि के प्रकाशावरण-क्षय की एक एक अवस्था के अनुसार प्राणी की क्रमश उन्नतर लोको मे गति होती है। विशुद्धि बुद्धि-सत्व की गति अव्याहत है। उसके लिये कुछ भी दूर अथवा समीप नही है। बुद्धि वृत्ति की शुद्धिमात्र से ब्रह्मादि लोको मे पहुचने की शक्ति प्राप्त हो सकती है। ( द्रष्टव्य-तत्व० )।

अतः स्पष्ट है कि सुषुम्ना मे प्रवेश पाने से इन लोको का साक्षात्कार हो सकता है। सुषुम्ना मे उक्त सूर्यद्वार है। श्री वाचस्पति मिश्र, श्री विज्ञान भिक्षु, हरिहरानन्द एव राघवानन्द सरस्वती सदृश विद्वानो ने भी सुषुम्नाद्वार को ही सूर्य-द्वार बतलाया है और उसी मे सयम का विधान कहा है। सुषुम्ना के विषय मे 'प्राणायाम" तथा "धारणा" के प्रसग मे बतलाया जा चुका है। सुषुम्ना शरीर का सर्वाधिक सूक्ष्म एव प्रकाशशील अश है। सूर्य से सम्बद्ध होने के कारण ही इसे सूर्यद्वार कहा गया है। इस विषय मे योगवार्तिककार श्री विज्ञानभिक्षु ने मैत्रायणी उपनिषद् की—

"अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि।"

---

१ पत० यो० द० —( स्वामी हरि० आ० ) पृ० २६२।

२ इस विषय मे "Nightside of Nature" नामक ग्रन्थ मे लिखा है—"The seeing of a clear seer," says Dr. Passavant, "may be called a solar seeing, for he lights and interpenetrates his object with his own organic light. Chapter XIV.

ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमण्डलम् ॥
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन यान्ति परा गतिम् ।"

इस उक्ति को प्रमाणरूप मे उद्धृत किया है। अर्थात् "हृदय मे दीपवत् स्थित उस (द्रव्य) के अनन्त रश्मिसमूह है। उनमे से एक जो कि सूर्यमण्डल का भेदन करता हुआ ऊर्ध्व मे स्थित है, उसी के द्वारा ब्रह्मलोक का उल्लघन करके परम गति प्राप्त होती है।" स्पष्ट है कि पूर्व वर्णित ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की एक धारा विशेष ही सुषुम्नाद्वार या सूर्यद्वार है। इस धारा-विशेष मे सयम करने से ही सम्पूर्ण भुवनो का सम्यक् ज्ञान होता है। ब्रह्मयान पथगामी इसी सूर्यमण्डल मे प्रवेश कर पुन वहाँ से ब्रह्मलोक को जाते है। श्रुति भी कहलाती है—

"स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते ।
यथा लम्बरस्य (भास्करस्य) रव तेन ऊर्ध्वआक्रमेत" ॥[1]

—(वृह० उपनिषद्)

इस सब प्रमाणो के आधार पर सूत्रोक्त "सूर्य" पद का अर्थ सूर्यद्वार ही सिद्ध होता है। केवल सूर्यद्वार मे ही सयम करने से समग्र भुवन-ज्ञान नही होता है। अन्यत्र भी सयम करने से भुवन-ज्ञान सम्पन्न होता है। अतः योग के उपाध्याय द्वारा उपदिष्ट सूर्यद्वार से अन्यत्र भी सयम-द्वारा सम्पूर्ण भुवनो का ज्ञान प्राप्तव्य है। जब तक पूर्णरूप से समस्त भुवनो का साक्षात् न हो जाए, तब तक सयम का निरन्तर धैर्यपूर्वक अभ्यास करना चाहिये।

समस्त भुवनो का ज्ञान सूर्यद्वार मे, अथवा योगोपाध्यायोपदिष्ट अन्य विषय मे सयम करके प्राप्तव्य है, जैसा कि भाष्यकार की 'ततोऽन्यत्रापि" उक्ति मे स्पष्ट है।

श्री स्वामी ओमानन्द सरस्वती ने अपने "पातञ्जल-योगप्रदीप" मे प्रथम भौतिक सूर्य मे ही सयम का उल्लेख किया है, तत्पश्चात् सूर्य के सूक्ष्म या आध्यात्म स्वरूप मे संयम का विधान किया है। तदनुसार प्रथम सूर्य के भौतिक स्वरूप मे संयम करने पर योगी को भूर्लोक एव भुवर्लोक अर्थात् पृथ्वी एव अन्तरिक्ष लोको का सामान्य साक्षात्कर होता है, जिसे इन दोनो के स्थूल लोको का अविशिष्ट ज्ञान होता है। इसी सयम मे केवल पृथिवी को आश्रय करके दुबारा सयम करने से तद्गत् द्वीप, सागर, पर्वत एव भूमि के अधोभाग मे स्थित लोको का विशिष्ट परिज्ञान होता है।

१. योगवार्त्तिक ( ३-२६ )।

इसी प्रकार केवल भुवःलोक को अवलम्ब कर सयम करने मे अन्तरिक्ष के लोको का विशेष ज्ञान लभ्य है।

ध्यान की अधिकतर सूक्ष्म अवस्था मे, उक्त सयम के अत्यधिक सूक्ष्म हो जाने पर, सूर्य के अध्यात्म स्वरूप विषयक सयम-द्वारा क्रमशः सूक्ष्मतर एव सूक्ष्मतम लोको, स्वः, महः, जन, तपः एव सत्यलोक का भी ज्ञान प्राप्त होता है। साथ ही स्वामी जी वाचस्पति सम्मत् मत से भी सहमत है। जिसके विषय मे उन्होने लिखा है कि—

"वास्तव मे कुण्डलिनी जागृत हो जाने पर, सुषुम्ना नाडी मे जब सारे स्थूल प्राणादि प्रवेश कर जाते है, तभी इस प्रकार के अनुभव होते है"। (पृष्ठ ५२३)

"साइन्स ऑफ योग" के लेखक श्री आई० के० टैमनी का भी मत ओमानन्द जी से मिलता-जुलता प्रतीत होता है। उन्होने प्रथम जन-सामान्य के दृष्टिगम्य स्थूल भौतिक सूर्य मे ही सयम बतलाया है और उसके फलस्वरूप भुवन-ज्ञान मे भुवन पद का अर्थ सूर्य-मडल या सौर-जगत (सोलर सिस्टम) किया है। इस सौर-मडल की रचना-विधि स्वय निखिल सृष्टि की मौलिक इकाई है। सौर-मण्डल के रचनात्मक विधान विषयक ज्ञान मे उसका भौतिक पक्ष मात्र निहित नही है, जिसका कि आधुनिक गणित-ज्योतिषविदो ने गम्भीर अध्ययन किया है। इसके अन्तर्गत सौरजगत् का सूक्ष्म पक्ष भी सम्मिलित है, जो हमारी दृष्टि के क्षेत्र से अन्तर्हित होने पर भी अत्यधिक रोचक एव महत्वपूर्ण है। आधुनिक विज्ञान के दृष्टिकोण से, सूर्य सामान्यतः सम्पूर्ण सौर-मण्डल का हृत्केन्द्र या आत्मभूत तत्त्व है। यौगिक विधान पर आश्रित रहस्यात्मक अन्वेषणो ने यह सिद्ध कर दिया है कि सम्पूर्ण सौरजगत् मे जितनी भी प्राणशक्ति की अभिव्यक्ति है, वह वस्तुतः सूर्य मे ही केन्द्रित है। यहाँ सूर्य-सम्बन्धी गहन भावना का उद्घाटन इस तथ्य से होता है कि सौर-मण्डल वास्तव मे परम-तत्त्व के प्राण और चेतनता की व्यजना का माध्यम मात्र है, जिसे हम ईश्वर या सौर-पुरुष कह सकते है।

सौर-मण्डल के विभिन्न स्तरो से जीवन एव चैतन्य विभिन्न स्तरो मे स्वय आविर्भूत होता है, जो परस्पर एक-दूसरे मे प्रविष्ट होकर एक सम्पूर्ण अखण्ड सत्ता का निर्माण करते है। सूर्य को श्रुतियो मे प्राण कहा गया है।

क्योकि सौरमण्डल के विभिन्न स्तर परस्पर सम्बद्ध है और इस समिश्रित रचना का केन्द्र भौतिक सूर्य है, अतः स्पष्ट है कि सूर्य के सयम से योगी के प्रति

सौरमण्डल के सम्पूर्ण आकार या रचना-विधान का उद्घाटन हो जायेगा। इतना ही नही हमारे भौतिक सौरमण्डल की रचना के साथ-साथ उन समस्त सौर-मडलो का भी आपाततः ज्ञान प्राप्त होगा, जो समग्र नियति का निर्माण करते है।

ये सौरमण्डल, एक-दूसरे से भिन्न तथा अत्यधिक दूरी पर स्थित होने पर भी, वस्तुतः एक-दूसरे से सर्वथा स्वतत्र नही है। वे सब एक ही साँचे मे ढले है। एक ही चरम सत्य उन सबका मूल आधार है और वे सब के सब एक ही शक्ति-सामान्य (कॉमन) से जीवन प्राप्त करते है[1]। सूर्य-विज्ञानवित् जानते है कि सूर्य ही जगत् का प्रसविना है। तु०—सूर्य आत्मा जगतः तस्थुषश्च, (ऋगुवेद) इसी से सूर्य का एक नाम "सविता" भी है—

"सविता सर्वभावाना सर्वभावाश्चसूयते।
सवनात् प्रेरणाच्चैव सविता तेन चोच्यते[2]॥"

सूर्य से ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय सब कुछ होता है —

"सूर्याद् भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु।
सूर्येलय प्राप्तुवन्ति यः सूर्यः सेऽहमेव च[3]॥"

अनागत तत्व के विषय मे–"सर्व सर्वात्मकम्" भगवान् व्यास की इस उक्तिरूप सिद्धान्त के मूल मे भी यही सूर्य विज्ञान है। सूर्य-विज्ञान का ज्ञाता सब कुछ कर सकता है। सूर्य की रश्मियो के सयोग और वियोग से प्रत्येक पदार्थ का, न केवल भावपरिवर्तन, अपितु सहार एव निर्माण भी होता है। सक्षेप मे सूर्य की रश्मियो के शुद्ध स्वरूप को पहचान कर, उनकी योजना कर सकना ही "सूर्यविज्ञान" का प्रतिपाद्य विषय है[4]।

कुछ भी हो, ब्रह्माण्ड-ज्ञान-प्राप्ति हेतु, सूर्य के सूक्ष्म अथवा आध्यात्मिक स्वरूप मे सयम अनिवार्य है। इस विषय मे ननुनच के लिये कोई स्थान नही। भले

---

१ साइन्स ऑफ योग, आई० के० टैमिनी, पृ० ३२७।

२. बृहत्-योगि याज्ञवल्क्य ( ६/५५-५६ )

३ सूर्योपनिषद्

४. सूर्य विज्ञान क्या हे, इस विषय मे श्री गोपीनाथ कविराज की "भारतीय सस्कृति और साधना" के "सूर्य विज्ञान-रहस्य"–शीर्षक मे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। स्वामी विशुद्धानन्द जो सूर्य विज्ञान के परम ज्ञाता थे, उनकी अनेक अलौकिक घटनाओ का भी इस पुस्तक मे उल्लेख है। ( पृष्ठ ४१६-४४२)

ही प्रारम्भिक अवस्था मे भौतिक सूर्य को सयम का विषय बनाया जाय, अन्ततः सूक्ष्म पक्ष मे निवेश अनिवार्य है। सूर्य मे सयम से क्यो और कैसे सम्पूर्ण भुवनज्ञान होता है, इसका स्पष्टीकरण भलीप्रकार, अत्यन्त वैज्ञानिक ढग से किया जा चुका है। सयम के ये विविध विषय योगशास्त्र की वैज्ञानिकता के ज्वलत उदाहरण है, यह आगे भी स्पष्ट होगा।

× × ×

चन्द्र मे सयम करने से तारा-व्यूह का परिज्ञान होता है।[1] ताराव्यूह अर्थात् ताराओ की स्थिति। कौन सा ताराव्यूह (तारासमृह) किस स्थान पर स्थित रहता है, इत्याकारक ज्ञान चन्द्रमा मे सयम करने पर प्राप्त होता है। चन्द्र मे सयम से ताराओ के विविध समूहो के प्रकार, जैसे आकाश-गगा (Galaxies) इत्यादि का ज्ञान होता है। यह सूत्र इस वैज्ञानिक (सिद्धान्त) तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है कि किसी बाह्य-दृग्विषय (द्रव्य) मे सयम के प्रयोग से उसके मौलिक आधारभूत नियम का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

गणित-ज्योतिष की विधि से आकाश सम्बन्धी अध्ययन ने, न केवल हमारे क्षितिज को विस्तृत किया और मानवीय दृग्विषय के परे, विविध तारापुन्ज एव विश्वो का ज्ञान प्रदान किया, वरन् इसने विभिन्न तारा-समूहो के माध्यमिक सम्बन्ध विषयक झलक प्राप्त करनेकी प्रेरणा भी दी है। दूरदर्शनयत्र की शक्ति-वृद्धि की प्रत्येक गति-विधि के साथ नवीन आकाशगगा और नवीन विश्व हमारे अनुभव-क्षेत्र के विषयीभूत होते है और रचनात्मक अनन्त प्रकृति को प्रमाणित करते है। समस्त दिव्य ज्योतिष्पिण्ड, जो आकाश मे अनियमित रूप से बिखरे हुए प्रतीत होते है, एक निश्चित ढग से विभिन्न समूहो मे विभक्त है और एक दूसरे से सम्बद्ध है। इस प्रकार उपग्रह सामूहिक रूप मे एक-एक ग्रह के चारो ओर घूमते है, ग्रहसमूह केन्द्रीय सूर्य की परिक्रमा करते है और सूर्यगण, जो हमे ताराओ के विशालसमूह के रूप मे दिखलाई देते है, आकाशगगा कहलाते है तथा अनेक ग्रहसमूहो के योग से एक विश्व (यूनिवर्स) का निर्माण होता है।[2] अन्तरिक्ष जगत् के इन सूर्य-चन्द्र, नक्षत्रादि का दृश्य, सामान्यतः भूलोकवासियो को क्रमहीन तथा असम्बद्ध सा दिखलाई देता है, पर जिसने भी ज्योतिष-विज्ञान का गहन अध्ययन किया है, वह जानता है कि ज्योतिर्विज्ञान के तथ्यो के आधार मे एक बहुत बडा विधान है।

---

१. "चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्"—यो० सू०—३-२७।

२. साइन्स ऑफ योग—आई० के० टैमिनी—पृ० ३२८।

ज्योतिष का प्रत्यक्ष निदर्शन, जो विविध वर्गीकरणो एव गतिविधियो से विचित्र है, उसका समग्र ज्ञान सयम-द्वारा हो सकता है। चन्द्र द्वारा पृथ्वी का परिक्रमण एक ऐसा ही जीता-जागता छोटा-सा दृष्टान्त है। यह समस्त वर्गीकरणो एव गतिविधियो की आवश्यक विशेषताओ का प्रतीक है। अतः योगी के मस्तिष्क मे चन्द्र-विषयक सयम से नक्षत्रो के रचना-विधान की सारभूत प्रकृति का उद्घाटन होता है।

इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—ज्योतिष के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक ग्रह प्रत्येक राशि पर एक निश्चित समय तक स्थिर रहता है। पृथ्वी एक-एक राशि पर एक-एक मास तक ठहरती हुई एक वर्ष मे बारहो राशियो का परिक्रमण करती है। चन्द्र एक ही चन्द्रमास मे बारह राशियो पर घूम कर पृथ्वी की परिक्रमा कर लेता है। अतः चन्द्र के सयम से योगी को राशि-चक्र का ज्ञान शीघ्रता एव सुगमतापूर्वक हो जाता है। क्योकि ज्योतिष का यह तथ्य है, सब ग्रहो की अपेक्षा चन्द्र प्रत्येक राशि पर सब से कम समय तक स्थिर रहता है। अतः ताराव्यूह-राशि की आकर्षण एव विकर्षण-शक्ति से चन्द्र निकटतम सम्बद्ध है।[1]

अनेक टीकाकारो ने चन्द्र का अर्थ इडा नाडी किया है, जो कि सुषुम्ना के बाई ओर स्थित है,[2] किन्तु व्यास, वाचस्पति, भिक्षु सदृश विद्वानो ने इसका सकेत नही किया है।

श्री वाचस्पति मिश्र एव श्री विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र को ही यथावत् दोहराते हुए "भाष्य सुगम" लिख कर छोड दिया है। विवरणकार शकर ने सामान्य रूप से चन्द्र शब्द का व्यवहार किया है।

श्री राघवानन्द सरस्वती ने "व्यासभाष्य" का ही सक्षेप मे अनुकरण किया है। श्री भावागणेश एव नागोजीभट्ट ने चन्द्र का अर्थ चन्द्रमण्डल किया है। श्री भोज, रामानन्द यति, अनन्त पडित एव सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने सामान्य चन्द्र का अर्थ ग्रहण किया है। साथ ही यह भी उल्लेख किया है, कि सूर्य, तारा, नक्षत्रादि का अभिभावक है, अतः सूर्य-विषयक सयम से ताराव्यूह विज्ञात नही होता है।

श्री हरिहरानन्द आरण्य ने अपनी भास्वती मे सूत्रस्थ चन्द्र का अर्थ सूर्यद्वार की भाँति चन्द्रद्वार किया है। चन्द्रद्वार कहाँ है ? इस विषय मे उनका मत

१. "पातञ्जल योग-प्रदीप"—स्वामी ओमानन्द—पृ० ५२२-५२३।

२. "पातञ्जल योग-प्रदीप"—स्वामी ओमानन्द—पृ०५२२-५२३।

है कि चन्द्र ठीक द्वार नही होता है। योग के ग्रन्थान्तरो मे नासाग्र आदि मे चन्द्र के भिन्न-भिन्न स्थान बतलाए गये है। यथा चक्षुसम्बन्धी चन्द्र के विषय मे "तालुमूले च चन्द्रमा" यह उक्ति है और भी "नासाग्रे शशधृग्विम्बम्" आदि अनेक वचन इस विषय मे प्रमाण है। स्वामीजी के "पातञ्जल-योगदर्शन" मे चन्द्रद्वार के सम्बन्ध मे लिखा है कि "सुषुम्ना द्वारा उत्क्रान्ति होने पर जैसे सूर्य के साथ सम्पर्क रहता है, अतः उसका नाम सूर्यद्वार है, वैसे ही चक्षु इत्यादि इन्द्रियो-द्वारा उत्क्रान्ति होने पर चन्द्र सम्बन्धी लोक की प्राप्ति होती है, अतः इसका नाम चन्द्र या चन्द्रद्वार है।"

यह स्वामी जी को भी स्वीकार है कि सूर्यद्वार की भाँति यहाँ सौषुम्न प्रज्ञा का कोई प्रयोजन नही है। चन्द्र मे सूर्यालोक प्रतिफलित है। सामान्य इन्द्रियसाध्य ज्ञान के ही अत्युत्कर्ष से ताराव्यूह ज्ञेय है, जैसा भास्वती के "चक्षुरा-दिवाह्येन्द्रियानिष्ठानेषु सयमादिन्द्रियोत्कर्षस्तत्र आलोकित वस्तुज्ञान न च सूर्यद्वारवत् स्वालोकेन विज्ञानम्"[1]– इस कथन से स्पष्ट है।

चन्द्र वियषक सयम के प्रसग मे श्री व्यास, वाचस्पति, विवरणकार शकर प्रभृति विद्वानो ने चन्द्रद्वार का कथन नही किया है। यहाँ चन्द्र शब्द का विवक्षित अर्थ क्या है, यह स्पष्ट नही होता।

× × ×

सूर्य, चन्द्र, ध्रुव आदि मे सयम, का अर्थ एक प्रकार से त्राटकयोग है जिसके द्वारा योगी सूर्य मे तथा चन्द्र और ध्रुव मे स्थित होकर उक्त आलोक से अवबोधन प्राप्त कर लेता है। ध्रुवतारा मे सयम करने से ताराओ की गति का ज्ञान होता है।[2] सूत्र मे "तत्" शब्द अन्य ताराओ का परामर्शक है, ध्रुव का नही। ध्रुव तो निश्चल है। प्रथम चन्द्र मे सयम करके ताराव्यूह का ज्ञान प्राप्त करके पुनः ध्रुव-विषयक सयम से उन ताराओ की गति का ज्ञान प्राप्त होता है, ताराओ के स्वरूप ज्ञान-बिना ही ध्रुव मे सयम करने से उनकी गति का ज्ञान नही हो सकता है। इसीलिये पहले चन्द्रमा मे सयम प्रयुक्त करके उनकी स्थिति का ज्ञान आवश्यक है। अतः पहले चन्द्र मे सयम कहा गया है।

ध्रुव की निश्चलता प्रसिद्ध है। शेष सभी तारा चल है। भले ही उनकी गतियाँ, शीघ्र अथवा मन्द होने से, विभिन्न हो। गति एक आपेक्षिक वस्तु है, यह

---

१. भास्वती—३-२७।

२. "ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्"—यो० सू० ३-२८।

एक नितान्त वैज्ञानिक तथ्य है कि विशुद्ध गति का लक्षण नही किया जा सकता है। किसी अचल विषय के सम्बन्ध से ही गतिविधियो को नापा जा सकता है। समस्त गतिविधियो का यही आधारभूत नियम है। ध्रुव-तारा ( पोल-स्टार ) अन्य सब ताराओ से सम्बद्ध है और यह निश्चलता का प्रतीक माना जाता है। अतः इसमे सयम करने से नियत देश एव काल सहित प्रत्येक तारा की गति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। नियत देश-काल अर्थात् इतने समय मे कोई विशिष्ट तारा या ग्रह आदि अमुक राशि अथवा अमुक नक्षत्र मे जाएगा इत्यादि।

श्री टैमनी का मत है कि ध्रुव मे सयम करने से ध्रुव-तारा के स्थूल स्वरूप का सयम नही समझना चाहिये, जो कि उस नाम को धारण करता है, वरन् गतिविधि के उस नियम मे सयम मानना चाहिये, जिसका कि वह ( ध्रुवतारा ) प्रतीक है। इस मूल एव मुख्य प्रतीक मे सयम करने से गतिविधियो के अन्य भी समस्त उपनियम ज्ञात हो जायेगे।[1] किन्तु यह मत अनुभव और शास्त्र सम्मत न होकर केवल काल्पनिक ही होता है।

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यास ने ऊर्ध्वविमान-विषयक सयम भी कहा है। भाष्योक्त "ऊर्ध्वविमानेषु" शब्द की शकर आदि ने व्याख्या नही की है, ऊर्ध्व-विमान शब्द का ही प्रयोग किया है। वाचस्पति ने सूत्र २७ से ३१ तक की "निगदव्याख्यातम्" कह कर व्याख्या नही की है। अन्य व्याख्याकारो ने भी इस सूत्र की अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्या की है। श्री भिक्षु ने "ऊर्ध्वविमान" का अर्थ "आदित्यादिरथ" किया है, वह किस प्रकार है, यह स्फुट नही हो पाता। किन्तु यह पुराण मे प्रतिपादित सूर्य चक्र-भ्रमण अध्याय मे उपलब्ध होता है। स्वामी हरिहरानन्द ने ज्योतिष्कनिलय अर्थ किया है। ठीक अर्थ क्या है, यह साधना परायण ही समझ सकते है।

× × ×

नाभिचक्र मे सयम करने से काय-व्यूह अर्थात् शरीर की बनावट का ज्ञान हो जाता है।[2]

---

१. "साइन्स ऑफ योग"—पृ० ३२६-३०।

२. "नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्"—यो० सू० ३/२९।

टि०—पतञ्जलि तथा उनके व्याख्याकारो ने चक्रो का विवरण नही दिया है, पर

—आगामी पृष्ठ पर




मणिपूर चक्र




# अनाहत चक्र

शरीर की बनावट के ज्ञान से तात्पर्य है—शरीर-निर्माण करने वाली सप्त धातुओ के विन्यासक्रम दोष-त्रय का ज्ञान। शरीर मे तीन दोष सदैव विद्यमान रहते है। वात, पित्त और श्लेष्मा (कफ)। सुश्रुत मे इन्हे सत्व, रज तथा तम रूप

---

(गत पृष्ठ का शेषांश)

इसका तात्पर्य यह नही कि वे इन्हे अस्वीकार करते है। यहॉ पर स्पष्ट ही "चक्र" शब्द का उल्लेख हुआ है। ये पद्म ( चक्र ) सात है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार। इन सातो चक्रो के अतिरिक्त भी मानस-चक्र, ललाट-चक्र, सोम-चक्र ( गुरुचक्र ) तथा ललना-चक्रादि का भी वर्णन कही-कही पाया जाता है, परन्तु मूलाधारादि, उपर्युक्त सात ही प्रधान है। योग-प्रक्रिया मे ये ही अधिक उपयोगी है तथा अन्य चक्र भी इन्ही से सम्बद्ध एव इन्ही के अन्तर्गत है। षट्चक्र भेदनोपरान्त सहस्रार मे अवस्थिति ही पूर्वोक्त ( धारणा के प्रसग मे ) मार्ग-धारणा या ज्योतिर्धारणा है।

( १ ) मूलाधार—इसमे चार दल है। रक्त वर्ण तथा यह गुदामूल से दो अगुल ऊपर एव उपस्थमूल से दो अगुल नीचे स्थित है। चारो दलो पर क्रमश व, श, ष, और स, ये चार वर्ण अकित है। इसका पृथिवी तत्व है तथा अधिपति देवता चतुर्भुजी डाकिनी शक्ति के साथ चतुर्भुज ब्रह्मा है। इस चक्र के नीचे, त्रिकोणयन्त्र जैसा सूक्ष्म योनिमडल का वर्णन तान्त्रिक ग्रथो मे पाया जाता है, जिसके बीच सुषुम्णा (सरस्वती) नाडी, दक्षिण कोण से पिगला (यमुना) नाडी और वाम कोण से इडा ( गगा ) नाडी निकलती है। अत इसे मुक्त-त्रिवेणी भी कहते है। सुषुम्णा मे ब्रह्मनाडी है, जिसके मुख मे स्वयम्भू लिग है। इस स्वयम्भू-लिग को आवेष्टित करके, कुण्डलिनी साढे तीन कुण्डल से लिपटी हुई, शख के आवर्तन के समान स्थित है। मूल शक्ति अर्थात् कुण्डलिनि शक्ति का आधार होने से इसे मूलाधार चक्र कहते है। Pelvic Plexus के स्थूल स्वरूप से इसके सूक्ष्म स्वरूप का सकेत किया जा सकता है। इसका भूर्लोक से सम्बन्ध है। यह अपान वायु का मुख्य स्थान हे।

( २ ) स्वाधिष्ठान चक्र-(हाइपोगेस्ट्रिक प्लेक्सस) इसका स्थान मूलाधार पद्म से दो अगुल ऊपर पेडू के पास है। वर्ण सिन्दूरी रग के प्रकाश से युक्त हे। इस पद्म मे ६ पखुडी है। जिसपर, ब, भ, म, य, र और ल, ये छ अक्षर अकित है। जल तत्व है। अधिपति देवता चतुर्भुजी राकिनि शक्ति के साथ विष्णु है। भुव लोक है। व्यान वायु का मुख्य स्थान है।

( ३ ) मणिपूर चक्र-(ए पिगेस्ट्रिक प्लेक्सस) या (सोलर प्लेक्सस) इसका स्थान नाभिमूल है।

—आगामी पृष्ठ पर

त्रिगुणमूलक विभाग बतलाया गया है।[1] सप्त धातुएँ त्वचा, रक्त, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र है। इन्ही से शरीर बना है। शरीर मे शुक्र सबसे भीतर स्थित है। तत्पश्चात् क्रमशः मज्जा, अस्थि ( हड्डी ), स्नायु ( नाडीजाल ), मास रक्त और त्वचा बाहर की ओर स्थित है।

---

१ पात यो० द० ( हरि० आ० )—पृ० २६६।

टिप्पणी—साख्ययोग के सत्व, रज, तम पर आधारित वात, पित्त और श्लेष्मा (कफ), ये विकारत्रय वैद्यकशास्त्र के मूल आधार है। यह सूत्र व इसका व्यासभाष्य दोनो इस बात की स्पष्ट सूचना देते है। शरीर-विज्ञान के सम्यक् तत्व भी इसमे निहित है।

---

(गत पृष्ठ का शेषाश)

आकृति नीले रग के प्रकाश से युक्त, दस-दल-कमल के सदृश है। दसो पखुडियो पर दलो के अक्षर–ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ है। इन दसो वर्णो की ध्वनियाँ भी निकलती हे। अग्नि तत्व है। अधिपति देवता अपनी चतुर्भुजी शक्ति लाकिनी के साथ रुद्र है। स्व लोक। समान वायु का मुख्य स्थान हे।

( ४ ) अनाहत चक्र—(Cardiac Plexus) स्थान हृदय के पास। आकृति सिदूरीरग के प्रकाश से उज्जवल बारह पखुडी के कमल जैसी है। पखुडियो के वर्ण—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, और ठ, है। तत्व वायु है। अधिष्ठातृ देवता ईशान रुद्र अपनी त्रिनेत्रा चतुर्भुजी शक्ति कामिनी के साथ। महर्लोक है। प्राण वायु का मुख्य स्थान है।

शिव-सार तत्र के अनुसार अनाहत ध्वनि का यही स्थान है। यह ध्वनि-साक्षात् परमशिवरूप शब्दब्रह्म है। त्रिगुणमय ओकार यही व्यक्त होता है—

"शब्द ब्रह्मेति त प्राह साक्षाद्देव सदाशिव ।
अनाहतेषु चक्रेषु स शब्द परिकीर्त्यते ॥" ( परापरिभिल्लोल्लास )

( ५ ) विशुद्ध चक्र–(कैरोटिड प्लेक्सस)—स्थान कण्ठदेश। आकृति धूम्र–रग के प्रकाश से उज्ज्वलित १६ पखुडी के कमल-तुल्य है। १६ दलो के अक्षर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ ॠ, ऌ, ए, ऐं, ओ, औ, अ, अ है। तत्व आकाश। अधिष्ठातृ देव, पचमुख सदाशिव चतुर्भुजी शक्ति शाकिनी के साथ है। इस स्थान पर मन की स्थिति होने पर मन आकाशतुल्य स्वच्छ हो जाता है। जन लोक है। उदान वायु का मुख्य स्थान।

( ६ ) आज्ञाचक्र (मेडुला प्लेक्सस)–इसका स्थान दोनो भ्रुवो के मध्य भृकुटी मे है। आकृति श्वेत प्रकाश वाले द्विदल कमल के तुल्य है। दलो के वर्ण ह और क्ष है। तत्व महत् है।

—आगामी पृष्ठ पर

बोधाधिष्ठानो का विकार वायु ( वात ), सचारक अश का विकार पित्त और स्थितिशील अश का विकार श्लेष्मा ( कफ ) है। चरक एव सुश्रुत प्रभृति वैद्यक शास्त्र के ग्रन्थो मे इन सवका विशेप विवरण है। स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने इस विषय का स्पष्टीकरण किया है।[1]

---

१ पात० यो० द०—( हरि० आ० )—पृ० २६६।

टिप्पणी—साख्ययोग के सत्व, रज, तम पर आधारित वात, पित्त, और श्लेष्मा (कफ), ये विकारत्रय वैद्यक शास्त्र के मूल आधार हे। यह सूत्र व इसका व्यासभाष्य दोनो इस बात की स्पष्ट सूचना देते है। शरीर-विज्ञान के सम्यक तत्व भी इसमे निहित है।

(गत पृष्ठ का शेषाश)

अधिपति देवता, ज्ञान-दाता शिव अपनी षडानना चतुर्हस्ता शक्ति हाकिनी के साथ। इडा, पिगला और सुषुम्णा का मिलन-स्थान होने से इसे "युक्त त्रिवेणी" भी कहते है। आज्ञा चक्र शिवनेत्र, दिव्यदृष्टि का मन्त्र (Organ of Clairvoyance) कहलाता है। पाश्चात्यो के Pineal gland और pituitary Body आज्ञा-चक्र की दोनो पखुडियो के सकेतक है। इसके विकसित होने पर ये दोनो मास-पिड दिव्यशक्ति सम्पन्न बनते है। इस चक्र से सम्बद्ध लोक तप है। यहाँ पर प्राण एव मन स्थिर होने पर सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

( ७ ) सहस्रार (Cerebral Plexus)स्थान तालु के ऊपर मस्तिष्क ब्रह्म-रन्ध्र के ऊपर सर्व शक्तियो का केन्द्र है। आकृति विविध रग के प्रकाश से युक्त सहस्रदल कमल जैसी है। दलो पर अ से क्ष तक समस्त वर्णो की २० बार पुनरावृत्ति हुई है। तत्त्व तत्त्वातीत है। अधिष्ठातृ देवता, पराशक्ति सहित परब्रह्म है। सत्य लोक है। कतिपय विद्वानो के अनुसार, अगुष्ठमात्र हृदय पुरुष का यही स्थान है। यही पर आत्मा के ज्ञान के प्रकाश से प्रतिविम्बित चित्त है। (इस विषय मे मतभेद है, जिनका विवरण ३/३४ की व्याख्या मे द्रष्टव्य है)। सहस्रार मे चित्तस्थिति होने पर असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। चक्रो का यह वर्णन "पातञ्जल-योगप्रदीप" के आधार पर किया गया है। आर्थर एवलान ने "सर्पेन्ट पावर" में एक थियोसोफी मतानुयायी लेखक के अनुभव का उल्लेख करके बतलाया है कि सहस्रार मे सहस्र पखुडियाँ नही है। इसमे ठीक ९६० पखुडी है वे लिखते है—"And corrects the number of petals of the lotus in the head, which he says is not a thousand, as the books of this Yoga say, "but exactly 960." लेखक का मत है कि यहाँ पर सहस्र शब्द केवल विशालता का प्रतीक है। "Thousand" is, here, only symbolic of magnitude. (The Serpent Power, page—7)

विज्ञानभिक्षु, श्री भोज, भावागणेश, नागोजी भट्ट, अनन्त पडित एव स्वामी ओमानन्द ने नाभिचक्र की जो व्याख्या की है, उसके अनुसार, शरीर के मध्यभाग मे स्थित पोडष अरो से युक्त नाभिचक्र, शरीर मे सर्वत्र विस्तृत नाडी-जाल आदि का मूल एव विशिष्ट सस्थान तथा नियामक है। अतः इसमे सयम करने से शरीर की रचना का विज्ञान होता है।[1] स्वामीजी द्वारा उक्त नाभिचक्र "मणिपूर चक्र" नही है, क्योकि उसमे १० ही पखुडी है।

श्री आई० के० टैमनी ने भी लिखा है—यह नाभिचक्र और नाडी-जाल ( सोलर-प्लेक्सस ) या मणिपूर चक्र नही है, वरन् उसी से सम्बद्ध एक चक्र है, जो प्राणमयकोष के अन्तर्गत है।

योगसुधाकरकार श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने नाभिचक्र मणिपूर-चक्र ही बतलाया है। मणिप्रभाकार ने भी उक्त नाभिचक्र मणिपूर ही माना है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि सदाशिवेन्द्र सरस्वती योगी थे—ऐसी प्रसिद्धि है। भाष्यकार व्यास, वाचस्पति मिश्र, विवरणकार शकर, राघवानद एव हरिहरानन्द सरस्वती ने इस विषय का स्पष्टीकरण नही किया है। अतः यह नही कहा जा सकता है कि उक्त नाभिचक्र मणिपूर नही ही है।

× × ×

कण्ठ-कूप मे सयम करने से क्षुधा एव पिपासा की निवृत्ति होती है।[2]

जिह्वा के नीचे मूल मे सूत के समान एक नस है। इस तन्तु[3] ( नस ) के अधोभाग मे कण्ठ ( Larynx ), कण्ठ के निम्नभाग मे स्थित गर्ताकार प्रदेश कण्ठकूप ( Trachea ) कहलाता है। इसी मे प्राण का स्पर्श होने पर प्राणी को भूख एव प्यास सताती है। अत॰ कण्ठकूप मे सयम करने से प्राण-स्पर्श की निवृति हो जाने से योगी को क्षुधा-पिपासा बाधा नही पहुचाती है।[4]

---

१. द्र० योगवार्त्तिक, भोजवृत्ति, नागोजी भट्ट वृत्ति, योगचन्द्रिका ( यो० सू० ३।२९ ) तथा "पातञ्जल-योगप्रदीप"—पृ० ५२४।

२. "कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्ति " ( ३/३० )

३. तन्तु वाक्यत्र का अश विशेष है, इसे वोकल कार्ड भी कहते है।

४. डाक्टर औषधि के प्रयोग से शरीर मे जिस प्रतिक्रिया को उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है, योगी उसे प्राणो के गति-प्रवाह के वशीकरण एव नियमन-द्वारा ही कर सकता है।

—आगामी पृष्ठ पर

श्री भिक्षु तथा भावागणेश ने कण्ठकूप का स्थान हृदय पर्यन्त बतलाया है।

कूर्म-नाडी मे सयम करने से स्थिरता प्राप्त होती है।[1] उपर्युक्त कण्ठकूप के निम्नभाग मे हृदय मे कच्छप (कछुआ) के आकार की एक नाडी है। इसे कूर्म-नाडी कहते है। इस नाडी मे सयम करने से अडिग स्थिरता प्राप्त होती है। जैसे कुण्डलिनसर्प तथा गोध (गोह) के स्थिर बैठ जाने पर उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हे कोई हिला भी नही सकता है। सूत्रोक्तस्थैर्य मे चित्तस्थैर्य भी समाविष्ट है।

मूर्ध-ज्योति मे सयम करने से सिद्ध-पुरुषो का दर्शन प्राप्त होता है।[2] मस्तक के कपालप्रदेश के मध्यस्थ भास्वर छिद्र है। इसे मूर्ध-ज्योति कहते है। इस मूर्ध-ज्योति मे सयम करने से आकाश एव पृथिवी के मध्य मे विचरण करने वाले सिद्ध पुरुषो का दर्शन एव सम्भाषण प्राप्त होता है।

श्री वाचस्पति मिश्र ने "मूर्धज्योति" से सुषुम्ना नाडी का अर्थ ग्रहण किया है।[3] श्री भिक्षु ने "अन्तः प्रभास्वर स्वप्रकाशक ज्योति" कह कर इसकी व्याख्या की है। श्री भोज ने इस छिद्र को ब्रह्मरन्ध्र कहा है और उक्त ज्योति को सम्पिण्डित हृदयस्थ सात्विक प्रकाश बतलाया है। भावागणेश ने इसे शिरःकपालान्तवर्ती भौतिक ज्योति कहा है। नागोजी भट्ट ने, शिरःकपालान्तर्वर्ती सुषुम्नानाडीस्थ

१ "कूर्मनाड्या स्थैर्यम्" ( यो० सू० ३/३१ )
टि० हरिहरानन्द आरण्य ने कूर्मनाडी का विवरण देते हुए बतलाया है कि ब्रोङ्किकल ट्यूब ही कूर्मनाडी है।

२ "मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्" ( यो० सू० ३-३२ )

३ "मूर्धशब्देन सुषुम्ना नामा नाडी लक्ष्यते"। ( त० वै० )
मूर्धज्योति सम्बन्धी विशिष्ट विवरण के लिये द्रष्टव्य श्री रामशकर भट्टाचार्य का लेख "A wrong Interpretation of the word Jyotish in the Vyas bhasya. 3-1. ( Journal of the yoga Institute—XV (9).

(गत पृष्ठ का शेषाश)

यह बात सुप्रसिद्ध है कि भूख, प्यास आदि की अनुभूति, शरीर के विभिन्न भागो मे स्थित ग्रन्थियो के उद्रेचन ( रसस्राव ) पर निर्भर है। अत इन कार्यशील ग्रन्थियो की कार्यशक्ति अवरुद्ध करके, तज्जन्य अनुभूतियो को भी रोका जा सकता है। महर्षि पतञ्जलि ने शरीर-विज्ञान सम्बन्धी इन क्रियाओ का सविस्तार प्रतिपादन नही किया है, क्योकि अज्ञ जन इन विषयो मे उलझ कर अपने आपको हानि पहुँचा सकते है।

भौतिक ज्योति कहा है। अनन्त पण्डित तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने इसे सुषुम्ना के योग से भास्वर ब्रह्मरन्ध्र बतलाया है। प्रसिद्ध विद्वान श्री गोपीनाथ कविराज ने "मृत्युविज्ञान और परमपद" के प्रसग मे मूर्धस्थ भास्वर छिद्र की चर्चा करते-हुए उसे ब्रह्मरन्ध्र कहा है और उसे सुषुम्ना से साक्षात् सम्बद्ध बतलाया है। साराश यह है कि यह ब्रह्मरन्ध्र सुषुम्ना-द्वारा चित्त के सात्विक प्रकाश से भास्वर है।[1]

स्थूल दृष्टि से इस छिद्र का कार्य शरीर की श्लेष्मा का निष्कासन है। अग्रेजी मे इसे Pituitary Body कहते है। औषधि-विज्ञान मे प्रचलित शरीर विज्ञान सम्बन्धी अन्य कार्यो के अतिरिक्त आत्मिक स्तर से सम्बन्ध-स्थापना भी इसका एक महत्वपूर्ण व्यापार है, जिस पर कि सिद्धो की चेतनता क्रियाशील है। ध्यान के द्वारा जब इस (ब्रह्मरन्ध्र) को कार्यशील बनाया जाता है तब यह निम्नस्तरीय एव उच्चस्तरीय चैतन्य के मध्य सेतु का प्रयोजन सिद्ध करता है और मस्तिष्क को उच्चस्तरीय जगत् के प्रकाश के सन्निवेश-योग्य बनाता है। योगी के लिये सिद्ध तभी सुलभ हो सकते है जब वह उनके स्तर तक उठ कर सिद्धो के साथ सम्पर्क स्थापित कर सके, किन्तु भौतिक शरीर के उक्त विभाग मे ध्यानमात्र से इस प्रकार के सम्पर्क की क्षमता नही प्राप्त हो सकती है। यह तो उस प्रकाश मे सयम किये जाने पर भी सभव है, जिसकी यह इन्द्रिय एक माध्यममात्र है।[2]

सयम के पूर्ववर्णित समस्त विषयो का साक्षात्कार प्रातिभ ज्ञान के द्वारा भी होता है। अर्थात तद्, तत् विषयो के सयम द्वारा उन सबका भिन्न-क्रम पूर्वक ज्ञान होता है, अथवा केवल प्रातिभ ज्ञान-द्वारा उन सब का युगपद् ज्ञान हो जाता है।[3]

श्री वाचस्पति मिश्र प्रभृति के अनुसार ऊह ( तर्कना ) को प्रतिभा कहते हैं। तद्विषयक सयम से उत्पन्न-ज्ञान प्रातिभ कहलाता है। यह ज्ञान पुरुष को ससार-सागर से तारने वाला है। अत इसी को तारकज्ञान भी कहा गया है।[4] इस प्रातिभ-ज्ञान के उत्पन्न होने पर योगी को सयम के समस्त विषयो का, बिना सयम के, इच्छामात्र से ज्ञान हो जाता है। यह प्रतिभ-ज्ञान विवेकज्ञान का ही पूर्व लिग है, जिसके आलोक से प्रथम पुरुष से विविक्त समस्त अनात्म पदार्थ स्वतः आलोकित हो उठते है। तदुपरान्त पुरुष का वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है।

---

१ भा० स० और सा० प्र० ख०, पृ० ४७२।

२. साइन्स ऑफ योग—आई० के० टैमिनी-पृष्ठ ३३३-३३४।

३. "प्रतिभाद्वा सर्वम्" ( यो० सू० ३-३३ )

४. योग सू० ३/५४, व्या० भा० ३/३३।

विभूतिपाद के ही अन्तर्गत आगे इसे (प्रातिभ ज्ञान को) अक्रम सार्वज्ञसिद्धि कहकर समझाया गया है। अनात्म-विषयक ज्ञानकी यह चरम सीमा है। जिस प्रकार सूर्योदय से पूर्व, उसी (सूर्य) की प्रभा के प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् आलोकित हो उठता है, उसी प्रकार उपर्युक्त प्रातिभ-ज्ञान के उदित होने पर योगी भूत, भविष्य तथा वर्त्त-मानगत प्रत्येक पदार्थ को यथार्थ रूप मे जान सकता है। अर्थात सर्वज्ञ हो जाता है।

प्रातिभ ज्ञान (इन्ट्यूशनल इन-साइट) के लिये किसी बाह्य निमित्त की आवश्यकता नही होती है। वह अन्दर से अकस्मात् स्वतः प्राप्त होता है और अनौपदेशिक होता है।

"जैसे दर्पण मे अपना प्रतिविम्ब दिखलाई देता है, उसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान के आलोक से एक साथ भीतर बाहर सर्वत्र परमेश्वर की सत्ता प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगती है। सारा विश्व ही उनका घनीभूत रूप-सा भासने लगता है। इस अवस्था मे हेयोपादेय-बोध न रहने के कारण साधक के, तुच्छ एव परिछिन्न सिद्धियो के आश्रयभूत तत्प्रकार के निर्दिष्ट ध्यान छूट जाते है और सदा के लिए एकमात्र परम-वस्तु की भावना ही जागरूक रहती है। इस भावना की दृढता से ही जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है"।[1] वस्तुतः दुर्बल-चित्त साधक मे विश्वासोत्पत्ति ही सिद्धियों का उद्देश्य है। सिद्धियो के आविर्भाव से साधन-कर्त्ता को यह विश्वास हो जाता है कि देहपात के अनन्तर मुक्ति अवश्याम्भावी है, किन्तु ज्ञान की तीव्रता एव विश्वास की पूर्णावस्था मे सिद्धियो के प्रति उदासीनता हो जाती है और एकमात्र परमतत्व की भावना दृढ होती है। उस अवस्था मे जीवन्मुक्ति निश्चित है। प्रातिभ ज्ञान के विषय मे महामहोपाध्याय श्रीयुत् डा० गोपीनाथ कविराज ने "भारतीय संस्कृति और साधना मे" लिखा है कि "शिव, शक्ति तथा जीव ही वस्तुतः प्रातिभ-विज्ञान के रूप मे प्रादुर्भूत होते है।[2]

पूर्व वर्णित सयमजन्य समस्त सिद्धियाँ ससारविषयक होने से क्षुद्र कोटि की बतलाई गई है। इसके आगे विवेकज्ञान रूप सयम की मुख्य सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है, जिसके उपक्रम मे सर्वप्रथम सयम के हेतुभूत चित्त के साक्षात्कार का कथन हुआ है। चित्त का निवासस्थान हृदय-कमल मे है। अतः हृदय मे संयम करने से चित्त का साक्षात्कार होता है।[3]

---

१. "भारतीय सस्कृति और साधना" (गोपीनाथ कविराज, पृष्ठ २३४) शक्तिपात रहस्य)

२. पृष्ठ २३५।

३. "हृदये चित्तसवित्" ( यो० सू० ३-६४ )

हृदय शरीर का एक अत्यन्त विशिष्ट-स्थल है। प्राण का भी यही मुख्य केन्द्र है। भगवान् व्यास ने इसे ब्रह्म का पुर तथा विज्ञान-आगार बतलाया है। (तुल०–हृदि ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्नि आत्मा प्रतिष्ठितः)। अत यही चित्त निवासस्थान है। जिस प्रकार भौतिक एव सूक्ष्म पक्षद्वय की दृष्टि से, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, या सौर जगत् का प्राणभूत सूर्य उसका हृत्केन्द्र है और सम्पूर्ण सौर जगत् मे आवश्यक शक्ति प्रस्फुरित करता है, उसी प्रकार जीवात्मा के वाहक माध्यमो का सामान्य केन्द्र–जो उन्हे प्रेरित करता है—तन्त्रशास्त्र मे हृदय ही बतलाया गया है।[1]

वैसे शरीर मे जीवात्मा का कौन सा स्थान है, इस विषय मे कोई एक निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता है। जीवात्मा शरीर मे सर्वव्याप्त है और अवस्था भेद से उसके अनेक स्थान निर्दिष्ट किये गए है, जिनका विवरण यहॉ अनावश्यक है।

स्वामी ओमानन्द के अनुसार चित्त ही कारण शरीर है। इस चित्त पर ही आत्मा के ज्ञान का प्रकाश पडता है। कारण शरीर के सम्बन्ध से ही आत्मा की जीवात्मा सज्ञा होती है। यह कारण शरीर सूक्ष्म शरीर मे और सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर मे व्याप्त है। इस प्रकार कार्य-भेद से इसके अनेक स्थान है।[2] कुछ भी हो उन सब स्थानो से हृदय-स्थल ही विशिष्ट है, क्योकि अन्तत हृदयाकाश मे ही जीव विश्राम पाता है। श्रुति भी है—"य एष विज्ञानय पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादय य एषोऽन्तर्हृदय, आकशस्तस्मि-ञ्छेते"।[3]

विक्षिप्त चित्तशक्ति चाचल्य परित्याग कर, हृदयदेश मे सो जाती है। स्थिर चित्त नाडी मार्ग मे नही रुकता, क्योकि नाडी-जाल चित्त सचार के मार्गमात्र है। चित्त-स्थैर्य के क्रमानुसार नाडीचक्रस्थ–वायुमण्डल भी सकुचित हो जाता है और अन्ततः हृदयाकाश मे प्रविष्ट होकर, चापल्य-शून्य, शान्त एव पूर्ण स्थिर हो जाता है। तत्कालीन मन को निरुद्धवृत्तिक स्थिति होती है। इस अवस्था को लक्ष करके ही हृदयविषयक सयम से चित्त सवित् प्राप्त होती है। इसी दृष्टि से भगवान् व्यास ने दहर आकाश मे अर्थात् हृदय मे विज्ञान-वेश्म अर्थात् चित्त का निवास-स्थान बतलाया है :—

---

१ साईन्स-ऑफ योग, पृ० ३३६।
२. पात० यो० प्र०, पृ० २३९।
३ बृहदारण्यक उपनिषद् ( २/१/१७ )

"यतो निर्याति विषयः यस्मिश्चैव प्रलीयते।
हृदय तद्विजानीयान्मनसः स्थितिकारणम् ॥"

हृदयाकाश मे विश्रान्त चित्त की उक्त स्थिति का विशेष विवरण "भारतीय सस्कृति और साधना" मे दिया गया है। उसे विस्तार भय से प्रस्तुत नही किया जा रहा है।[1] दैहिक अस्मिता का केन्द्र हृदय ही है– यही शरीर का सर्वाधिक प्रकाशशील अग है। आत्म एव शरीर का सधिस्थान भी हृदय ही है। मस्तिष्क विज्ञान का यन्त्र अवश्य है, किन्तु अस्मिता मे पहुँचने के लिये हृदय का ध्यान प्रशस्त है। विज्ञान (चित्त) का मूल केन्द्र अहकारत्मिका (अस्मिता) बुद्धि है। जो हृदय के ध्यान-द्वारा ही साक्षात्कारणीय है। अस्मिता की समाधि मे हृदयाकाश का ही ध्यान किया जाता है। मस्तिष्क चौत्तिक केन्द्र है। हृदय-प्रदेश मे ध्यान से सूक्ष्म अस्मिता प्राप्त की जाती है। पुनः सूक्ष्म धारावाहिक क्रम से मस्तिष्क के अन्तरग देश मे पहुँचने पर अस्मिता का सूक्ष्मतम केन्द्र उपलब्ध होता है। इस अवस्था मे हृदय एव मस्तिष्क एक हो जाते है। इस प्रकार हृदय मे सयम करसे से चित्त का ज्ञान होता है।

यहॉ पर हृदय शब्द से रक्त सचार नाडी--जालादि के केन्द्रभूत यन्त्र से नही वरन् हृदयकमल अर्थात् अनाहत चक्र का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। वस्तुतः यह आध्यात्मिक देश है। उसी को भगवान् व्यास ने ब्रह्मपुर बतलाया है। ब्रह्म शब्द आत्मा का द्योतक है।[2] इस हृदय-पुण्डरीक मे ही विज्ञान का घर है, अर्थात् चि त्त का निवास स्थान है। तद्विषयक सयम से वह अधोमुख कमल ऊर्ध्व एव विकासोन्मुख होकर, तद्गत् चित्त का विशिष्ट ज्ञान होता है। यह वक्ष्यमाण पुरुषज्ञान का सोपान--स्वरूप है।

× × ×

अत्यन्त भिन्न, बुद्धि एव पुरुष का पारस्परिक अभेदज्ञान ही भोग है। जो परार्थ ( पुरुष के लिये ) है, उससे भिन्न स्वार्थ-प्रत्यग (पौरुषेय ज्ञान) मे सयम करने से पुरुष का साक्षात्कार होता है।[3]

---

१. भा० स० और सा० ( प्रथमखण्ड )-पृ० ४६९-४७०।

२. तत्व० ( ३/३४ )

३. "सत्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयो प्रत्ययाविशेषो भोग परार्थात्स्वार्थसयमात्पुरुषज्ञानम्"। ( यो० सू० ३-३५ )

सत्वप्रधान प्रकृति का प्रकाशात्मक एव सुखात्मक परिणामस्वरूप बुद्धि ही सत्व कहलाती है। चेतन आत्मा पुरुष कहलाता है। ये सत्व एव पुरुष दोनो सर्वथा भिन्न है, क्योकि बुद्धि-सत्व या चित्त परिणामी, जड, अद्रष्टा, सान्त एव भोग्य है तथा पुरुष शुद्ध, चैतन्यस्वरूप, अपरिणामी, समस्त विषयो का द्रष्टा और अनन्त एव भोक्ता है। ये दोनो अत्यन्त विपरीत स्वभाव होने पर भी बुद्धि मे प्रतिविम्बित होकर पुरुष उससे अभिन्न प्रतीत होता है। यह पुरुष एव बुद्धि की अभेद प्रतीत ही सूत्रगत ( प्रत्यय--अविशेप ) अविशेप प्रत्यय है, जिसके कारण जड चित्त के सुख-दुःख, मोहादि प्रत्ययो का चेतन पुरुष मे अध्यारोप होता है। अतः पुरुष मे सत्व से कुछ भी विशेषता नही ज्ञात होती बुद्धि एव पुरुष का अविशेष-प्रत्यय ही भोग है। इसी दृष्टि से बुद्धि-पुरुष को भोग्य तथा पुरुष भोक्ता कहलाता है। बुद्धि की यह भोगावस्था पुरुष के भोग--हेतु होने से परार्थ कहलाती है। इस परार्थ-प्रत्यय से अन्य, चेतनमात्र को आश्रय करने वाली पुरुष- विषयक प्रज्ञा स्वार्थ प्रत्यय कहलाती है, क्योकि वह किसी अन्य के लिये नही, वरन् स्वय पुरुष के आत्म- स्वरूप मे ही प्रयोजनवती है।

यह भी सर्वदा स्मरणीय है कि वस्तुतः पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप मात्र होने से प्रत्येक पदार्थ से सर्वथा असम्पक्त है। वस्तुत भोगादि–चित्त के धर्म होने से-चित्त मे ही होते है। भोग रूप चित्त-क्रिया का पुरुष निर्विकार द्रष्टा है। जिस भाषा को हम सोचते है, वह व्यवहार दृष्टि से प्रयुक्त हुई है। अतः यह व्यवहारातीत वस्तु के लिये उपयुक्त नही है, ऐसा समझ कर ही शब्द प्रयोग होता है। ज्ञान जितना सूक्ष्म होता है, व्यवहार उतना सूक्ष्म नही हो सकता। अन्तःकरण के तीन धर्म है प्रख्या ( ज्ञान ), प्रवृत्ति एव धृति (सस्कार), तदनुसार ही पुरुष को अधिष्ठाता, भोक्ता आदि कहा जाता है। साख्य-योग के सिद्धान्तानुसार पुरुष के द्रष्टभाव और भोक्तृभाव की सिद्धि का विवरण इस प्रकार है—अन्तः ज्ञान का द्रष्टा=द्रष्टा, प्रवृत्तिद्रष्टा=भोक्ता, सस्कार या धृति-द्रष्टा=अधिष्ठाता। अतः इस दृष्टि से पुरुष भोक्ता होने पर भी अपरिणामी है। द्रष्टा पुरुष अन्तःकरण न रहने पर शान्त चित्त का द्रष्टा होगा। सुख दुःखादि के भोक्तृभाव का पुरुष मे औपचारिक आरोप होता है, जो बुद्धिवृत्ति से साथ तादात्म्यप्रतीतिवश ही होता है। रज एव तम के मालावरण नष्ट हो जाने पर, रूप बुद्धि सत्वप्रधान होकर अत्यन्त निर्मल हो जाती है, उस अवस्था मे पुरुष रूप चैतन्य उसमे विशेष रूप से प्रतिविम्बित होता है। उस समय बुद्धि–सत्व मे पुरुष प्रत्ययमात्र प्रतिभासित होता है अर्थात् उस काल मे पुरुष का चैतन्य बुद्धि मे स्वस्वरूप मात्र अर्थ को प्रकाशित करता है। यही बुद्धिगत पुरुष का "स्वार्थप्रत्यय" कहलाता है।

इसी स्वार्थ-प्रत्यय मे सयम करने से पुरुष के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है। विवेकख्याति के उदय-पर्यन्त योगी पुरुषेतर सम्पूर्ण प्रकृति के तत्वो का साक्षात्कार करके यह जान लेता है कि पुरुष इससे भिन्न है। तत्पश्चात् पुरुष-प्रत्यय मे सयम-द्वारा शुद्ध चैतन्य तत्व का साक्षात्कार करता है।

शका हो सकती है कि जब पौरूपेय-प्रत्यय ( स्वार्य-प्रत्यय ) मे सयम करने से पुरुष-साक्षात्कार विषयिणी प्रज्ञा उत्पन्न होती है, तो उस प्रज्ञा-द्वारा ज्ञेय होने से पुरुष उक्त प्रज्ञा का विषय हुआ, जिससे उसकी स्वय प्रकाशता असिद्ध होगी। सरल शब्दो मे क्या पुरुष बुद्धि का ज्ञेय विषय है, यही इस शका का स्वरूप है, किन्तु उक्त शका निर्मूल है। चेतन पुरुष ही स्वय सब विषयो का द्रष्टा एव ज्ञाता है, अतः जड बुद्धि के द्वारा वह ज्ञेय कथमपि नही हो सकता है। वस्तुतः शुद्ध चेतन पुरुष ही स्वय बुद्धि-सत्व मे प्रतिविम्बित होकर स्वात्मावलम्बनरूप-प्रत्यय अर्थात् अपने स्वरूप को प्रकाशित करने वाली वृत्ति को देखता है। अतः पुरुप बुद्धि-वृत्ति का विपय नही प्रत्युत स्वय प्रकाश है। इस विपय मे भाप्यकार श्री व्यास ने बृहदारण्यक उपनिषद् की—"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" ( २/४/१४ ), इस उक्ति को भी प्रमाणरूप मे उद्धृत किया है। सबके विज्ञाता नित्यज्ञानस्वरूप पुरुष को भला किस (साधन) के द्वारा जाना जा सकता है। स्पष्ट है कि पुरुष किसी भी प्रमाणजन्य बुद्धि वृत्ति का विषय नही, वरन् स्व-प्रकाश है। जिस समय पुरुष चैतन्य बुद्धिगत प्रतिविम्ब के रूप मे प्रकाशित होता है—तब उस पुरुष-प्रतिविम्बित बुद्धि-वृत्ति मे ही पुरुष विषयिणी प्रज्ञा का आरोप किया जाता है। अतः तत्कालीन बुद्धिवृत्ति अज्ञानवश ही पुरुषविषया प्रज्ञा कही जाती है। यही कारण है कि स्वार्थप्रत्यय ही पुरुष विषयक सयम का भी विषय बनता है, क्योकि शुद्ध पुरुष सयम का विपय नही बन सकता है। प्रकृत सयम-विषयक प्राप्त प्रज्ञा ही पुरुष विषयिणी अन्तिम प्रज्ञा है। इसके उपरान्त बुद्धि का विलय होने पर स्वस्वरूपावस्थिति अथवा कैवल्य प्राप्त होता है।

"सत्वपुरुषयोरत्यन्ता सङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसयमात्पुरुषज्ञानम्" ( ३/३५ )। इस सूत्र के भाष्य मे भगवान व्यास ने कहा है कि स्वार्थ प्रत्यय मे सयम करने से उत्पन्न होने वाली पुरुष-विषयिणी प्रज्ञा-द्वारा अविवेक की निवृत्ति होने पर पुरुष स्वय प्रकाशरूप से भासित होता है। किन्तु श्री विज्ञानभिक्षु ने इस प्रकार पुरुष के ही ज्ञेय एव ज्ञाता होने से आत्माश्रय दोषारोपण करके, "पुरुष स्वय प्रकाश रूप से भासता है" इसका खण्डन करके, वृत्तियुक्त पुरुष को ज्ञाता और वृत्ति रहित पुरुष को ज्ञेय मान कर उक्त दोष का परिहार करके कहा है कि—

"पुरुष अपने स्वरूप को स्वय विषय बनाता है— किन्तु इसी सूत्र के भाष्यान्त के "विज्ञातारमेरे केन विजानीयात्", इस श्रुति की व्याख्या मे कहा है—"मोक्षकाले बुद्ध्यादिविलमात् केन करणेन तदानी विज्ञातारमात्मान पुरुषो विजानीयात्" अर्थात् मोक्षकाल मे बुद्धि आदि समस्त साधनो के लीन हो जाने पर, उस समय किस साधन से विज्ञातारूप आत्मा को पुरुष जानेगा ? क्योकि जब मोक्षकाल मे वृत्ति ही नही है, तो "वृत्यवच्छिन्न पुरुष के "ज्ञाता" और तदनवच्छिन्न पुरुष के ज्ञेय होने का प्रश्न ही नही उठता है।" किन्तु भिक्षुजी की उक्त व्याख्या साधना के साथ पूर्वावस्था की है। श्री वाचस्पति मिश्र, श्री भोज, राघवानन्द सरस्वती, हरिहरानन्द आरण्य नागोजी भट्ट, प्रभृति सभी प्रसिद्ध विद्वानो ने पुरुष के स्वप्रकाशकत्व की प्रकारान्तर से पुष्टि की है।

× × ×

पूर्ववर्णित "स्वार्थप्रत्यय" मे सयम से, उसका मुख्य फल "पुरुष का साक्षात्कार" प्राप्त होता है। साथ ही उक्त सयम के द्वारा पुरुषज्ञान से पूर्व अन्य गौण सिद्धियाँ भी उत्पन्न होती है, जिसके नाम प्रातिभ, श्रावण वेदन, आदर्श, आस्वाद तथा वार्त्ता है।[1]

ज्ञान प्राप्ति के छः साधन है, मन तथा पच ज्ञानेद्रियाँ अर्थात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण। सामान्य जन इन छहो साधनो के द्वारा लौकिक अर्थात् अदिव्य ज्ञान प्राप्त करते है। "स्वार्थ-प्रत्यय" मे सयम करने से योगी के इन षट् करणो मे दिव्य सामर्थ्य प्रादुर्भूत होता है, जिनके योगान्तर्गत शास्त्रीय अभिधान क्रमशः प्रातिभ, श्रावण वेदन, आदर्श आस्वाद एवं वार्त्ता है।

उनमे प्रतिभ के द्वारा सूक्ष्म, व्यवहित, दूरदेशस्थ तथा भूत एव भविष्य-कालीन पदार्थो का ज्ञान होता है।

श्रावण से दिव्य श्रवण, वेदन से दिव्य स्पर्श, आदर्श से आलौकिक प्रत्यक्ष या दिव्य दर्शन, आस्वाद से आलौकिक रस तथा वार्त्ता से दिव्य गन्ध का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। ये षट् सिद्धियाँ सयम के बिना, इच्छा न रहने पर, नित्य प्राप्त होती है।

"ततः प्रातिश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ता जायन्ते", इस सूत्र के "ततः" पद

---

१. "तत प्रातिभश्रावणवदनाऽऽदर्शास्वादवार्त्ताजायन्ते"। ( यो० सू० ३-३६ )

का अर्थ भिक्षु जी ने "पुरुषसाक्षात्कार" किया है। इस प्रकार पुरुषसाक्षात्कार से प्रातिभ, श्रावण आदि सिद्धियाँ इन्द्रियो को प्राप्त होती है, ऐसा सूत्रार्थ किया है, किन्तु ये सिद्धियाँ पुरुष–साक्षात्कार से पूर्व की उपलब्धियाँ है और तभी इनके प्रयोग का लाभ भी है। अन्यथा पुरुषसाक्षात्कारोपरान्त इन सिद्धियो का महत्व ही क्या है, जो कि पुरुष–साक्षात्कार की अपेक्षा अत्यन्त गौण एव नगण्य है। वस्तुतः पुरुष साक्षात्कार से पूर्व ही ये सिद्धियाँ प्राप्त होती है। यही मत श्री वाचस्पति, भोज प्रभृति योगाचार्य को भी मान्य है।

भोज ने सयमयुक्त इन्द्रियो की इन योग्यताओ को बतलाते हुए "वेद्यतेऽनया इति वेदना" अर्थात स्पर्शेन्द्रिय का ज्ञान। 'आसमन्तात् दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेन इति आदर्शः" अर्थात नेत्रेन्द्रिय के ज्ञान से योग्यता एव "वर्तते गन्धविषये इति वृत्तिः, वृत्तेर्घ्राणेन्द्रियाज्जाता वार्त्ता गन्धसवित्" इस प्रकार इन तीनो की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है। प्रातिभ, श्रावण और आस्वाद अपने नाम से ही स्पष्ट है। ये सब व्युत्थान दशा की तो सिद्धियाँ है, किन्तु समाध्यावस्था व्यवधानस्वरूप होकर पुरुष के साक्षात्कार मे बाधक है। ऐसा ही अग्रिम सूत्र–"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थानेसिद्धयः"[1] से भी सुस्पष्ट है। "योगसारसग्रह" मे श्री भिक्षु जी ने भी, "सिद्धयःपुरुषज्ञानस्य लिगभूता आदौ जायन्ते प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवात ( वार्त्ता ) सज्ञका" कह कर, इसी तथ्य को स्वीकार किया है।[2]

श्री भावागणेश ने भी इस विषय की अच्छी व्याख्या की है। श्री नागोजीभट्ट, रामानन्द यति, एव अनन्त पडित आदि सब विद्वानो ने, स्पष्टरूप से अथवा कुछ शब्दो के हेर-फेर के साथ, श्री भोज का ही अनुकरण किया है।

श्री हरिहरानन्द अरण्य एव राघवानन्द सरस्वती ने इस विषय मे श्री वाचस्पति का अनुकरण किया है।

"योग-सुधाकर" के रचयिता श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वती तथा राघवानन्द सरस्वती प्रभृति विद्वानो ने दिव्य शक्ति से सम्पन्न श्रोतादि इन्द्रियो की ही "श्रावण" आदि तान्त्रिकी सज्ञा स्वीकार की है, वह युक्ति-सगत नही प्रतीत होती है, क्योकि श्रावण आदि का अर्थ दिव्य-शक्ति से सम्पन्न श्रोतादि न होकर श्रोतादि की अपूर्व

---

१ यो० सू० ३/३०।

२ यो० सा० स०, पृ० ६२।

सामर्थ्य ही है। यही अन्य विद्वानो का भी अभिमत है और यही "श्रावण" आदि शब्दो की व्युत्पत्ति से भी प्रकट होता है।

पूर्वोक्त छहो प्राप्तियॉ व्युत्थानावस्था की दृष्टि से तो सिद्धियॉ है, किन्तु ( पुरुष विषयक ) समाधि की अवस्था मे विघ्नस्वरूप है[1], यही सूत्रकार ने भी स्पष्ट कहा है। अतः मोक्ष-जिज्ञासु को इनकी प्राप्ति से ही कृतार्थ होकर उनमे नही रमना चाहिये, प्रत्युत् स्वार्थ-प्रत्यय के सयम से जन्य मुख्य फल पुरुष-प्रत्यक्ष-हेतु सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये।

× × ×

सूत्रकार ने पुरुषदर्शन-पर्यन्त दिव्यज्ञान रूप सिद्धियो का प्रतिपादन करके आगे क्रियात्मक ऐश्वर्यरूप, सयमजन्य-सिद्धियो का निरूपण किया है। उनमे सर्व प्रथम पर-काय-प्रवेश का वर्णन है।

बन्धन का कारण शिथिल हो जाने पर तथा चित्त के प्रचार स्थानो (नाडी-समूह ) का ज्ञान हो जाने पर, योगी का चित्त दूसरे के शरीर मे प्रवेश का सामर्थ्य प्राप्त करता है।[2]

आत्मा विभु और चित्त विभु तथा चचल है। अतः ये दोनो ही सर्वव्याप्त है। फिर भी ये शुभाशुभ कर्म-जन्य कर्माशय से एक ही शरीर मे आबद्ध रहते है। धर्माधर्मरूप कर्माशय ही उनका प्रतिबन्धक है। इन्ही के बल से वे भोक्ता एव भोग्यरूप से ही शरीर मे सीमित है। समाधि के बल से इस कर्म–बन्धन के क्षीण हो जाने पर तथा चित्त के विषयपर्यन्त धावन के पथस्वरूप नाडियो (चित्तवहा नाडियो) का ज्ञान हो जाने पर, सूक्ष्म शरीर (आत्मा एव चित्त) की ये सीमाएँ भी समाप्त हो जाती है। फिर योगी चित्त को, अपने स्थूल शरीर से निकाल कर, किसी भी शरीर मे प्रवेश एव निर्गम कराने मे समर्थ हो जाता है। इतना ही नही वह मृतकाय मे प्रविष्ट हो कर, उसे जीवित कर सकता है, अथवा जीवित काया मे निविष्ट होकर उस व्यक्ति के मन एव इन्द्रियो को निरुद्ध कर के, अपने ही चित्त एव इन्द्रियो को वहॉ क्रियाशील रख सकता है। इस प्रकार वह भोगो के सकोच का कारणभूत कर्म हट जाने पर सर्वत्र भोग-सम्पादन कर सकता है। चित्त को छोड कर इन्द्रियॉ नही रह सकती। अतः चित्त के परकाय मे प्रविष्ट होने पर, मधुकरराज की अनुगामनी

---

१. "ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय" ( यो० सू० ३-३७ )

२. बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेश ( यो० सू० ३/३८ )।

मक्षिकाओ की भाँति इन्द्रियाँ भी उसके साथ परशरीर मे आविष्ट हो जाती है। क्योकि इन्द्रिय समष्टि मन की ही वहिर्मुख धारावाहिक आभासमात्र है।[1] किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि परकायप्रवेश के हेतु अदृष्ट-सयम ( जिसके द्वारा समाधिबल से कर्मबन्धन श्लथ होते है ) तथा ( चित्तवाहिनी ) नाडी–सयम दोनो अनिवार्य है, किसी एक विषयक सयम से यह कार्य साध्य नही है।

योगवल से कर्म-बन्धन को उपर्युक्त ढङ्ग से शिथिल करना ही शास्त्रो मे ग्रन्थि-मोचन[2] कहा गया है। शरीर मे चित्त के सचरण–मार्गो का नाम ही "मनोवहा या चित्तवहा" नाडी है। शरीर मे ये नाडियाँ असख्य है और प्रायः क्लेद एव मल से आवद्ध है। योग-क्रिया-द्वारा ये नाडियाँ शुद्ध हो जाने पर चित्त का सचरण सुगम हो जाता है। इसीलिये योगी को नाडी शुद्धि भी आवश्यक है। उक्त मनोबहा नाडियाँ केवल शरीर मे ही नही, वरन् सम्पूर्ण विराट् विश्व मे ही व्याप्त है। इस विस्तृत नाडीजाल के माध्यम से न केवल प्राणिवर्ग, अपितु सम्पूर्ण जगत् की प्रत्येक वस्तु परस्पर सश्लिष्ट है। इस चित्तवाहक नाडी जाल का ज्ञान न रहने से ही चित्त इच्छानुसार विचरण करने मे असमर्थ है। सुख–दुःखादि अन्यान्य भावो के अनुभवकर्त्ता एव भोक्ता के रूप मे परकाय मे प्रविष्ट होने पर, योगी को उस नाडी का विशेष कर ध्यान भी आवश्यक है, जिसके माध्यम से वह उस व्यक्ति की देह से सयुक्त है, क्योकि उसी नाडी के द्वारा उसे स्वशरीर मे लौटना पडेगा। इसके लिये विदेहधारणा का अभ्यास उपादेय होता है। विदेह-धारण मे अभ्यास योगी के हेतु यह कोई कठिन कार्य नही होता।[3] विदेह-धारणा के बाद ही योगी महाविदेह-धारणा का अधिकारी बनता है। सयम के विपयो मे इनका आगे वर्णन होगा। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि अत्यन्त प्रबल शक्ति अर्जित हो जाने पर ही प्रत्येक काय मे प्रवेश सम्भव है, अन्यथा दुर्वल-शक्ति–सम्पन्न चित्त प्रबल चित्त से सयुक्त हो जाने पर, सबल चित्त मे विलय की ही अधिक आशका रहती है।[4]

परकाय प्रवेश के समय योगी आशिकरूप से ही बाहर निकलता है। परकाय मे प्रविष्ट होकर योगी अभिन्न होकर उसके साथ सुख-दु:खादि की साक्षात् अनुभूति करता है, फिर भी योगी का मन, वहाँ चेतन द्रष्टा के रूप मे दृढतापूर्वक

---

१. भा० स० सा०—पृ० २९—द्वितीय खण्ड।

२. भार० स० सा०—पृ०—२८—द्वितीय खण्ड।

३. भारतीय सस्कृति और साधना, द्वितीय खड, पृ० २८।

४. भारतीय सस्कृति और साधना, द्वितीय खड, पृ० २९।

स्थिर रहता है। तभी वह पुनः स्वशरीर मे प्रत्यावर्तन करने मे समर्थ होता है। अन्यथा यदि चेतन रूप से परकाय के साथ चित्त के सयोग की रक्षा न की जाय, तो प्रविष्ट चित्त का लय अनिवार्य है।[1] परकाय मे प्रविष्ट होकर योगी यदि चाहे, तो उस शरीर तथा उसके अभिमानी जीव की उन्नति तथा अपने तपोबल से उसका कल्याण भी कर सकता है।[2] साथ ही उसके कर्मफल के भार मे न्यूनता भी कर सकता है, पर यह आवश्यक नही है, वह योगी की इच्छा पर ही निर्भर है।

× × × ×

सयम-द्वारा उदान-वायु पर विजय प्राप्त कर लेने पर जल, पक (कीचड) एव कण्टको से असयोग तथा (मृत्युकाल मे) स्वतः उत्क्रान्ति सिद्ध होती है।[3]

सम्पूर्ण शरीर मे समस्त इन्द्रियो मे प्रवर्तमान जीवन का मुख्य आधार प्राणवृत्ति है। क्रियाभेद से उसके दस विभाग एव नाम होने पर भी उनमे पॉच ही मुख्य है। प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान।[4]

इनमे कण्ठ, मुख, नासिकादि से प्रारम्भ कर शिरपर्यन्त प्रवाहित होने वाली जीवनीवृत्तिविशेष उदान कहलाती है। ऊपर की ओर गति का वही हेतु है। रस आदि के ऊर्ध्वमुख उन्नयन करने से ही इसकी उदान सज्ञा है। व्यष्टि एव समष्टि प्राण का सयोजक यही उदान वायु है। शरीर को ऊपर की ओर उठाए रखना भी इसका एक मुख्यकार्य है। मृत्युकाल मे सूक्ष्म शरीर उदान-द्वारा ही स्थूल-शरीर से बहिर्गमन करता है। उदान शरीरन्तवर्ती धातुगत बोध के अधिष्ठान-स्वरूप स्नायु को धारण करने वाली प्राणशक्ति है। उक्त बोध इन्द्रियो के द्वार से ऊर्ध्व मस्तिष्क पर्यन्त उठते है। अतः इस ऊर्ध्व-प्रवाह मे सयम करने पर तथा देहवर्ती समस्त धातुओ मे प्रकाशशील सत्व के ध्यानपूर्वक उदान जीतने पर, शरीर मे लघुत्व प्रादुर्भूत होता है। यही कारण है कि उदानजयी का शरीर रुई की भॉति हल्का हो जाने के कारण जल मे डूब नही सकता, कीचड मे सन नही सकता तथा

---

१ भारतीय सस्कृति और साधना, ( द्वितीय खण्ड, पृ० २६ )

२. भारतीय सस्कृति और साधना, ( द्वितीय खण्ड, पृ० २६ )

३ "उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च" ( यो० सू० ३-३६ )

४. इनका वर्णन "सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञातसमाधि" शीर्षक मे किया गया है। अत विशेष विवरण वही द्रष्टव्य है।

कॉटो अथवा तलवार की भी धार पर सुखपूर्वक चल सकता है। वे उसे छेद नही सकते। जिस प्रकार वह सामान्य रीति से रम्य भूतल पर विचरण करता है, उसी प्रकार जल, पक, कण्टकादि के ऊपर भी सुखपूर्वक विचर सकता है। यह (उदान) ऊर्ध्वगामिनी प्राणशक्ति है। अतः सुषुम्नागत उदान को सयम द्वारा स्ववश कर लेने पर देवयान या अर्चिरादि मार्गों[1]—द्वारा इच्छानुसार ब्रह्मलोक आदि लोको मे ऊर्ध्वगति होती है। इससे उसका ससार मे पुनरावर्तन नही होता है। पुनरावर्तन–शून्य गति ही उत्क्रान्ति कहलाती है।[2]

---

१ पुण्यात्माओ के सूक्ष्म शरीर सकाम तथा निष्काम कर्मो के अनुसार पितृयाण तथा देवयान मार्गो द्वारा चन्द्रलोक या सूर्यलोक को प्राप्त करते है। जिनका उपनिषदो एव गीता में सविस्तार वर्णन किया गया है। जैसे—

"द्वे सृती अशृणव पितृणामह देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिम विश्वमेजत् समेति यदनन्तरा पितरमातर च ॥"
( यजुर्वेद १९/४७, ऋग्वेद १०/८८/१५ )

तथा

"यत्रकालेत्वनावृत्तिमावृत्ति चैव योगिन ।
प्रयाता यान्ति त काल वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥
शुक्ल कृष्णे गतीह्येते जगत् शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुन ।
धूमोरात्रिस्तथा कृष्ण षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमस ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥"
"अग्निज्योतिरह शुक्ल षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदोजना ॥" ( गीता ८/२३-२६-२५-२४ )

इनमे सकाम कर्मयोगी की चन्द्रलोक मे गति होती है। वे स्वर्गादि मे दिव्य भोग भोगकर अवधि समाप्त होने पर पुन मर्त्यलोक मे आते है और निष्काम कर्मयोगी उत्तरायण सूर्य-काल मे देह-त्यागकर के सूर्यलोक को उत्क्रमण करते हे। उनका पुनरावर्तन नही होता हे। यही देवयान है। इसी की ब्रह्ममार्ग, पिण्ड ब्रह्माण्डमार्ग, अर्चिरादि मार्ग आदि सज्ञायें है।

२. मानव शरीर नवद्वार युक्त है, जिनके द्वारा मृत्युकाल मे उसके प्राण निकलते है। स्वकृत कर्मो की प्रेरणा से परवश प्राणी के प्राण तदनुकूल द्वार से बाहर निकलते है, किन्तु कोई भी सामान्य पुण्यात्मा व पापात्मा दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र-पथ से नही जाता हे। नवद्वारो से प्राण निकलने पर पुन ससारापत्ति होती है। ब्रह्मरन्ध्र उत्क्रमण का मार्ग है। समानजयी के प्राण निश्चितरूप से इसी पथ से बहिर्गमन करते है।

सयम--द्वारा समान ( प्राणशक्ति ) जीत लेने पर योगी मे ज्वलन अर्थात् दीप्तिमत्ता प्रकट होती है ।[1]

समान नामक प्राणशक्ति शरीर मे जठराग्नि को आवृत्त करके स्थित है । इसी के द्वारा सम्पूर्ण शरीर मे यथोचित पोषण सम्पन्न होता है । अतः सम्पूर्ण शरीर मे अन्नरस का समनयन करने के कारण इसकी समान सज्ञा है । समान-द्वारा आवृत्त रहने से जठराग्नि मन्द पड जाती है, अतः शरीर मे तेजोवृद्धि नही हो पाती है । पोषण की रसायनिक क्रिया-द्वारा शारीरिक धातुओ मे दीप्ति बढती है । सयम द्वारा समान-प्राण को जीत लेने पर वह स्ववश हो जाता है और इच्छानुसार जठराग्नि भी निरावृत्ति हो जाती है । अतः समान से निरावृत्त होकर, उत्तेजित-जठराग्नि पोषणोत्कर्ष के साथ-साथ और अधिक उद्दीप्त होती हुई, योगी के शरीर को तेजस्वी बनाती है । योगी के शरीरान्तर्वती इस तेज ( Odyle or Aura )[2] की सम्यक् अभिव्यक्ति होने पर यह शरीर के बाहर भी फूट निकलता है, जिससे योगी की देह अपूर्व कान्ति एव दीप्ति से सम्पन्न दृष्टिगोचर होने लगती है । समान की तेजोवृद्धि से ही हृदयादि की सब ग्रन्थियाँ या कमल पूर्णतः विकसित एव ऊर्ध्वमुख होते है ।[3]

"समानजयाज्ज्वलनम्", इस सूत्र का श्री विज्ञान भिक्षु ने-"समान वायु जीत कर, सती स्त्री की भाँति योगी अपने शरीर का दाह कर डालता है"[4] अर्थात्

---

१ "समानजयाज्ज्वलनम्"—यो० सू० ३/४० ।

२ "Baron Von Reichenbach ने Odyle के सम्बन्ध मे गवेषणा करके स्थिर किया है कि जो उस odyle ज्योति को देख सकते है, वे जहाँ रासायनिक क्रिया होती है, वहाँ तथा दूसरे कई स्थानो मे विशेषकर देख पाते है । शरीर मे स्वभावत ही चमक रहती है। शरीर के प्रत्येक आणु मे इसी सयम-द्वारा सत्विक पुष्टिभाव होने से यह चमक इतनी बढ जाती है कि वह सबकी दृष्टि मे आ जाती है । आज कल इस Aura का फोटो भी लिया गया है और उससे स्वास्थ्य-निर्णय करने का प्रबन्ध भी हो रहा है ।" ( पात० यो० द०, (हरि० आ०), पृ० २७३-२७४ )

३ हृदय, कण्ठ, तालु एव भूमध्य आदि स्थानो मे प्राण की सरल गति-कुटिल या वक्र हो गई है । अत ये स्थान ग्रन्थि कहलाते है । ये ग्रन्थियाँ सकोच-विकासशील होने से पद्म या कमल भी कहलाती है । द्रष्टव्य—भा० स० और सा०, प्र० ख०, पृ० ४६७ ।

४ शरीर को जलाना आग्नेयी धारणा से सभव होता है । समान जन से नही । दक्षपुत्री सती द्वारा स्वदेह ज्वलन के प्रसग मे कही-कही इस धारणा का प्रमाण मिलता है ।

"जला डालता है"–ऐसा अर्थ किया है, किन्तु "ज्वल्-दीप्तौ" धातु से निष्पन्न ज्वलन शब्द से "दीप्त होता है", यह अर्थ अभिव्यक्त होता है, "जला डालता है" ऐसा नही। "व्यासभाष्य" मे भी "जितसमानस्तेजस उपध्मान कृत्वा ज्वलति" उक्ति से यही अर्थ प्रकट होता है कि "समान-वायु का विजेता अपने तेज का उत्तेजन करके दीप्तियुक्त या जाज्वल्यमान हो उठता है।" यही श्रीवाचस्पति, शकर, भोज प्रभृति विद्वान्-सम्मत मत है।

श्री भावागणेश की "प्रदीपिका" एव 'नागोजीभट्टवृत्ति' मे भी विज्ञानभिक्षु के शब्दो का अनुसरण किया गया है। किन्तु इन तीनो टीकाकारो के द्वारा किया गया यह अर्थ, विशेष अनुभवजन्य ही हो सकता है।

राघवानन्द सरस्वती ने भी अपने "पातञ्जल-रहस्य" मे "समानजयिच्छया देहभस्मीकरणम्" ऐसा कहा है, किन्तु इस मत की अयुक्तता ऊपर सिद्ध की जा चुकी है।

श्रोत्र एव आकाश के पारस्परिक सम्बन्ध मे सयम करने से दिव्य शब्द सुनने की शक्ति उपलब्ध होती है।[1]

शब्द-ग्राहिका श्रोत्रेन्द्रिय अहकार-जन्य होती है और शब्द तन्मात्र भी अहकार का ही कार्य है। आकाश शब्द का कार्य है तथा श्रोत्रेन्द्रिय का आधार आकाश है। अतः समस्त श्रोत्रो तथा समस्त शब्दो का आकाश ही आधार है, जैसा कि भाष्यकार श्री व्यास ने भी कहा है—"सर्वश्रोत्राणामाकाश प्रतिष्ठा सर्वशब्दानांच"।[2] कर्ण-विवरवर्ती आकाश के सद्भाव मे कर्ण की शब्दग्राहकता हेतु है, क्योकि आकाश ही शब्दगुणक है, अन्य कोई पृथ्वी आदि तत्व नही। अतः शब्द, श्रोत्र एव आकाश इन तीनो का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। आकाश ही श्रोत्र एव शब्द का सयोजक है। ठोस, तरल एव वायवीय द्रव्य का कम्पन ही शब्द कहलाता है। ये स्पन्दन आकाश तत्व पर आश्रित है, जिसे आधुनिक विज्ञान की भाषा मे ईथर कहते है। यह ईथर समस्त जड वस्तुओ का प्रतिनिधिस्वरूप कहा जा सकता है। आकाश ही शून्य या अवकाश भी है।[3] प्रत्येक कम्पन अवकाश का द्योतक है। अनवकाश मे कम्पन असम्भव है।

---

१ "श्रोत्राकाशयो सम्बन्धसयमाद्दिव्य श्रोत्रम्" ( यो० सू० ३/४१ )

२. व्या० भा० ( ३/४१ )।

३. टिप्पणी—शुद्ध अवकाश वैकल्पिक (विकल्प वृत्ति द्वारा ज्ञात होने योग्य) पदार्थ है, किन्तु

स्थूल कर्ण–यन्त्र स्पन्दनग्राही होने से अवकाशयुक्त है। अतः श्रोत्र आकाशाभिमानी हुआ, क्योकि अहकारजन्य होने से इन्द्रियगण अभिमानात्मक है।

आकाश एव श्रोत्र के मध्य यह अभिमान का सम्बन्ध ही श्रोत्राकाश का सम्बन्ध है।[1] इसी मे सयम करने से दिव्य श्रवण-शक्ति प्राप्त होती है। इस सयम से अभिमान की सत्वजन्य उन्नति हाती है और अवकाश की अव्याहतता सम्पन्न होती है, अर्थात् उस श्रोत्राकाश के अवच्छेदक का अनावरण होता है। फलतः उक्त सयम-प्राप्त योगी दिव्य, सूक्ष्म, व्यवहित एव दूरदेशस्थ शब्द का अनायास श्रवण कर सकता है। यही दिव्यश्रोत्र है। श्रोत्र एव आकाशगत सयम की भॉति, त्वक्-वायु चक्षु-अग्नि, रसना-जल और नासिका तथा पृथ्वी के सम्बन्ध-विषयक सयम से दिव्यत्वक्, दिव्य नेत्र, दिव्य-रसना एव दिव्य नासिका की शक्तियॉ प्राप्त होती है। ये सब सिद्धियॉ पुरुषज्ञान से पूर्व प्रतिभज्ञान से प्राप्त होने वाली सिद्धियॉ है। भेद केवल यह है कि यहॉ ये सिद्धियां विभिन्न इन्द्रियो एव उनसे सम्बद्ध तत्वो के पारस्परिक सम्बद्ध मे सयम करने से प्राप्य है और स्वार्थप्रत्यय मे पुरुषज्ञान हेतु सयम करने पर, उससे पूर्व ये सभी, उनकी प्राप्ति-हेतु सयम के बिना ही स्वत आविर्भूत होती है।

× × ×

शरीर एव आकाश के पारस्परिक सम्बन्ध-विषयक सयम से अथवा रुई आदि की भॉति हल्के पदार्थो की समापत्ति से आकाश-गमन नामक सिद्धि प्राप्त होती है।[2]

आकाश के बिना शरीर की स्थिति असम्भव है। जहॉ भी देह है, वही उसका आकाश भी है। क्योकि आकाश विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक एव समस्त

---

१ द्र०—पात० यो० द०, (हरि० आ०), पृ० २७५।

२ "कायाकाशयो सम्बन्धसयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाश–गमनम्" (यो० सू० ३/४२)

(गत पृष्ठ का शेषाश)

आपेक्षिक अवकाश वास्तविक भाव है। शब्द, स्पर्श, रूपादिशून्य पदार्थ ही अवकाश है। विशुद्धतम आकाश की धारणा नही की जा सकती है। फिर भी धारणा-योग्य अवकाश की धारणा शब्द-द्वारा ही शुद्धरूप से होती है। क्योकि शब्दमात्र को सुन कर बाह्य ज्ञान का अनुभव होने पर भी किसी मूर्ति का बोध नही होता। अत शब्दमयी, अवकाशस्वरूपा, सत्ता ही आकाश है। ( द्र० आरण्य व्याख्या )

वस्तुओ को अवकाश देने वाला है। अतः शरीर एव आकाश के मध्य व्याप्य व्यापक अथवा आधेय एव आधार रूप सम्बन्ध है। अर्थात् जहाँ–जहाँ शरीर है, वहाँ-वहाँ आकाश भी है। इस प्रकार की व्याप्ति इन दोनो के मध्य सिद्ध होती है। शरीर एव आकाश के मध्यवर्ती इस व्याप्ति सम्बद्ध मे सयम करके उसे स्वाधीन किया जाता है, जिससे मध्याकर्षण या पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण की क्रिया नष्ट होने से शरीर हल्का हो जाता है।

उक्त सयम से गुरुत्व का क्षय क्यो और कैसे होता है, यह जिज्ञासा हो सकती है। वस्तुतः त्रिगुणात्मक प्रकृति के अशभूत तमोगुण का धर्म गुरुता एव आवरण है। इससे ठीक विपरीत सत्वगुण लघु एव प्रकाशात्मक है। चचल रजोगुण क्रियाशील होता है। यह सत्व एव तम को परस्पर सम्बद्ध करने की चेष्टा किया करता है। जप, तप, ध्यान, योग प्रक्रिया इत्यादि सत्वगुणाश्रित रज—क्रियाओ के द्वारा सत्वगुण का उत्कर्ष एव तम का अभिभव होता है। अतः तम के कार्यभूत गुरुत्व एव आवरकत्व, क्रमशः नष्ट होकर शरीर मे सत्वधर्मात्मकता, लघुता एव प्रकाशमयता अर्थात् तेज की अभिव्यक्ति होती है। यही साधना द्वारा गुरुत्व-ह्रास का रहस्य है। किसी भी प्रकार की साधना-द्वारा अथवा उक्त सयम से शरीर मे सत्व के गुण अभिव्यक्त होने से शरीर लघुता प्राप्त करता है। शरीर के इस लघुत्व का अत्युत्कर्ष होने पर देह गुरुत्व-विहीन एव ज्योतिर्मय होकर वायुमडल के ऊपरी स्तर मे उठ जाती है। इसके अतिरिक्त इसका एक और भी कारण हो सकता है। समाधि की अवस्था मे चित्त ध्येयाकाराकारित हो जाता है। साथ ही ध्याता मे ध्येय के गुणो की भी अभिव्यक्ति होती है। यह सर्वविदित है कि आकाश शब्दगुणक है और आकारविहीन क्रिया-प्रवाहमात्र ही शब्द है। सम्पूर्ण शरीर मे क्रियाप्रवाहो की समष्टि है और आकाशवत् अवकाश भी है। एतद्रूपक ध्यान ही शरीर एव आकाश की सम्बन्ध भावना है। इस प्रकार आकाश के आश्रय से शरीर का अवस्थान ही सयम का विषय है[1]। आकाश सर्वत्र व्याप्त है। अतः तद्विषयक सयमकर्त्ता योगी के सचारस्थल की परिच्छिन्नता भी समाप्त होकर वह सर्वव्याप्त हो जाती है।

स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने देह-व्यापी अनाहत नाद के ध्यान द्वारा कायाकाश के पारस्परिक सम्बन्ध मे सयमजय बतलाया है[2]। इसके अतिरिक्त रुई

---

१ द्रष्टव्य—पात० यो० द०, हरि० आ०, पृ० २७७।

२. "भास्वती"—३/४२।

आदि पदार्थो मे परमाणु–पर्यन्त चित्त की समापत्ति से, उस सम्बन्ध पर विजय प्राप्त करनेवाले योगी का शरीर भी हल्का होकर आकाश मे विचरण करने मे समर्थ हो जाता है। यहाँ भी ध्येय रुई आदि लघु पदार्थो का गुण लघुत्व योगी के शरीर मे आविर्भूत होता है।

उक्त रीतियो से सयम द्वारा शरीर हल्का हो जाने पर, योगी मकडी के जाल के अति सूक्ष्म तन्तुओ पर और जल पर भी पृथ्वी की भाँति सुगमतापूर्वक पद-निक्षेप करता हुआ, विचरण कर सकता है। वह सूर्य-रश्मियो मे प्रविष्ट होकर उन किरणो पर भी बिहार कर सकता है। वस्तुतः ये रश्मियाँ ही आकाश मे यातायात के मार्ग-स्वरूप है[1]।

आई० के० टैमनी के मत मे योगी स-शरीर ही पक्षी की भाँति आकाश मे विचरण नही करता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भौतिक शरीर द्रव्य के असख्य कणो की समष्टिमात्र है, जो परस्पर सयोजक शक्ति (फोर्स ऑफ कोहेशन) द्वारा सयुक्त है। ये शक्तियाँ आकाश मे सर्वत्र विद्यमान है। शरीर के कण एव आकाश, अन्ततः जिन तत्वो-द्वारा निर्मित एव परस्पर सयुक्त है, वह सम्बन्ध ही शरीर की स्थिति का आधार है।

उक्त सम्बन्ध मे सयम करने से उन ( कायाकाश ) की सयोजिका शक्ति (फोर्स ऑफ कोहेशन) योगी के वशीभूत हो जाती है। अतः वह ( योगी ) इच्छानुसार उस शक्ति की व्यवस्था और प्रयोग कर सकता है। जब चाहे तब शरीर के अणु-भूत अनन्त विभागो को, इच्छाशक्ति के बल से आकाश मे मिला सकता है और पुनः इच्छामात्र से ही उन अणुओ को एकत्र करके गन्तव्य स्थल पर, शरीर की पुनः अभिव्यक्ति कर सकता है। इस प्रकार योगी जिस स्थान से उठकर आकाश मार्ग से गन्तव्य स्थल पर पहुँचता है, उसके बीच मे उसका शरीर अवकाश स्वरूप ही हो जाता है। अर्थात् आकाश के उन तत्वो मे मिल जाता है, जिनके द्वारा स्थूल शरीर की रचना होती है। शरीर-निर्माण के उन अणुओ के अवकाश मे वितरण ( Dispersion ) का यह कार्य इच्छाशक्ति ( विल-पावर ) के प्रयोग द्वारा सम्पन्न होता है। इच्छा–शक्ति को उपसहृत करते ही शरीर के वे असख्य अणु स्वयमेव पुनः एकत्र होकर योगी के शरीर को प्रकट कर देते है। किन्तु इस प्रकार शरीर को

१. उदानजयी भी जल आदि पर स्थल की भाँति विचरण कर सकता है। (द्र० यो० भा०, ३/६)

अवकाश रूप मे तथा अवकाशभूत शरीर को पुनः स्थूल शरीर मे परिणत करने की कला का आधुनिक वैज्ञानिक (साइंटिस्ट) की प्रतिभा सम्पन्न बुद्धि को ज्ञात नही है। इस विज्ञान की प्राप्ति एकमात्र सयम द्वारा ध्येय विषय के चैतन्य से एकाकार होने पर ही हो सकती है, जैसा कि सूत्रगत समापत्ति शब्द से भी द्योतित होता है। किन्तु इस प्रकार विनष्टीकृत एव पुनः प्रादुर्भूत योगी के शरीर मे निर्माण-काय का भ्रम नही करना चाहिये, क्योकि आकाशगमन मे योगी का मौलिक शरीर इस रीति से उसके तत्वो के अवकाश मे वितरण (डिजोलूशन) तथा भौतिकीकरण (मैटीरियला-इजेशन) की मिल-जुली क्रिया द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है और निर्माणकाय मे मूल शरीर यथास्थान स्थित रहते हुए भी दूसरा अस्थाई कृत्रिम शरीर दूसरे स्थान पर निर्मित होता है। दोनो विधियॉ सर्वथा भिन्न है[1]।

आई० के० टैमिनी का उक्त मत सबसे भिन्न, सर्वथा नवीन एव अपने ही प्रकार का है। जबकि अन्य व्याख्याकारो के अनुसार तो यही प्रकट होता है कि योगी अकाश मे सशरीर विचरण करता है, क्योकि सूर्य–रश्मियो पर पैरो से विचरण कर सकने वाला कोई शरीरधारी ही होगा। बिना शरीर के पैरो से विचरण का कोई प्रश्न ही नही उठता है।

यह स्मरणीय है की सूत्रस्थ "च" विकल्पार्थक है समुच्चयार्थक नही, अर्थात् कायाकाश के सम्बन्ध मे सयम करने से आकाशगमन सिद्ध होता है, अथवा तूलादि लघु पदार्थो मे परमाणुपर्यन्त समापत्ति करने से आकाश-गमन सिद्ध होता है। जैसा कि भगवान् व्यास की "तेन सम्बन्ध प्राप्तिः, तत्र कृतसयमो जित्वा तत्सम्बन्ध लघुषु तुलादिषु, वा परमाणुभ्यःसमापत्तिःलब्ध्वाजितसम्बन्धो" इत्यादि उक्ति से भी अभि-व्यक्त होता है, क्योकि भाष्यकार ने सूत्रस्थ "च" शब्द के स्थान पर "वा" शब्द का प्रयोग किया है। श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य-द्वारा भी इस विषय मे "अथवा" शब्द का प्रयोग इसी मत का पोषक है। श्री वाचस्पति की "तत्ववैशारदी" के अधार पर श्री ब्रह्मलीन मुनि-कृत "योगभाष्यविवृति" मे भी इस सूत्र की व्याख्या मे अन्त मे स्पष्ट लिखा है कि "उक्त सयमद्वय" मे ही किसी भी एक के अनुष्ठान से आकाशगमन सिद्ध होता है।

सूत्रस्थ "चकार" के स्थान पर "वा" शब्द के प्रयोग से श्री भावागणेश, नागोजीभट्ट, रामानन्द यति, सदाशिवेन्दु सरस्वती, श्री राघवानन्द सरस्वती, श्री विज्ञानभिक्षु प्रभृति विद्वानो का भी यही मत व्यक्त होता है।

---

१. साइन्स ऑफ योग—पृ० ३३८-६३९।

विवरणकार, श्री भोज एव अनन्त पडित आदि टीकाकारो का उक्त मत से वैपरीत्य मालूम पडता है, किन्तु अधिकाश विद्वानो के मतानुसार विशेषकर "व्यासभाष्य" के आधार पर श्री भोज सम्मत मत की समीचीनता सिद्ध नही होती है, क्योकि "व्यासभाष्य" ही अधिकाश व्याख्याओ की आधारशिला है। विद्वत्समाज मे वही सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है।

× × ×

शरीर के बाह्यदेशवर्ती, अकल्पिता (वास्तविक) वृत्ति महाविदेहा (नामिका वृत्ति) कहलाती है। उस (वृत्ति) के द्वारा प्रकाश का आवरण नष्ट होता है[1] ।

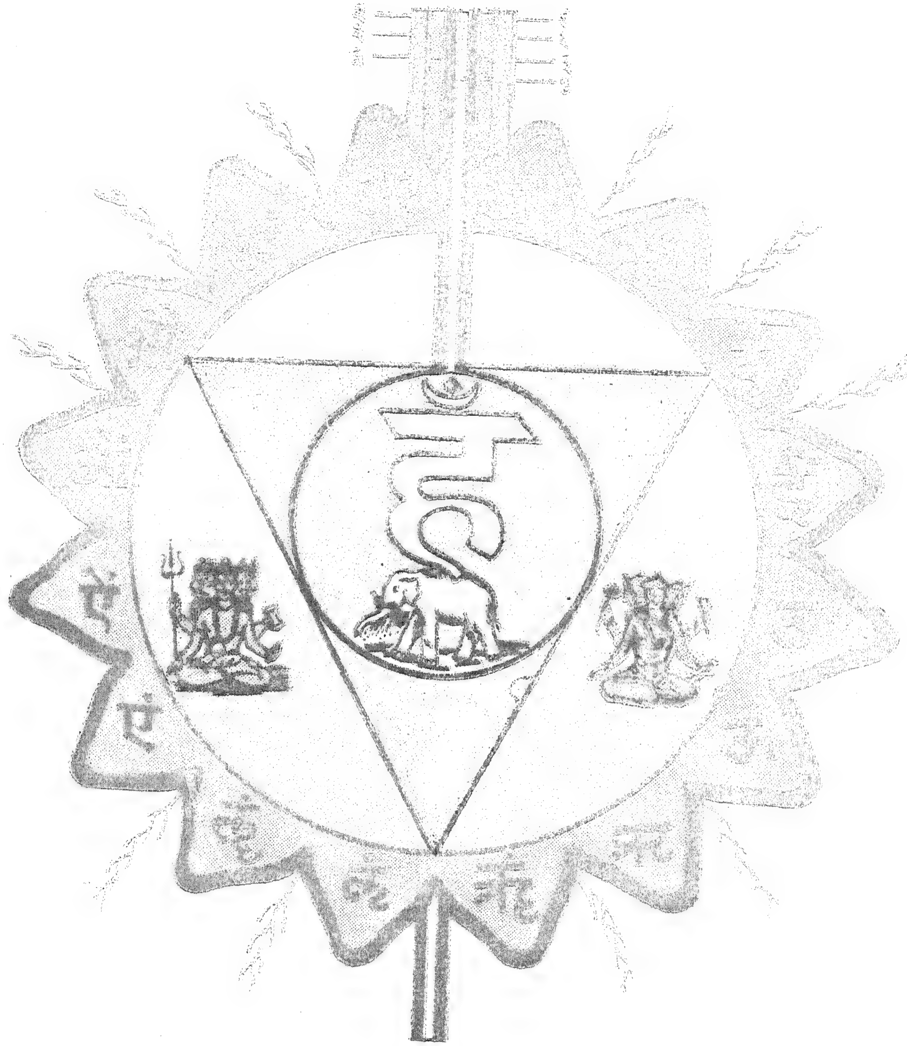
शरीर से बाह्य विषय मे चित्त को धारण करना "विदेहा—वृत्ति" अथवा "विदेहा धारणा" कही जाती है। यह कल्पित एव अकल्पित, भेद से दो प्रकार की होती है। इनमे जब चित्त शरीर मे ही स्थित रहते हुए, वह (चित्त) वृत्ति-मात्र से किसी बाह्य देश मे कल्पना के सहारे धारण किया जाता है या अवस्थित रखा जाता है, तब यह वृत्ति कल्पिता कहलाती है।

जव चित्त की बाह्यदेश मे अवस्थित-हेतु शरीर एव कल्पना की भी अपेक्षा नही रहती, अर्थात् चित्त ही स्वय शरीर से बाहर निकलने मे समर्थ हो जाता है, तो वस्तुतः बाह्य देशस्थ चित्त ही अकल्पिता या महाविदेहा धारणा कहलाती है।

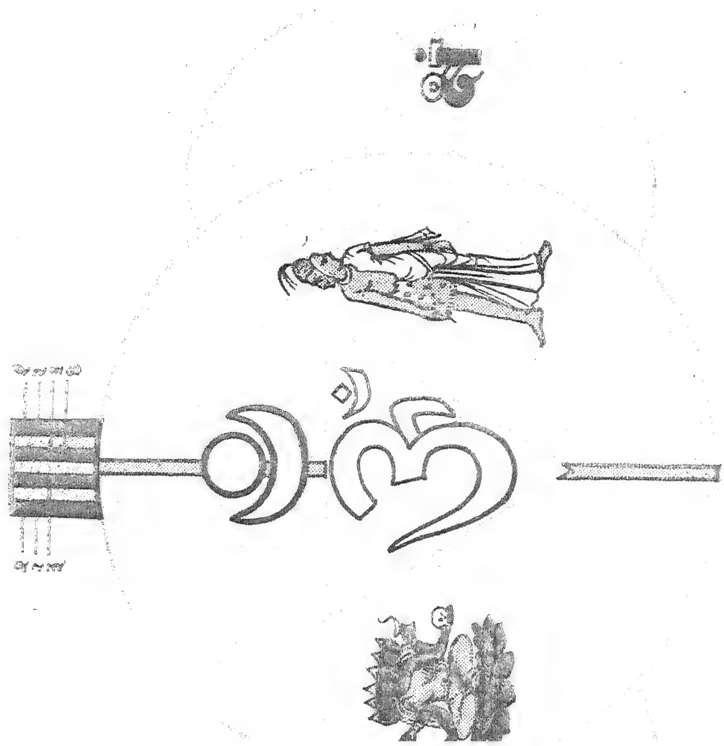
सारांश यह है कि शरीर-सापेक्ष बाह्यदेशस्थ चित्तवृत्ति कल्पिता-विदेह-धारणा तथा शरीर-निरपेक्ष बर्हिदेशीय चित्तवृत्ति, अकल्पिता विदेह-धारणा अथवा महाविदेहाधारणा कहलाती है। इनमे प्रथम साधन तथा द्वितीय साध्य है, क्योकि प्रथम कल्पिता विदेह-धारणा का अभ्यास परिपक्व होने पर ही महाविदेहा-धारणा सिद्ध होती है। महाविदेहा धारणा-द्वारा योगी को परकाय-प्रवेश तथा सूक्ष्म शरीर से लोकान्तरो मे विचरण की सामर्थ्य भी प्राप्त होती है तथा चित्त-सत्व के प्रकाश के अवरोधक या आवरण भूत-रजोगुण-तमोगुणजन्य क्लेश—कर्म-विपाकादि मल नष्ट होते है।

शरीर का अभिमान ही स्थूलतम आवरण है। "मै शरीर हूँ" इस प्रकार के अज्ञानात्मक अहभाव के कारण ही पुरुष एव चित्त व्यापक होने पर भी एक ही शरीर मे बधे रहते है। अतः चित्त का कार्य एव प्रचारक्षेत्र भी शरीर मात्र मे सीमित रहता है। विदेह-भावना मे चित्त स्थिति की शरीर से बाहर भावना की जाती है और

१. "बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा तत प्रकाशावरणक्षया" (यो० सू० ३/४३)




# विशुद्ध चक्र



यह धारणा की जाती है कि मै अन्यत्र शरीर से बाह्यदेश मे भी व्याप्त हूँ, जिसके फल-स्वरूप चित्त की शारीरिक सीमाएँ समाप्त होती है।

इस धारणा का विज्ञान हृदयगम करने के लिये चित्त का स्वरूप एव वृत्तिगत भेद अवगम्य है। नेत्रेन्द्रिय से जैसे चाक्षुप-रश्मियाँ निकल कर बाह्य दृश्य से सयुक्त एव तदाकाराकारित हो जाती है, उसी प्रकार चैत्तिक रश्मियाँ स्फुटित होकर बाहरी वस्तुओ मे क्रिया करती है। इनकी क्रिया से दूरस्थ वस्तु मे चित्त की धारणा अभ्यस्त हो जाने पर क्रमशः ध्यान एव समाधि प्राप्त होती है। इस प्रकार उस दूर-देशस्थ पदार्थ विषयक सयमजन्य-साक्षात्कार होता है। इस रीति से बाह्य-पदार्थो का साक्षात्कार विदेह वृत्ति के बिना असम्भव है। इसी को शास्त्रो मे "योगज-प्रत्यक्ष" भी कहा गया है। विदेह-धारणा के बिना किसी भी बाह्य पदार्थ का अपरोक्ष-ज्ञान असम्भव है[1]।

कल्पिताविदेहा धारणा मे चित्त पूर्ववत् शरीर मे ही स्थित रहता है, यह पहले भी बतलाया जा चुका है। तात्पर्य यह है कि योगी पूर्ववत् देहावच्छिन्न रहता है। केवल चित्त की रश्मि के सचार से, दूरवर्ती वस्तु को अवलम्बन करके योगी का चित्त उसकी वृत्ति-रूप मे परिणत होता है, जैसा कि निकटस्थ वस्तु के लौकिक साक्षात्कार-काल मे अन्तःकरण का परिणाम होता है। लौकिक प्रत्यक्ष मे भी शरीरस्थ चित्त बहिर्वृत्तिक होता है।

भेद केवल इतना है कि लौकिक-प्रत्यक्ष मे विषय के साथ इन्द्रियाँ सम्बद्ध रहती है। इन्द्रिय-सन्निकर्ष के बिना लौकिक प्रत्यक्ष असम्भव है, किन्तु विदेहा धारणा मे शारीरिक इन्द्रियो का विषय से सम्पर्क नही रहता है, क्योकि उसका विषय दूरस्थ होता है। अतः लौकिक इन्द्रियो का वह गोचर नही हो सकता है। फिर भी विषय तो गोचर होता ही है। अतः इस प्रकार से दूरस्थ विपय के साथ चैत्तिक-सम्पर्क जन्य प्रत्यक्ष वृत्ति अलौकिक प्रत्यक्ष बन जाती है। लौकिक प्रत्यक्ष मे चित्त की अवस्था विक्षिप्त होती है, किन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष-काल मे चित्त उसकी अपेक्षा एकाग्र होता है। अतः एकाग्रचित्त मे चित्तगत स्वाभाविक प्रज्ञालोक उदित होता है। इससे चित्त मे विश्वव्यापी ( यूनिवर्सल ) आलोक की अनुभूति होती है।

उक्त रीति से कल्पिता विदेह-वृत्ति मे शरीर–सापेक्ष कल्पनावृत्ति का आधार रहता है। फिर भी बाह्य देश मे चित्त की रश्मि-सचार-जन्य वृत्ति शरीरस्थ

१ द्र०—"भारतीय सस्कृति और साधना"—पृ० २५ (द्वितीय खण्ड)।

इन्द्रिय-सन्निकर्ष की अपेक्षा नही रखती है। यही कारण है कि शरीर-सापेक्ष होने पर भी चित्त की इस वृत्ति को विदेहा कहा गया है। पुनः अकल्पिता विदेहा वृत्ति मे तो चित्त वस्तुतः शरीर से बाह्य देश मे ही निकल जाता है, अतः पूर्णतः देह-निरपेक्ष होने से उसका तो महाविदेहा नाम यथार्थ ही है।

महाविदेहा वृत्ति मे शरीर का मोहावरण नष्ट हो चुका होता है। अतः सत्त्व की वृद्धि से चित्त मे व्यापकता आविर्भूत होती है। चित की गति व्यापक होने से, चित्त का सचार भी अव्योहत होता है। प्रकाश का आवरणरूप मोह नष्ट होने से, क्लेश, कर्म, विपाक आदि भी क्षीण होते है।

विक्षिप्त भूमिक चित्त की वृत्ति बहिर्मुखी होने से वह स्वाभाविक प्रज्ञा-लोक अभिव्यक्त रहता है। अतः इसको अनुभूति नही होती है। (आशिक रूप मे भी) अन्तर्मुखी चित्त मे इस प्रकार का स्फुरण होने पर इच्छामात्र से अभीष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार समग्र विश्व की प्रत्येक वस्तु का योगज–सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है[1]।

इस प्रकार चित्त एव अभीष्ट वस्तु का योग केवल चैत्तिक-रश्मि के प्रेपण-द्वारा होता है। इसका अभ्यास करते-करते बाद मे चित्त स्वय ही शरीर से बाहर निकल कर विश्व-चैतन्य के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है। यही महाविदेहा–धारणा है, जिसके प्रसग मे श्री आई० के० टैमिनी ने लिखा है कि अपने चित्त-द्वारा बहिर्गमन की इस शक्ति को सम्भवतः महाविदेहा इसलिये कहते है कि यह चेतनता को शरीर-निरपेक्ष सम्पूर्ण विश्वगत समष्टि चित्त के क्षेत्र मे मुक्त कर देती है। विश्व का समष्टि-चित्त व्यष्टि चित्त से बाहरी ओर है, अतः व्यष्टि चित्त मे ससार के प्रतिविम्ब (प्रतिमा) का मूल बाह्य ही है। सृष्टि-क्रम के अन्धकारमय एव अपूर्ण आकार को पूर्ण करने वाली एव सबको अपनानेवाली यह सुस्पष्ट (प्रतिमा) कल्पना अकल्पिता वृत्ति कहलाती है अर्थात् यह बुद्धि के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। इसकी एक स्वतत्र वास्तविक सत्ता है और यह अचिन्तनीय है। अस्थिर अवस्था होने से यह भी एक वृत्ति है, किन्तु यह व्यष्टि चित्त की अत्यन्त सीमित वृत्ति नही, वरन् समष्टि चित्त की सुविशदा वृत्ति है[2]।

---

१. द्र०—"भारतीय सस्कृति और साधना" द्वितीय खड—पृ० २७।

२. "This power of getting out of our intellect is called maha-videha, probably because it releases the consciousness into

—आगामी पृष्ठ पर

पचभूतो की स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय एव अर्थवत्व इन पॉच अवस्थाओ मे सयम करने से भूतो पर विजय प्राप्त होती है[1]।

पचभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु एव आकाश सुप्रसिद्ध है। इन पॉचो की पॉच-पॉच अवस्थाएँ होती है। स्थूल क्रम से प्रारम्भ करने पर, जिनके नाम क्रमशः स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म अन्वय एव अर्थवत्व है। "योग-सार सग्रह" मे इनका वर्गीकरण ग्राह्य सयम-जन्य सिद्धियो के अन्तर्गत किया गया है। भूत ही ग्राह्य है तथा धर्म-धर्मी एव कार्य-कारण के भेद से उनकी उपर्युक्त पॉच अवस्थाएँ है। यथा—

१. जिनमे से इनका प्रथम रूप स्थल-भूत या शब्द-स्पर्शादि विशेष अर्थात् भौतिक भावापन्न द्रव्य गौ, घटादि, भैरी, नादादि है।

२ प्रत्येक भूत का अपना-अपना सामान्यरूप होता है। अथवा उनके अपने नियत धर्म होते है, जिनके द्वारा उनको पहचाना जाता है। जैसे गन्ध-गुणात्मिका पृथ्वी की मूर्ति या कठिनता। रस-गुणक जल का स्नेह, अग्नि की उष्णता, वायु की नित्यप्रति सचारशीलता, आकाश की सर्वगामिता एव अवकाशदायकता स्वरूप-वाच्य है। ये ही पृथ्वी का पृथ्वीत्व, जल का जलत्व, अग्नि का अग्नित्व, वायु का वायुत्व और आकाश का आकाशत्व है। शब्द, स्पर्शादि इन्ही सामान्यो के विशेषरूप है, जैसा कि "व्यासभाष्य" की "अस्यसामान्यस्यशब्दादयो विशेषा"[2] उक्ति से भी स्पष्ट है।

---

१. "स्थूलस्वरूपसूक्ष्मात्वयार्थवत्वसयमाद्भूतजय" (यो० सू० ३/४४)

२. व्या० भा०—३/४४।

(गत पृष्ठ का शेषाश)

the realm of the Universal mind which works without a Deha or Body. The word Bahir is used because the universal mind is outside the individual mind and the world image in the individual mind has an external source. This all-embracing and vivid image which replaces the dark and partial image of the world process is Akalpita i.e is outside the range of the intellect. It has an independent reality and is inconcevable. It is a Vrtti because it is a passing state, but a Vrtti of the universal mind and not of the extremely limited individual mind."

( The Science of Yege, page 350, 351 )

३. स्थूल भूतो के कारणभूत पच तन्मात्र, शब्द, स्पर्श, रूप, रस एव गन्ध उनके सूक्ष्मरूप है। इसीलिये इन्हे सूक्ष्मभूत भी कहा जाता है।

४. अनुगमनकारी को अन्वय कहते है। "अगुगन्छतीत्यन्वयः"[१] सत्व, रज एव तम अपने प्रकाश, क्रिया एव स्थिति, धर्मत्रय से समस्त भूतो मे सर्वत्र अनुगत रहते है। अतः वे भूतो का अन्वयीरूप है।

५. गुणत्रय पुरुष के भोग एव मोक्षरूप अर्थ की पूर्ति के लिये है। गुण तन्मात्र एव भूतादि मे सर्वत्र व्याप्त है। भूतो को अवलम्बन करके ही पुरुष सुख-दुःखादि के भोगता है और स्थूलभूत-सघातस्वरूप शरीर ही भोगायत न होता है, जिसमे वैराग्य-द्वारा ही मोक्ष-सिद्धि होती है। इस प्रकार भूतो का-पुरुग के भोगापर्ग का-विषय बनना ही उनका अर्थवत्व रूप है।

पाँचो भूतो की इन पाँचो अवस्थाओ मे (अर्थात् २५ रूपो मे ) सयम करने से समस्त भूतो पर विजय प्राप्त होती है। ये वशीकृत भूत एव उनकी प्रकृतियां (तन्मात्र–योगी की इच्छानुसार कार्य करती है। जैसे बछडे को दूव पिलाने के लिए गाय सर्वदा अनुकूल आचरण करती है।

पचभूत समूह स्वरूप, भूतो के स्थूलतमरूप मे ही, ये पाँचो रूप एकत्र विद्य-मान है, अतः उनमे सयम करने से क्रमशः पाँचो का साक्षात्कार करके उन पर विजय प्राप्त हो सकती है। अर्थात् भौतिक द्रव्यभाव को प्राप्त भूत ही सयम का विपय है, क्योकि उन्ही मे पाँचो रूपो की एकत्र उपलब्धि हो सकती है।

अब यह द्रव्य क्या है ? भाष्यकार श्री व्यास के शब्दो मे "सामान्य विशेष-समुदायो द्रव्यम्", अर्थात् सामान्य एव विशेष, शब्द-स्पर्शादि का समुदाय ही द्रव्य कहलाता है, किन्तु यह स्मर्तव्य है कि अयुतसिद्धावयव-समूह ही द्रव्य कहलाता है, युत-सिद्धावयवसमूह द्रव्य पद-वाच्य नही हो सकता है। अयुत=अपृथकसिद्ध।

इस विषय मे प्रसगतः भाष्यकार श्री व्यास ने समूह-भेद का भी निरूपण किया है। समूह दो प्रकार के होते है। युतसिद्धावयव समूह और अयुतसिद्धावयव समूह। जिसके अवयव भिन्न-भिन्न हो, ऐसा समूह युतसिद्धावयव समूह कहलाता है, जैसे वन-रूप वृक्ष समूह मे वृक्षो की सत्ता भिन्न-भिन्न है।

जिस समूह मे अवयवो की भिन्न रूप से सत्ता प्रतीत न हो ऐसा समूह

२. यो॰सा॰ स॰—पृ॰ ६४।

"अयुतसिद्धावयव" कहलाता है। उदाहरणार्थ शरीर, त्वक्, रक्त, मास, मज्जा इत्यादि का समूह-स्वरूप है, किन्तु इनकी भिन्न प्रतीति नही होती। इन सबको अलग कर देने पर शरीर की सज्ञा ही असिद्ध हो जायेगी। इसी को सूत्र मे "स्वरूप" पद की सज्ञा दी गई है।

उससे ( भूतजय से ) अणिमा आदि अष्ट सिद्धियो का प्रादुर्भाव होता है और काय-मम्पत् की प्राप्ति तथा शारीरिक धर्मो से प्राप्त बाधाओ का अभाव होता है।[1]

भूतजयी योगी को अष्ट सिद्धियो की प्राप्ति होती है, जिनके नाम अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशिता, ईशिता और यत्र-कामावसायित्व ( या सत्यसकल्पता ) है।

**१. अणिमा[2]—**

अर्थात् महत्परिमाणयुक्त शरीर को भी अणु के समान सूक्ष्म बना लेने की शक्ति।

**२. लघिमा—**

तृण, तूलादि की भाँति अत्यन्त हल्के बन जाने की शक्ति।

**३. महिमा—**

अल्प परिमाण-युक्त शरीर को भी अत्यन्त महत्काय बनाने की शक्ति।

**४ प्राप्ति—**

यथेष्ट वस्तु को प्राप्त करने का सामर्थ्य। प्राप्ति-प्राप्त योगी की अभिलषित वस्तु यदि दूरस्थ हो, तो स्वतः निकटस्थ हो जाती है। उदाहरणार्थ योगी यथास्थान स्थित रहने पर भी इच्छामात्र से दूरस्थ चन्द्र का अगुली से स्पर्श कर सकता है। ये चार सिद्धियाँ पञ्च स्थूल भूतो के सयम से प्राप्त होती है।

**५ प्राकाम्य—**

इच्छा का अनभिघात प्राकाम्य है। जैसे जल की भाँति पृथ्वी भेद कर उसमे भी उन्मज्जन एव निमज्जन कर सकना। यह सिद्धि पच भूतो की स्वरूप

---

१. "ततोऽणिमादि प्रादुर्भाव कायसम्पत्तद्धमनिभिघातश्च (यो० सू० ३/४५)

२ अणिमा=अणुभाव, पर यहाँ अणुभाव करण सामर्थ्य को अणिमा कहा गया है।

सज्ञक अवस्था मे सयम से प्राप्त होती है। इससे श्रुत एव दृष्ट पदार्थ मात्र मे स्वच्छन्द गति होती है।

### ६ वशित्व—

भूत एव भौतिक पदार्थों की शक्ति को स्तम्भित करके, उन्हे स्वाधीन कर लेना तथा स्वय उनके वशीभूत न होना, वशित्व सिद्धि है, अर्थात् वशित्व-प्राप्त योगी अन्य को तो स्ववश कर लेता है, पर स्वय किसी से अधिकृत नही हो सकता है। यह सिद्धि सूक्ष्म भूत- विषयक सयम से प्राप्त होती है।

### ७ ईशितृत्व या ईशिता—

भूतो एव भौतिक पदार्थों को स्वेच्छानुसार प्रेरित करने की सामर्थ्य ईशिता नामक सिद्धि है। ईशिता-प्राप्त योगी सकल्पमात्र से सम्पूर्ण पदार्थो की सृष्टि, स्थिति एव प्रलय करने मे समर्थ हो जाता है। जैसे त्रिशकु के हेतु विश्वामित्र ने नवीन स्वर्ग की रचना की थी। यह सिद्धि भूतो को अन्वयावस्था मे सयम करने से प्राप्त होती है।

### ८. यत्र-कामावसायित्व—

सत्यसकल्पता ही यत्रकामावसायित्व है। इसके प्रभाव से योगी के सकल्पानुसार भूतो का स्वभाव बदल जाता है। यदि वह चाहे तो विष मे अमृत्व एव अमृत मे विषत्व उत्पन्न हो जायगा। इस प्रकार उक्त शक्ति-प्राप्त योगी विष खिला कर भी प्राणी को जीवित कर सकता है। यह सिद्धि "अर्थवत्व" मे सयम करने से प्राप्त होती है।

इस विषय मे भाष्यकार भगवान् व्यास एव अन्य विद्वानो ने भी कहा है कि योगी सर्वशक्ति-सम्पन्न हो जाने पर भी ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध पदार्थों का विपर्यास अर्थात् उलट-पुलट नही करता है। उदाहरणार्थ वह सूर्य को चन्द्र या चन्द्र को सूर्य अथवा दिन को रात या रात को दिन नही बनाता है, क्योकि ब्रह्माण्ड रचना मे पूर्वसिद्ध हिरण्यगर्भ-ईश्वर का यह सकल्प है कि सृष्टि-क्रम यथायोग्य नियमित रूप से चलता रहे। क्योकि उक्त रीति से सूर्य आदि का विपर्यास होगा, तो ईश्वर की सृष्टि की व्यवस्था अनियमित हो जायगी और अनेक अनिष्ट उत्पन्न होगे। अतः योगी ईश्वर के सकल्प के विरुद्ध आचरण नही करते। ईश्वरीय सकल्प से मुक्त पदार्थों मे ही वे अपनी शक्ति का समुचित प्रयोग कर सकते है। पदार्थ-

विपर्यास ईश्वरेच्छा के विरुद्ध है। अतः योगी उसे नही करते, किन्तु उन पदार्थों मे निहित शक्ति ईश्वरीय सकल्प से निश्चित नही, वरन् जाति, देश, काल एव अवस्था से ही निश्चित होती है। इन जात्यादि मे भेद होने पर वस्तु की शक्ति मे भी भेद अवश्यम्भावी है, क्योकि समस्त पदार्थ सर्वात्मक है[1]। अतः पदार्थगत-शक्ति का विपर्यास करना ईश्वरेच्छा के विरुद्ध आचरण नही है। वैसे पदार्थ की शक्ति मे योगी-प्रयुक्त विपर्यास ईश्वर की ही प्रेरणा से न्याय एव व्यवस्था के अनुसार ही होता है, अन्याय अथवा अनिष्ट करने को नही।

इन अष्ट-सिद्धियो के अतिरिक्त सूत्रकार ने भूतजयी को कायसम्पद् की प्राप्ति तथा शारीरिक धर्मो से अनभिघात रूप सिद्धि का भी कथन किया है। उनमे कायसम्पदाओ का वर्णन अग्रिम सूत्र मे होगा। उसके धर्मो से अनभिघात, अर्थात् पचभूतो के प्रभाव से योगी को आघात न पहुँचना तो अणिमादि अष्टसिद्धियो के आविर्भाव से स्वतः सिद्ध है। क्योकि जिसे उक्त सिद्धियाँ प्राप्त होती है, पचभूतो को भृत्यवत् इच्छानुसार प्रेरित करना उसके बाएँ हाथ का खेल है। आज्ञाकारी भृत्यु भला स्वामी को क्या हानि पहुँचाएगा ? फिर भी कार्यसिद्धि की भाँति सूत्रकार ने उसका पृथक् न्यास किया है, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

कठोर पृथ्वी, उक्त सिद्धि-प्राप्त योगी की शारीरिक क्रियाओ मे अवरोध नही डालती। जैसे योगी शिला मे भी अन्तः प्रविष्ट हो सकता है। जल का स्नेह (धर्म) उसे भिगो नही सकता है, अग्नि के ताप से वह जल नही सकता है। निरन्तर प्रवाहमान तीव्र वायु योगी को हिला भी नही सकता। मुक्त आकाश मे भी योगी का शरीर अनावृत नही होता अर्थात आकाश योगी को ढक लेता है, जिसके प्रभाव से युक्त आकाशस्थ योगी सिद्ध–पुरुषो के लिये भी अदृष्ट हो जाता है।

पूर्व सूत्र मे अष्टसिद्धियो के अतिरिक्त भूतजयी को कायसम्पद् की प्राप्ति भी बतलाई गई है। वे कायसम्पदाएँ रूप, लावण्य, बल, एव बज्र के समान शरीरावयवो की दृढता है[2]।

योगी विवेकानन्द ने तो यहाँ तक लिखा है कि —भूतजयी योगी "कालदण्ड को भग्न कर इस जगत् मे शरीर लेकर वास करते है[3]। तुल० खण्ड भित्वा कालदण्ड ब्रह्माण्डे विचरन्तिते (घोरण्ड सहिता)।

१. द्रष्टव्य—"त्रिविध परिणाम का सयमगत अनागततत्व।"

२. "रूपलावण्यवल बजूसहननत्वानि कायसम्पत्" (यो० सू० ३/४७)

३ राजयोग, पृ० २५०।

प्रथम ग्राह्य भूतो के सयम से जन्य सिद्धियो का निरूपण करके, सम्प्रति ग्रहणस्वरूप इन्द्रिय-विषयक सयम का उपन्यास किया जाता है, क्योकि ग्रहण का निरूपण ग्राह्याधीन है ।

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय एव अर्थवत्व इन्द्रियो के इन पॉच रूपो मे सयम करने से इन्द्रिय-जय प्राप्त होता है[1] ।

जिस प्रकार स्थूलभूतो की स्थूल, स्वरूपादि पॉच अवस्थाएँ है। उसी प्रकार इन्द्रियो के ग्रहणादि उपर्युक्त पॉच रूप होते है। जिनके पॉचो रूपो मे पृथक्-पृथक् सयम करने से तद्-तत् सयमजन्य भिन्न-भिन्न सिद्धियॉ प्राप्त होती है।

१ ग्रहण—

विषयो को ग्रहण करने का माध्यम होने से एकादश इन्द्रियॉ ग्रहण कहलाती है। अतः ग्रहण शब्द से उस प्रणाली का भाव समझना चाहिये, जिसके द्वारा शब्द-स्पर्शादि गृहीत होते है।

सामान्य-विशेषात्मक स्थूल शब्दादि विषय ग्राह्य है। उन विषयो मे इन्द्रियो की वृत्ति ग्रहण कहलाती है अर्थात् वृत्ति के विषय ग्राह्य एव विषयाकार मे परिणत वृत्ति ग्रहण पदवाच्य है। यह ग्रहण ही इन्द्रियो का प्रथम रूप है। इन्द्रियो का यह ग्रहणस्वरूप भी सामान्य विशेष उभयात्मक होता है। इस विषय मे बिना नाम का निर्देश किये भाष्यकार व्यास ने बौद्ध-मत का निरसन किया है। बौद्धो के मतानुसार घटत्व, शब्दत्वादि धर्म-सामान्य का ही इन्द्रिय-वृत्ति से ग्रहण होता है, किन्तु यह मान्यता उचित नही है। इन्द्रिय-वृत्ति का विषय धर्ममात्र या सामान्य मात्र नही, अपितु धर्म एव धर्मी या सामान्य एव विशेष दोनो ही उसके विषय होते है। अन्यथा इन्द्रियो के अ–विषयी-भूत विषय-विशेषो का मन के द्वारा निश्चय किया जाना भी असिद्ध हो जायेगा, क्योकि बाह्य विषयो मे मन की प्रवृत्ति स्वतन्त्र नही, अपितु इन्द्रियाधीन है। प्रथम इन्द्रियो से गृहीत विषय की हो बाद मे मन आलोचना करता है। घटादि विशेष के साथ, यदि इन्द्रिय-निरपेक्ष मन का ही प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्वीकार किया जाय, तो अन्ध-बधिरादि को चाक्षुष एव श्रावण प्रत्यक्ष अवश्य होना चाहिये, किन्तु ऐसा तो होता नही। अतः स्पष्ट है कि इन्द्रिय-वृत्ति सामान्य एव विशेष उभयात्मिका ही होती है। इन्द्रियो की उक्त वृत्ति ही ग्रहण कहलाती है और यही उसका स्थूलतम प्रथमरूप है। यही इन्द्रिय-विषयक सयम का प्रथम सोपान है।

---

१ "ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसयमादिन्द्रियजय" (यो० सू० ३/४८)

२. स्वरूप—

इन्द्रियवर्ती ज्ञान का साधनभूत अशसमूह प्रकाशात्मक बुद्धि का प्रकाशात्मक परिणाम-विशेष है। यह प्रकाशात्मक अश ही इन्द्रियो का स्वरूप है, अर्थात् सामान्यरूप से इन्द्रियो की प्रकाशशीलता उनका स्वरूप है। उदाहरणार्थ नेत्रो का नेत्रत्व श्रोत्रो का श्रोत्रत्व, घ्राण का घ्राणत्व आदि उनके स्वरूप है।

३. अस्मिता—

इन्द्रियगण अहकारजन्य होने से अहकार उनका उपादान है। इन्द्रियगत अहकार की क्रियाशील अवस्था विशेष ज्ञान है। अहप्रत्ययायात्मक भाव ही अस्मिता है। अतएव अहकार ही इन्द्रियो का अस्मिता-सज्ञक तृतीय रूप है।

४. अन्वय—

प्रवर्त्तन, धारण एव विज्ञान के व्यापार से गुणत्रय इन्द्रियो मे भी सर्वत्र अनुगत है। अतः सत्व, रज एव तम, ये गुणत्रय ही भूतो की भाँति इन्द्रियो के भी अन्वयीरूप है।

५. अर्थवत्व—

भोग एव अपवर्गरूप अर्थ का करण या साधन होने से इन्द्रियाँ पुरुष के अर्थ स्वरूप है। अतः अर्थवत्व इनका पचम स्वरूप है।

उपर्युक्त इन्द्रिय के पांचो रूपो मे क्रमश सयम करने पर योगी इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करता है, जिसके फलस्वरूप योगी को मनोजवित्व, विकरण भाव और प्रधानजय ये तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती है[1]।

१. सर्वोत्तम गतिलाभ ही मनोजवित्व है। जव का अर्थ है वेग। अतः मनोजवित्व का अर्थ है, शरीर को मन के समान तीव्र गति या वेग का प्राप्त होना। अर्थात् जिस प्रकार मन असख्य योजन दूरस्थ अथवा व्यवहित देश मे भी क्षण-मात्र मे पहुँच जाता है, उसी प्रकार की गति का लाभ मनोजवित्व है। विभु अन्तःकरण को परिणत करने से अभीष्ट स्थल पर, क्षण-मात्र मे इन्द्रिय-निर्माण की योग्यता प्राप्त होने पर मनोगति एवं विकरण भाव प्राप्त होते है[2]। यह सिद्धि ग्रहण-विषयक सयम से प्राप्त होती है।

१ "ततोमनोजवित्व विकरणभाव प्रधानजयश्च" (यो० सू० ३/४८)

२. पा० यो० द० (हरि० आ०)—पृ० २८४।

२ इन्द्रियो का शरीर-निरपेक्ष वृत्तिलाभ ही विकरणभाव नामक सिद्धि है। इससे सभी दूरस्थ आदि देश, भूत, भविष्यतादि काल तथा सूक्ष्म आदि विषयो का-योगी शरीर के बिना ही यथा स्थान स्थित रह कर-प्रत्यक्ष कर सकता है। इन्द्रियो का सर्वत्र विकीर्णभाव अथवा व्यापकता ही विकरण भाव है। यह सिद्धि इन्द्रियो के स्वरूप विषयक सयम से प्राप्त होती है।

३. सम्पूर्ण कारक-काय-परम्परा को अर्थात् मूलप्रकृति एव उसके समस्त विकारो को स्वाधीन कर लेना ही प्रधानजय है। प्रधान जय क्रिया-शक्ति की चरम सीमा है। इसके प्रभाव से सम्पूर्ण विश्वगत कार्य-कारणात्मक निखिल पदार्थ योगी की इच्छानुसार प्रेरित होते है। यह सिद्धि, अस्मिता अन्वय एव अर्थवत्व इन तीनो के सयम का फल है।

प्रकृतिजय के विषय मे यह आपत्ति हो सकती है कि इन्द्रियविषयक सयम-जय से इन्द्रियाँ ही वशीभूत होनी चाहिये, प्रधान तो नही। क्योकि जिस विषय का सयम किया जाता है, उसी पर अधिकार प्राप्त होता है, अन्य पर नही, अत इन्द्रिय सम्बन्धी सयम-द्वारा प्रधान के वशित्व का सम्पादन किस प्रकार हो सकता है? इसका समाधान यह है कि उपर्युक्त तीनो सिद्धियाँ पचेन्द्रिय मात्र के जय से नही, अपितु उनके ग्रहण, स्वरूपादि पाँच रूपो के सयम एव जय से प्रादुर्भूत होती है। उन पाँच रूपो के अन्तर्गत प्रधानादि का भी समावेश होता है। अतः प्रधानजय के विषय मे आपत्ति नही करनी चाहिये।

इन्द्रियजय से उत्पन्न तीनो सिद्धियो को योगशास्त्र मे 'मधुप्रतीका' सज्ञा दी गई है। स्वामी ओमानन्द ने लिखा है कि उक्त सिद्धि-त्रय प्राप्त योगी को प्रत्येक सिद्धि मे मधुवत् स्वाद को प्रतीति होती है। पुनः उन्होने योगजन्य 'ऋतम्भरा" प्रज्ञा की "मधु" सज्ञा बतलाकर उस मधु का प्रतीक होने से इन सिद्धियो को मधु-प्रतीक सज्ञा बताई है। उस मधु का प्रतीक—अर्थात् जिसके द्वारा उसका कारण प्रत्यक्ष किया जाय वह मधु-प्रतीक है[१]।

भूत एव इन्द्रिय—विजय द्वारा उक्त सिद्धि-प्राप्त योगी, शक्ति एव शुद्धि की दृष्टि से, अधिकाश मे साधारण देवताओ की अपेक्षा उच्च स्तर मे उठ जाते है। सृष्टि, स्थिति एव सहारक्रिया मे वे स्वयमेव समर्थ होते है और उनके चित्त मे विमल वैराग्य की प्रभा प्रस्फुटित होती है।

तत्पश्चात् योगी भूतेन्द्रिय राज्य का उल्लघन करके, पुरुष एव सत्व के

---

१ "पातजल योग-प्रदीप"—पृ० ५४२।

भेदज्ञान मे निष्ठा प्राप्त करके, सब भावो का अधिष्ठाता और सर्वज्ञ हो जाता है[1]। भगवान् व्यास ने इस सिद्धि की "विशोका" सज्ञा बतलाई है। इस अवस्था मे सर्वभावाधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञत्व स्वाभाविक ही है। क्योकि विवेकख्याति पर्यन्त सर्वात्मक प्रकृति के कार्यकारणात्मक समग्र गुण क्षेत्रज्ञ स्वामी ( पुरुप ) के प्रति निःशेषभोग्य या दृश्यभाव से उपस्थित हो चुकते है। अतः वह सब भावो का अधिष्ठाता होता है या स्वामी होता है। इस काल मे योगी ईश्वर की भाँति इच्छामात्र से निखिल वस्तुओ को प्रेरित कर सकता है। भूत, भविष्य एव वर्तमान धर्मरूपेण स्थित, सर्वात्मक गुणो का एक साथ सम्यक् विवेकज्ञान हो जाने से वह सर्वज्ञ हो जाता है। जगत् के स्थूल एव सूक्ष्म, दोनो ही रूप गुण-त्रय के विविध विकास है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकृति के गुणो का ही विलास है। विवेकज्ञानी समस्त विकृतियो सहित प्रकृति का आद्योपान्त प्रत्यक्ष करके द्रष्टा पुरुष का भी स्वरूप-साक्षात्कार कर चुकता है। अतः विश्व का कोई भी तत्व अनालोचित न रहने से सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

श्रुति भी है—"आत्मनो वा अरे दर्शनेनेद सर्वविदितम् ( बृहदा० ) सत्व-पुरुष के भिन्न प्रत्यक्ष से क्लेश हेतुक भोग नष्ट हो जाने से इस सिद्धि को विशोका कहते है। यही जीवन्मुक्ति है।

सिद्धियो की प्राप्ति से योगी को अपनी श्रेष्ठता का अभिमान नही करना चाहिये। विविध सिद्धियो के प्राप्तिकाल मे, तद् तत् स्थानीय देवगण योगी के समक्ष दिव्य भोग उपस्थित कर उन्हे प्रलोभन देते है। निर्लिप्त, निरभिमान योगी उनकी उपेक्षा करके कैवल्य की ओर निरन्तर प्रयत्नशील रहते है। दिव्य भोगो के प्रलोभन में पडने, अथवा देवताओ-द्वारा आदर प्राप्ति का अभियान करने से योगभ्रष्ट होने की सम्भावना होती है, जैसा कि सूत्रकार ने भी कहा है—"स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्ग-स्मयाकरण पुनरनिष्टप्रसङ्गात्[2]।"

देवगण प्रलोभन–प्रदान-हेतु, योगी के पास विविध दिव्यभोग अप्सरा आदि प्रेषित करते है।

"पातजल–योग-सूत्र" मे चार प्रकार के योगियो का वर्णन किया गया है, जिनका विवरण भाष्यकार श्री व्यास ने निम्न प्रकार से दिया है—

---

१ "सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्व सर्वज्ञातृत्वच" (यो० सू० ३/४९)

२ "स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरण पुनरनिष्टप्रसगात् ।" (यो० सू० ३/५१)

(१) प्रथमकल्पिक,
(२) मधु–भूमिक,
(३) प्रज्ञाज्योतिः,
(४) अतिक्रान्तभावनीय।

(१) प्रारम्भिक अभ्यासी स्थूल समाधि-सिद्ध योगियो की "प्रथमकल्पिक" सज्ञा है। अर्थात् सवितर्का समाधि (१/४२) मे अधिकार-प्राप्त योगी प्रथमकल्पिक है। इनके चित्त मे अन्तर्ज्योति का स्फुरण प्रारम्भ हो जाने पर भी उसकी शुद्धि एव तत्व–विजय अवशिष्ट होती है। वे समापत्ति के द्वारा केवल "परचित्तज्ञानादि" प्राप्त कर सकते है[1]।

(२) प्रथमकल्पिक के बाद योगी "मधुमती" भूमि मे प्रवेश करता है। मधुभूमिक योगियो के चित्त अत्यन्त शुद्ध होते है। उन्हे ऋतम्भरा-प्रज्ञा[2] प्राप्त होती है। वे भूत एव इन्द्रियो को प्रत्यक्ष कर, उन पर विजय–प्राप्ति मे प्रयत्नशील रहते है।

(३) तृतीय अवस्था-युक्त योगी विशोधित-प्रज्ञा-ज्योति-द्वारा भूत एव इन्द्रियो के उक्त ग्राह्य, ग्रहणादि पाँचो रूपो को स्ववश कर विशोका सिद्धि हेतु प्रयत्नशील रहते है। ये मधुप्रतीकादि-सिद्ध योगी देवस्तर से उन्नत हो जाने से दिव्य विषयो मे आसक्ति-शून्य होते है। इन्ही की प्रज्ञाज्योतिः सज्ञा है।

(४) विवेकख्याति–द्वारा सर्व-भावाधिष्ठातृत्व-सर्वज्ञातृत्वरूप विशोका सिद्धि-प्राप्त चतुर्थ भूमिक योगी "अतिक्रान्तभावनीय" कहलाते है। साधनपाद सूत्र २७ मे वर्णित सप्तधा-प्रान्तभूमि-प्रज्ञा-प्राप्त, इन चतुर्थ भूमिका-युक्त योगियो की सम्पूर्ण साधनापूर्ण हो चुकती है। केवल असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा चित्त का विलय करना ही अवशिष्ट रहता है।

उपर्युक्त चारो प्रकार के योगियो मे मधुभूमिक योगी के ही योगभ्रष्ट होने की अधिक सम्भावना रहती है[4]। प्रथमकल्पिक भूमि मे तो चित्त की पूर्ण शुद्धि न

---

१ तत्व० (३/५१)

२ द्र०—यो० सू० १/४८।

३ द्र० यो० सू० १/४३, ३/४४-४७।

४ "तत्र मधुमती भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवा सत्वविशुद्धि-मनुपश्यन्त स्थानैरुपनिमन्त्रयते" (व्या० भा० सू० ३-५१)

हो सकने से देवादिको से इस प्रकार के प्रलोभनो की सम्भावना ही नही होती और मधुमती के बाद की भूमियो मे योगी देवस्तर से ऊपर उठ जाता है। फिर जिन दिव्य भोगो का देवगण प्रलोभन देते है, सृष्टि, स्थिति एव सहार-क्रिया मे समर्थ भूतेन्द्रियजयी, उनका स्वय ही निर्माण कर सकते है। अतः उन विषयो मे उन्हे आसक्ति नही रहती। जिसके लिये दिव्य भोग दुर्लभ हो, अथवा जिसके लिये दिव्य भोग नवीन वस्तु हो, उसे उनके प्रति आकर्षण हो सकता है, पर जो उनकी उपेक्षा करके, उन भोगो से भी उत्कृष्ट अवस्था मे पहुच चुका हो, उसके लिये वे भोग भी साधारण वस्तु है। अतः तृतीय एव चतुर्थ भूमिक योगियो को इन प्रलोभनो मे फँसने की सम्भावना नही रहती है[1]।

मधुमती भूमिका का साक्षात्कार करने वाले योगी की अत्यन्त चित्त-शुद्धि देख कर देवगण रमणीय दिव्यातिदिव्य विषय-भोगो को प्रस्तुत कर, साधक को प्रलोभन देते है कि ये सब दिव्य भोग आपकी ही तपस्या का फल है। आपके ही योग्य है। ये अत्यन्त रमणीय, अजर, अमर पद प्रदान करने वाले है, इत्यादि। उस अवस्था मे दिव्यातिदिव्य नवल भोगो को देखकर उनके प्रति राग जागृत हो उठना स्वाभाविक होता है, साथ ही "मै देवताओ-द्वारा भी प्रार्थनीय हूँ", इत्यादि अभिमान भी जागरूक हो जाना स्वाभाविक है। अतः मधुभूमिक योगी को सतर्क रहना चाहिये तथा गुणातीत स्वरूपस्थिति के लिये सतत यत्नशील रहते हुए, इन क्षुद्र प्रलोभनो की उपेक्षा करनी चाहिये। अन्यथा वह अपने अभीष्ट की सिद्धि न कर सकेगा, प्रत्युत क्लेश-कर्म-विपाक के आवर्तन मे पुनः प्रवृत हो जाएगा। मुमुक्षु के लिये इन विभूतियो का प्रयोजन दिव्य भोगो की उपलब्धि नही, वरन् उनके द्वारा तत्व साक्षात्कार करते हुए उन्हे स्ववश करके, अन्त मे विवेक-ज्ञान-द्वारा कैवल्य प्राप्त करना है।



१. द्रष्टव्य—भारतीय सस्कृति और साधना" (प्र० ख०) पृ० २९४।

## ( ६ ) कैवल्य-प्राप्ति का साधन ।

स्वार्थ-प्रत्यय के सयम-द्वारा सत्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विवेक-ज्ञान ही कैवल्य-प्राप्ति का साधन है। विवेकख्याति के अनेक सोपान है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा से प्रारम्भ कर सप्तधा प्रान्त-भूमि प्रज्ञा पर्यन्त विवेकख्याति का प्रकर्ष होता है। पूर्व वर्णित स्वार्थ-प्रत्यय[1] का सयम, विवेकख्याति की आदिम अवस्था है। अन्तिम दशा मे विशुद्ध सत्व एव पुरुष का भेद-ज्ञान प्राप्त होने पर, योगी सर्वभावाधिष्ठातत्व एव सर्व-ज्ञातृत्व प्राप्त करके, क्षीण-क्लेश एव विशोक हो जाता है[2]। स्वार्थप्रत्यय जन्य पुरुषज्ञान से प्रस्तुत प्रसगगत सत्व-भिन्न पुरुष-ज्ञान का भेद प्रदर्शित करते हुए, श्री विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि "तत्र पौरुषेयप्रत्यय सुखाद्यनुभवरूपे परिच्छिन्नएव सयम उक्तो नत्वपरिच्छिन्ने पुरुषे, अत्र तु तेन सयमेन ज्ञाते परिपूर्ण पुरुषे बुद्धि विवेक सयम उच्यत इति विशेषः"[3], अर्थात् वहाँ ( स्वार्थप्रत्यय के सयम मे ) सुख आदि के अनुभवरूप से परिच्छिन्न पौरुषेय प्रत्यय मे ही सयम कहा है, अपरिच्छिन्न पुरुप मे नही। प्रस्तुत स्थल मे उस सयम के द्वारा पूर्ण पुरुप ज्ञात हो जाने पर, बुद्धि से विविक्त पुरुष का सयम कहा गया है, यह विशेपता है।

इस विषय मे मणिप्रभाकार तथा योगसुधाकरकार ने उल्लेख किया है कि पूर्वोक्त स्वार्थप्रत्यय के सयम-द्वारा, अन्तःकरण के रजोगुण एव तमोगुण रूप मल धुल जाते है और अन्तःकरण पर विजय-प्राप्ति होती है तब वशीकार सज्ञक वैराग्य मे स्थित बुद्धि सत्व का आत्मा से भेदज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे उन्हे सर्वभावाधिष्ठातृत्व एव सर्वज्ञता की स्थिति प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि स्वार्थ-प्रत्यय विषयक सयम से जिस पुरुप-साक्षात्कार का प्रारम्भ होता है, उसकी पूर्ण परिणति विवेकख्याति की अन्तिम अवस्था है[4]। अन्य किसी व्याख्याकार ने स्वार्थप्रत्यय के सयमजन्य पुरुष साक्षात्कार से, पूर्ण विवेकज्ञान जन्य पुरुप-साक्षात्कार का, भेद प्रदर्शित करने की कोई आवश्यकता नही समझी—ऐसा प्रतीत होता है।

---

१ यो० सू० ३/३५,

२ यो० सू० ३/४९,

३. यो० वा० ३/४९।

४ यो० सू० ३/४९।

श्री भिक्षु ने इस विषय मे "योगसागर-सग्रह" मे अधिक स्पष्ट व्याख्या की है। तदनुसार भोग के मध्य ही बुद्धिजन्य प्रतीति से विविक्त पुरुष-विषयक ज्ञान स्वार्थ-प्रत्यय है, जिसके सयम से सूत्र ३/३५ मे कथित पुरुष-ज्ञानरूप सिद्धि होती है[१]। किन्तु सर्वभावाधिष्ठातृता एव सर्वज्ञता का हेतुभूत, पुरुष का साक्षात्कार बुद्धि एव पुरुष का सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष है। यही इन दोनो मे भेद है[२]।

वस्तुतः घट से अवच्छिन्न आकाश का प्रत्यक्ष जैसे घट से विवेक करने पर होता है, उसी भाँति शब्दस्पर्शादि विभिन्न वृत्तियो से अवच्छिन्न अश ( चिदाकाश के अशभूत ) आकाश का प्रत्यक्ष उन वृत्तियो से भेद करने पर होता है। यही स्वार्थ प्रत्ययजन्य पुरुषज्ञान का स्वरूप है। इससे भिन्न विभु चिदाकाश से निखिल प्रपच का भेद करने पर, विभु आकाश की भाँति सर्वव्याप्त परिपूर्ण परमात्मा का साक्षात्कार होता है[३]। यही उपाधिशून्य पुरुष के पूर्ण साक्षात्कार का स्वरूप है। यही विवेकख्याति की अतिम अवस्था है।

× × ×

निःशेष सर्वज्ञता का कारणभूत विवेकजन्य ज्ञान क्षण तथा उसके क्रम मे सयम करने से आविर्भूत होता है[४]।

जिस प्रकार द्रव्य का सबसे छोटा अविभाज्य अश परमाणु है, उसी प्रकार काल का सूक्ष्मतम निर्विभाज्य अश क्षण होता है। अथवा भाष्यकार श्री व्यास ने क्षण के स्वरूप की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि एक चलित परमाणु जितने समय मे परमाणुमात्र देश को पार करता है, वह काल क्षग है तथा उन क्षणो का एक के बाद एक प्रकट होते रहना या निरन्तर प्रवाहित रहना ही क्रम है। स्वामी विवेकानन्द ने पूर्वोक्त विवेकजन्य ज्ञान की दृढता के हेतु क्षण एव उसके क्रम मे सयम का विधान बतलाया है[५]। किन्तु श्री वाचस्पति, भोज, नागोजीभट्ट प्रभृति सभी सस्कृत टीकाकारो ने सत्व-पुरुष के विवेकजन्य सर्वज्ञातादि ज्ञान की प्राप्ति के उपा-

---

१. "भोगमध्ये बौद्धप्रत्ययविवेकेन पोरुषेय प्रत्यये सयम कर्त्तव्य इत्याशयेन भोगोऽप्यत्र लक्ष्यते" योगसार सग्रह, पृ० ८६।

२. यो० सा० स० (पृ० १००–१०१)

३ यो० सा० स० (पृष्ठ ६१)

४. "क्षणतत्क्रमयो सयमा द्विवेकज ज्ञानम्"—यो० सू० ३/५२।

५. राजयोग ( विवेकानन्द ), पृ० २५३।

यान्तर के अर्थ मे ही क्षण एव उसके क्रम मे सयम का विधान बतलाया है। क्षण एव उसके क्रम विषयक सयम से भी प्रत्येक तत्व का पुरुषपर्यन्त साक्षात्कार होकर, सबको विषय बनाने वाला, विवेकज—ज्ञान उत्पन्न होता है, क्योकि अतीत वर्तमानादि परिणामत्रय से प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक क्षण परिणाम को प्राप्त होती है, अतः क्षण एव तत्क्रम मे सयम करने से प्रत्येक महदादि तत्वो के परिणामत्रय का प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष पुरुष पर्यन्त पहुँच कर विवेकजज्ञान का अभिव्यञ्जक बनता है[1]।

योगमत मे क्षणो का उक्त क्रम कोई वास्तविक सत्ता नही होती, वरन् उसका काल्पनिक व्यवहारमात्र होता है। क्षण एव उसके क्रम का कभी मिलन नही होता। एक क्षण के वर्तमान काल मे एक ही क्षण वर्तमान रह सकता है। दो क्षण कभी एक साथ वर्तमान नही हो सकते तथा पूर्वोत्तर क्षण-रूप क्रम की भी परस्पर अनन्तरता होने से, क्षण एव क्रम का भी मेल नही हो सकता है। अतः काल के स्थूल रूप मुहूर्त्त, दिन, रात्रि आदि सभी बौद्ध-कल्पना-प्रसूत एव अयथार्थ है। लौकिक-जन इसी को काल कहते है और उसे वास्तविक समझते है। एकमात्र वर्तमान क्षण ही यथार्थ या वास्तविक है।

मुहूर्त्त आदि मे क्षणो का समाहार कल्पनीय ही होगा, पर यह असम्भव है। क्योकि उसमे वर्तमान क्षण के अतिरिक्त अवर्तमान क्षणो का भी समावेश करना होगा। अवर्तमान क्षण का तात्पर्य है, अतीत या अनागत क्षण, जो "है नही", क्योकि अवर्तमान का अर्थ मे, किसी सत्ता का अभाव होना और अतीत एव अनागत क्षण का अर्थ ही है अवर्तमान क्षण। अतः वर्तमान क्षण मात्र के अतिरिक्त अतीतादि क्षणो का मेल न हो सकने से, क्षण-समाहारस्वरूप मुहूर्त, घटिकादि काल की सत्ता भी वस्तुशून्य, वैकल्पिक शब्द व्यवहारमात्र ही है।

फिर भी "त्रिकाल है," इस प्रकार का तीनो कालो का सत्ता-बोधक व्यवहार शब्दमात्र से सिद्ध की भाँति किया जाता है। इसी भाँति मुहूर्त, घटिका आदि का व्यवहार भी विकल्पात्मक ही समझना चाहिये।

अतः योगमत मे क्षणमात्र से अतिरिक्त काल नाम की कोई वस्तु नही

---

१ "सर्ववस्तूनामशेष विशेषैर्विविच्य साक्षात्करणरूप सार्वज्ञ भवतीत्यर्थ।
प्रतिक्षण हि सर्व वस्तु परिणमतेऽत्र क्षणतत्क्रमयो साक्षात्कार
सर्ववस्तना सर्वपरिणामतत्त क्रमयोरपि ज्ञानात्सर्वतो विवेकेन पुरुषप्रत्ययो
भवतीत्याशय। ( नागोजीभट्टवृत्ति—सू० ३/५२ )

होगी। एकमात्र क्षण ही वास्तविक है। वह क्षण भी क्रम पर आश्रित है। क्षणो के इस क्रम को ही कालविद् योगी काल कहते है। "क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी। क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा त कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः[1]।"

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि क्षण भी वास्तविक है, पर स्वय वस्तु नही है, जैसा कि भाष्यकार श्री व्यास की उपर्युक्त पक्तियो से भी स्फुट होता है। भाष्यकार व्यास ने क्षण का "वस्तुपतितः क्रमावलम्बी" कहा है, अर्थात् वस्तु मे पड कर या वस्तु के अधीन होकर क्रम का अवलम्बन करने वाला, अर्थात क्षण किसी वस्तु के परिणाम क्रम के आश्रय से अनुभवगम्य होने वाला अधिकरणस्वरूप है। श्री भिक्षु ने "योगवार्तिक' मे प्रसगगत सूत्र के व्यासभाष्यगत "क्रमावलम्बी" शब्द के स्थान पर 'क्रमावलक्षी" पाठ स्वीकार किया है। तदनुसार क्षण वस्तु के परिणाम–क्रम द्वारा लक्षित पदार्थ है, अतः इस पाठ के अनुसार भी अर्थ मे कोई भेद नही पडता है। श्री वाचस्पति मिश्र ने, व्यास-भाष्यगत "वस्तुपतित" का अर्थ "वास्तव" किया है। श्री हरिहरानन्द आरण्य ने "वस्तुपतित" का अर्थ वस्तु का अधिकरण-स्वरूप किया है ( द्र० भास्वती )। उनके "पातजल–योग-दर्शनम्" सज्ञक ग्रन्थ मे, इस विषय-की और अधिक स्पष्ट एव विस्तृत आलोचना की गई है, जिसमे उन्होने श्री वाचस्पति मिश्र एव श्री विज्ञानभिक्षुकृत समीक्षा को भी, स्वाभिमत अर्थ मे पर्यवसित करते हुए, लिखा है कि "वास्तव" शब्द का अर्थ है, वस्तु सम्बन्धी, वस्तु नही। कारण क्षण स्वय वस्तु नही, वरन् वस्तु का अधिकरणमात्र होता है[2]।

अधिकरण का अर्थ होता है, सयोगविशेष। जिस प्रकार दाडिम एव हस्त का सयोग–विशेष देखकर 'हाथ मे दाडिम है, ऐसा व्यवहार होता है, किन्तु वस्तुतः दाडिम दाडिम मे ही होता है और हाथ-हाथ मे ही होता है। इस प्रकार का सयोग-विशेष अधिकरण कहलाता है। अवकाश और अवसर ( काल ) बौद्ध कल्पनाजन्य अधिकरण होते है। अतः वस्तु का अधिकरण होने से वर्तमान क्षण वास्तविक है। जिसकी सत्ता साक्षात् लक्षित हो वही, वस्तु है। सामान्य भाषा मे जो है, वही वस्तु है। "है" अर्थात वर्तमान काल। अतः वस्तु का अधिकरण हुआ वर्तमान काल। अतीत एव अनागत पदार्थ है, यह नही कहा जा सकता। उनके लिये "था" और "होगा", इस प्रकार का व्यवहार होता है। इसलिये अनागत एव अतीत "वस्तु" का अधिकरण नही हो सकता है। अतः अतीत एव अनागत क्षण अवास्तविक होने से अलीक पदार्थ है।

---

१ व्या० भा० ३/५२।

२ पात० यो० द० ( हरि० आ० )—पृ० २६०।

एकमात्र वर्तमान क्षण ही वास्तविक है। अतः सत्य है। फिर भी भूत एव भावी क्षण शशविषाण के तुल्य अत्यन्त अलीक पदार्थ नही है। इसी दृष्टि से भाष्यकार श्री व्यास ने कहा—"ये तु भूतभाविनःक्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयाः"[1] अतः भूत एव भावी क्षण परिणाम रूप से सूक्ष्म अवस्था मे वर्तमान क्षण मे निहित रहते है[2]। उन्हे अलीक कहने से तात्पर्य तद्विषयक ज्ञान की वर्तमान अनुभूति न होना ही है। जहाँ तक अतीत एव अनागत पदार्थ के सूक्ष्म अस्तित्व का प्रश्न है, सूक्ष्म अवस्था मे वे वर्तमान क्षण से अतिरिक्त और कुछ भी नही है। साराश यही है कि एकमात्र वर्तमान क्षण ही वास्तविक सत्य या वस्तु का अधिकरण है। उस एक वर्तमान क्षण मे ही समस्त विश्वपरिणाम निहित है। प्रत्येक व्यापारशील धर्म, उसी एक वर्तमान क्षण मे उपारूढ है। द्रव्य के सूक्ष्मतम परिणाम तथा उसके प्रवाह का सम्यक ज्ञान होने पर से सूक्ष्मतम विवेकज्ञान होता है। अतः (वर्तमान) क्षण अथवा क्षणमात्र मे व्याप्त वस्तु धर्म मे तथा उसके धाराबाहिक क्रम मे सयम करने से, क्षण का क्रम-सहित प्रत्यक्ष होता है, पुनः विवेकज ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है।

श्री भिक्षु ने इस सूत्र के व्याख्यान मे, न्याय, वैशेषिकादि अपरमतो का भी विस्तृत विवरण दिया है।

× × ×

उक्त विवेक - जन्य ज्ञान निखिल पदार्थ विषयक होने पर भी, इसके द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म विषय-विशेष का भी निश्चय किया जाता है। जाति, लक्षण और देश-भेद से समान आकार युक्त पदार्थो के भेद का निश्चय न हो सकने पर, इस विवेकज ज्ञान के द्वारा ही उनमे भेद का अवधारण होता है।

किन्ही भी पदार्थो के पारस्परिक भेद का निश्चय कराने वाले तीन कारण होते है—जाति लक्षण और देश। तुल्य देश एव तुल्य लक्षणयुक्त पदार्थो मे उनका भेद जाति के द्वारा निश्चित होता है जैसे किसी एक ही स्थान पर लाल रङ्ग की गाय एव घोडी रहने पर, उनमे यह गौ है, यह घोडी है इस प्रकार के भेद-ज्ञान का कारण उनकी जाति का भेद है।

यदि एक ही देश मे समान जाति-युक्त पदार्थ हो तो उनका लक्षण के द्वारा भेद होता है। जैसे यह श्वेतवर्णा गौ है, यह धूमिल वर्ण की गौ है, इत्यादि।

---

१ व्या० भा० ३ ५२

२ इसका विवरण—'त्रिविध परिणाम का सयम" शीर्षक मे द्रष्टव्य है।

३ "जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः' (यो० सू० ३/५३)

इसी प्रकार जहाँ समान जाति एव लक्षण युक्त पदार्थ प्रस्तुत हो, वहाँ उनका पार्थक्य देशभेद से किया जाता है। उदाहरणार्थ दो समान आकार एव लाल ही रङ्ग के सेव रखे होने पर, उनमे पारस्परिक भेद की पहचान पूर्व एव उत्तर देश के द्वारा होती है, क्योकि जो पूर्व देश मे स्थित है, वह उत्तरदेश मे नही है और जो उत्तरदेश मे स्थित है, वह पूर्वदेश मे नही है। इस प्रकार लोक मे किसी वस्तु का एक-दूसरे से भेद जातिभेद, लक्षणभद अथवा देशभेद--द्वारा ही पहचाना जाता है।

यदि सजातीय एव समान लक्षण वाले उन सेबो का स्थानान्तर कर दिया जाय, तो कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य जनो को यह ज्ञान नही हो सकेगा कि इनमे कौन पहला और कौन सा दूसरा है। इस प्रकार की सदेहात्मक स्थिति मे वस्तुओ के पार्थक्य का निर्धारण असन्दिग्धरूप से तत्वज्ञान के द्वारा ही हो सकता है, क्योकि प्रथम देश मे स्थित सेब के साथ सम्बद्ध क्षण-परिणाम से, द्वितीय देशस्थ सेब से सम्बद्ध क्षण परिणाम भिन्न है। अतः प्रथम तथा द्वितीय क्षण मे कौन-सा सेब किस स्थान पर था, इस प्रकार का विवेक ज्ञान क्षण तथा उसके क्रम मे सयम करने से ही प्राप्त होता है, जो योगी के लिये ही सम्भव है। इसी दृष्टि से सूत्रकार ने कहा है कि जाति-लक्षण एव देशगत भेद का निश्चय न होने पर समान पदार्थो का विवेकजन्य ज्ञान-द्वारा ही निश्चय होता है। यह क्षणान्तवर्ती भेद ही सूक्ष्मतम भेद होता है।

स्थूलदृष्टि से अनेक वस्तुएँ तुल्याकार समझ पडती है, जिनका भेद जन-सामान्य को बुद्धिगम्य नही हो सकता। जैसे एक ही धातु से निर्मित रुपयो को आपस मे मिलाकर रख देने पर, उनमे प्रथम, द्वितीय, तृतीयादि का ज्ञान नही होता। परन्तु अणु-वीक्षण यन्त्र-द्वारा देखने पर उनमे उक्त निर्णयात्मक भेद लक्षित होता है, किन्तु अणुवीक्षण यन्त्र का क्षेत्र भी स्थूल जगत् तक ही सीमित है। इस स्थूल जगत् से भी परे, जिसके द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड ही परिणाम को प्राप्त हो रहा है, उस तत्व का विवेचन एकमात्र योगज विवेकज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। यह पहले भी बतलाया जा चुका है कि क्षणगत भेद ही सूक्षतम भेद है। विवेकजन्य ज्ञान उसी का ज्ञान तथा क्षण एव उसके क्रम का सयम, उसका विज्ञान है।

समान सेवो के भेदज्ञान के विवरण से उस प्रणाली को उदाहरणपूर्वक दिखाया जा चुका है, किन्तु योगी का लक्ष्य इस प्रणाली से उक्त सेब आदि का भेद-ज्ञान नही, वरन् इसी रीति से सूक्ष्म तत्त्व या समानाकार परमाणुओं भेद का विवेचन

करके तत्वज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार अपने लक्ष्यभूत सत्व एव पुरुष का विवेक-साक्षात्कार योगी करते है।

वैसे इस प्रसग मे प्रसगतवश भाष्यकार व्यास ने बिना नामोल्लेख किये वैशेषिक[1] मत की चर्चा की है। वैशेषिक मत मे, द्रव्य मे रहने वाले अन्तिम विशेष या भेदक धर्म ही भेदज्ञान का कारण है। वे भेदक विशेष –(१) देश, (२) लक्षण, (३) मूर्ति, (अवयवो का सन्निवेश विशेष), (४) व्यवधि (व्यवधानविशेष) और (५) जाति है।

उक्त मूर्ति आदि के भेद तो लौकिक प्रत्यक्षगम्य है, परन्तु क्षणभेद से विवेक करना, केवल यौगिक-प्रत्यक्ष से ही सम्भव है। तत्वसाक्षात्कार की सूक्ष्मतम अवस्था मे मूर्त्यादि की सत्ता ही नही रहती। अतः वह लौकिक प्रत्यक्ष का विषय ही नही है। इसीलिये भगवान् वार्षगण्य ने कहा है कि जगत् के मूलकारण प्रधान (प्रकृति) मे, मूर्ति, व्यवधि और जाति रूप भेदो का अभाव होने से, उसका वेद-ज्ञान लौकिक पुरुषो को नही होता है। अतः वह शास्त्रीय विवेक अथवा यौगिक प्रत्यक्ष से अवगम्य है।

× × ×

उक्त विवेकजन्य ज्ञान तारक अर्थात् ससार-सागर से तारने वाला, निखिल पदार्थों को विषय बनाने वाला, सब प्रकार से विषय करने वाला तथा क्रमहीन है, अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान की युगपत् अभिव्यक्ति स्वरूप है।

यह विवेकज्ञान की परिपूर्ण अभिव्यञ्जना है। इससे पूर्ववती सूत्र मे इस विवेकजन्य ज्ञान के गौणफल का आंशिक रूप से वर्णन किया गया था। प्रकृत सूत्र मे विवेकज ज्ञान की परिपक्वावस्था का वर्णन है। सत्व एव पुरुष का सम्यक् विवेक हो जाने से इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर क्लेशबन्धन छूट जाते है। क्लेश-कर्मों का निवर्तक होने से योगी को ससारापत्ति की सम्भावना नही रहती। इस विवेकज्ञान के द्वारा कैवल्य प्राप्त होता है। अतः इस विवेक-ज्ञान को ससार-सागर से तारने वाला होने के कारण तारक कहा जाता है।

भगवान् व्यासकृत भाष्य मे सूत्रगत "तारक" शब्द की व्याख्या "अपनी

---

१ अपरेतु वर्णयन्ति (भाष्य), अपरे वैशेषिका (तत्व०)।

२ "तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्" (यो० सू० ३/५४)

प्रतिभा से उत्पन्न अर्थात् अनौपदेशिक ज्ञान" कहकर की गई है[1]। उसी आधार पर विवरणकार शकर, हरिहरानन्द आरण्य प्रभृति कतिपय विद्वानो ने भी 'तारक" शब्द का अर्थ, बिना निमित्त के अपनी प्रतिभा से उत्पन्न होने वाला किया है। श्री वाचस्पति मिश्र, श्री भोज, नागोजीभट्ट प्रभृति शेष सभी विद्वानो ने, जैसा कि "तारक" शब्द से ही स्पष्ट प्रतीत होता है, उसका अर्थ ससार–सागर से तारने वाला ही किया है। पुनः यह भी बतलाया गया है कि यह सयमजन्य प्रतिभा-द्वारा स्वतः स्फुरित होने से अनौपदेशिक होता है।

श्री विज्ञानभिक्षु ने भी "तारक" का अर्थ ससारतारक करके, पुनः भाष्यकार श्री व्यास-कृत अर्थ के विषय मे लिखा है कि भाष्यकार ने सूत्रगत प्रत्येक शब्द की व्याख्या करते हुए तारक शब्द का अर्थापत्तिलब्ध अर्थ बतलाया है। पुनः उन्होने लिखा है कि लौकिक सामग्री के बिना ही, यथार्थ ज्ञान का सामर्थ्य, सत्व-पुरुष के विवेक मे सयम से अथवा क्षण एव तत्क्रम विषयक सयम से प्रतिभा का उद्‌बोधक होता है। उस प्रतिभा से जन्य ज्ञान ही ससार से तारने वाला भी होता है। अतः अर्थापत्ति की रीति से स्वप्रतिभोत्थ ज्ञान ही तारक शब्द का अर्थ है। वह अनौपदेशिक होता है, अतः वह अपनी प्रतिभा से ही उत्थित है[2]। ब्रह्माण्ड मे ऐसा कोई भी पदार्थ नही होता, जो इस विवेकजन्य ज्ञान का विषय न हो। महदादि पर्यन्त प्रत्येक तत्व इसका विषयीभूत है। हर प्रकार से अर्थात् स्थूल सूक्ष्म, अतीत अनागतादि प्रत्येक दृष्टिकोण से, एक साथ (अक्रम) विषयीभूत होता है। इस विषय का वर्णनसूत्र ३/४९ मे भी किया जा चुका है। यह विवेकज्ञान की परिपूर्ण अवस्था का वर्णन है। योगप्रदीप इसी का अश है। योगप्रदीप का अर्थ है सम्प्रज्ञात समाधि की प्रज्ञालोक युक्त भूमियाँ, जिनका प्रारम्भ द्वितीय मधुमती नामक भूमि या ऋतम्भरा प्रज्ञा से होता है तथा समाप्ति सप्तधा-प्रान्तभूमिप्रज्ञा पर्यन्त होती है। भाष्यकार व्यास कहते हैं—"अस्यैवाशो योगप्रदीपो मधुमनी भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति।"

श्री विज्ञानभिक्षु एव हरिहरानन्द ने इसकी अत्यन्त स्पष्ट एव सुन्दर व्याख्या की है। सम्प्रज्ञात योग की प्रारम्भिक अवस्थागत सवितर्कादि भूमियो को विवेकज्ञान के अशभूत योगप्रदीप की कोटि मे परिगणित नही किया गया है। क्योकि उस अवस्था मे प्रज्ञालोक की स्फुट अभिव्यक्ति नही हो पाती है, जिसमे तत्व का

१ "तारकमितिस्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थ (व्या० भा० ३/५४)

२ योगवार्त्तिक वि० भि० (सू० ३/५४)

साक्षात्कार हो सके। ऋतभरा प्रज्ञा मे ही प्रज्ञालोक की सर्वप्रथम सम्यक् अभिव्यक्ति होती है। यहाँ से तत्वसाक्षात्कार प्रारम्भ हो जाता है। अतः मधुमती भूमि या ऋतम्भरा प्रज्ञा ही योगप्रदीप का प्रथमाश है। अत यहाँ से लेकर सात प्रकार की प्रान्तभूमिप्रज्ञा पर्यन्त योगप्रदीप की ज्ञान-दीप्ति होती है। तत्पश्चात प्रसगगत परम प्रसख्यानरूप विवेकख्याति की पूर्ण अभिव्यक्ति होने के बाद, पर वैराग्य द्वारा चित्त का प्रलय हो जाता है।

श्री भिक्षु ने योगप्रदीप की पूर्ण ज्ञानदीप्ति के बाद, अभिव्यक्ति परिपूर्ण विवेकज्ञान को सूर्य–तुल्य बतलाते हुए प्रमाणरूप मे विष्णुपुराण की इस उक्ति को उद्धृत किया है :—

**"अन्ध तम इवाज्ञान दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम्।**
**यथासूर्यस्तथा ज्ञान यद्विप्रर्षे[1] विवेकजम्।" (६/५/६२)**

अर्थात् घोर अन्धकार तुल्य अज्ञान है, इन्द्रिजन्य ज्ञान दीप के समान है और यह विवेकजन्य ज्ञान सूर्य के समान है। भिक्षु जी ने उपर्युक्त उद्धरण-गत इन्द्रियजन्य ज्ञान को पूर्ण विवेकज्ञान से भिन्न ज्ञानो का उपलक्षण बतलाया है[2]।

× × ×

विवेकज्ञान की इस परिपूर्णावस्था से वैराग्य-द्वारा दोषो के बीज (भूत अविद्या) का क्षय हो जाने पर, कैवल्य की भी प्राप्ति होती है[3]।

तात्पर्य यह है कि विवेकख्याति की पूर्ण निष्ठा से सर्वभावाधिष्ठातृता एव सर्वज्ञता की सिद्धि होती है, जो कि सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम् अवस्था है, क्योकि इस अवस्था मे योगी ईश्वर-तुल्य हो जाता है। फिर भी विवेकजन्य, उक्त सिद्धि भी उसकी गौण सिद्धि ही है, क्योकि इस विवेकज्ञान से ही तज्जन्य सिद्धियो के प्रति वैराग्य द्वरा असम्प्रज्ञात समाधि का सम्पादन करके समस्त दोष बीजो के क्षयोपरान्त कैवल्य की प्राप्ति भी की जाती है। यह कैवल्य-प्राप्ति ही विवेकज्ञान-जन्य मुख्य सिद्धि है।

विवेकख्याति-द्वारा पुरुष का स्वरूपज्ञान यद्यपि सर्वश्रेष्ठ सम्प्रज्ञान है, फिर

---

१ "विमर्षे" ऐसा पाठभेद भी है।

२ यो० वा० ( सू० ३/५४)

३ "तद्वैराग्यादपि दोष बीजक्षये कैवल्यम्" (यो० ३/५०)

भी अन्ततः विवेकख्याति भी बुद्धि की ही एक वृत्ति है, पुरुष का वास्तविक स्वरूप नही। बुद्धिसत्व अनात्म होने से त्याज्य है क्योकि मुमुक्षु का लक्ष्य तो शुद्ध आत्म-स्वरूप मे प्रतिष्ठित होना है। जब तक बौद्धिक वृत्ति का व्यवधान वर्तमान है, वह आत्मस्वरूप मे प्रतिष्ठा नही प्राप्त कर सकता है। जब तक सम्यक् वृत्ति-निरोध होकर आत्मस्वरूप मे स्थिति नही होती, तब तक मोक्ष या कैवल्य प्राप्त नही हो सकता है। योगी का लक्ष्य सम्प्रज्ञात समाधि नही, वरन् असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति है। विवेक-ज्ञान के द्वारा अविद्यादि-चित्तमल क्षीण होते है। विवेक-ख्याति से पर वैराग्य होने पर वे अविद्यादि क्लेश दग्ध बीजतुल्य, पुनः क्लेशोत्पादन मे असमर्थ होकर निर्बीज समाधि की पूर्णावस्था मे चित्त-सहित विलीन हो जाते है, जिससे भोग एव चित्त का सर्वथा अभाव हो जाने से केवल पुरुष ही अवशिष्ट रहता है। यही कैवल्य है। इस अवस्था मे गुणो से अत्यन्त विलग पुरुष केवल अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित होता है, इसी को केवलीभाव अर्थात् कैवल्य कहते है।

प्रस्तुत सूत्र मे "अपि" शब्द "कैवल्यम्" के साथ योजनीय है, अर्थात् विवेक-ज्ञान द्वारा सर्वभावाधिष्ठातृत्व एव सर्वज्ञातृत्व के अतिरिक्त, उनमे वैराग्य होने से कैवल्य भी प्राप्त होता है—ऐसा अर्थ है, तभी विवेकज्ञान कैवल्य का साधन भी बन सकता है।

श्री भोज, अनन्तपडित एव सदाशिवेन्दु सरस्वती आदि ने सूत्रस्थ "अपि" शब्द की "तद्" के साथ योजना करके, उससे विशोका सिद्धि ( सर्वभावाधिष्ठातृता एव सर्वज्ञातृता ) मे भी वैराग्य होने पर, दोष बीजक्षय होने पर, कैवल्य-सिद्धि होती है, यह अर्थ किया है। किन्तु श्री वाचस्पति, मिश्र श्री भिक्षु, भावागणेश एव नागोजीभट्ट प्रभृति का मत है कि "अपि" शब्द कैवल्य के साथ योजनीय है। इस प्रकार उन्होने सूत्र का अर्थ किया है कि विवेकज्ञानजन्य विशोका सिद्धि मे वैराग्य होने पर, उस विवेकख्याति के मुख्य फलस्वरूप कैवल्य की भी प्राप्ति होती है। ऐसा अर्थ करने पर ही विवेकख्याति कैवल्य का साधन सिद्ध होती है।

विवरणकार शकर का मत है कि सूत्रस्थ "अपि" शब्द, योगैश्वर्य को प्राप्त न करने वाले सम्यकदर्शी को भी कैवल्य प्राप्त होने से, अप्राप्त योगैश्वर्य सम्यक्दर्शी सकेतक है। वे लिखते है—"तत्र तद्वैराग्यादपि इत्यपिशब्दादप्राप्तयोगैश्वर्यस्यापि सम्यग् दर्शनात् कैवल्यमिति।"

सूत्रगत "दोषबीजक्षये" यह कथन भी ध्यान देने योग्य है। कारण अवि-

द्यादि दोषबीजो का क्षय तो पूर्ण विवेक-ज्ञान-द्वारा ही हो जाता है, फिर उससे वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर दोष-बीजो के क्षय का कथन युक्तिसगत नही प्रतीत होता। इस विषय मे श्री भिक्षु का मत है कि पूर्ण विवेकज्ञान होने पर भी, ज्ञान की परिपक्वता न रहने से सर्वज्ञता आदि का मोह बना रहे तो विवेकजन्य सर्वज्ञादि दोनो सिद्धियाँ मोक्षरूप कैवल्य-सिद्धि मे बाधक बन सकती है, अतः उनमे वैराग्य होने पर उस बाधा की भी आशका नही रहती है[1]।

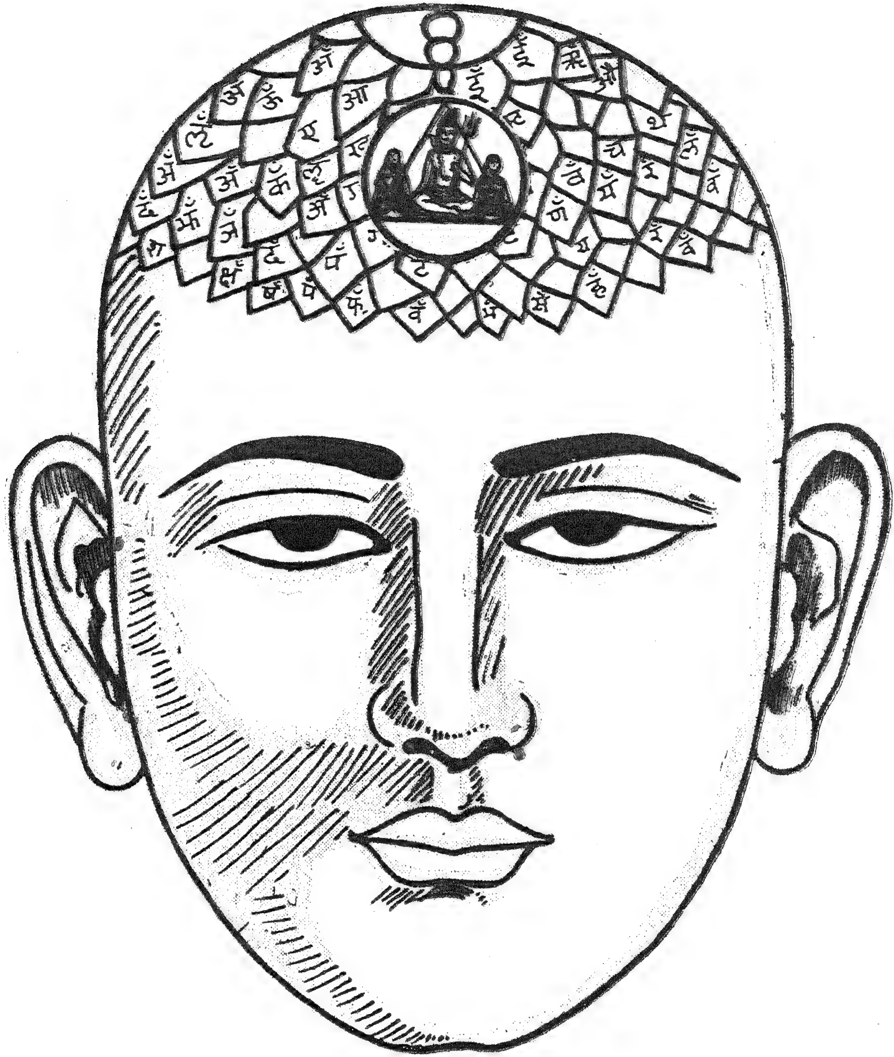
विवेक ज्ञान-जन्य जिन सिद्धियो का वर्णन पहिले किया जा चुका है, उन सिद्धियो की प्राप्ति कैवल्य के लिये आवश्यक नही होती। सत्व-पुरुष की विवेक-ख्याति ही कैवल्य का साधन है। उससे उत्पन्न तारक ज्ञान उसका साधक नही होता है। प्रकृत पाद मे वर्णित कतिपय विभूतियाँ कैवल्य की उपलब्धि मे सहायक हो सकती है, किन्तु तद् विशिष्ट सयमो से उन विभूतियो को प्राप्त करने के बाद ही कैवल्य सम्पादित हो, यह अनिवार्य नही है। अतः विवेक ज्ञान-जन्य सिद्धियाँ प्राप्त हो या न हो—सत्व एव पुरुष की शुद्धि-द्वारा समानता होने पर कैवल्य[2] प्राप्त हो जाता है। सत्त्व-शुद्धि के साम्य का अर्थ है—बुद्धिगत रजोगुण, तमोगुण-जन्य मल के सर्वथा धुल जाने पर पुरुष के साथ उसकी समानता। जब रजस्-तमस्-जन्य मल से रहित चित्त मे केवल शुद्ध-पुरुष का प्रतिविम्ब पडता है, तो वह पुरुष के समान प्रतिभासित होता है। यही बुद्धिसत्व या चित्तसत्व का शुद्धिसाम्य है। दूसरी ओर पुरुष सर्वदा शुद्ध, चैतन्य-स्वरूप है। अज्ञानवश भोगबुद्धि से उसमे अशुद्धि का उपचार होता है। अतः पुरुषगत शुद्धि एव साम्य भी औपचारिक है। औपचारिक भाग का अभाव होते ही वह स्वतः शुद्ध स्वरूप मे प्रतिष्ठित होता है। बौद्धिक वृत्ति से उसका साम्य ही पुरुष की अशुद्धि या असाम्य है। अतः वृत्तिमात्र का विलय होने पर पुरुष का अपने शुद्ध स्वरूप से सादृश्य ही पुरुष साम्य है।

इस प्रकार बुद्धि का पुरुष से साम्य ही उसकी शुद्धतम अभिव्यक्ति है। इस अवस्था के बाद ही कृतकार्य या चरिताधिकारा बुद्धि निवृत्त हो जाती है। तब पुरुष-मात्र अवशिष्ट रहता है। यही कैवल्य है।यही कैवल्य को परम स्थिति है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही पुरुष का मुख्य प्रयोजन है, जिसके लिये ऐश्वर्य की नही, विवेकख्याति की आवश्यकता है, क्योकि उसके द्वारा क्लेशमूल अज्ञान निवृत्त होता है। चित्त की वृत्तियाँ ही सुख-दुःख का द्वार है। इसी पाद के अन्तर्गत स्वार्थ-

---

१ द्रष्टव्य—योगसार सग्रह, पृ० १०२ एव योग वार्त्तिक ३/५० आदि।

१ "सत्वपुरुषयो शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्" (यो० सू० ३/५५)



सहस्रार




# सुषुम्नागत चक्र (कमल)

प्रत्यय-विषयक सयम से जो पुरुषज्ञान होगा, उससे पुरुष का असहतत्व, निरवयवत्व, एक रूपत्व, मूल विषयित्व और बुद्धि के बोद्धृत्व का भान होता है। क्षणतत्क्रम( ३/५२) विषयक सयम से विवेक-ज्ञान प्राप्त होने पर, जड और चेतन (बुद्धि और पुरुष) मे एकत्व का बोध दूर हो जाता है तथा यह निश्चय हो जाता है कि ज्ञातृत्व पुरुष का, ही है। सत्व-पुरुषान्यताख्यातिमात्र (३/४९) मे प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर पुरुष का अधिष्ठाता के रूप मे, ज्ञान होता है, अर्थात् पुरुषाधिष्ठान के कारण ही अन्तःकरण (चित्त) व्यक्त होता है (अन्यथा वह अव्यक्त होगा)। सत्व–पुरुष का शुद्धिसाम्य होने पर इस बात का स्फुट परिज्ञान हो जाता है कि पुरुष अपरिणामी एव स्वप्रतिष्ठ स्वयज्योति है। जब चित्त शाश्वत काल के लिये रुद्ध होता है, तब द्रष्टा-स्वद्रष्टा रहता है या वाह्य दृष्टि से कहने पर, "द्रष्टा शान्तचित्त का द्रष्टा है", ऐसा कहा जायगा। कैवल्य मे चित्त प्रत्यय सस्कार शून्य होकर अव्यक्त रूप मे रहता है, यही कहा जा सकता है। विवेक-ज्ञान से अज्ञान-निवृत्ति के उपरान्त चित्त भी अपने कारण मे लीन हो जाता है। अतः क्लेशो का निवासस्थान चित्त ही न रहने से दुःखो की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और पुरुष अपने केवली स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है। यही कैवल्य है।



# योग - दर्शन

## ( भाष्यार्थ-बोधनी )

### व्यास तथा अन्य व्याख्याकारों के आधार पर 'पातंजल-योग-सूत्र' का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन

**चतुर्थ अध्याय**



(१) सिद्धियो के मूल एव जात्यन्तरपरिणाम ।
(२) निर्माणचित्त तथा प्रवृत्तिभेद से उसकी एक से अनेकता ।
(३) कर्मों के प्रकार, तद्विपाकानुरूप वासनाओ की अभिव्यक्ति तथा हेतु, फल और आश्रय के अभाव मे उनका भी अभाव ।
(४) कारणधर्मों के पथो के भेद से, अतीत और भविष्य की वास्तविक सत्ता ।
(५) वस्तु के तत्त्वो का, परिणामो की एकता पर आश्रय ।
(६) वस्तु की ज्ञातता और अज्ञातता ।
(७) चित्त का दृश्यभाव ।
(८) द्रष्टा और दृश्य से उपरचित चित्त का स्वभाव ।
(९) विशेष सत्य को देखनेवाले का आत्मभाव ।
(१०) धर्ममेघ समाधि की उपलब्धि, क्लेश-कर्मों की निवृत्ति ।
(११) ज्ञेय की अल्पता तथा गुणो के परिणामक्रम की समाप्ति ।
(१२) कैवल्य का स्वरूप ।



## (१) सिद्धियों के मूल एवं जात्यन्तर परिणाम ।

प्रथम, द्वितीय एव तृतीयपाद मे क्रमशः समाधि, उसके साधन एव सयम-जन्य विभूतियो का मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया है। योग का मुख्य प्रयोजन कैवल्य की प्राप्ति है, जिसके यथार्थ स्वरूप का विशिष्ट विवरण चतुर्थ, कैवल्यपाद मे है। कैवल्य का निर्णय चित्त एव चिति पर निर्भर है। अतः पाँच प्रकार के सिद्ध चित्तो मे कैवल्योप्रयोगी चित्त के निर्धारण–हेतु सूत्रकार ने, कैवल्यपाद मे सर्वप्रथम पच प्रकार की सिद्धियो का निरूपण किया है।

पञ्चप्रकार सिद्धियो के पाँच मूल है अर्थात् सिद्धियाँ पाँच हेतुओ से उत्पन्न होती है–जन्म से, औषधि से, मन्त्र से, तप से और समाधि से[1]। अतः निमित्तभेद के कारण सिद्धियाँ भी पाँच प्रकार की होती है —

### (१) जन्मना-सिद्धि—

देहान्तर मे प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ जन्मना-सिद्धि अर्थात् जन्म से ही प्राप्त होने वाली कही जाती है। इस प्रकार की सिद्धियाँ पूर्व जन्म कृत किन्ही कर्म-विशेष से अभिव्यक्त फलस्वरूप (वर्तमान जन्म मे) होती है। जैसे पक्षियो को गगन मे स्वच्छन्द उडने की, स्वभावतः जन्म से ही शक्ति प्राप्त होती है। भगवान् कपिल जन्म से दिव्य-ज्ञान सम्पन्न थे। पुण्य कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य योनि के पश्चात् देवयोनि मे जन्ममात्र से देवसुलभ आकाश गमनादि सिद्धियाँ प्राप्त होती है। जन-सामान्य मे ही आजकल किसी-किसी को निसर्गतः दिव्यदृष्टि (Clair Voyance) तथा परचित ज्ञानादि की सिद्धि देखी जाती है। इस प्रकार के सिद्धि-सम्पन्न चित्त जन्म से उक्त प्रकार की सिद्धियो की सामर्थ्य-युक्त होते है। अतः इन सिद्धियो को जन्मना सिद्धि या जन्मजात सिद्धियाँ कहते है।

### (२) औषधिजा-सिद्धि—

औषधियो के सेवन से उत्पन्न होने वाली कार्यसिद्धि, वज्रसारत्व आदि सिद्धियाँ औषधिजा सिद्धियाँ कहलाती है। ये सिद्धियाँ रसायन विद्या की देन है।

---

१. "जन्मौषधिमन्त्रतप समाधिजासिद्धय ।" (यो० सू० ४/१)

रसायन-विज्ञान मे पारा एव गधक अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनसे निर्मित औषधि के सेवन से शरीर को अभीष्ट काल तक अक्षुण्ण बनाये रखा जा सकता है। प्राचीनकाल मे सोमरस-पान तथा अन्यान्य औषधियो के सेवन से काया-कल्प द्वारा जरापूर्ण शरीर को पुनः युवा बनाने आदि का प्रचलन था। सजीवनी औषधि सर्वप्रसिद्ध है। हनुमान जी ने लक्ष्मण जी के शक्ति-अस्त्र लगने पर सजीवनी औषधि लाकर पुनर्जीवित किया था। आधुनिक युग मे क्लोरोफार्म आदि सूँघ कर, देह के शव-तुल्य निश्चेष्ट होने पर, शरीर से बहिर्गमन की योग्यता प्राप्त होती है। हेमलॉक नामक विषैली औषधि को देह के सब अगो मे पोतने पर भी, शरीर से बाहर निकलने की क्षमता आयत होती है[1]।

भगवान् व्यास ने औषधिजा सिद्धि के लिये "असुर-भवन" का उदाहरण दिया है। वर्तमान युग मे इसका पता किसी को नही है।

भारतवर्ष मे इस विद्या का अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलन है। स्वामी विवेकाननन्द ने रसायनविद्या का प्रादुर्भाव आलकेमि से बतलाया है[2]। भारतवर्ष मे "रसायनविद्या" का सम्प्रदाय था, उसके अनुयायियो का यह दावा है कि काया को अमर बनाया जा सकता है। जन्मान्तर की प्राप्ति के बिना ही इस शरीर का पुनर्गठन किया जा सकता है[3]।

## (३) मन्त्रजा सिद्धि—

मन्त्र के बल से आकाश गमनादि सिद्धियो को प्राप्त करना मन्त्रजा सिद्धि है। निरन्तर मन्त्रजप से चित्त मे एकाग्रता परिणाम होता है तथा सबल इच्छाशक्ति का सचय होता है। सबल इच्छाशक्ति से सकल्प-सिद्धि होती है। वशीकरण आदि सामान्य सिद्धियाँ आजकल भी यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है[4]।

मन की पवित्रता एव मन्त्र की शक्ति के तारतम्यानुसार मन्त्रजन्य सिद्धियाँ भी उत्तम, मध्यम एव निम्न श्रेणी की होती है।

---

१ (यूरोप मे चुडैलो का इस प्रकार शरीर से बाहर निकलने का वर्णन पाया जाता है। पात० यो० द० (हरि० आ०) पृ० २९८।

२ ताँबा आदि कम मूल्यवान धातुओ से सोना-चाँदी इत्यादि बनाने की विद्या ही आलकेमि कहलाती है। पहले गुप्त रूप से यूरोप मे इस विद्या का अत्यधिक प्रचार था। ( राजयोग—विवेकानन्द, पृ० २५६)

३ राजयोग—विवेकानन्द, पृ० २५६।

४ "पातजल-योग-दर्शन"—हरिहरानन्द आरण्य, पृ० २९९

मन्त्र शब्दात्मक होता है और शब्द सर्वव्याप्त है। शब्द-शक्ति की कोई निर्दिष्ट सीमा नही है। मन्त्रयोग का आधार शब्द की अपरिमित शक्ति है। अतः कतिपय पवित्र शब्द समूह-स्वरूपमन्त्र के निर्दिष्ट नियमपूर्वक निरन्तर जप करने से, इसी जन्म मे अद्भुत सिद्धियाँ प्रादुर्भूत होती है शब्द की अपरिमित शक्ति से आधुनिक वैज्ञानिक भी सुपरिचित है[१]।

## (४) तपजन्य सिद्धियाँ :—

तप के अनुष्ठान से अशुद्धि के क्षीण होने पर शरीर एव इन्द्रियो की इच्छानुसार गमन रूप, सकल्प सिद्धियाँ अभिव्यक्त होती है। "कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।"[२] यह तप क्रिया-योग का ही एक अग है। विश्वामित्र ने तप के प्रभाव से संकल्पमात्र से नवीन स्वर्ग की रचना की थी। यह कथा सुप्रसिद्ध है।

## (५) समाधिजा सिद्धि—

समाद्धि-द्वारा उत्पन्न होने वाली सिद्धियाँ समाधि-जा सिद्धियाँ कहलाती है। इनका विभूतिपाद मे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है।

इन पाँचो प्रकार की सिद्धियो मे समाधिजन्य सिद्धियाँ प्रधान एवं सर्वश्रेष्ठ होती है। श्री भोज का मत है कि समाधेतर चारो सिद्धियाँ भी पूर्व जन्म मे क्लेशनाश- हेतु थोडा बहुत समाधि का अभ्यास करने वालो को ही, दूसरे जन्म मे प्राप्त होती है। जन्म, औषधि आदि तो निमित्तमात्र है[३]। अन्य सब व्याख्या कारो ने भी अन्य सिद्धियो की अपेक्षा समाधि-जन्य सिद्धियो की श्रेष्ठता का प्रति पादन किया है। अतः समाधि-सिद्धि चित्त ही कैवल्य-प्राप्ति योग्य होता है।

उक्त अणिमा, महिमा आदि सिद्धियो-द्वारा शरीर एव इन्द्रियो मे विलक्षण शक्ति तथा कभी-कभी जात्यन्तर परिणाम भी देखा जाता है। जैसे नन्दीश्वर ने उसी जन्म मे मनुष्यदेह से देवपरिणाम को प्राप्त किया था। इस विषय मे शका होती है कि इन सिद्धियो की प्राप्ति मे सकल्पमात्र से देवादि शरीर, या अणिमा आदि सिद्धियो की अभिव्यक्ति होती है, अथवा अन्य किसी कारण की भी अपेक्षा

---

१ द्रष्टव्य—"सम्प्रज्ञात एव असम्प्रज्ञात समाधि" शीर्षकगत सू० १/२७ की व्याख्या।

२. यो० सू० २/४३।

३ भो० वृ० ४/१।

होती है ? इसका समाधान सूत्रकार की "जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्"[1] यह उक्ति है अर्थात् जात्यन्तर परिणाम प्रकृति के आपूर से होते है।

इस विषय मे शका का उत्थापन करते हुए श्री वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि उपादानमात्र से तो कार्य की उत्पत्ति हो नही सकती है। अकेला उपादान ही अल्प अथवा अधिक दिव्य-अदिव्य भाव मे इसका ( जात्यन्तर का ) हेतु नही होता है, क्योकि कार्य की विलक्षणता के लिये अविलक्षण कारण या साधारण कारण ही पर्याप्त नही है। साथ ही इसमे आकस्मिकता नही होनी चाहिये, क्योकि उससे फिर अनवस्था प्रसक्त होगी।

भगवान् व्यास लिखते है—"अन्य जाति मे परिणत शरीर एव इन्द्रियो के जात्यन्तर का परिणाम प्रकृति के आपूरण–द्वारा होता है।" अर्थात् प्रकृति रूप उपादान के द्वारा एक जाति से दूसरी जाति मे परिणति होती है।

पूर्व परिणाम का परित्याग और नवीन परिणाम की अभिव्यक्ति, अपूर्व अवयवो के अनुप्रवेश द्वारा होती है। शरीर की प्रकृति या उपादान-कारण आकाशादि पचभूत है और इन्द्रियो की प्रकृति अस्मिता या अहकार है। इन प्रकृतियो के नवीन रूप से आपूरण या अनुप्रवेश—द्वारा, अपने-अपने विकारभूत शरीरेन्द्रियो मे अद्भुत परिणाम परिलक्षित होता है, किन्तु इस उपादानभूत प्रकृति की विद्यमानता ही जातिभेद के लिये पर्याप्त नही होती है। इसके लिये निमित्त भी अनिवार्य है। वे निमित्त यहाँ धर्म आदि है।

भाव यह है कि सूत्रकार ने, प्रकृति के आपूरण रूप अनुग्रह-द्वारा जात्यन्तर परिणाम होता है, यह कह कर उपादानमात्र का कथन किया है। किन्तु उपादान मात्र कार्यों की विलक्षणता मे पर्याप्त नही होता है। अन्यथा सभी मे दिव्यभावादि विलक्षणता होनी चाहिये, क्योकि प्रकृति का उपादान तो सर्वत्र है। प्रत्येक प्राणी के कर्माशय मे देव, मानुष, पशु पक्षी आदि सबकी प्रकृति वासनारूप से विद्यमान है। फिर भी अभिव्यक्ति किसी एक ही प्रकार की प्रकृति की देखी जाती है। अत तद्तत् विलक्षण प्रकृति को अभिव्यक्ति के लिये कारण-विशेष अर्थात् निमित की आवश्यकता होती है। प्रस्तुत प्रसग मे औषधि, मन्त्रादि रूप निमित्त से अवकाश पाते ही निमित्तानुरूप विलक्षण प्रकृति का अवयवो मे सन्निवेश हो जाता है। प्रकृत्यापूर के द्वारा ही अणिमा-महिमा आदि की सिद्धि भी समझनी चाहिये।

---

१ "जात्यन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात्'—(यो० सू० ४/२)

केवल मनुष्यादि जाति से देवत्वादि का परिणाम ही प्रकृत्यापूर से नही होता है। अणिमा मे प्रकृति के अवयवो का शरीर से अपगम होने पर, शरीर लघु होता है। महिमा मे प्रकृति के अवयवो के अधिक मात्रा मे अनुप्रवेश होने पर, शरीर बृहदाकार होता है[1]। सिद्धियो-द्वारा सकल्पमात्र से शरीर एव इन्द्रियो मे विलक्षण परिणाम नही होते है। बालको का युवा, वृद्ध आदि होना भी प्रकृत्यापूरजन्य परिणाम है[2]। जिस प्रकार शुष्क तृणराशि मे निक्षिप्त अग्नि का एक कण सम्पूर्ण तृण-राशि मे परिव्याप्त होकर बृहद् ज्वाला रूप से परिणत होता है, उसी प्रकार औषधि, मन्त्र, समाधि आदि के सस्कारमात्र यथा समय पूर्णतः प्रस्फुटित होने पर सम्पूर्ण फल परिपाक करा सकते है।

प्रकृति का यह आपूरण निमित्त के उपस्थित होने पर ही होता है। इससे ऐसी भ्रान्ति नही करनी चाहिये कि निमित्त ही उन प्रकृतियो का प्रेरक है। इसी भ्रांति का निरसन करने के लिये सूत्रकार ने बतलाया है—उक्त धर्मादि निमित्त उन प्रकृतियो का प्रेरक नही है, वह तो किसानो की भाँति केवल आवरण का भेदन करता है[3]।

धर्मादि रूप उक्त निमित्त प्रकृतियो का प्रयोजक नही होता, क्योकि धर्म आदि तो प्रकृति के कार्य है और कार्य के द्वारा कारण प्रवृत्त नही होता है। अतः निमित्त के द्वारा किसी विशिष्ट प्रकृति के प्रतिबन्धक कारण का भेदन होने पर, वह प्रकृति स्वय अभिव्यक्त हो कर, यथास्थान प्रविष्ट हो जाती है। सूत्रकार ने क्षेत्रिक का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार किसान खेत मे मेड काट देता है, तो पानी स्वतः उस मार्ग से प्रविष्ट होकर पूरे खेत मे भर जाता है, उसी प्रकार किसी प्रकृति-विशेष की अभिव्यक्ति के अवरोधक की निवृत्ति होने पर, वह प्रकृति स्वतः शरीरेन्द्रियो मे यथायोग्य अनुप्रविष्ट हो जाती है। अथवा निमित्त-भूत वही कृषक जल एव भूमि के रसो को, मूँग, उडद, चना, धान आदि के पुष्टिकरण-हेतु, मूल मे प्रविष्ट कराने मे असमर्थ होता है। वह रस-प्रवेश के अवरोधक झाड, झखाडो को उखाड कर अलग कर देता है। पुनः सीचा हुआ जल स्वयमेव भूमिरस समेत धान्यादि के मूल मे प्रविष्ट होकर, पौधो को पुष्ट करता है। इसी प्रकार औषधि, मन्त्र, तपादि के द्वारा विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न प्रकृति के अवरोधक कारण के निवृत्त

---

१ द्रष्टव्य—योगवार्त्तिक—नागोजी भट्ट वृत्ति, भोजवृत्ति आदि (व्याख्या सू० ४/२)

२ तत्ववैशारदी (४/२)

३ "निमित्तमप्रयोजक प्रकृतीना वरणभेदस्तु तत क्षेत्रिकवत्"। (यो० सू०, ४/३)

होने पर, तद्-तद् विशिष्ट शक्ति युक्त प्रकृतियो का आविर्भाव स्वतः हो जाता है। इसी प्रकार धर्म के निवृत होने पर अधर्म से अशुद्ध परिणाम की अभिव्यक्ति होती है।

इस विषय मे नहुष का उदाहरण सर्व प्रसिद्ध है, जिन्होने अगस्त्यादि सप्तर्षियो के अपमानजन्य अधर्म रूप निमित्त से मानव देह प्रापक धर्म के भग होने पर अजगर देह को प्राप्त किया था[1]।

—०—

१ नन्दीश्वर तथा नहुष की कथा का प्रसग "जात्यायुर्भोग" के प्रसग मे भी द्रष्टव्य है।

## ( २ ) निर्माण - चित्त तथा प्रवृत्तिभेद से उसकी एक से अनेकता

अपने सकल्प-द्वारा निर्मित चित्त ही निर्माणचित्त है।[1] सिद्ध योगी इच्छानुसार अनेक शरीर धारण कर सकता है। जिस समय योगी बहुत से शरीर धारण करता है, उस समय वे अनेक शरीर एक ही मन वाले होते है, अथवा अनेक मन वाले होते है ? भगवान् व्यास ने यह सन्देह व्यक्त करते हुए महर्षि पातजलि के "निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्"[2] इस सूत्र को उत्तर के रूप मे न्यस्त किया है। तात्पर्य यह है कि योगी अनेक शरीर धारण करने के साथ-साथ प्रत्येक शरीर मे कार्य करने के लिये अलग-अलग चित्तो का भी निर्माण करता है। ये निर्मित चित्त ही निर्माण-चित्त कहलाते है और वे चित्त अस्मिता अर्थात् अहकारमात्र से विपचित होते है, क्योकि यहाँ चित्त का उपादान अहकार ही है।

श्री भोज प्रभृति विद्वानो ने बतलाया है कि जिस प्रकार अग्नि से एक साथ अनेक विस्फुलिग स्फुटित होते है, उसी प्रकार योगी के सकल्प मात्र से उसके चित्त के उपादानभूत अस्मिता-तत्व से एक साथ अनेक चित्त परिणत होते है।

श्री भोज, मणिप्रभाकार, रामानन्द यति तथा सदा शिवेन्द्र सरस्वती ने एक साथ अनेक शरीर धारण करने का प्रयोजन, सचित कर्माशय का, शीघ्र फल-भोग बतलायाहै,[3] क्योकि कर्माशय के फल का भोग समाप्त होने पर मुक्ति सम्भव है।

स्वामी हरिहरानन्द आरण्य का मत है कि योगी "भूतानुग्रहादि के लिये निर्माण-चित्त का आश्रय लेकर ज्ञान धर्म का उपदेश करते है, क्योकि प्रसख्यान द्वारा उनके क्लेश दग्ध बीज तुल्य हो चुकते है। उनका कोई स्वारसिक कार्य नही अवशिष्ट रहता है। अतः वे परोपकार-हेतु ही शरीर धारण करते है। "अस्मितामात्रात्" की व्याख्या करते हुए उन्होने लिखा है—"अविवेक रूप-चित्त कार्यहीनाथाएवास्मि–ताया इत्यर्थः", भावार्थ यह है कि अविवेकस्वरूप अर्थात् विक्षेपसस्कार रहित, बुद्धि

---

१. योगवार्त्तिक, वि० भि० ( ४/४ )।

२ यो० सू० ४/४।

३. "रामार्तण्ड-वृत्ति", "मणिप्रभा", "योग-सुधाकर" आदि (सू० ४-५)।

तत्वस्वरूप अस्मिता के द्वारा, योगी चित्त का निर्माण तथा उससे कार्य करते है। इस अस्मिता मात्र से निर्मित निर्माण-चित्त का इच्छामात्र से विलय हो जाता है। अतः वह बन्धनकारी नही होता है। भास्वतीकार ने दग्धबीजकल्प चित्त के सस्कारो को भी अभावापन्न योगी का निर्माण-चित्त बतलाया है। वह किस प्रकार सम्भव है, इस विषय मे उनका मत है कि यदि योगी सर्वदा के लिये चित्तलय का सकल्प करके चित्त विलीन करे, तो निर्माण-चित्त की रचना सभव नही है, पर जब योगी कुछ अवधि पर्यन्त चित्त-लय का सकल्प करते है, तभी अवधि समाप्ति के उपरान्त चित्त का पुनरुत्थान होने पर, निर्माणचित्त बनाया जा सकता है। परन्तु यहाँ पर जिस चित्त का विवरण दिया गया है, वह अनाशय निर्माण-चित्त की चर्चा है।[1] इसके अतिरिक्त स्वामी जी ने, विवेक-ज्ञानलाभ के पूर्व भूतेन्द्रिजयादि से तथा अन्य प्रकारो से भी चित्त-निर्माण हो सकता है, यह लिखा है। यह चित्त साशय या क्लेश-मूलक होता है।[2] स्पष्ट है कि इन सब मे अनाशय निर्माण-चित्त सर्वश्रेष्ठ होता है। हरिहरानन्द जी ने प्रकृत सूत्र की व्याख्या मे "भास्वती" मे इसी की व्याख्या की है। किन्तु सूत्रकार व भाष्यकार ने, जिन अस्मितामात्र जन्य निर्माण-चित्तो का यहाँ कथन किया है, वे उक्त अस्मिताजन्य चित्त-सामान्य है, किसी एक ही प्रकार का निर्माण-चित्त नही। उन्ही मे अनाशय निर्माणचित्त भी सम्मिलित है।

श्री स्वामी ओमानन्द ने उक्त अनेक शरीर धारण एव निर्माण-चित्त की धारणा को काल्पनिक बतलाते हुए, इस विषय मे अनेक सन्देह व्यक्त किये है। साथ ही इस सूत्र ( ४-४ ) के "व्यासभाष्य" एव "भोजवृत्ति" को भी किसी अन्य व्यक्ति की ही रचना बतलाया है[3]।

श्री स्वामी जी का यह मत युक्तिपूर्ण नही प्रतीत होता है। एक ओर तो स्वामी जी ने अपने मत की पुष्टि मे छठे सूत्र के "व्यासभाष्य" को प्रमाण रूप से उद्धृत किया है। दूसरी ओर वे चतुर्थसूत्र के "व्यासभाष्य" एव "भोज-वृत्ति" को व्यास एव भोज की रचना भी स्वीकार नही करते है। तब क्या श्री व्यास एव भोज ने अन्य सूत्रो की व्याख्या करके केवल चतुर्थ सूत्र की व्याख्या नही की ? जिसकी पूर्ति किसी अन्य व्यक्ति ने योग का अद्भुत चमत्कार दिखलाने को कर दी। अन्य सूत्रो के भाष्य के साथ इस सूत्र की व्याख्या भी श्री व्यास एव भोज ने अवश्य ही की

---

१ "भास्वती टीका तथा पातजल योग दर्शन"—हरिहरानन्द आरण्य—पृ० ३०२-३०३।

२ "भास्वती टीका तथा पातजल योग दर्शन"—हरिहानन्द आरण्य—पृ० ३०२-३०३।

३ "पातजल-योगप्रदीप"—स्वामी ओमानन्द पृ० ५५४-५५।

होगी, जो अवश्य ही वर्तमान भी होनी चाहिये। वे व्याख्याये यदि ये नही है, तो अन्यत्र उनका सद्भाव होना चाहिये था और यदि अन्यत्र उनके सद्भाव मे कोई प्रमाण नही है, तो इन व्याख्याओ को उनकी रचना न मानना भी अप्रामाणिक है।

अपने सन्देह के विषय मे उन्होने निम्न कारणो का उल्लेख किया है—

(१) उनका कथन है कि यदि भाष्यकार को इस प्रकार की किसी विभूति का कथन अभीष्ट होता, तो अन्य सिद्धियो के साथ वे इसके लिये भी सकेत अवश्य करते। परन्तु विभूति वर्णन के प्रसग मे निर्माण चित्तो का स्पष्ट सकेत न करना ही स्वामी जी के मत की पुष्टि मे पर्याप्त नही है। विभूतियो के प्रसग मे, भूतेन्द्रिय-जय से भूतेन्द्रियादि को स्वेच्छापूर्वक प्रेरित किया जा सकता है, यह भाष्यकार ने स्पष्ट बतलाया है तथा जैसा हरिहरानन्द आरण्य ने बतलाया है कि भूतेन्द्रियजय से भी निर्माणचित्त सम्भव है, अतः यह विभूति भी भूतेन्द्रिय-जय के अन्तर्गत आ जाती है। यह अवश्य है कि भूतेन्द्रिय जय से निर्मित चित्त साशय होते है, जब कि कैवल्य-प्राप्ति-हेतु अनाशय निर्माण-चित्त का निरूपण ही मुख्यतः अपेक्षित है। उसका वर्णन कैवल्य के प्रसग मे अभीष्ट होने से पहिले उसका सकेत नही किया गया है।

(२) दूसरी आपत्ति यह है कि अनेक शरीर धारण करने वालो को ग्रन्थान्तरों मे मायावी कहा गया है। वे मायाजन्य अनेक शरीर वास्तविक नही होते है, जिनके द्वारा भोग की निवृत्ति हो और जो पूर्वोक्त रीति से प्रकृत्यापूर की विधि से निर्मित हो।

यह तर्क भी कुछ समझ मे नही आता। यदि अनेक शरीर-धारण करना मायावी का ही कार्य हो, तो उसमे दोष ही क्या है? माया के आश्रय बिना तो शरीर-धारण सम्भव ही नही है। भले ही माया–माया मे उत्कृष्ट एव निकृष्ट का भेद हो। क्षुद्र सिद्धि-सम्पन्न व्यक्ति क्षुद्र माया का आश्रय लेते है। योगी उत्कृष्ट योग माया का समाश्रयण करते है, किन्तु शरीर की रचना-हेतु माया का अवलम्ब अपरिहार्य है। सर्व-समर्थ भगवान् भी माया के आश्रय से ही शरीरान्तरो को धारण करते है। रासलीला के समय भगवान् कृष्ण ने भी योगमाया का आश्रय लिया था—

"भगवानपि ता रात्रीः शारदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तु मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रिता ॥" (श्रीमद्भाग० १०)

रही कर्मक्षय की बात, वह प्रयोजक चित्त के अधीन है। निर्माण चित्तो के द्वारा जो भी कार्य होते है, वे प्रयोजक चित्त की इच्छानुसार ही होते है। तदनुसार ही उनका फल भी होता है। यदि प्रयोजक चित्त को निर्मित चित्तो-द्वारा कृतकार्यों से, कर्मक्षय ही अभीष्ट हो, तो उनके द्वारा कर्मक्षय भी हो सकता है।

(३) तृतीय शका यह है कि चित्त से प्रकाशित चित्तकी "अस्मिता" सज्ञा है। अतः एक व्यष्टि चित्त अन्य व्यष्टि चित्तो का उपादान नही बन सकता है। चित्त का परिणाम अहकार है। यदि निर्माण चित्तो को अहकार के अर्थ मे ले तो, प्रत्येक चित्तगत अहकार भिन्न होने से, योगी उन भिन्न अहकार-कृत कर्मफलो का भोक्ता नही हो सकता है।

इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार किसी दूसरे व्यक्ति से कह कर बध कराने वाला पापी फॉसी के दण्ड का भोक्ता होता है, उसी प्रकार अन्य गौण चित्तो द्वारा किये गए कर्मफल का भोक्ता प्रयोजक चित्त भी हो सकता है।

(४) चौथी शकानुसार निर्माण-चित्त का अर्थ यदि केवल चित्त लिया जाय, तब भी वे चेतन से अधिष्ठित होकर भिन्न जीवस्वरूप होगे।

यदि वे निर्माण-चित्त एव शरीर भिन्न-भिन्न जीवस्वरूप है, तो इसमे आपत्ति ही क्या है ? भिन्न प्राणी के रूप मे तो उनकी रचना ही की जाती है। तभी वे एक प्राणी-द्वारा दीर्घकाल मे भोग्य कर्माशय का अल्पकाल मे भोग कर सकते है।

(५) क्रियामाण, प्रारब्ध एव सचित तीन प्रकार के कर्मों मे से जिन कर्मों ने जाति, आयु एव भोग रूप फल-प्रदान-प्रारम्भ कर दिया है, वे तो भोगने ही है, अन्य कर्म जिन्होने फलप्रदान आरम्भ नही किया है, उनको इतना समर्थ योगी दग्ध बीजतुल्य कर सकता है।

स्वामी जी की यह धारणा भी भ्रान्तिमूलक मालूम पडती है। यह आवश्यक नही है कि जो योगी निर्माण-चित्त की सामर्थ्ययुक्त हो, वह क्लेशो को दग्ध-बीज-तुल्य बनाने मे समर्थ ही हो। अनेक शरीर धारण करके भोग समाप्त करने की अपेक्षा क्लेशो को दग्ध बीजतुल्य बनाना बहुत उत्कृष्ट सिद्धि है। यद्यपि कैवल्योपयोगी सिद्ध चित्त वही है, जिसके क्लेश दग्ध-बीज तुल्य हो चुके हो और वही सूत्रकार एव भाष्यकार का मुख्यतः प्रतिपाद्य विषय भी है।

फिर भी सम्भवतः स्वामी जी प्रस्तुत शका-उत्थापन के समय यह भूल गये कि यहाँ जन्म, औषधि, मन्त्र, तप एव समाधि पाँचो प्रकार की सिद्धियो से जन्य निर्माण चित्तो का प्रसग चल रहा है, केवल समाधि-जन्य चित्त या योगी का ही नहीं। इन पाँचो प्रकारो मे समाधि से इतर सिद्धियाँ अपेक्षाकृत निम्नस्तरीय ही होती है। उनके द्वारा अस्मितामात्र से अनेक शरीर तो धारण किये जा सकते है, परन्तु क्लेशो को दग्ध बीज-तुल्य नही किया जा सकता है।

(६) प्रस्तुत स्थल पर योग प्रदीपकार यह भी कहते है कि अनेक शरीरो के युगपत् निर्माण का यहाँ कोई प्रसग ही नही है। अतः यह प्रसग चलाना ही असगत है। पर जब सूत्रकार स्वय ही "निर्माण चित्तानि" इस बहु-वचन के प्रयोग से तथा "प्रवृत्तिभेदे प्रयोजक चित्तमेकमनेकेषाम्" इत्यादि वाक्यो से अनेक चित्तो की चर्चा चला रहे है, तब उस विषय को अप्रासगिक और असगत कहना ठीक नही है।

(७) पुनः शकाकार ने शका व्यक्त की है कि यहाँ पर पाँच प्रकार की सिद्धियो से उत्पन्न पाँच प्रकार के निर्माण चित्तो का प्रसग चल रहा है। अनेक शरीर धारण का तो सकेत भी नही है।

इस विषय मे अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नही है। उत्तर के लिये व्यासभाष्य ही पर्याप्त है। सूत्र (४/४) की व्याख्या करते हुए, भाष्यकार ने सूत्र के पूर्व भाष्य मे लिखा है—"यदा तुयोगी बहून् कायान् निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति—निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।"

(८) अपने अन्तिम सन्देह को व्यक्त करते हुए ओमानन्द जी ने छठे सूत्र के "व्यासभाष्य" एव "भोजवृति" को प्रमाणस्वरूप उद्धृत करके सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है—निर्माण-चित्तानि[1]=जन्म, औषधि, मन्त्र, तप तथा समाधि–इन पाँचो सिद्धियो से उत्पन्न होने वाले पाँच प्रकार के सिद्ध चित्त, जिनका प्रथम सूत्र से प्रसग चला आ रहा है। अस्मितामात्रात्=पुरुष से प्रतिविम्बित चित्तसत्व ( जिससे अहकार उत्पन्न होता है। अर्थात् जिसमे अहकार बीज रूप से रहता है ), जो निर्माण चित्तो की प्रकृति है। उन विलक्षण शक्ति वाले सिद्ध शरीर, इन्द्रियो आदि को चलाने वाले निर्माणचित्त अस्मितामात्र से उत्पन्न होते है, अर्थात् उनकी प्रकृति

---

१. निर्माणचित्त सम्बन्धी विशेष विवरण के लिये देखिये म० म० गोपीनाथ कविराज कृत लेख "Nirmanakaya" (S. B. Studies, vol. I.)

(उपादान कारण) अस्मिता (चित्त-सत्व) है, जिसके "आपूर" से उनमे यह विलक्षण परिणाम होता है।

यहाँ पर जन्म, औषधि, मन्त्र, तप, एव समाधि–सिद्ध पाँचो प्रकार के निर्माण-चित्तो का प्रसग चल अवश्य रहा है, फिर भी सूत्रगत "निर्माण-चित्तानि" इस शब्द मे बहुवचन का प्रयोग इन पचविध सिद्धियो से जन्य चित्तो की दृष्टि से नही, वरन् एक-एक प्रकार की ही सिद्धि के द्वारा, अनेक शरीर-धारण की दृष्टि से किया गया है। जैसा कि श्री व्यास, वाचस्पति, भिक्षु, विवरणकार शकर, भोज आदि सभी विद्वानो की व्याख्याओ मे भी स्पष्ट उल्लेख है[1]।

विचार दृष्टि से देखने पर भी पाँचो प्रकार की सिद्धियो से उत्पन्न निर्माण-चित्तो के लिये बहुवचन का प्रयोग अपेक्षित नही है। क्योंकि प्रत्येक रीति से निर्मित चित्त अकेला ही है। औषधिजन्य चित्त किसी अन्य ही व्यक्ति का है। मन्त्रजन्य किसी अन्य ही व्यक्ति का है। प्रत्येक सिद्ध को पाँचो सिद्धियाँ प्राप्त है नही और यदि हो तब भी एक शरीर मे चित्त तो एक ही होगा। अतः इस दृष्टि से भी "निर्माणचित्तानि" इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग निरर्थक ही सिद्ध होगा। साथ ही वह एक चित्त तो पहले से ही विद्यमान है। उसका निर्माण सिद्धि द्वारा नही किया गया है। जो चित्त पहले से विद्यमान है, उसके लिये अस्मिता-मात्र उपादान की भी आवश्यकता नही है। औषधि, मन्त्रादि की सिद्धि से जन्य विलक्षण परिणाम मे तो निमित्त उपस्थित होने पर स्वतः ही प्रकृत्यापूर हो जाता है। उसके उपादानग्रहण-हेतु, सिद्ध व्यक्ति को अलग से किसी कौशल की आवश्यकता नही होती। स्वामी जी ने अपनी तृतीय शका व्यक्त करते हुए लिखा है कि "एक व्यष्टि चित्त दूसरे व्यष्टि चित्त का उपादान नही हो सकता है। चित्त का विषम परिणाम (अर्थात् विकृत) अहकार ही हो सकता है" और इस प्रकार वह अहकार ही निर्माण चित्तो की विकृति हुई। तब क्या अपना ही विकारभूत अहकार स्वय अपना उपादान होगा? शरीर एक होने से उसका चित्त भी एक ही है, जो पहले से विद्यमान है। उसके पुनर्निर्माण का प्रश्न ही नही उठता और यदि उसी का पुनर्निर्माण होता है, तब क्या उस विकारभूत अहकार के द्वारा अपने कारणभूत चित्त का निर्माण होता है?

साराश यह है कि योगी अथवा सिद्धो मे से कोई भी सिद्ध, मूलचित्त से

१. द्रष्टव्य—व्य० भा०, भा० विव०, तत्व०, यो० वा०, भो० वृ० आदि।

अतिरिक्त शरीरान्तवर्ती एक या अनेक चित्तो का निर्माण करता है, स्वचित्त के कारणभूत अस्मितामात्र के उपादान को ग्रहण करके ही अन्य चित्तो का निर्माण करता है।

स्वामी जी ने यह तो कहा है कि यहॉ निर्माणचित्तो का कारण अहकार है, जो कि चित्त का ही विषम परिणाम है। परन्तु यह स्पष्ट नही किया कि निर्माणचित्त की प्रकृति अहकार होने से, निर्माणचित्त का अर्थ केवल मन है। क्योकि अहकार मन की ही प्रकृति है चित्त की नही। श्री विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट लिखा है--"अत्र चित्तशब्दो मनोमात्रवाची, अहकार प्रकृतिकत्ववचनात्"[१]। यहॉ मन=कर्मज्ञानेन्द्रियचालक इन्द्रिय है। श्री वाचस्पति मिश्र ने इस विषय मे स्पष्ट उल्लेख नही किया है, फिर भी इस सूत्र की व्याख्या करते समय-"तत्र नानामनस्त्वे कायाना प्रतिचित्तमभिप्रायभेदाद्"[२]—इस उक्ति मे अनेक मन वाले अनेक शरीरो के कथन से, भी इसी की पुष्टि होती है।

भाष्यकार श्री व्यास द्वारा प्रस्तुत सूत्र के पूर्वभाष्य मे "यदा तु योगी बहून् कयान् निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति" मे मन शब्द का प्रयोग इसी बात को बल प्रदान करता है कि यहॉ चित्त शब्द मनोमात्रवाची है। भावागणेश, नागोजी भट्ट प्रभृति अन्य विद्वानो की टीकाओ मे भी इस मत की पुष्टि का ही सकेत मिलता है[३]। उस अस्मितामात्र अहकार को सकल्पमात्र से ग्रहण करते ही अपनी प्रकृति अर्थात मूल बुद्धि का आपूरण हो जाता है[४]। इस प्रकार सिद्ध[५] द्वारा निर्मित शरीर भिन्न-भिन्न जीव के रूप मे रहते है। उनके मन भी अलग अलग होते है, पर वे मन मूल चित्त की अस्मितामात्र है, अतः मूल चित्त के अधीन होते है। एक ही मूल चित्त प्रकृष्ट प्रकाशयुक्त दीपक की भॉति प्रसरणशील होने से उन सब निर्माणकायाओ मे व्याप्त होता है। इस स्थल पर श्री विज्ञानभिक्षु ने नैया-

१ "योगवार्त्तिक" ( सू० ४-४ )—विज्ञान-भिक्षु।

२ "तत्ववैशारदी" वा० मि० ( सू० ४-४ )

३ "भावागणेशवृत्ति"—"नागोजी भट्ट वृत्ति" आदि ( यो० सू० ४-४ )

४ "बुद्ध्यहङ्कारा, अपि अनेकस्वप्रकृतिप्रधान बुद्ध्यापूराद्भवन्तीति प्रत्येतव्य बुद्धिसाम्याद् ( यो० वा० )।

५ "तस्मादेकमेवचित्त प्रपीवद्विसारितया बहूनपि निर्माणकायान् व्याप्नोतीति प्राप्त आह—निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्" (तत्ववैशारदी—वाचस्पति मिश्र)

यिक मत का उत्थापन एव खडन भी किया है, जिसका विवरण आवश्यक नही प्रतीत होता।

इस प्रकार अनेक शरीर धारण किये जाने पर प्रत्येक चित्त का कार्य, भिन्न प्रवृत्ति-युक्त होने पर भी, वे एक सूत्र मे बँधे हुए, एक ही प्रयोजन की सिद्धि करते है, क्योकि उन सब विभिन्न प्रवृत्तियुक्त अनेक चित्तो का प्रयोजक या प्रेरणा देने वाला एक ही मूल चित्त होता है[1]।

जिस प्रकार शरीर मे विभिन्न प्राण एव इन्द्रियादि को अपने-अपने कार्यो मे नियोजित करने वाला अन्तःकरण ही होता है। अतः वे सब उस एक चित्त के प्रेरणानुसार, उसी के प्रयोजन की सिद्धि करते है। उसी प्रकार मूल चित्त के अस्मितामात्र, अन्य सब चित्त, उसी मूल चित्त की प्रेरणा से प्रेरित होकर भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियुक्त होने पर, उस भूल या प्रयोजक चित्त के ही लक्ष्य को सिद्ध करते है। योगी या कोई भी निर्माण-चित्तो का निर्माता इस मूल चित्त को अवान्तर चित्तो के प्रयोजन के रूप मे नियुक्त करता है। अतः उन सबकी एक साथ प्रवृत्ति मूल चित्त के नियत्रण मे ही होती।

जिस प्रकार अक्रमतारक ज्ञान स्वायत्त होने पर, सम्पूर्ण विषयो का युगपत् सम्यक् दर्शन होता है, उसी प्रकार प्रयोजन चित्त, उसके द्वारा समस्त प्रयोजित चित्त एव उनके विषय, सब एक साथ प्रवृत्त होते है और मूल चित्त उन सबका सांकर्य-विहीन नियन्त्रण करता है[2]।

एक चित्त शरीरान्तवर्ती अनेक चित्तो के ऊपर किस प्रकार कार्य करता है, इस विषय मे यह स्मरणीय है कि चित्त स्वरूपतः विभु है[3]। अतः यह प्रत्येक भाव से सम्बद्ध है। इस दृष्टि से चित्त की गति व्यवधानशून्य है। उसके लिये कुछ भी दूर या निकट नही है। क्षुद्रस्तर मे जादूगर का मुख्य चित्त जिस प्रकार अनेक दर्शको के चित्त पर कार्य करता है, उसी प्रकार निर्माण चित्तो के विषय मे भी अवगन्तव्य है। मूल चित्त अन्य सब गौण चित्तो के ऊपर आवश्यकतानुसार यथोचित कार्य करता है[4]।

---

१. "प्रवृत्तिभेदे प्रयोजक चित्तमेकमनेषाम" (यो०सू० ४/५)।

२ द्र०—पात० यो० द०—(हरि० आ०), पृ० ३०२।

३. द्र०—व्य० भा० (१-१०)।

४. द्र०—पात यो० द०—हरि० आ०—पृ० ३०३।

जब तक प्रयोजक चित्त के लक्ष्य की पूर्ति नही होती तब तक वह समस्त निर्माण-चित्तो को कार्यशील रखता है। पुनः जिस प्रकार सूर्य अपनी रश्मियो को समेट लेता है, उसी प्रकार अपनी लक्ष्य-पूर्ति हो जाने पर, वह मूल चित्त, उन निर्माण चितो को भी उपसहृत कर लेता है[1]।

निर्माणचित्तो मे भी अपेक्षा कृत उच्च-भिन्न का भेद होता है। यह पहिले भी बतलाया जा चुका है कि समाधिजन्य चित्त ही सर्वश्रेष्ठ होता है। अन्य सिद्धियो मे भी जन्म एव औषधि-जन्य सिद्धियाँ प्रायः अत्यन्त निम्न कोटि की होती है। मन्त्र एव तप-जन्य निर्माण चित्त उनकी अपेक्षा अधिक सात्विक एव उच्चस्तरीय होते है।

विवेकख्याति प्राप्त योगी का निर्माण-चित्त सर्वश्रेष्ठ होता है, क्योकि वह अनाशय होता है। शेष सब साशय होते है। इस अनाशय निर्माण चित्त को सूत्र-कार ने ध्यान-जन्य या ध्यानज चित्त कहा है[2]।

क्षीण-क्लेश योगी का कर्माशय नही होता है। अतः तज्जन्य चित भी अनाशय होता है। अन्य, जन्म, औषधि, मन्त्र एव तप-जन्य सिद्धियो से निर्मित चित्त साशय अर्थात् आशय सहित होते है[3]। रागादि की प्रवृत्ति से युक्त चित्त साशय होते है। चित्त मे राग-द्वेषादि प्रवृत्तियो का अभाव होने से पुण्य-पाप का सम्बन्ध नही होता है। पुण्य-पाप से सम्बन्ध न रहने पर कर्माशय भी नही रहता है।

श्री हरिहरानन्द आरण्य ने इस सूत्र की व्यख्या करते हुए ध्यानजन्य अनाशय चित्त के विषय मे लिखा है कि पहले से समाधि का आशय विद्यमान नही होता है, क्योकि समाधि सिद्ध करके पुनर्जन्म नही होता है। समाधिसिद्ध को उसी जन्म मे मोक्ष प्राप्त होता है, इस विषय मे शास्त्रोक्ति प्रसिद्ध है—"विनिष्पन्न समा-धिस्तु मुक्तिस्तत्रैव जन्मानि"। ( विष्णु पु० ) अतः समाधिजा सिद्धि का पूर्वसचित आशय नही होता है। समाधिसिद्धि निर्माण-चित्त किसी पूर्व वासनारूप प्रकृति के अनुप्रवेश से नही बनता है, वरन् उसकी अभिव्यक्ति पूर्व अनुभव-शून्य प्रकृति के

१. "योगीश्वर शरीराणि करोति विकरोति च,
प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित्कैश्चिदुग्र तपश्चरेत्।
सहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणा निव"। (तत्व० से उद्धृत) वायुपुराण ५/३२-३, लिग० १/७०/९३, वायु० ६६/१५२, कूर्म० १/४/५४-५५।

२. "तत्र ध्यानज अनाशयम्" (यो० सू० ४–६)।

३. द्रष्टव्य—व्या० भा०—(४/६)।

आपूरण-द्वारा होती है। साथ ही ध्यानज चित्त को अनाशय कहने का एक कारण यह भी है कि ध्यान या समाधि कर्माशय को नष्ट करते है। इस प्रकार न तो वह वासनाजन्य है और न वासना का सग्रहकारी ही है। अतः इन दोनो ही दृष्टियो से वह "अनाशय" कहलाता है[1]।

समाधि से इतर चारो सिद्धियाँ, पूर्वानुभूत वासनाजन्य होती हैं, अतः साशय हैं। उन सिद्धियो से उत्पन्न सिद्ध चित्तो को आशय-परवश होकर व्यवहार करना पडता है। ध्यानज सिद्ध चित्त सर्वथा स्वाधीन एव आशय का नाशक होता है। यह ध्यानज चित्त ही कैवल्योपयोगी होता है।

—०—

१. द्र०—भास्वती (४/६) तथा पात० यो० द० (हरि० आ०)—पृ० ३०४।

## (३) कर्मों के प्रकार, तद्विपाकानुरूप वासनाओं की अभिव्यक्ति तथा हेतु, फल और आश्रय के अभाव में उनका भी अभाव।[1]

पिछले शीर्षक मे योगेतर सिद्धो का चित्त साशय तथा योगज चित्त अनाशय बतलाया गया है, क्योकि योगी के कर्म अशुक्ल-अकृष्ण होते है और इतर मनुष्यो के कर्म शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्ल कृष्ण उभयात्मक के भेद से तीन प्रकार के है[1]।

कर्म चार प्रकार के होते है, शुक्ल कर्म, कृष्ण कर्म, शुक्ल एव कृष्ण-मिश्रित कर्म तथा अशुक्ल-अकृष्ण कर्म।

उनमे पापियो के कर्म कृष्ण कहलाते है। साधारण बोलचाल की भाषा मे भी बुरे कर्मो को काली करतूत कहा जाता है। सार यह है कि पापकर्म ही कृष्ण कर्म है। जैसे परपीडन, स्तेय व्यभिचार आदि। साधारण गृहस्थादिको के कर्म पाप पुण्य दोनो से युक्त होते है। अतः वे कृष्ण-शुक्ल उभयात्मक है।

गृहस्थी मे बाह्य साधनो का अवलम्ब आवश्यक होने से, परानुग्रह एव परपीडन दोनो ही अनिवार्य हो जाते है। भलाई-बुराई दोनो के बिना सासारिक व्यवहार का निर्वाह नही होता। कृषि मे, झाड़ू बुहारू आदि मे जीव-हत्या होती ही है। इसी प्रकार आपत्काल मे अपना साथ देने के लिए दूसरे का भी उपकार समाज मे करना ही पडता है। अपने परिवार एव इष्ट मित्रो के मगल-हेतु भजन पूजन भी गृहस्थ करते है। इस प्रकार साधारण-गृहस्थादि सामाजिक मनुष्यो के कर्म शुक्ल एव कृष्ण दोनो प्रकार के होते है।

तीसरे प्रकार के केवल शुक्ल या केवल पुण्यात्मक कर्म तपस्वी, स्वाध्यायी व्यक्तियो के होते है, जिन्हे गृहस्थो की भॉति बाह्य उपकरणो की अपेक्षा न होने से परपीडन आदि अनिवार्य नही है। शुक्ल कर्म केवल मन के अधीन है, क्योकि इसमे बाह्य साधनो का अभाव होता है। उक्त तीनो प्रकार के कर्म क्रमश एक दूसरे से श्रेष्ठ होते है। अर्थात कृष्ण कर्मो से शुक्ल कृष्ण तथा शुक्ल-कृष्ण से विशुद्ध शुक्ल कर्म श्रेष्ठ है। फिर भी इन तीनो प्रकार के कर्मो से ही कर्माशय का प्रचय होता है। कर्माशय

---

१ "कर्माशुक्लाकृष्ण योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्" (यो० सू० ४-७)

चाहे पापमय हो अथवा पुण्यमय, उसके प्रचय एव वासना से पुनर्जन्म होता है। अतः क्लेश-कर्मों की निवृत्ति नही होती।

काम्य-कर्मों के परित्यागी योगियो के कर्म उक्त त्रिविध कर्मो से अतीत है। वे न कृष्ण होते है, न शुक्ल होते है और न उभयात्मक ही होते है। मुमुक्षु योगी स्वकृत पुण्य-कर्मो के फल की प्राप्ति की आकॉक्षा नही रखता है। वह शुक्ल कर्मो को भगवत्—अर्पण कर देता है। अतः वे कर्मपरित्यक्त होकर कर्माशय-प्रचय मे असमर्थ हो जाते है। पूर्व सचित आशय का उनके यम-नियम तपस्वाध्यायादि के द्वारा क्षयमात्र होता है—आशय-सचय और पाप कर्म वे करते ही नही। अत योगियो के कर्म अशुक्ल अकृष्ण अर्थात् पुण्य-पाप के सम्बन्ध से रहित होते है। इसलिये भाष्यकार व्यास ने ऐसे सन्यासी योगियो को "चरमदेही" बतलाया है। क्योकि पूर्व कर्मो का वे क्षय कर चुकते है और आगे पाप-पुण्यात्मक आशय न रहने से पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं रहती है अतः उनका वर्तमान शरीर ही चरम या अन्तिम शरीर होता है।

उन कृष्ण शुक्लादि तीन प्रकार के साशय कर्मो मे से उनके विपाक के अनुरूप ही वासनाओ की अभिव्यक्ति होती है[1]

अयोगियों के कर्म किसी न किसी वासनापूर्वक होते है। अर्थात् फल की इच्छा से होते हैं। अनुभव सस्कारमूलक वासना दो प्रकार की होती है। एक तो जाती, आयु और भोग रूप फल प्रदान करने वाली, जिसे वाचस्पति मिश्र ने कृष्णादि कर्म-वासना बतलाया है। दूसरी स्मृतिमात्र फल वाली। इसे भी क्लेशवासना कहा है[2]। अन्य भोजादि विद्वानो ने भी द्विविध वासनाएँ बतलाई है[3]।

"पञ्चक्लेश तथा उनके निवारण के उपाय" शीर्षक मे जात्यायुर्भोग को कर्माशय का विपाक कहा गया है ( जिसे ऊपर कर्मवासना कहा है )। साथ ही उससे वासना का भेद स्पष्ट करते हुए यह भी बतलाया गया है कि वासना साक्षात् रूप से क्लेशदायक नही होती है। वस्तुत वासना का मुख्य स्वरूप वही है। कर्माशय जिसे प्रस्तुत स्थल मे, कृष्णादि कर्म वासना कहा है वासना का गौण अर्थ है। स्मृति फलमात्र प्रदायिनी वासना ही मुख्य वासना है।

उक्त त्रिविध कर्मो के विपाककाल मे कर्माशय से जिस प्रकार का विपाक

---

१. "ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्" ( यो० सू० ४/८ )।

२. द्रष्टव्य—तत्व ( ४-७-८ )।

३. द्रष्टव्य—भो० वृ० आदि।

होता है, उसी के अनुकूल वासना भी अभिव्यक्त होती है। जैसे कोई मनुष्य जन्मान्तर मे बिल्ली की योनि प्राप्त करता है, तो उस जन्म मे उसकी बिडालोचित वासना की अभिव्यक्ति होती है, जिससे उसकी मुषकादि के भक्षण मे अथवा अन्य समस्त मार्जारोचित आचरण मे सहजात प्रवृत्ति होनी है। अन्यथा पहले कभी विडाल योनि से प्राप्त अनुभव की पूर्व-सचित विडालोचित वासना की अभिव्यक्ति न हो, तो मानव योनि प्राप्त होने पर मूषकादि भक्षण मे प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये।

प्रत्येक प्राणी के अन्दर प्रत्येक जाति की वासना सचित होती है। किन्तु जिस योनि मे उसे जन्म प्राप्त होता है, उसी योनि के अनुसार पूर्व के अनेक जन्मो मे अनुभूत वासनाभूत सस्कार अभिव्यक्त हो उठते है। उस वासना के द्वारा ही उन योनियो मे भोग सम्भव है।

कर्म—विपाक के अनुकूल वासनाओ की एक साथ अभिव्यक्ति होती है, चाहे वे सैकडो जन्म पूर्व की हो। इस विषय मे यह आशका होती है कि अनेक भव (जन्म) पूर्विका वासनाओ मे तो जाति, देश एव काल का अत्यधिक अन्तर होता है। फिर किसी एक ही जन्म रूप, विपाक के भोग मे वे विभिन्न जन्म, देश एव काल मे अनुभूत सस्कारभूत वासनाएँ किस प्रकार निमित्त बनती हैं ?

उदाहरणार्थ मानव जन्म के बाद मार्जार-जन्म प्राप्त होने पर, अत्यन्त व्यवहित पूर्ववर्ती मार्जार-योनि की अनुभूत वासना कैसे अभिव्यक्त होती है, जिसके द्वारा मार्जारोचित भोग सम्भव होता है। उस मार्जार योनि से निकट पूर्ववर्ती मनुष्य-योनि की वासना क्यो नही अभिव्यक्त होती है, इस प्रकार की शका मन मे उठ सकती है।

सूत्रकार ने इस आशका को निवृत्त करने के लिये लिखा है कि स्मृति और सस्कार, समान-विषयक होने से जाति, देश एव काल द्वारा व्यवहित होने पर भी वासनाएँ अव्यवहित की भाँति अभिव्यक्त होती है[1]

जिस प्रकार दीर्घ काल पूर्व किसी दूर देश मे अनुभूत विषय के सस्कार काल एव देश के व्यवधान-युक्त होने पर भी, स्मरण करते ही तुरन्त मन मे अभिव्यक्त हो उठते है, उसी प्रकार अनेक जन्म, दूर देश एव दीर्घ काल से व्यवहित वासना भी उद्बोधक निमित्त उपस्थित होते ही जागरूक हो जाती है। जिस प्रकार पुराने से पुराने ग्रामोफोन रिकार्ड के ध्वनि-सस्कार, रिकार्ड के ग्रामोफोन पर रखे जाने पर,

१. "जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसस्कारयोरेक—रूपत्वात्" (यो० सू० ४-९)

सूई ( नीड्ल ) के सम्पर्क मात्र से प्रतिध्वनित हो उठते है, उसी प्रकार जीवान्तर्वती उच्चतर चेतनता के साथ सस्कारो का सम्पर्क स्थापित होते ही, चित्त मे तदनुकूल वासनाएँ अभिव्यक्त हो उठती है[1]।

स्मरण करने के प्रयत्न मे देर लग सकती है, किन्तु स्मृति क्षणमात्र मे ही उठती है। उस स्मृति का अनुभव मूलक सस्कार जिस देश अथवा काल मे चित्त पर अकित होता है, उसके बाद चित्त मे पडने वाले भिन्न देशकालीन सस्कार उस स्मृति मे बाधक नही होते है। सैकडो जन्म-पूर्व अनुभूत विषयक-वासना की अभिव्यक्ति के विषय मे भाष्यकार ने यही बात उदाहरणपूर्वक समझाई है।

यदि कोई मनुष्य किसी दुष्कर्म से विवश होकर बाद मे सहस्र जन्म तक भिन्न-भिन्न स्थलो पर पशु शरीर प्राप्त करके, पुनः मानव शरीर प्राप्त करता है, तो उन सहस्र पशु जन्मो तथा विभिन्न देशो एव काल का व्यवधान रहने पर भी, मानव जन्म मे मानवोचित वासना अव्यवहित की भाँति प्रकट होती है।

इस अव्यहितत्व या अनन्तरता का कारण है—स्मृति और सस्कार की समानविषयता या एकरूपता। सस्कारो के अनुरूप ही स्मृति होती है जिस प्रकार के अनुभव होते है—तज्जन्य सस्कार उस प्रकार के होते है। वे सस्कार पुनः कर्म वासना के अनुरूप होते है। जैसी वासनाएँ होती है, वैसी ही स्मृति भी होती है। वह स्मृति अनुभव होने मे अनुभवरूप है। अत स्मृति से पुनः सस्कार उत्पन्न होते है। इस प्रकार स्मृति एव सस्कार कर्माशय द्वारा उद्बोधित होकर व्यक्त होते रहते है। जाति, देश एव काल द्वारा व्यवहित होने पर भी वासना एव स्मृति का निमित्त नैमित्तिक भाव अविच्छिन्न रहने से वे अव्यवहित ही सिद्ध होते है। अतः स्मृति और सस्कार एकरूप है। नैमित्तिक = निमित्त से ज्ञात।

शका हो सकती है कि जब वासनाओ के अनुसार ही जन्म और कर्मानुरूप ही वासनाओ का सचय होता है, तो प्रथम जन्म-प्रदायिनी वासना कहाँ से आई? इसका उत्तर यह है कि कर्म-विपाकानुकूल प्रवृत्ति की प्रेरणा-प्रदायिनी वासना अनादि होती है, क्योकि प्राणिमात्र मे आत्मकल्याण की नित्य अभिलाषा है[2]।

प्रत्येक प्राणी मे सर्वदा अपने विषय मे आशा की वासना पाई जाती है कि मेरे साथ मेरी सुख सामग्री सर्वदा अक्षुण्ण रहे। उनका वियोग कभी भी

---

१ "साइन्स ऑफ योग"—पृ० ३९८।

२ 'तासामनादित्व चाशिषो नित्यत्वात्' ( यो० सू० ४-१० )

न हो। इस आशिस-रूप वासना की नित्य उपलब्धि से उसकी अनादिता भी स्वतः सिद्ध है।

आत्माशिष की उक्त कामना स्वाभाविक नही होती, क्योंकि जिसने पहले कभी मरणत्रास या मरण दु'ख का अनुभव नही किया है, ऐसे सद्योजात शिशु मे भी द्वेष हेतुक मृत्युत्रास अथवा भय भावना देखी जाती है। यह भय शिशु के समक्ष किसी प्रकार का भयकर दृश्य या भयावह ध्वनि उपस्थित होने पर ही उत्पन्न होता है, सर्वदा नही। द्वेष-भावना दुःखानुभव के पश्चात् ही होती है। सद्योजात शिशु मे भी द्वेष की भावना से यह सिद्ध होता है कि पूर्व जन्म मे इसने दुःख या मरणत्रास का अनुभव अवश्य किया है। जिसके स्मृतिरूप निमित्त मे उसे भयावह दृश्यो से भय उत्पन्न होता है।

मरणत्रास अथवा किसी भी प्रकार का भय सर्वदा दु ख स्मृति-रूप निमित्त से ही उत्पन्न होता है। दु ख स्मृति के निमित्तभूत किसी भयावह दृश्य के उपस्थित होने पर दुःख-स्मृति उत्पन्न होती है और दुःख स्मरण रूप निमित्त-द्वारा भय उत्पन्न होता है। यदि यह भय सनिमित्तक न होता तो प्राणी मे सर्वदा भय वर्तमान रहता क्योंकि स्वाभाविक वस्तु का कभी वियोग नही होता। जैसे ग्राह्य, ग्रहण एव ग्रहीतृ पदार्थ या रूपादि धर्म प्राणी के स्वाभाविक धर्म है और वे सदैव विद्यमान रहते है। देह-धारण-काल मे ये न तो किसी निमित्त से उद्भूत होते है न, उनका कभी वियोग ही होता है। जब तक शरीर है तभी तक उक्त धर्म भी प्राणी से स्वाभाविक रूप से सलग्न है, किसी निमित्त से नही। शरीर-नाश के साथ ही उक्त धर्म भी तिरोहित हो जाते है, परन्तु वासना कारण शरीर मे बनी रहती है। वह नित्य है। अतीत, अनागत एव वर्तमान समस्त प्राणियो मे अपने अस्तित्व की भावना देखी जाती है अत उसका कभी भी व्यभिचार न होने से वासना नित्य है। उक्त आत्माशी की भावना के नित्य होने से पूर्व-पूर्व जन्म की अनादि परम्परा सिद्ध होती है और अनादि जन्म-परम्परा की सिद्धि से जन्म की हेतुभूत वासना भी अनादि सिद्ध होती है।

पुनः यदि वासना की अभिव्यक्ति स्वाभाविक मानी जाए, तो चित्तवर्ती समस्त वासनाओ की एक साथ अभिव्यक्ति होनी चाहिए। निमित्त के अनुरूप किसी एक काल मे किसी एक ही वासना की अभिव्यक्ति नही होनी चाहिये, क्योंकि चित्त मे तो सर्वदा समस्त वासनाएँ सचित है, फिर भी जिस वासना के अनुरूप

निमित्त उपस्थित होता है, वही वासना अभिव्यक्त होकर भोग सम्पन्न कराती है। अतः वासना, जन्म एव मरणत्रास, ये सभी अस्वाभाविक एव निमित्त-जन्य है[1]।

वासना की अनादिता के साथ-साथ भाष्यकार श्री व्यास ने प्रसगत, अनादि, असख्य वासनाओ से विचित्र चित्त के परिमाण का प्रतिपादन भी किया है। अनादि वासना के आश्रय भूत चित्त के परिमाण के विषय मे भाष्यकार व्यास ने दो मतो का उल्लेख किया है। जिनमे पर मत का प्रदर्शन "अपर" पद के प्रयोग से तथा योगसम्मत मत का प्रदर्शन "आचार्य" शब्द के प्रयोग-द्वारा किया है।

मतान्तर ( योग से ) मे चित्त मध्यम परिमाण वाला होता है। मध्यम-परिमाण-अणु एव महत् द्विविध परिमाणो से विलक्षण। जिस प्रकार घट एव प्रासाद मे न्यस्त दीप सकोच विकासशील होता है, उसी प्रकार चित्त भी शरीर के आकार मात्र-परिमाण युक्त होता है। अर्थात् जैसे घटस्थ प्रदीप, घटमात्र का प्रकाशक तथा प्रासादस्थ प्रदीप विशाल प्रासाद का प्रकाशक होता है, उसी भाँति चित्त भी पिपी-लिका के शरीर मे पिपीलिका-देह के आकारमात्र परिमाणयुक्त तथा गजशरीर मे गजाकार परिमाण तुल्य हो जाता है। अतः सकोच विकासशील होने से चित्त न अणुमात्र है, न विभु, वरन् पदार्थान्तर सापेक्ष उभयात्मक, मध्यम परिमाण वाला होता है। अर्थात् अपने से अणु परिमाणयुक्त पदार्थ की अपेक्षा विभु तथा महत् परिमाणयुक्त वस्तु की अपेक्षा अणु है। इस मत के अनुयायियो का कथन है कि चित्त अणु परिमाण वाला यदि माना जाय तो किसी एक समय मे पाँचो ज्ञानो की उत्पत्ति नही हो सकती है, क्योकि विभिन्न देशस्थ समस्त इन्द्रियो के साथ अणु चित्त एक साथ सम्बद्ध नही हो सकता है। साथ ही शरीर देश के अन्तर्गत ही

---

१ पाश्चात्यो की दृष्टि मे मरणभय सहजवृत्ति ( इन्स्टिंक्ट ) अर्थात् अशिक्षित-क्रिया क्षमता ( अनटाट ऐबिलिटी ) है। किन्तु जन्म के साथ मनोत्पत्ति मे कोई प्रमाण नही है। सम्पूर्ण आर्ष दर्शनो के मत मे मन अनादि है और उसकी वृत्तियाँ भी। अत उसकी एक अज्ञान वृत्ति रूप मरणभय भी जन्मजात या स्वाभाविक नही हो सकता। अभिव्य-क्तिवादियो की दृष्टि मे मरणभय पुरखो की परम्परा से प्राप्त है। पर उसको इन्सटिंक्ट परम्परा प्राप्त कह देने मात्र से कर्मवाद निरस्त नही हो सकता। मरणत्रास को सहज-वृत्ति मानने वाले भी यह नही बतला सकते कि यह वृत्ति कहाँ से आई। इसका उत्तर कर्मवादी ही दे सकते है। स्वाभाविक वस्तु कभी निमित्तजन्य नही होती। साथ ही स्वाभाविक धर्म कभी भी वस्तु को नही छोडता। ज्ञानाभ्यास से मरणभय, वासनाएँ एव जन्म परम्परा ये सभी निवृत्त होते है, अतः अस्वाभाविक है।

चित्त के समस्त कार्य देखे जाने से शरीर के बाहर चित्त की सत्ता सिद्ध नही होती। अतः चित्त विभु भी नही हो सकता है। विभुत्व-अणुत्व दोनो के निषेध से चित्त का अवशिष्ट मध्यम परिमाण ही सिद्ध होता है। विभु चित्त नित्य एव अक्रिय होगा। अणु एव विभु दोनो पदार्थ नित्य होते है। चित्त के विषय मे उपर्युक्त मत श्री स्वामी हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार जैनो का है[1]। श्री भिक्षु के अनुसार यह मतभेद साख्यो का है। चित्त आध्यात्मिक द्रव्य है। अतः साख्य की दृष्टि से चित्त शरीर परिमाणाकार नही हो सकता है। श्री स्वामी ब्रह्मलीन मुनि के अनुसार, श्री वाचस्पति मिश्र ने भी उक्त "मध्यम-परिमाण चित्त" का मत साख्यो का बतलाया है। परन्तु इस सूत्र की "तत्ववैशारदी" व्याख्या मे साख्यो का नामोल्लेख नही मिलता[2]। मतान्तर मे यह मत किसी का भी हो, योगशास्त्र इसे स्वीकार नही करता। "आचार्य" पद के प्रयोग-द्वारा भाष्यकार व्यास ने महर्षि पतजलि का निर्देश किया है, जैसा कि इस मत की मान्यताओ एव व्याख्याकारो की व्याख्याओ से सिद्ध होता है।

योगमत से चित्त विभु है। केवल उसकी वृत्ति ही सकोच-विकासशील होती है, क्योकि चित्त को मध्यम-परिमाण एव अनित्य मानने पर वह अनादि वासना का आश्रय नही हो सकेगा। चित्त को विभु एव नित्य मानने पर ही वह अनादि वासना का आश्रय हो सकता है। अन्यथा जब मरणकाल मे अनित्य होने से आश्रय-भूत चित्त ही न रहेगा तो उस पर आश्रित वासना की भी अनादिता असिद्ध हो जायगी। फिर ज्ञानशक्ति सीमा रहित है। अतः चित्त विभु है। उसकी वृत्ति ही सकोच-विकासशील, सक्रिय एव अनित्य है[3]।

चित्त के विषय मे किसी व्याप्ति की सीमा निर्धारित नही की जा सकती है। अतः वह व्याप्तिशून्य ज्ञानशक्ति मात्र है तथा अनन्त बाह्य विषयो से सम्बद्ध है। इस सम्बन्ध का प्रस्फुटित ज्ञान भी हो सकता है। चित्त स्वय विभु है। फिर भी वृत्तियो के सकोच एव विस्तार भाववश वह स्वय भी सकुचित सा अवभासित होता है। किन्तु इसी से उसे सकुचित नही समझना चाहिये। ज्ञान-वृत्ति साधारण प्राणियो के समक्ष सीमित तथा विवेकजन्य ज्ञान-प्राप्त सिद्ध योगियो के प्रति सर्व

---

१ "पातजल योग दर्शन"—हरि० आ०, पृ० ३१०।

२ द्रष्टव्य—"तत्ववैशारदी"—यो० सू० ४ १०।

३ द्रष्टव्य—योगभाष्यविवृत्ति—पृ० ७७४, पात० यो० द०—हरि० आ०—पृ० ३१०।

भासक, अपरिच्छिन्न भाव-युक्त होती है। अत: चित्त विभु है—श्रुति भी है—"अनन्तं वै मनः"[1] इस उक्ति मे मन शब्द विभुत्व का द्योतक है।

अतः विभु चित्त की वृत्ति ही सकोच—प्रसारशील है। भाष्यकार व्यास ने स्पष्ट ही लिखा है—

"वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनी"[2]

चित्त को मध्यम-परिमाण मानने वालो की आपत्ति है कि यदि चित्त को विभु माना जायगा, तो वह नित्य एव अक्रिय होने से, चित्त का प्रलयकाल मे लय और ससृतिकाल मे लोकान्तरो मे गमनागमन असम्भव हो जायगा।

इस विषय मे योगाचार्यो का मत है कि चित्त के नित्य होने पर भी, उसकी सकोच विकासशील वृत्ति सक्रिय एव अनित्य होने से, प्रलयकाल मे उसका लय तथा सृष्टिकाल मे ससरण सम्भव है। अत चित्त को विभु मानना ही समीचीन है। साथ ही चित्त को नित्य मानने पर वह अनादि वासना का आश्रय भी बन सकेगा, अन्यथा चित्त को अनित्य मानने पर उसकी आश्रित वासना की अनादिता भी असगत ही सिद्ध होगी, जो कि पूर्व सिद्ध है।

चित्त की वृत्तियो का उक्त सकोच एव विकास, धर्मादि निमित्तो की अपेक्षा से होता है। निमित्त दो प्रकार के है, बाह्य और आध्यात्मिक। शरीर, इन्द्रिय आदि बाह्य साधन सापेक्ष स्तुति, दान, अभिवादन आदि बाह्य निमित्त है। श्रद्धा, मैत्री, मुदिता आदि चित्तमात्र से साध्य कर्म, आध्यात्मिक निमित्त है। इनमे बाह्य उपकरण निरपेक्ष मानस कर्म ही अधिक प्रबल है, क्योकि ज्ञान-वैराग्य से बढ कर और कोई शक्ति नही है। ज्ञान और वैराग्य-सदृश मनोबलो को कोई भी अन्य बल अभिभूति नही कर सकता है।

चित्त के विभुत्व के विषय मे यह भी अवगम्य है कि साख्ययोग मे प्रकृति एव पुरुष के अतिरिक्त अन्य समस्त तत्वो का नित्यत्व या विभुत्व स्व-विकृति सापेक्ष है। चित्त अपनी विकृति अहकार तथा उससे आगे भी तन्मात्रादि विकृति-परम्परा की अपेक्षा विभु एव नित्य होने पर भी स्वकारण, मूलप्रकृति की अपेक्षा अनित्य एव विभुत्वशून्य है।

१ बृहदारण्यक ( ३/१/९ )

२ व्य० भा० सू० ४ १०

अब वासनाओ की अनादिता से सन्देह होता है कि वे आनादि पुरुष की भाँति नित्य भी होगी। अतः उनका उच्छेद न हो सकेगा। फिर यदि वासना का उच्छेद न होगा तो जन्म-मृत्यु के आवर्तन से मोक्ष भी न हो सकेगा। इस शका का निरसन करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि वासनाओ का सग्रह हेतु, फल, आश्रय एव आलम्बन के आधीन होता है। अतः इन चारो के अभाव से, उन वासनाओ का भी अभाव हो जाता है[1]।

अनादिता दो प्रकार की होती है। एक तो स्वरूप से अनादिता और दूसरी प्रवाहरूप से। पुरुष की अनादिता स्वरूपतः है, अतः वह नित्य है। वासनाएँ स्वरूपतः अनादि नही है, वरन् कार्य प्रवाह से अनादि है। प्रावाहिक अनादिता का कारण के नाश से उच्छेद हो जाता है[2]। स्वरूपतः अनादि चित्तिशक्ति ( पुरुष ) के नाश का कारण ही न होने से उसका कभी नाश नही हो सकता है। प्रवाहतः अनादि वासना सकारण है। अतः प्रवाह के कारणो का नाश होने से वासना का अभाव एवं उसके अभाव से ससार से मोक्ष भी सभव है।

सूत्रकार ने हेतु, फल आदि वासना के जिन चार कारणो का वर्णन किया है, उनका विवरण इस प्रकार है—

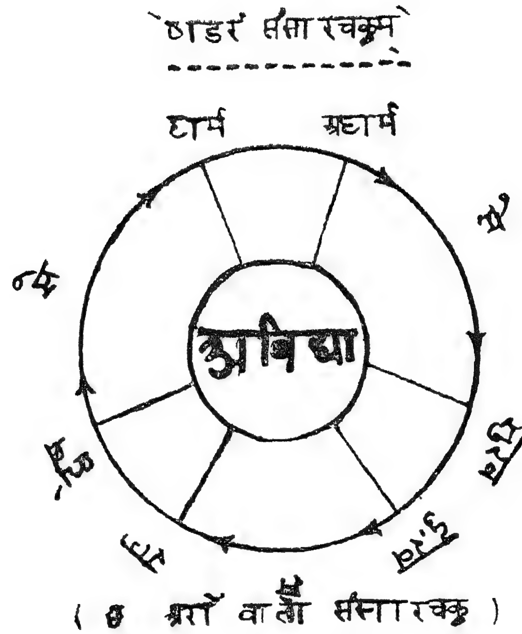
## (१) हेतु—

छः अरो से युक्त ससार—चक्र की नेत्री, अविद्या ही वासनाओ का मूल हेतु है। जैसे शुक्ल–कृष्ण कर्म रूप धर्म-अधर्म से सुख एव दुःख की प्राप्ति होती है। धार्मिक कृत्यो से सुख की उपलब्धि होती है और अधार्मिक कर्मो से दुःख की प्राप्ति होती है। सुख एव दुःख की प्राप्ति से, सुख तथा सुख के साधनो के प्रति राग, तथा दुःख एव दुःख-साधनो के प्रति द्वेष-भाव की उत्पत्ति होती है। पुनः सुखोपलब्धि एव दुःख-निवृत्ति के लिये प्राणी परानुग्रह, परपीडन आदि धर्म-अधर्म कार्य करता है। उन धर्म, अधर्म से फिर सुख, दुःख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह ससार चक्र सतत प्रवर्तित रहता है। इन धर्म-अधर्मादि, सुख-दुःखादि सभी के मूल मे अविद्या है। अविद्यावश ही जीव पाप-पुण्य करके सुख-दुःखादि का अनुभव करता है। अतएव साक्षात् रूप से, अथवा धर्म-अधर्मादि परम्परा के द्वारा, अविद्या ही वासनाओ का मूल हेतु है।

---

१ "हेतुफलाश्रयालम्बनै सग्रहीतत्वादेषामभावे तदभाव" ( योगसूत्र, ४-११ )

२ द्रष्टव्य—"तत्ववैशारदी"—"मणिप्रभा"—"योगसुधाकर" आदि।




इस अविद्या के कारण जीव विविध क्लेशो से कष्ट पाता है। अतः अविद्या कारण सहित यह षडर-ससार-चक्र ही वासना का मूल है।

(२) फल—

जिसको आश्रय करके जो उत्पन्न होता है, वह उसका फल कहलाता है। जैसे किसी पुण्य या पाप कर्म आश्रय से या आचरण से जिस धर्म या अधर्म के द्वारा सुख या दुःख की प्राप्ति होती है, वह केवल उस धार्मिक या अधार्मिक कर्म की ही नही, वरन् उसकी वासना का भी फल है।

इस विषय मे शका हो सकती है कि वासना के फलस्वरूप कार्य द्वारा, कारणभूत वासना कैसे सग्रहीत हो सकती है ? इसका समाधान यह है कि असत् वस्तु की उत्पत्ति नही होती। अतः पहले से ही सूक्ष्मरूप से वासना मे विद्यमान रहने से वह (फल) वासना का सग्राहक हो सकता है।

यहाँ स्मृति वासना का फल है, क्योकि उद्बोधक कारण उपस्थित होने पर पूर्व वासनानुसार ही स्मृति होती है। पुनः स्मृति सस्कारो से वासना उपचित होती है। अतः वासना के फल-द्वारा भी वासना सग्रहीत होती है।

सूत्रगत "फल" शब्द का अर्थ, प्रस्तुत प्रसग मे, श्री विज्ञान भिक्षु,

भावागणेश एव नागोजी भट्ट ने "पुरुषार्थ", श्री भोज ने शरीरादि एव स्मृति आदि, चन्द्रिकाकार ने शरीरादि, विवरणकार शंकर ने सुख आदि तथा मणिप्रभाकर एवं योगसुधाकरकार ने "देहायुर्भोग" या "जात्यायुर्भोग" किया है। परन्तु प्रस्तुत स्थल पर स्मृतिफल मुख्यतः प्रतिपाद्य है, क्योकि जात्यायुर्भोग से भी स्मृति-द्वारा ही वासना का सग्रह होता है[1]। इसोलिये सूत्रकार ने स्मृति एव सस्कार की एकरूपता का प्रतिपादन किया है[2]। वासना सस्कारस्वरूपा ही होती है। सस्कारो का बोध ही स्मृति है। स्मृति-सस्कारो से ही वासना दृढतर होती जाती है।

श्री भिक्षु, मणिप्रभाकार, रामानन्द यति प्रभृति विद्वानो के, वासनाफल विषयक उपर्युक्त मतो के विषय मे स्वामी हरिहरानन्द आरण्य का मत है कि "पुरुषार्थ केवल वासना का ही नही, अपितु दृश्य-दर्शन का फल है। जात्यायुर्भोग वासना के नही, वरन् कर्माशय के फल है। शरीरादि को उन्होने वासना का गौण फल बतलाया है। इस प्रकार उनके मतानुसार भी स्मृति ही वासना का मुख्य फल है[3]।

प्रकृत स्थल मे सूत्रस्थ ( ४-१० ) फल शब्द से स्मृति का अर्थ मुख्यतः अभीष्ट अवश्य है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि जात्यायुर्भोग वासना का फल ही नही होते। लगभग सभी व्याख्याकारो ने वासना के दो प्रकार बतलाए है, जिनमें एक का फल जात्यायुर्भोग होता है और दूसरी का फल स्मृतिमात्र है। फिर स्वामी जी ने जिस कर्माशय का फल जात्यायुर्भोग बताया है, वह कर्माशय भी तो वासना का ही एक प्रकार है। इसीलिये तो टीकाकार श्री वाचस्पति मिश्र ने सू० ४-८ की व्याख्या मे, शुक्लकृष्णादि कर्मो की वासना को कर्माशय तथा स्मृतिफल मात्र वाली वासनाको क्लेशाशय कहा है[4]।

## (३) आश्रय —

वासनाओ का आश्रय साधिकार मन होता है। चित्त का अधिकार विवेकख्याति पर्यन्त ही होता है। विवेक-ज्ञान हो जाने पर उसका कार्य या अधिकार समाप्त हो जाता है। अतः विवेकशून्य चित्त की सज्ञा साधिकार तथा विवेक प्राप्त चित्त की समाप्ताधिकार या चरिताधिकार सज्ञा होती है। विवेकख्याति

१. पात० यो० द०—हरि० आ०—पृ० ३११।

२. यो० सू० ४/९।

३ द्रष्टव्य—पा० यो० द०—पृ० ३११।

४. द्रष्टव्य—तत्त्व० (४/८)।

द्वारा अधिकार समाप्त हो जाने पर, चित्त मे पुरुषाकार मात्र प्रत्यय अवशिष्ट रहने से "मैं मनुष्य हूँ" या "पशु हूँ" अथवा "सुखी हूँ", "दुखी हूँ", इस प्रकार का प्रत्यय होना असभव है। इस प्रकार अज्ञानात्मक वृत्तियो एव वासनाओ का आश्रय साधिकार चित्त ही होता है। जब आश्रय ही न रहेगा तो वासनाओ की स्थिति भी असभव है।

### (४) आलम्बन —

जिस विषय की सन्निधि से जिस वासना की अभिव्यक्ति हो, उस वासना का वही विषय आलम्बन है। जैसे मधुर शब्द-श्रवण से, मधुर शब्द के श्रवण की वासना उदित होती है। अतः वह मधुर शब्द ही उस शब्द-विषयक वासना का आलम्बन हुआ। इस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि विषय ही वासना के आलम्बन है। इनके अभाव मे वासना की अभिव्यक्ति भी असभव है।

वासनाएँ अनादि एव असख्य है। फिर भी पूर्वोक्त रीति से हेतुफल, आश्रय एव आलम्बन के द्वारा सग्रहीत वासनाएँ, इन चारो के अभाव मे समाप्त हो जाती है, जिससे चित्त चिरकालपर्यन्त रुद्ध होता है। अतः मोक्ष सम्भव है। वासना के उक्त समस्त सग्राहको का अभाव अविप्लवा विवेकख्याति के द्वारा ही सम्भव है, क्योकि इन हेत्वादि का मूल अविवेक-प्रत्यय या अविद्या ही है। अतः कहा जा सकता है कि अविद्या के अधीन उक्त हेतुफलादि का, अविद्या मात्र के क्षय से, विनाश हो सकता है, फिर अन्य तीनो का कथन ही निरर्थक है। किन्तु अविद्या का विनाश अचानक ही नही किया जा सकता है। धैर्यपूर्वक सतत्, समस्त विषयादि का सर्वतोदिक् निरोधाभ्यास करना पडता है, तब कही अन्त मे मूल कारण अविवेक या अविद्या का नाश होता है। अतः पहले से ही ज्ञानपूर्वक वासना के समस्त सग्राहक पदार्थो के विनाश का प्रयत्न करना चाहिये।

—:०:—

## (४) कारण धर्मों के पथों के भेद से अतीत और भविष्य की वास्तविक सत्ता।

पिछले शीर्षक मे हेतुफलादि के अभाव मे अनादि वासना के अभाव का उल्लेख किया गया है। इस विषय मे यह सन्देह होता है कि असत् की सत्ता असम्भव है और सद्वस्तु का अभाव अशक्य है–"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"—( गीता )। अतः अनादि वासना का समुच्छेद किस प्रकार सम्भव है ? अतीत एव अनागत की सत्ता से उक्त शका का, निरसन हो जाता है, अर्थात् अनागत एव अतीत की सत्ता की सिद्धि से वासना के अभाव का अर्थ, वासना की अतीतावस्था ग्राह्य है।

इस बात को समझाने के लिये सूत्रकार ने प्रसगतः धर्मो के अध्वभेद से अतीत एव अनागत की स्वरूप से विद्यमानता का निरूपण किया है[1]।

प्रत्येक धर्म के तीन पथ या अध्व होते है। अनागत, वर्तमान एव अतीत। भविष्य मे अभिव्यक्त होने वाला पदार्थ अनागत, अनुभूत अभिव्यक्ति-युक्त पदार्थ अतीत तथा स्वव्यापार-सलग्न पदार्थ वर्तमान कहलाता है[2]। अनागत, अतीत एव वर्तमान तीनो सत् पदार्थ है, क्योकि वे ज्ञान के विषय है। योगी को इनका प्रत्यक्ष होता है। यदि अतीत एव अनागत पदार्थ न होते तो अतीत एव अनागत-ज्ञान निर्विषयक होता, किन्तु निर्विषयक ज्ञान की उत्पत्ति नही होती है। अन्यथा विषय-शून्य आकाशकुसुमादि का भी परिज्ञान होना चाहिये, पर वह होता नही है। अतः अतीत एव अनागत पदार्थो की सत्ता स्वरूप से सिद्ध होती है। साधारण व्यक्तियो को भी कभी–कभी भविष्य-ज्ञान या स्वप्नादि के माध्यम से अतीत का ज्ञान होता है। इससे अतीत एव अनागत की सत्ता सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य की कार्य-प्रवृत्ति सोद्देश्य हाने से भी अनागत की सत्ता सिद्ध होती है। प्रत्येक मनुष्य का प्रत्येक कार्य किसी न किसी उद्देश्य-पूर्वक

---

१. "अतीतानागत स्वरूपतोस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्" (यो० सू० ४-१२)

२ अतीत एव अनागत की सत्ता का विशेष विवरण—
"त्रिविध परिणाम का सयम" शीर्षक मे द्रष्टव्य है।

ही होता है। भोग अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिये जनसमूह सतत प्रयत्नशील है। यदि उसके द्वारा किये गए साधन द्वारा भोग अथवा मोक्ष रूप अनागतफल सतत् हो तो विद्वान मनुष्य उसका अनुष्ठान ही क्यो करे ? जो सत् है, अर्थात् जो पहले से विद्यमान है, उसी फल की अभिव्यक्ति निमित्त के द्वारा की जा सकती है, असत् वस्तु की नही। तिल मे तैल पूर्व से विद्यमान रहता है। निमित्त भूत तैलक उसकी अभिव्यक्ति मात्र करता है। किसी अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति मे वह समर्थ नही होता। अन्यथा बालू से भी तैल की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। पर ऐसा तो होता नही।

एक धर्मी के अनेक धर्म होते है। वे विभिन्न धर्म अध्वभेद अर्थात् अनागत अतीत और वर्त्तमान पथो के भेद से अवस्थित रहते है। अतीतादि परस्पर अत्यन्त विरुद्ध धर्मो का, किसी एक ही धर्मो मे अवस्थान असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु ये तीनो धर्म एक ही धर्मी मे कालभेद से रह सकते है। अतः कोई विरोध नही है।

इस विषय मे इतनी विशेषता अवश्य है कि वर्तमान अध्वसम्पन्न पदार्थ जिस प्रकार द्रव्य रूप से दृष्टिगोचर होता है, उस प्रकार अतीत एव अनागत अध्वयुक्त पदार्थ नही दिखलाई देते है। अनागत वस्तु अपने व्यग्य या भवितव्य स्वरूप से स्थित रहता है और अतीत अनुभत अभिव्यक्ति वाले रूप से विद्यमान रहता है। अतः एकमात्र वर्तमान अध्वस्थ द्रव्य की ही स्वरूपाभिव्यक्ति होती है। अतीत एव अनागत की सत्ता रहने पर भी उनकी स्वरूपाभिव्यक्ति नही होती है। परन्तु इससे उनका अभाव नही समझना चाहिये। किसी धर्म के वर्तमान अध्वकाल मे अन्य दोनो अर्थात् अतीत एव अनागत अध्व-भाव धर्मी मे ही समन्वित रहते है। वे सर्वथा सत्ताहीन नही है।

अवर्तमान का अर्थ है किसी वस्तु का लक्षित न होना। जिस वस्तु को हम देख नही सकते उसके लिये अनागत अथवा अतीत का व्यवहार करते है। किन्तु सूक्ष्मता के कारण हमारे ज्ञानगम्य नही है, वही अनागत अथवा अतीत है। पिछले सूत्र मे वासना का जो अभाव बतलाया गया है, उसका अर्थ केवल वासना का अपने कारण मे प्रलीनभाव है, अत्यन्त अभाव नही। वासनाएँ प्रलीन होकर दुबारा कभी ज्ञानगम्य नही होती, यही अभीष्ट है।

मूल धर्मी प्रधान-प्रकृति है। विश्वगत सम्पूर्ण प्रपच के विविध धर्म उसी के विजृम्भणमात्र है। इस विषय मे श्री वाचस्पति मिश्र ने सन्देह व्यक्त किया है कि असख्य प्रकार के धर्म असख्यादिपरिणाम एक ही प्रधान धर्मी से किस प्रकार

सम्भव है, क्योकि मूल-प्रकृति तो सबका उपादानभूत सामान्य कारण है, कारण के वैलक्षण्य बिना कार्य की विलक्षणता असम्भव है, ऐसा नियम है।

इसका उत्तर यह है कि वे पूर्वोक्त व्यक्त और सूक्ष्म धर्म गुणात्मक है अर्थात् त्रिगुण-स्वरूप ही है[1]। अतः कोई दोष नही है। त्रिगुण की विलक्षणता से विश्वभेद सम्भव है और मूल प्रकृति त्रिगुणस्वरूप ही है।

तीन पथो के भेद से प्रतीयमान धर्मो मे वर्तमान धर्म व्यक्त होते है और अतीत तथा अनागत काल मे सूक्ष्म अवस्थावश अव्यक्तभाव से अवस्थित रहते है। ये सूक्ष्म अवस्थाक धर्म षडविशेषस्वरूप है[2]।

वर्तमान अध्वस्थ व्यक्त धर्म ही षोडष विकार होते है, अर्थात् पचभूत और एकादशेन्द्रिय। जिनका व्यक्तभाव विलीन हो गया है, अथवा जो आगे व्यक्त भावापन्न होगे, वे धर्म ही क्रमशः अतीत एव अनागत सूक्ष्मस्वरूप धर्म है। तात्विक दृष्टि से षडविशेष या पचतन्मात्र और अस्मिता ही सूक्ष्म धर्म है। अतात्विक उदाहरण स्वरूप मृत्पिण्ड मे पिण्डत्व धर्म व्यक्त, चूर्णत्व धर्म अतीत और घटत्व धर्म अनागत है। यहाँ चूर्णत्व और घटत्व धर्म सूक्ष्म है।

निखिल प्रपच गुणो का सयोग-विशेष-मात्र है। पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि यह सब गुणो का ही खेल है। पचभूतात्मक निखिल प्रपच पचतन्मात्रात्मक है। पचतन्मात्र व एकादशेन्द्रियगण अहकारतात्मक, अहकार महतत्वात्मक, महत्तत्व प्रकृत्यात्मक तथा प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। अतः परम्परया समस्त व्यक्त एव अव्यक्त प्रपच त्रिगुणात्मक ही है। इस दृष्टि से महर्षि पचशिखाचार्य ने कहा है कि—

"गुणो" का वास्तविक रूप दृष्टिगोचर नही होता। उनका जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, अर्थात् व्यक्त है, वह माया के समान अत्यन्त तुच्छ है[3]।"

"ते व्यक्तसूक्ष्माः गुणात्मानः", प्रसगगत इस सूत्र की व्याख्या करते हुए

---

१. "ते व्यक्त सूक्ष्मा गुणात्मान" (यो० सू० ४/१३)

२ अविशेषो का विवरण "पञ्चक्लेश तथा उनके निवारण के उपाय" शीर्षकगत यो० सू० २/१९ की व्याख्या मे द्रष्टव्य है।

३ "गुणाना परमरूप न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथ प्राप्त तन्मायेव सुतुच्छकम्" ॥ (व्या० भा० ४/१३)

भाष्यकार व्यास ने अतीत एव अनागत की चर्चा की है, जिसमे अतीत एव अनागत धर्मो को उन्होने "षडविशेष" स्वरूप बतलाया है, जो पचतन्मात्रो मे अहकार को मिलाने से पूर्ण हो जाते है। क्योकि ये छः ही शान्त, घोर व मूढ नही होते है।

इस सूत्र की व्याख्या मे श्री विज्ञानभिक्षु ने व्यास भाष्यगत "षडविशेषाः" इस पाठ को प्रामादिक[1] बतलाते हुए कहा है कि जब घटपटादिपर्यन्त समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक है, तब भाष्यकार का छ पदार्थो को त्रिगुणात्मक बतलाना युक्ति-सगत नही है। —ऐसा प्रतीत होता है कि वार्त्तिककार को वास्तविकता समझने मे कुछ भ्रम हो गया है, क्योकि व्यास जी ने जिन छः अविशेषो का नाम लिया है, वे त्रिगुणात्मक भले ही हो, पर उन्होंने उनकी अविशेषता को प्रधानता दी है, यह नही कहा है कि ये छः ही त्रिगुणात्मक है। उनका यह कथन, कि जब घटपटादि समस्त जागतिक पदार्थ त्रिगुणात्मक है, तब "षडविशेष" ही क्यो त्रिगुणात्मक बतलाए गए, और भी भ्रमात्मक है, क्योंकि इस प्रकार तो षडविशेषो की भी विशेष पदार्थो मे गणना की जा सकती है, जो सर्वथा अनुचित है। षडविशेषो का उल्लेख तो अतीत एव अनागत धर्मो की विशेष-व्यक्तभाव-शून्यता प्रदर्शित करने के लिये ही किया गया है। फिर घटपटादि विशेषभावापन्न जागतिक पदार्थो की त्रिगुणात्मकता का व्यास जी ने निषेध तो किया नही है। उन्होने तो स्पष्ट ही "सर्वमिद गुणाना सन्निवेश विशेषमात्रमिति परमार्थतो गुणात्मानः" उक्ति से अविशेष और सविशेष सम्पूर्ण पदार्थो को त्रिगुणात्मक ही कहा है। यदि विशेषो के लिये इस प्रकार त्रिगुणात्मकता का स्पष्ट उल्लेख न भी किया होता तो भी पचभूतात्मक सकल विशेष पदार्थ, अविशेषान्तर्गत त्रिगुणात्मक पचतन्मात्र का परिणाम होने से, त्रिगुणात्मक तो है ही। इस प्रकार भाष्यकार व्यास के कथन मे कोई न्यूनता नही प्रतीत होती है।

---

१ योगवार्तिक सू० ४/१३।

## (५) वस्तु के तत्वों का परिणामों की एकता पर आश्रय।

पिछले शीर्षक मे सम्पूर्ण वस्तुओ की त्रिगुणस्वरूपता का प्रतिपादन किया गया है । जब सभी पदार्थो मे सभी अर्थात् तीनो गुण विद्यमान है, तो फिर एक "शब्द तन्मात्र" या एक ही (नेत्र या कर्ण) इन्द्रिय—इस प्रकार का एक बुद्ध्यात्मक व्यवहार कैसे होता है ? भाष्यकार व्यास ने उपर्युक्त शका उठा कर, उसके समाधान के रूप मे महर्षि पतजलि का—"परिणामैक त्वाद्वस्तुतत्वम्"[१]—यह सूत्र अवतरित किया है, अर्थात् (गुणो के)–परिणामो की एकता से वस्तुभूत तत्व का भी एकत्व होता है। अतः वस्तु के तत्वो की एकता परिणामो की एकता पर आश्रित है। परिणामो की एकता का अर्थ है एक जातीय परिणाम होना।

प्रत्येक वस्तु परस्पर अत्यन्त विरुद्ध त्रिगुणो का कार्य है। सत्वगुण लघु एव प्रकाशक, रजोगुण क्रियाशील एव उत्तेजक तथा तमोगुण भारी एव आवरक होता है । फिर भी इन तीनो की प्रवृत्ति मिल कर किसी एक ही लक्ष्य की पूर्ति हेतु होती है, जैसे दीपक मे ज्योति, तैल और वर्त्तिका तीनो मिल कर दीपक को प्रकाशित करने का कार्य सम्पन्न करते है[२]। अथवा रूमा या नमक की खान मे प्रक्षिप्त, हाथी, घोडा, गाय आदि विभिन्न पदार्थ जिस प्रकार एक ही नमक रूप परिणाम को प्राप्त होते है, उसी भाँति परस्पर विरुद्ध त्रिगुण से प्रधान गुण के अनुपातानुसार कोई एक ही परिणाम होता है।

किसी एक ही गुण के प्रधान्यानुसार परिणाम होता है, जैसे सत्व, रज एवं तम का लिगमात्र विषम परिणाम सत्व या महतत्व है। उसी प्रकार सत्व की प्रधानतापूर्वक अहवृत्तिक भेद-युक्त (महत् की अपेक्षा) किचित अधिक विषम परिणाम अहकार होता है। इसी भाँति अहकार से सत्व-प्रधान त्रिगुण-द्वारा विषम परिणाम स्वरूप एक श्रोत्रादि इन्द्रिय उत्पन्न होती है। इस अहंकार के ही सत्व प्रधान अश से मन, रजःप्रधान अश से ज्ञानेन्द्रियाँ और तमःप्रधान अश से कर्मेन्द्रियो की उत्पति

---

१. यो० सू० ४—१४।

२ "सत्व लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भक चलचरज ।
गुरुवरणकमेव तम प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति" ॥ (ई० कृ० साख्यकारिका १३)

होती है। उसी अहकार से इन्द्रियो की अपेक्षा अधिक तामसिक अश से पचतन्मात्र उत्पन्न होते है। इन पच-तन्मात्रो मे भी गुणो के परस्पर न्यूनाधिक्यवश ही परस्पर भेद होता है। उत्तरोतर अधिक गुणो की अभिवृद्धि होती है। जैसे अहकार से परिणत शब्द तन्मात्र मे तन्मात्र का केवल शब्दात्मक अश है। स्पर्श मे शब्द-स्पर्श दोनो है, रूप मे शब्द, स्पर्श, रूप तीनो है, रस मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस चार गुण है और गन्ध-तन्मात्रो मे गन्ध का प्रधान्य होने पर भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पॉचो गुण हैं। तन्मात्रो से जब भूत-परिणाम होता है, तो गन्ध तन्मात्र से पृथ्वी परिणाम मे गन्ध गुणक पृथ्वी परमाणुओं की प्रधानता होने पर भी, उसमे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पॉचो होते है। फिर भी काठिन्यादि पृथ्वी के गुणो की प्रधानता से व्यवहार रूप मे वह एक ही पृथ्वी परिणाम कहलाता है। इसी प्रकार भूतान्तरो मे भी सर्वत्र समझ लेना चाहिये। इस प्रकार वस्तु के तत्वो की एकता का व्यवहार परिणाम की एकता पर निर्भर है।

भौतिक-विज्ञान के अनुसार भी इस विषय को सुगमतापूर्व समझा जा सकता है। तदनुसार भौतिक सघातो का परिणापभूत कोई भी द्रव्य एक रूपमे दिखलाई देता है, जिससे उसके एकत्व का व्यवहार होता है। पर उसे तोडने पर उसके भौतिक एव रासायनिक अवयवो को अलग किया जा सकता है। ये अवयव अणु (Molecules), परमाणु (ऐटम्स), इलेक्ट्रॉनुस और प्रोटोन आदि होते है[1]।

अन्ततोगत्वा उक्त अणु, परमाणु और उनके विभाग आदि विभिन्न प्रकार

---

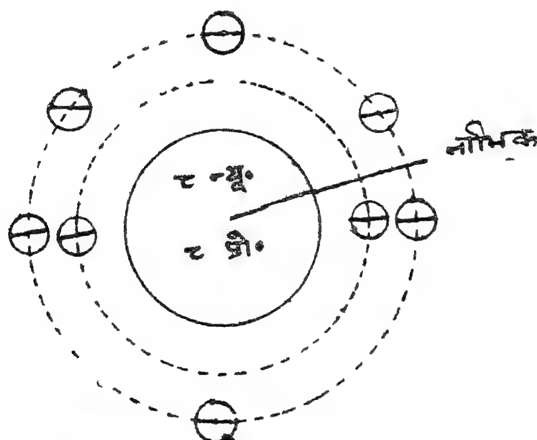
१. आधुनिक परमाणुवाद के अनुसार पदार्थ का अन्तिम कण परमाणु नही है। अणु किसी भी पदार्थ का वह सूक्ष्मतम अश है, जो स्वतत्र अवस्था मे रह सकता है। परमाणु अणु का भी सूक्ष्म विभाग है। यह स्वतत्र अवस्था मे नही रह सकता। लार्ड रदरफोर्ड के सिद्धान्तानुसार परपाणु केन्द्र धनावेशयुक्त ( पौजिटिव्ली चार्ज्ड ) होता है, जो कि दो प्रकार के कणो, प्रोटॉन और न्युट्रान से मिलकर बनता है। प्रोटॉन इकाई धनावेशयुक्त (पौजिटिव्ली चार्ज्ड) और न्यूट्रान विद्युत्-उदासीन ( इलेक्ट्रिकली न्यूट्रल) होता है। नाभिक ( Nucleus ) के धनावेश को उदासीन करने के लिये, इसके (नाभिक के) चारो ओर निश्चित पथो मे, प्रोटानों की बराबर सख्या मे, ऋणा-वेशयुक्त (निगेटिव्ली चार्ज्ड ) इलेक्ट्रॉन घूमते रहते है। इन इलेक्ट्रॉनो के ऋणावेश, प्रोटॉनो के धनावेशो का उदासीनीकरण कर देते हे और परमाणु विद्युत्-उदासीन हो जाता है। परमाणु की उपर्युक्त बनावट का स्पष्टीकरण आक्सीजन-परमाणु के चित्र द्वारा किया जा रहा है —

(शेष आगामी पृष्ठ पर)

की भौतिक शक्तियो और गतियो मे विभक्त हो जाते है। यदि हम वास्तविक दृष्टि से इस तथ्य पर विचार करे कि द्रव्य और शक्ति परस्पर परिवर्तनीय है, तो कोई भी द्रव्य इस नियम से अछूता नही छूटेगा। सम्पूर्ण दृश्य, जो कुछ भी हम देख सकते है, केवल विभिन्न प्रकार की शक्तियो और असाधारण, विचित्र तथा रहस्यपूर्ण गतियो का ही खेल है। परमाणु के केन्द्रभूत नाभिक की प्रकृति के विषय मे अभी विज्ञान को पूर्ण निश्चित जानकारी नही है। फिर भी इस दिशा मे जो अनुसन्धान हो रहे है, उनसे अधिकाश मे यही सम्भावना है कि यह भी विभिन्न गतियो का यौगिक मात्र सिद्ध होगा। अतः जहाँ तक आधुनिक विज्ञान की पहुँच है, वह इस यौगिक सिद्धान्त के इस तथ्य का ही समर्थक है कि प्रत्येक चित्त एव प्रत्येक वस्तु, जिसका हम इन्द्रियो के द्वारा मस्तिष्क से अनुभव करते है, तीनो गुणो की एक अपूर्व विकृत-मात्र

---

(गत पृष्ठ का शेषाश)




आक्सीजन-परमाणु का चित्र

चित्र मे प्रो०=प्रोटॉन, न्यु०=न्यूट्रान, ⊖ –इलेक्ट्रॉन और - - –इलेक्ट्रान के भ्रमण का मार्ग।

नोट —बगाली बाबा ने अपने "पातजल-योगसूत्र" मे पृ० ७८ पर पचतन्मात्रो को भौतिक विज्ञानियो के इलेक्ट्रॉन तथा अहकार को प्रोटॉन बतलाया है। अत अभी तक के अन्वेषणो के आधार पर "अविशेष गुण पर्व" भौतिक-विज्ञान की अन्तिम सीमा है। इसके आगे सृष्टीक्रम को भौतिक विज्ञानवादी रहस्यात्मक कह कर छोड देते है, किन्तु उसके आगे भी कोई शक्ति विशेष है, यह आज के वैज्ञानिको को भी मान्य है। तन्मात्र इलेक्ट्रॉन आदि जातीय कोई पदार्थ नही है, इस मत के सविस्तार प्रतिपादन के लिये, द्र०—"तन्मात्र तथा विश्व का मनोमय मूल"।

या रूपान्तरमात्र है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि सूत्रार्थ का सार, सूत्रगत "एकत्वात्" शब्द मे ही निहित है, जिसका अर्थ यहाँ एकता (वन्नेस) नही, वरन अपूर्वता या विशेषता है[1]।

वस्तुतत्व की सत्ता के प्रस्तुत प्रसग मे प्रसगवश भाष्यकार श्री व्यास ने बिना नाम-निर्देश के विज्ञानवादी वैनाशिको (बौद्धो) के मत का खडन किया है। यद्यपि सूत्रकार ने इसका कोई सकेत नही किया है।

विज्ञानवादी बौद्ध बाह्य वस्तु की सत्ता का अपलाप करते है। उनका कथन है कि विज्ञान का असहभावी कोई भी अर्थ (वस्तु) नही है, अर्थात् विज्ञान की अनुपस्थिति मे किसी भी बाह्य वस्तु की उपलब्धि नही होती है। परन्तु बाह्य वस्तु की अनुपस्थिति मे, स्वप्नादिकाल मे, विज्ञान (बाह्य वस्तु का ज्ञान) होता है। अतः बाह्य-वस्तु स्वप्न की भाँति विज्ञान की कल्पनामात्र है। कोई सद्वस्तु नही है।

इस युक्ति का खडन करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि—स्वप्नादि की अवस्था मे अवभासित पदार्थो की प्रतीति, निद्रादि दोषो के कारण होती है। स्वप्न-ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्पजन्य नही है, अतः वह अलीक है। किन्तु जाग्रतावस्था का ज्ञान तो इस प्रकार के दोषो से रहित तथा पदार्थ के साथ इद्रिय सन्निकर्प से उत्पन्न होता है। समस्त प्रमाणो का आधार प्रत्यक्ष–प्रमाण है। अतः नित्य प्रति इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष-प्रमाण से प्राप्त बाह्यार्थ का अपलाप करने वाले कदापि विश्वसनीय नही हो सकते, अर्थात् बाह्यार्थ सद्वस्तु है, स्वप्नतुल्य अलीक नही।

इसके अतिरिक्त विज्ञानवादियो की उक्त युक्ति न्यायसगत नही है, क्योकि वस्तु के एक रहने पर भी चित्तभेद होने से, उन दोनो, वस्तु और ज्ञान (चित्त), का मार्ग भिन्न है[2]। अनेक चित्तो का विषयीभूत घट, स्त्री आदि बाह्य पदार्थ एक रहने पर भी, उस विषय के प्रति विभिन्न चित्तो मे विभिन्न भाव उत्पन्न होने से, चित्त एव उसी वस्तु को भिन्न सत्ता सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ एक स्त्री अनेक चित्तो का विषय है। वह स्त्री अनेक चित्तो के लिये सर्व-साधारण है, क्योकि प्रत्यभिज्ञा से उसका एकत्व जाना जाता है। "जिस स्त्री को तुमने देखा उसी को मै भी देख रहा हूँ," इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा उस स्त्री के विषय मे देखी जाती है। इससे उसका सर्व-साधारणत्व सिद्ध है। उस स्त्री रूप विपय के सर्व-साधारणत्व से सिद्ध होता है

१ साइन्स आफ योग—पृ० ४१०

२ "वस्तुसाम्येचित्तभेदात्तयोर्विभक्त पन्था।" (यो० सू० ४-१५)

कि वह न तो किसी एक चित्त-द्वारा कल्पित पदार्थ है, न अनेक चित्तो द्वारा कल्पित है, वरन् अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित है। वह स्त्री रूप विषय एक होने पर भी उसके विषय मे विज्ञान भिन्न-भिन्न है[1]। उसी एक रूपवती स्त्री रूप आलम्बन से, धर्म रूप निमित्तवश पति को सुख-प्राप्ति, अधर्म के आश्रयभूत सपत्नी को दुःखानुभव, अविद्या-पेक्ष कामी को विमूढ-भाव तथा तत्वदर्शी मे उसी से उपेक्षा भाव की जागृति होती है। इस प्रकार वस्तु वही रहने पर विज्ञानभेद होने से विज्ञान से वस्तु की भिन्न सत्ता सिद्ध होती है।

यदि बाह्य विषय विज्ञानस्वरूप ही होता तो विज्ञानभेद के अनुसार विषय भी अनेक होने चाहिये, किन्तु प्रत्यभिज्ञा-द्वारा विषय की एकता सर्वानुभव-सिद्ध है। अतः विज्ञान का विषयीभूत बाह्य पदार्थ विज्ञान से भिन्न सद्वस्तु है, विज्ञान की परिकल्पनामात्र नही।

प्रथम तो यदि वस्तु की चित्त से भिन्न सत्ता न होती, तो वह वस्तु (स्त्री) अनेक चित्तो का विषय नही बन सकती थी। यदि उसे विज्ञानाभिन्न चित्त परिकल्पनामात्र ही माने तो वह उन सबमे से किस चित्त-द्वारा कल्पित मानी जायेगी ? फिर किसी एक चित्त की कल्पना मानने पर अन्य चित्तो का किसी एक चित्त की कल्पना-द्वारा उपरजनयुक्त नही है, क्योकि कल्पना जिस चित्त की होती है, उसी का वह विषय बन सकती है, अन्य चित्तो की नही। जिस स्वप्नादि ज्ञान के आधार पर विज्ञानवादी पदार्थ को विज्ञानस्वरूप मानते है, उस स्वप्नज्ञान का आभास किसी एक ही चित्त को होता है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति को कोई एक ही स्वप्न नही दिखाई देता है। अतः वह वस्तु किसी एक चित्त की कल्पना नही हो सकती है।

यदि यहाँ उस स्त्री रूप पदार्थ को अनेक चित्तो से परिकल्पित माने तो वह एक नही अनेक होनी चाहिये। किन्तु सब चित्तो-द्वारा एक ही स्त्री की प्रत्य-भिज्ञा से विषय-एकत्व का प्रतिसधान सर्व-सिद्ध है। अतः इस दृष्टि से भी ज्ञान और विषय भिन्न सिद्ध होते है, जो एक है वह अनेको से भिन्न सत्ता रखता है। जिस प्रकार एक रक्त वर्ण-ज्ञान अनेक नील–पीतादि वर्ण-ज्ञानो से भिन्न है।

साराश यह है कि वस्तु (विषय) और ज्ञान (विषयी) दोनो सर्वथा भिन्न सत्तावान् है। इन दोनो मे परस्पर साकर्य की गन्ध भी नही है। ज्ञान और ज्ञेय

---

१ यहाँ पर चित्त, ज्ञान, विज्ञान और बुद्धि एक अर्थ में प्रयुक्त हुए हे।

सकर की सम्भावना कदापि नही हो सकती। नील-पीतादि विषयो का ज्ञान अवश्य चित्त के ही परिणाम है। किन्तु जागृतावस्था मे इन्द्रिय-सन्निकर्ष-द्वारा किसी बाह्य विषय के आश्रय से ही चित्त परिणत होता है, स्वयमेव परिणत होकर नील-पीतादि ज्ञानोत्पत्ति नही करता।

यदि कोई यह आशका करे कि सर्व चित्त सामान्य एक ही विषय से विभिन्न चित्तो मे विभिन्न ज्ञान रूप परिणाम किस प्रकार होता है, क्योकि अविलक्षण कारण से कार्य मे विलक्षणता नही देखी जाती, तो इसका उत्तर यह है कि सांख्ययोग-मत मे समस्त पदार्थ त्रिगुणस्वरूप माने गए है गुणवृत्त सर्वदा चचल है। सुख-दुःख एव मोह त्रिगुण के धर्म होने से, प्रत्येक-वस्तु मे सुख, दुःख एव मोह के बीज विद्यमान है। अतः विषय मे त्रिगुण विद्यमान रहने से वह विषय (स्त्री) धर्म-अधर्मादि निमित्त की अपेक्षा से निमित के अनुरूप विभिन्न चित्तो मे सुखात्मक-दुःखात्मक अथवा मोहात्मक ज्ञान की उपलब्धि मे हेतु बनता है, जैसा कि पहले रूपवती स्त्री के दृष्टान्त से प्रदर्शित किया जा चुका हे। फिर भी विभिन्न चित्तो मे विभिन्न ज्ञानोत्पादक होने पर भी, विषय एक ही है, अनेक नही और वह चित्त से भिन्न सद्वस्तु है, कल्पित पदार्थ नही। यदि उसे विज्ञान-कल्पना-प्रसूत ही माना जाय, तो जिस समय चित्त उस विषय को छोड कर विपयान्त्र की कल्पना करता है, उस समय वस्तु की सत्ता नही होनी चाहिये। पर विषयान्तर चिन्तन-काल मे भी वह वस्तु अभावापन्न नही होती, यह सर्व-विदित है। अतः ज्ञेय और ज्ञान भिन्न है।

× × ×

किसी-किसी के मत मे अर्थ (वस्तु) विज्ञान का सहवर्ती हे, अर्थात् ज्ञान के साथ ही विपय उत्पन्न होता हे और विज्ञान के साथ ही नष्ट हो जाना ह, क्योकि वह भोग्य है। जैसे सुख-दुःखादि भोग्य मानस भावो का ज्ञानकाल मे ही अस्तित्व होता है। इस प्रकार कहने वाले सर्वानुभूत के विषयीभूत बाह्यार्थ को अस्वीकार करके ज्ञानोत्पत्ति से पूर्वोत्तर काल मे वस्तु के स्वरूप का ही अपलाभ करते है। यह मत भी श्रद्धास्पद नही प्रतीत होता। वस्तु किसी एक ही चित के अधीन नही होती हे, क्योकि यदि वस्तु को किसी एक चित्त के आधीन माना जाएगा, तो जिस समय वह वस्तु चित्त-रूप प्रमाण का विषय नहीं होगी या ज्ञान-गोचर नही होगी, उस समय वह (वस्तु) क्या होगी ? जैसा कि सूत्रकार पतजलि ने कहा है कि—

"न चैकचित्ततन्त्र वस्तु तदप्रमाणक तदा कि स्यात्"[1] तात्पर्य यह है कि जिस समय चित्त पूर्वोक्त स्त्रीरूप विषय को छोड कर घट-पटादि विपयान्तरो का चिन्तन करने लगेगा, उस समय उस स्त्री को क्या माना जाएगा ? क्या यह माना जाएगा कि वह स्त्री उत्पन्न ही नही हुई, अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो गई ? यदि नप्ट माना जाय तो चित्त दुबारा उससे सम्बद्ध होने पर वह कहाँ से आ गई ? अतः इन युक्तियो मे कोई सार नही है। यदि चित्त किसो समय किसी वस्तु विशेप को विपय नही करता, इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि उस वस्तु की ससार मे सत्ता ही नही है। अन्यथा क्या जिस समय चित्त उस स्त्री के पृष्ठ मात्र को विषय करता है, उस समय उसे उदर एव मुखादिविहीन माना जाएगा। अतः किसी काल विशेष मे किसी वस्तु-विशेष अथवा किसी वस्तु का अ श-विशेष अज्ञात रहने से, उस वस्तु (या अ श) के अस्तित्व को नकारा नही जा सकता।

स्पष्ट है कि बाह्य-वस्तुओ की स्वतन्त्र सत्ता है और वे (वस्तुएँ) सर्व साधारण के विषय है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तिगत चित्त भी स्वतत्र सत्तावान् है। इस स्वतत्र सत्तायुक्त पदार्थो एव चित्तो के परस्पर स्वतत्र ससर्ग से प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग भोग सम्पन्न होता है।

---

१. यो० सू० ४-१६।

टिप्पणी —श्री भोज ने इस सूत्र को अलग सूत्र नहीं माना हे। फिर भी इसम उत्थित शका का समाधान उन्होने अपनी वृत्ति में किया हे।

## (६) वस्तु की ज्ञातता और अज्ञातता ।

चित्त मे किसी विषय ( वस्तु ) का प्रतिविम्ब पडने पर ही उसका ज्ञान होता हे । अतः चित्त को वस्तु के उपराग की अपेक्षा रहने से ( चित्त को ) वस्तु कभी ज्ञात तथा कभी अज्ञात रहती है[1] । बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता पहले ही सिद्ध की जा चुकी है, फिर भी विपक्ष से यह शका की जा सकती है कि यदि बाह्य-पदार्थ स्वतन्त्र है, तो वह जड-स्वभाव है, अथवा चेतन-स्वभाव । यदि वह जड-स्वभाव-युक्त है, तो वह सर्वदा अज्ञात रहना चाहिये और यदि उसका स्वभाव चेतन हो तो वह सर्वदा ज्ञात ही रहना चाहिये, क्योकि वस्तु कभी अपने स्वभाव का परित्याग नही करती है । किन्तु चित्त के बाह्य विषय-सापेक्ष होने से उक्त शका भी निरस्त हो जाती है ।

यद्यपि बाह्यार्थ जड-स्वभाव है, फिर भी चित्त को उसके उपरजन की अपेक्षा रहने से, वह कभी ज्ञात और कभी अज्ञात रहता है अतः कोई दोप नही है । समस्त विपय ( बाह्यार्थ ) अयस्कान्त मणि ( चुम्बक ) के समान अयः सधर्मी चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करते है, जिससे इन्द्रिय-सन्निकर्प-द्वारा चित्त उपस्थित विषय-कार मे परिणत हो जाता है । यह चित्त का विषयोपराग कहलाता हे । चित्त जिस विषय से उपरक्त होता है, उस समय उसी विषय का उसे ज्ञान होता है, अन्य वस्तुओ का नही । विषयान्तर से उपरजनकाल मे वह पुनः अज्ञात हो जाता है । अतः वस्तु की ज्ञातता और अज्ञातता से ही चित्त विपयान्तर-ग्रहण-रूप परिणाम को प्राप्त करता है । चित्त के परिणाम का अर्थ यह नही है कि चित्त निरन्तर नवीन वस्तुओ का प्रसव करता है ।

वस्तु से इन्द्रिय-सन्निकर्ष के द्वारा चित्तोपराग के अतिरिक्त, किसी पूर्वानुभूत विषय के सदृश पदार्थज्ञानरूप सहकारी कारण उपस्थित होने पर, सस्कारो के उद्बोध द्वारा भी, उस वस्तु का स्मृतिजन्य ज्ञान होता है ।

चित्त के द्वारा सब वस्तुओ का ज्ञान होता है, किन्तु जिस पुरुप के प्रतिबिम्ब से चित्त चेतनवत् अन्य विषयो को ग्रहण करने मे समर्थ होता है, उस ( पुरुष )

---

१ "तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तुज्ञाताज्ञातम्" (यो० सू० ४-१७)

मे परिणामित्व की आशका नही करनी चाहिए। चितिशक्ति चित्त से विभिन्न और सर्वदा अपरिणामी है। जिस चेतन-स्वरूप पुरुष का वह चित्त स्वय ही दृष्य-भूत या विषय है, उसे चित्त की वृत्तियाँ तो सर्वदा ज्ञात (प्रकाशित) ही रहती है, क्योकि उस (चित्त) का स्वामी सदा द्रव्य पुरुष अपरिणामी है[1]। चित्त के विषय शब्द-स्पर्शादि है, जो उसे कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होते है, क्योकि चित्त को स्वविषयोपराग की अपेक्षा रहती है और वह क्षण-क्षण विषयान्तरो मे परिणत होता रहता है। चित्त की अत्यन्त व्यग्रावस्था मे कभी कभी उसके विषय विद्यमान रहने पर भी उसे उनका स्पष्ट बोध नही होता है। पुरुष का विषय है—वृत्ति सहित चित्त। उस चित्त का, उसकी प्रमाणादि वृत्तियो सहित, पुरुष को सर्वदा ज्ञान रहता है। प्रमाणादि किसी भी वृत्ति को "मै जान रहा हूँ", इस प्रकार का बोध पुरुष को सर्वदा होता रहता है। इस प्रकार के बोध मे "मै" इस प्रकार का अह प्रत्यय ही पौरुष प्रत्यय है। कोई वृत्ति हो, किन्तु पुरुष को उसका ज्ञान न हो, ऐसा कदापि सम्भव नही। चित्त विषयाकार मे परिणत होकर क्षण-क्षण परिवर्तित होता रहता है। पुरुष को चित्तगत इन परिणामो का सर्वदा ज्ञान रहता है। पुरुष किसी वस्तु के ज्ञान-हेतु विषयाकार मे परिणत नही होता, क्योकि वह अपरिणामी है।

यदि पुरुष भी चित्त के समान परिणामी होता, तो उसकी विषय स्वरूपा चित्तवृत्तियाँ भी, कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती, किन्तु पुरुष के सर्व-ज्ञातृत्व का कभी भी व्यभिचार नही देखा जाता। इससे उसकी अपरिणामिता सिद्ध होती है। चित्त स्वय चिति (पुरुष) के चैतन्य से ही चेतनवत् प्रतीत होता है। पुरुष-चैतन्य के प्रतिविम्ब से वह शब्द, स्पर्श या घट-पटादि विषयो को ग्रहण करने मे समर्थ होता है। इस शास्त्र मे इन्द्रिय-प्रणाली-द्वारा उत्पन्न विषयाकारा वृत्ति प्रमाण कहलाती है[2]। वह वृत्ति पुरुष के चैतन्य से प्रकाशित रहती है। यदि वह स्वय अप्रकाशित हो तो अपने विषयभूत घटादि के प्रकाशन मे समर्थ नही हो सकती, अर्थात् वह चित्त-वृत्ति, चेतन पुरुष से प्रकाशित होकर अपने विषयो का प्रकाश करती है। वह (चेतन) अपरिणामी है, अतः पुरुष-चैतन्य सर्वदा वर्तमान रहता है। इसी से उसे चित्तवृत्तियाँ भी सदा ज्ञात ही रहती है।

चित्त की व्यग्रावस्था मे, चित्त के विषय उसके समक्ष उपस्थित होने तथा

१ "सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तस्तत्प्रभो पुरुषस्यापरिणामित्वात्" (यो०सू० ४-१८)

२ "इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्यबाह्यवस्तूपरागान्त द्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाणम्"। (व्या०भा०सू० १-७)

उनसे क्षणिक परिणाम पाने पर भी, उनका भान कभी-कभी चित्त को नही होता। किन्तु पुरुष को उसकी ( चित्त की ) व्यग्रावस्था का और उसके कारण न भासित होने वाले विषयो का भी ज्ञान हो जाता है। चित्तगत ज्ञान (वृत्ति) से पौरुषेय ज्ञान भिन्न है। चित्त के इस प्रकार के अज्ञात परिणामो की प्रामाणिकता आज कल के हिप्नोटिज्म के प्रयोगो से भी सिद्ध होती है। इस प्रकार अज्ञातरूप मे होने वाले चित्त के परिणामो के सस्कार सम्मोहित अवस्था मे उद्‌बोधित हो उठते है। अतः पात्र उन परिणामो के विषय मे पूर्ण विवरण देता है[1]।

स्पष्ट है कि चित्त स्वय चाहे अपने अन्दर होने वाले परिवर्त्तनो से अनभिज्ञ रहे, फिर भी पुरुष को उसमे होने वाले परिणामो अर्थात् उसकी वृत्तियो का सर्वदा ठीक-ठीक ज्ञान रहता है, क्योकि वह नित्य चेतन एव शाश्वत है। उसकी चेतना का कभी भी व्यभिचार नही देखा जाता, जिससे उसकी अपरिणामिता सिद्ध होती है

---

१ साइन्स ऑफ योग—पृ० ४१५।

## (७) चित्त का दृश्यभाव।

पुरुष नित्य चैतन्यस्वरूप है। उसके प्रतिबिम्ब से चेतनवत् चित्त अपने विषयो को प्रकाशित करता है। योग के उक्त सिद्धान्त के विषय मे वैनाशिक मतावलम्बियो की आशका हो सकती है कि अग्नि की भाँति चित्त स्वय ही अपना तथा अपने विषयो का प्रकाशक हो सकता है, ( फिर पुरुष को मानने की क्या आवश्यकता है ? )। इसका उत्तर यह है कि चित्त स्वप्रकाश नही हो सकता है, क्योकि वह दृश्य है[1]।

जो दृश्य होता है, वह स्वप्रकाश नही हो सकता। जैसे शब्द, स्पर्शादि, बिषय इन्द्रिय के दृश्य (दूसरे द्वारा देखे जाने योग्य, प्रकाश के योग्य) होने से स्वप्रकाश नही है। दृश्य स्वप्रकाश नही होता—यह उभयपक्ष को मान्य है। द्रष्टा से दृश्य अत्यन्त भिन्न वस्तु है। चित्त के सम्बन्ध मे अग्नि का दृष्टान्त उपयुक्त नही है, क्योकि अग्नि अप्रकाश आत्मस्वरूप को प्रकाशित नही करता है अर्थात अग्नि स्वय अपने स्वरूप-बोध मे असमर्थ है। अग्नि के स्वरूप का प्रकाश, प्रकाश्य एव प्रकाशक के सयोग से जन्य है, जो अग्नि के स्वरूप मात्र मे सम्भव नही है। सयोग किन्ही दो वस्तुओ का ही होता है। यदि अग्नि से अग्नि का ज्ञान मानें, तो इसका अर्थ है—अग्नि का अग्नि सयोग। सयोग द्विष्ठ है, यह सर्वसिद्ध है। अग्नि अपने आपको विषय नही वना सकती (अग्नि स्वय को प्रकाशित नही करती) अतः वह स्वप्रकाश नही हो सकती है। प्रकाश का अर्थ यहाँ केवल आलोक नही, वरन् ज्ञातृत्व भी है। अग्नि आलोकवान् है, किन्तु ज्ञाता नही। जिस प्रकार अन्य समस्त विषयो का ज्ञान, ज्ञाता या द्रष्टा के सयोग से होता है, उसी प्रकार आलोकरूप अग्नि का ज्ञान भी किसी अन्य चेतन द्रष्टा के सयोग द्वारा ही होता है।

यदि "मै अग्नि हूँ", इस प्रकार अग्नि-द्वारा अग्नि-स्वरूप का ज्ञान होता, साथ ही अग्नि अन्य सब विषयो का प्रकाश और ज्ञाता होती, तब उसे स्वप्रकाश मानना युक्तिसगत माना जा सकता था, किन्तु वह आलोकस्वरूप होने पर भी जड है। वस्तुतः वह पुरुष के ज्ञान या प्रकाश से ही प्रकाशित होती है, स्वतः नही,

---

१ "मतत्स्वाभास दृश्यत्वात्" (यो०सू० ४–१९)

यह सर्वानुभव सिद्ध है। अग्नि अपना प्रकाश करती है, इसका अर्थ केवल यही है कि अग्नि के सान्निध्य से किसी अन्य चेतन द्रष्टा को अग्नि के आलोक का ज्ञान होता है। अग्नि अन्य विषयो का प्रकाश करती है, इसका तात्पर्य है कि किसी चेतन द्रष्टा को द्रव्यान्तरो मे प्रक्षिप्त अन्याालोक का ज्ञान होता है[1]। अतः उक्त अग्नि विषयिणी ज्ञानक्रिया मे चेतन ग्रहीता विषय का प्रकाशक या ज्ञाता और आलोक अर्थात् तेजस्वरूप अग्नि प्रकाश्य या ज्ञेय विषय है। यहाँ पर ज्ञेय बिषय (अग्नि) और ज्ञाता (चेतन पुरुष) के सयोग से अग्नि-ज्ञान रूप क्रिया सम्पन्न होती है। यही बात भाष्यकार व्यास ने—"प्रकाशश्चार्य प्रकाश्य प्रकाशक सयोग दृष्टः"[2]—इन शब्दो मे कही है। अतः स्पष्ट है कि अग्नि भी जड एव दृश्य है, वह स्वाभास नही है। इसी प्रकार चित्त भी जड एव दृश्य होने से स्वप्रकाश नही हो सकता।

भाष्यकार व्यास ने पुनः वैनाशिक पक्ष की ओर से लिखा है कि—चित्त की स्वाभासता का अर्थ यदि यह किया जाय कि वह (चित्त) किसी अन्य के द्वारा ग्राह्य नही है, तो उसे स्वप्रकाश मानने मे आत्माश्रय दोष न होगा। जिस प्रकार "आकाश स्वात्मप्रतिष्ठ है"—यह कहने से वह किसी अन्य पर आश्रित नहीं है—केवल यही अर्थ द्योतित होता है, उसी प्रकार चित्त स्वाभास है, इस उक्ति से यही अर्थ निकालना चाहिये कि वह अन्य किसी के द्वारा ग्राह्य नही है।

यदि उक्त रीति से चित्त की स्वप्रकाशता का अर्थ, अन्य से अग्राह्यता भी माने तो भी वह सिद्ध नही होती है। चित्त ग्राह्य है, यह नित्य प्रति चित्त व्यापार के अनुभवो से ही सिद्ध है। 'मैं कुछ हूँ', 'मैं भीत हूँ, अमुक व्यक्ति से मेरा राग है, अमुक के प्रति क्रोध है, इत्यादि चित्त की वृत्तियो स, चित्त और उसके परिणामो का नित्य ही भान होता रहता है। इससे सिद्ध होता है कि चित्त बोध्य है। जो स्वाभास या स्वबोध होता है, वह अह प्रत्ययात्मक चेतन रूप मे पहिचाना जाता है। जो पदार्थ 'मेरा है" इस प्रकार अनुभूत होता है, वह स्वयं बोध-रहित होता है। वह अन्य किसी चेतन द्वारा ग्राह्य अथवा जानने योग्य होता है। चित्त भी इसी प्रकार—"मेरा चित्त शान्त या घोर है' आदि-अनुभवो से बोध्य या दृश्य है।

यदि पुरुष की स्वप्रकाशता के विषय मे आत्माश्रय दोष की आशका की जाय कि वह अपना विषय अपने आप कैसे करेगा तो वह व्यर्थ है, क्योकि ज्ञान-

---

१ पात० यो० द०—हरिहरानन्द आरण्य—पृ० ३२५।

२ व्या० भा० सू० ४—१९।

क्रिया प्रकाश्य एव प्रकाशक उभयनिष्ठ सयोगजन्य है। दर्पण मे प्रतिविम्बित स्वरूपदर्शन से आत्मा स्वरूप का ज्ञाता है। अतः पुरुषाकारा बुद्धिवृत्ति से सयुक्त होकर आत्म-ज्ञान सम्पन्न होने से आत्माश्रय दोष की आपत्ति नही होती है।

चित्त अपने स्वरूप तथा अपने विषय इन दोनो का एक साथ निश्चय नही कर सकता है। अतः स्वरूप एव विषय दोनो का युगपद् अवधारण न हो सकने से भी चित्त स्वाभास नही हो सकता है[1]। किसी एक ही व्यापार से दो विलक्षण कार्यों की उत्पत्ति नही हो सकती। कार्य भेद-हेतु व्यापार-भेद भी अनिवार्य है। चित्त मे जिस समय अपने विषयभूत बाह्यार्थाकारावृत्ति उदित होगी, उस समय स्वरूपाकारा वृत्ति का अभाव होगा। एक ही क्षण मे दो विरुद्ध वृत्तियाँ वर्तमान नही रह सकती, फिर चित्त जिस विषय से सम्बद्ध होता है, उसी के आकार मे परिणत हो जाता है। अतः उस समय विषयाकार मे परिणत चित्त का अपना कोई भिन्न रूप ही न रह जायगा, जिससे उसका भिन्न ज्ञान हो। स्पष्ट है, कि चित्त एवं उसके व्यापारो का द्रष्टा कोई अन्य ( पुरुष ) ही है, जो उन सबका एक साथ ज्ञाता है।

किसी वस्तु से चित्त के उपराग होने पर प्रथम क्षण मे तदाकारा चित्तवृत्ति से उसे वस्तु का ज्ञान होता है। पुनः द्वितीय क्षण मे, "इस वस्तु का मै ज्ञाता हूँ"—यह भाव उत्पन्न होता है—जैसे पट-साक्षात्कार-काल मे प्रथम "यह पट है", यह ज्ञान उद्भूत होता है, पुनः "मैंने पट को देखा या जाना"—इत्याकारक ज्ञातृभाव उत्पन्न होता है। चित्त के उक्त दोनो व्यापार परस्पर भिन्न तथा भिन्न क्षण मे उत्पन्न होते है, एक साथ नही। वैनाशिक मत मे प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, अतः उनके मत मे पदार्थ की क्रिया, कारक और कार्य एक ही माने गए है। तदनुसार चित्तवृत्ति क्षणमात्र स्थायी तथा निरन्वय है। अतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनो की वे अभिन्न सत्ता स्वीकार करते है। उनका कथन है—

भूति="भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकः सैव चोच्यते"[2]

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनो की सत्ता पृथक्-पृथक् है, यह पहिले भी प्रतिपादित किया जा चुका है तथा सर्वानुभव-सिद्ध है। रहा चित्त का क्षणिकत्व, तो

१. "एकसमये" चोभयानवधारणम्" (यो० सू० ४-२०)

२. द्रष्टव्य—यो० वा०, पातजल रहस्य (४-२०)

क्षणिक चित्त मे, विभिन्न क्षणो मे ज्ञेय चित्त एव तद्विषयो के ज्ञान को प्राप्त करने का सामर्थ्य ही नही है। कारण जिस क्षण मे चित्त अपने विषय का ज्ञान प्राप्त करेगा, उसमे तो वह अपना ज्ञान प्राप्त कर नही सकता। आगे द्वितीय क्षण मे अपना ज्ञान प्राप्त करने के लिये वह रहेगा ही नही, क्योकि उस चित्त के उसी क्षण मे नष्ट हो जाने से अन्य क्षण मे नवीन चित्त की उत्पत्ति होगी। इस नवीन चित्त का पूर्व चित्त से कोई सम्बन्ध न रहने से, वह यदि स्वरूप-प्रतिष्ठ होकर अपना ज्ञान प्राप्त करता है, तो उसे अपने अन्य विषयो का ज्ञान नही हो सकता। अतः क्षण-क्षण परिवर्तमान चित्त स्वप्रकाश नही हो सकता है। उसके ( परिवर्तनशील चित्त के ) लिये किसी निर्व्यापार साक्षी को स्वीकार करना पडेगा, जो नित्य-चेतन-अपरिणामी पुरुष ही है।

× × ×

वैनाशिक मतानुसार क्षणस्थायी चित्त स्वप्रकाश नही हो सकता है यह सिद्ध किया जा चुका है। पुनः यह कहा जा सकता है कि विनाशस्वभाव-चित्त स्वप्रकाश किये बिना नष्ट होकर भी उसके परवर्ती चित्त-द्वारा पूर्ववर्ती चित्त गृहीत हो सकता है। इस प्रकार उत्तरकाल मे उत्पद्यमान चित्त से, उस (पूर्ववर्ती चित्त) का प्रकाश सम्भव है। अतः पुरुष की मान्यता व्यर्थ है। ऐसी स्थिति मे एक चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य स्वीकार करने पर उस द्वितीय चित्त के ज्ञान—हेतु तृतीय एव चतुर्थादि अनेक चितान्तरो की कल्पना करनी पडेगी जिससे अनवस्था प्रसक्त होगी तथा स्मृतियो मे भी सकर हो जायेगा[1]।

साराश यह है कि जब एक चित्त का ज्ञाता दूसरा चित्त होगा, तो उस दूसरे चित्त के प्रकाश हेतु तृतीय चित्त भी स्वीकार करना होगा, क्योकि द्वितीय चित्त प्रथम चित्त का ज्ञान तो करा देगा, किन्तु अपना प्रकाश करने मे वह भी असमर्थ ही होगा। अत द्वितीय चित्त के प्रकाश हेतु तृतीय चित्त एव तृतीय चित्त के प्रकाश हेतु चतुर्थ, पचमादि अनेक चित्त स्वीकार करने होगे। इस प्रकार प्रत्येक चित्त अपने प्रकाशन मे असमर्थ होने से, उत्तरोत्तर स्वीकार्य इस चित्त-परम्परा का अन्त न होगा और अनवस्था प्राप्त होगी।

इसके अतिरिक्त यदि प्रथम चित्त का प्रकाशक द्वितीय चित्त और द्वितीय का प्रकाशक प्रथम चित्त माना जाय तब अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा। यदि

१. "चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसग स्मृतिसकरश्च"। (यो० सू० ४-२१)

द्वितीय चित्त के ज्ञातृरूप मे तृतीय और इसी प्रकार चतुर्थ–पचमादि चित्तो का क्रम स्वीकार किया जाएगा, तो उस प्रवाह का कही भी अन्त न होगा तथा अनवस्था भी प्राप्त होगी। प्रथम तो एक चित्त-द्वारा द्वितीय चित्त का द्रष्टृत्व ही कल्पित है, वास्तविक नही। कारण, दूसरा चित्त भी स्वाभास न होने से किसी का दृश्य है। फिर किसी भॉति इस कल्पना को भी मान ले, तो वर्तमान चित्त अतीत चित्त का द्रष्टा नही हो सकता, क्योकि वह (अतीत) तो उत्तर (वर्तमान) चित्त की उत्पत्ति के पूर्व ही विनष्ट हो चुका है। वैनाशिक मत मे प्रत्येक चित्त क्षणिक है। अतः पूर्व क्षणवर्ती चित्त नष्ट हो चुकने पर, उत्तर क्षणवर्ती चित्त की उत्पत्ति होगी। द्वितीय-क्षणवर्ती चित्त की वर्त्तमानावस्था मे प्रथम चित्त विद्यमान ही नही होगा, फिर वह उसे विषय कैसे बनाएगा ? जब वह उसका विषय ही न बन सकेगा, तब उसके द्वारा प्रकाशित किस प्रकार होगा ? अतः एक-दूसरे के द्रष्टाभूत असख्य वर्त्तमान चित्तो की कल्पना करनी होगी।

इस प्रकार असख्य चित्तो की अविश्रान्त धारा से अनवस्था प्राप्त होने पर, उन चित्तो से अनुभूत अर्थज्ञान भी अव्यवस्थित हो जाएगा। इससे उक्त अनुभवजन्य स्मृतियो मे सकर होगा अर्थात् किसी एक अनुभव का विशुद्ध स्मरणज्ञान न हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि किसी भी विषय के अनुभवकाल मे जितनी बुद्धियो की बुद्धियॉ अर्थात् जितने चित्तान्तरो के द्रष्टा चित्त होगे, उतने ही उनके अनुभवजन्य ज्ञान होगे। उन असख्य ज्ञानो की उतनी ही असख्य स्मृतियॉ भी होगी।। जैसे किसी पुष्प के अनुभव जन्य ज्ञान से "मै पुष्प को स्मरण करता हूँ", ऐसी स्मृति उत्पन्न होती है, यह स्मृति केवल एक चित्त की है। जब उस चित्त के प्रकाशक चित्त तथा उसके भी प्रकाशक द्वितीय, तृतीय, चतुर्थादि चित्तान्तर होगे, तो उनके सबके युगपद् अनुभव से उत्पन्न स्मृति इस प्रकार होगी कि "मै घटज्ञान को स्मरण करता हूँ", "मै घटज्ञान के ज्ञान को स्मरण करता हूँ", "मै घट-ज्ञान के ज्ञान के ज्ञान के ज्ञान को स्मरण करता हूँ"। इस प्रकार जब असख्य स्मृतियॉ एक साथ उत्पन्न होगी, तो परस्पर साकर्य प्राप्त होगा और यह निश्चय नही हो सकेगा कि कौन सा स्मृति-ज्ञान किस अनुभव से उत्पन्न है। अतः वैनाशिको कीदृश्य एव द्रष्टाभूत चित्तान्तरो की कल्पना भी नितान्त अयुक्त प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार का स्मृति-सकर, सर्वदा प्राप्त होने से, वह अनुभव-सामान्य के विरुद्ध भी है। अतः ज्ञान का प्रकाशक ज्ञानान्तर नही, वरन् स्वातत्रसत्तादिक एक कूटस्थ, निर्विकार चेतन आत्मा ही सबका भासक है।

वैनाशिक मतानुसार स्थायी आत्मा न मानने पर, उसके बन्ध-मोक्ष के सिद्धान्त भी कपोल-कल्पनामात्र सिद्ध होगे। क्योकि बन्धन का कारण तो अनादि क्लेश, कर्मादि के अनुभव से वासित वासना है। जब चित्त क्षणमात्र मे उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है, तो उसमे अनादि वासना का सद्भाव भी असगत होगा। क्षण स्थायी आत्मभूत चित्त के मोक्ष हेतु दीर्घकाल मे साध्य योगसाधन का उपदेश भी उसी प्रकार उपहासास्पद है। अतः उक्त क्षणिक चित्त की आत्मस्वरूप मे कल्पना सर्वथा अग्राह्य है। क्षणिक चित्त के सिद्धान्त की मान्यता से बौद्धो के मत मे पूर्वोक्त दोषो के अतिरिक्त स्वमत-विरोध की भी प्राप्ति होती हे। वे ससारकाल मे क्षणिक विज्ञानरूप चित्त को ही आत्मा मानते है, पुनः उसी के द्वारा मलिन पचस्कन्धो[1] को त्याग कर, निर्वाणकाल मे आर्हतिक शुद्ध पचस्कन्धो का ग्रहण स्वीकार करते है। इससे उसका स्थायित्व सिद्ध होता है। अतः स्वमतविरोध की प्राप्ति होती है, अन्यथा मोक्ष के हेतु उद्यम करने वाला चित्त पूर्व क्षणो मे ही नष्ट हो गया और मोक्ष मिला किसी अन्य ही चित्त को, यह कहना भी युक्तिसगत नही है। मिष्ठान्न खाये कोई और तथा मधुरिमा का अनुभव किसी और को हो, यह तो सम्भव नही हो सकता है। ऐसा मानने पर अकृताभ्यागम और कृतविप्रणाश दोषो से ग्रस्त होने के कारण भी उक्त मत न्यायसगत नही है।

इसी प्रकार शून्यवादी पचस्कन्धो से महानिर्वेदरूप वैराग्य की प्राप्ति के हेतु तथा तज्जन्य पुनर्जन्माभावरूप प्रशान्ति की प्राप्ति-हेतु "मै गुरु के समीप ब्रह्मचर्याभ्यास करूगा", इस प्रकार का सकल्प करते है। फिर भी इस प्रकार जिस

---

१ पचस्कन्धो के नाम है, विज्ञान, वेदना, सज्ञा, रूप तथा सस्कार।

(१) बौद्धमत में "अह" प्रत्ययात्मक आलय-विज्ञान की धारा विज्ञान-कन्ध कहलाती हे।

(२) सुख-दु खादि का साक्षात्कार वेदना-स्कन्ध कहलाता है।

(३) "अय देवदत्त" "अय ब्राह्मण" "अह गौरवर्ण", इत्यादि विकल्पात्मक ज्ञान सज्ञा-कध है।

(४) स्वविषय समेत इन्द्रियाँ रूप-स्कन्ध तथा

(५) रागद्वेषादि द्वान्दात्मक धर्म सस्कार स्कध हे।

ये पाँचो स्कन्ध मलिन और शुद्ध के भेद से दो-दो प्रकार के है। जब तक आत्मा (बुद्धि) उक्त सासारिक मलिन स्कन्धो का अनुभव करती है, तभी तक बद्ध है। इनका परित्याग कर जब वह शुद्ध पचस्कन्धो को अनुभव करता है तब उसका मोक्ष हो जाता है, ऐसी बौद्धो की मान्यता है।

आत्मस्वरूप की उपलब्धि द्वारा वे निर्वाण की प्राप्ति करते है, उस आत्मा को शून्य कह कर वे उसी का अपलाप करते है। इन मतो की अयुक्तता एव अप्रमाणिकता भलीभाँति प्रदर्शित की जा चुकी है। अतः साख्ययोगादि प्रकृष्ट मतो के अनुसार चित्त के भोक्ता एव द्रष्टा निर्विकार, नित्य चेतन, पुरुष को ही आत्मा मानना सर्वथा युक्तिसगत है। वही पुरुष स्वप्रकाशक है और उसी के प्रकाश से चित्त तथा उसके विषयो का प्रकाश भी होता है।

प्रकृत प्रसग मे भाष्यकार व्यास ने, जिन स्वमत विरोध तथा न्याय विरोध रूप दोषो को प्रदर्शित किया है, श्री विज्ञानभिक्षु ने अपने "योगवार्त्तिक" मे, उन दोषो की सत्ता आधुनिक वेदान्तमत मे भी दिखाई है। उनका कथन है कि शून्य-वादियो की भाँति वेदान्ती भी सम्पूर्ण जगत् को मिथ्या कहते है, साथ ही गुरु के निकट ब्रह्मचर्याभ्यासादि मोक्ष-साधनो की साधना भी स्वीकार करते है। किन्तु वेदान्त मत मे उक्त दोषो के लिये अवकाश नही है, कारण-वेदान्त मत मे "मिथ्या" शब्द का अर्थ "शून्य" (अभाव) नही, अपितु "व्यावहारिक" है। तदनुसार व्यवहार काल मे गुरु, ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययनादि समस्त साधन भी सत्य एव सार्थक है। ( वस्तुतः मिथ्या वह है जो सत् एव असत् से निर्वाक्त होने योग्य नही है, माया एव जगत दोनो ऐसे ही है )।

×                    ×                    ×

चित्त की स्वप्रकाशता का निराकरण करते हुए, स्वप्रकाश पुरुष को उसका साक्षी, स्वामी एव भोक्ता बतलाया गया है। अतः शका होती है कि निष्क्रिय आत्मा मे चित्त का भोक्तृत्व ( दर्शन-कर्त्तृत्व ) किस प्रकार सभव हो सकता है? किसी विषय का ज्ञान, क्रिया एव परिणाम द्वारा प्राप्त होता है। पुरुष निष्क्रिय और अपरिणामी है, फिर उसे चित्त एव तद्विषयो का बोध किस प्रकार प्राप्त होता है? इसका समाधान यह है कि सचार शून्य या निष्क्रिय पुरुष को, स्वप्रतिविम्बित चित्त के साथ तादात्म्य प्राप्त होने पर अपनी विषय स्वरूपा बुद्धि का ज्ञान होता है[1]। अत अपरिणामी आत्मा का दर्शन-कर्त्तृत्व औपाधिक है, स्वाभाविक नही। वस्तुतः पुरुष न ज्ञाता है, न द्रष्टा है, न कर्त्ता है और न ही भोक्ता है।

निष्क्रिय एव अपरिणामी-चितिशक्ति (पुरुष) का चैतन्य, जब जड चित्त मे प्रतिविम्बित होकर बुद्धि के साथ एकाकार सा हो जाता है, तो वह (चित्त) चेतनवत्

---

१ "चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्" (यो० सू० ४-२२)

प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार बुद्धि-वृत्ति से तादात्म्य प्राप्त चेतन (पुरुष) ज्ञान-वृत्ति कहलाता है[1]। अतः उस अविशिष्टा बुद्धिवृत्ति अथवा चैतन्य के साथ अभिन्नता इव प्राप्त बुद्धिवृत्ति (चित्तवृत्ति) के द्वारा ही सम्पूर्ण विषयो का ज्ञान होता है। वस्तुतः चिति-प्रतिविम्बित चित्त ही, द्रष्टा, भोक्ता एव ज्ञाता होता है, शुद्ध चैतन्य नही।

जिस प्रकार निर्मल जल मे सक्रान्त चन्द्र का प्रतिविम्ब स्वय किसी प्रकार की क्रिया नही करता है, फिर भी जलीय तरगो की हलचल से चन्द्र का प्रतिविम्ब भी चचल सा प्रतीत होता है, उसी भाँति निष्क्रिय पुरुष मे भी चित्त की उपाधि से वैकारिक द्रष्टृत्व, कर्तृत्व आदि का अध्यारोप होता है।

---

१ 'अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसक्रमा च, परिणामिन्यर्थे प्रतिसक्रान्तेव तद्वृत्ति-मनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्य विशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते।"—(व्या०भा०सू० १४-२२)

## (८) द्रष्टा एवं दृश्य से उपरंजित चित्त का स्वभाव।

बाह्यार्थ एव पुरुष दोनो ही चित्त से सर्वथा भिन्न सत्ताएँ है। फिर भी ( बौद्धादि मतानुसार ) चित्त में ही आत्मतत्व की अथवा बाह्यार्थ की भ्रान्ति क्यो होती है ? इस भ्रान्ति का कारण द्रष्टा (आत्मा) और दृश्य (बाह्यविषय) इन दोनो से उपरंजित चित्त का स्वभाव है। चित्त मे चेतन पुरुष का प्रतिबिम्ब पडता है और बाह्य जगत् का भी। इन दोनो से उपरक्त होकर ही चित्त सर्वार्थक अर्थात् ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ सब प्रकार के विषयो का प्रकाशक होता है। जैसा कि सूत्रकार महर्षि पतजलि की "द्रष्टृदृश्योपरक्त चित्त सर्वार्थम्"[१]—इस उक्ति से भी अभिव्यक्त होता है।

गुणो का प्रथम विषम एव सात्विक परिणाम चित्त, क्रियायुक्त, परिणामी एव जड है। यह चित्त का अपना ग्रहण-स्वरूप है।

चित्त का यह स्वभाव है कि वह जिस विषय से उपरक्त होता है, उसी के आकार को धारण कर लेता है। चित्त जड है और किसी वस्तु के ज्ञान-हेतु चेतना आवश्यक है। अतः चेतन पुरुष से प्रतिबिम्बित होकर ही वह किसी वस्तु के आकार को ग्रहण करने मे समर्थ होता है। जड चित्त मे पुरुष का चैतन्य पडते ही (यह सयोग अनादि है। यह भूलना नही चाहिए ) वह ( चित्त ) ज्ञानवान ( व्यक्तीभूत ज्ञान का उत्पादक कारण प्रतीत होने लगता है। द्रष्टा से उपरजित चित्त का यही ग्रहीतृ रूप है। जिसके कारण चित्त मे ही चेतन आत्मतत्व का भ्रम उत्पन्न होता है।

चिदाभासित चित्त का जिस बाह्यार्थ से सम्बन्ध होता है, उसी से उपरक्त होकर तदाकाराकारित हो जाता है। इससे भ्रान्त होकर क्षणिक विज्ञानवादी चित्तमात्र को सम्पूर्ण प्रपञ्च कहते है, अर्थात् विज्ञान (चित्त) से अतिरिक्त बाह्यार्थ की सत्ता स्वीकार नही करते है। चित्त का उक्त बाह्यार्थो-परक्तरूप ही उसका ग्राह्य स्वरूप है। अतः ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता इन तीनो रूपो का भासक होने से द्रष्टा एव दृश्य से उपरक्त चित्त सर्वार्थ होता है। चित्त का सर्वार्थग्राहक स्वभाव ही समस्त भ्रान्तियो का मूल है,

---

१ योगसूत्र—४-२३।

किसी भी वस्तु के ज्ञानकाल मे चित्त के इन तीनो रूपो की झलक प्राप्त हो सकती है[1]। उदाहरणार्थ "पुष्पमहमनुभवामि"—इस अनुभव मे "पुष्प" शब्द ग्राह्य विषय का, "अहम्" पद चेतन ग्रहीता का और "अनुभवामि" शब्द साक्षात्कार स्वरूप अनुभवात्मक चित्तवृत्ति ( ग्रहण ) का भासक है ! इसी से वह सर्वार्थग्राही है।

वस्तुतः ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता अर्थात् बाह्यार्थ, चित्त एव पुरुष, तीनो सर्वथा भिन्न है। फिर भी पूर्वोक्त रीति से द्रष्टा एवं दृश्य से उपरजित चित्त, चेतन और अचेतन उभयस्वरूप बन जाता है। वह अचेतन होने पर भी चेतन तथा स्वयं ( पुरुष का ) विषयात्मक होने पर भी अविषयात्मक होने पर भासित होता है। जिस प्रकार रक्त एव नील पुष्प के समीपस्थ स्फटिकमणि उन दोनो ( पुष्पो) के प्रति-विम्ब स्वरूप से तथा तीसरे अपने स्वरूप से इस प्रकार तृतयात्मरूप से भासित होता है। उसी भॉति द्रष्टा एव दृश्य से उपरक्त चित्त, ग्राह्य, ग्रहण ( चित्त का अपना स्वरूप ) आदि सम्पूर्ण अर्थो का ग्राहक बन कर सर्वार्थक सिद्ध होता है।

चित्रपट के दृष्टान्त से चित्त के इन तीनो रूपो को अत्यन्त स्पष्टतया समझा जा सकता है। शुद्ध सत्वात्मक ( ग्रहणस्वरूप ) चित्त सादा श्वेत पदे ( सिनेमा स्क्रीन) की भॉति है। चित्त का चैतन्योपरक्तस्वरूप विद्युत् के आलोक से आलोकित चादर ( सिनेमा स्क्रीन ) की भॉति है। चित्त के चैतन्य से अप्रकाशित चित्त किसी भी बाह्य विषयाकार को ग्रहण करने मे असमर्थ होता है। उसी प्रकार विद्युत् प्रकाश से अप्रकाशित श्वेत चित्रपट सिनेमा रील के चित्रो से चित्रित नही हो सकता है। विद्युत्आलोक से आलोकित चित्रपट पर, सिनेमा रील का जो-जो चित्र सामने आता जाता है, चित्रपट उसी चित्र से चित्रित होता जाता है। विविध चित्रो से चित्रित जवनिका की भॉति ही चित्तका बाह्यार्थाकार ग्राह्यस्वरूप है। सिनेमा देखते समय चित्रपट, सिनेमा रील और विद्युत्-आलोक– ये तीनो एकाकार रूप से प्रतिभासित होते है। फिर भी उन तीनो की भिन्न सत्ताएँ है। चल चित्र-प्रदर्शन के रहस्य से अनभिज्ञ लोग इस भेद को नही समझते है।

इसी प्रकार चित्त के ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीत्र्याकार का विवेक न समझने वालो को, चित्त मे ही आत्मतत्व की, अथवा बाह्यार्थत्व की भ्रान्ति होती है। समाधि-जन्य साक्षात्कार से यह विवेक स्पष्ट हो जाता है। समाधि की अवस्था मे ध्येय

---

१ द्र०—"योगभाष्यविवृति" ( स्वामी ब्रह्मलीन मुनि, पृ० ८३२ )

२ द्रष्टव्य—यो० वा० ४-२३।

विषय, ध्यान और ध्याता तीनो भिन्न होते है। समाधिजन्य प्रज्ञा से अब "पौरुष प्रत्यय"[1] का साक्षात्कार होता है, तो उस प्रज्ञा का आलम्बन आत्मा से भिन्न सिद्ध होता है, अन्यथा यदि चित्त को ही आत्मा (पुरुष) और प्रज्ञा सब कुछ माने तो प्रज्ञा के द्वारा ही प्रज्ञा का किस प्रकार निश्चय होगा ? प्रज्ञा स्वयमेव प्रज्ञा का आलम्बन नही हो सकती है, अर्थात् आत्माश्रय दोष की उपपत्ति होगी। जिस विषय का प्रतिविम्ब चित्त मे पडता है, वह उसी के आकार मे परिणत होता है। यदि चित्त से भिन्न पुरुष की सत्ता ही न होगी तो चित्त मे उसका प्रतिविम्ब कहाँ से पडेगा ? उक्त रीति से भी पुरुष का भिन्न अस्तित्व सिद्ध होता है।

ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता का जातितः उक्त भेद जानने वाले ही सम्यग्दर्शी है। वे ही समाधि द्वारा पुरुष–साक्षात्कार के अधिकारी है। वे ही पुरुष-साक्षात्कार के अनन्तर चित्त के प्रति-प्रसव-द्वारा कैवल्य का लाभ करते है।

× × ×

पुरुष की स्वतत्र सत्ता प्रमाणान्तर से भी सिद्ध होती है। चित्त मे चेतनता की भ्रान्ति द्रष्टा एव दृश्य से उपचितस्वभाववश होती है, यह सम्यक्, प्रदर्शित किया जा चुका है। इतने पर भी यदि वैनाशिक यह कहे कि जब समस्त व्यवहार चित्त के ही व्यापार से होते है, तथा असख्य वासनाओ का आश्रय भी वही है, तो दृष्टा प्रमाणशून्य है और चित्त ही भोक्ता है, यही मानना चाहिये।

वैनाशिक पक्ष की उक्त शका भी अयुक्त ही है, क्योकि वह (चित्त) सहत्यकारी होने से असख्य वासनाओ से चित्रित होने पर भी परार्थ (पुरुष के अर्थ) है[2]।

यद्यपि चित्त असख्य वासनाओ से विचित्र है, अतः उसी को भोक्ता मानना चाहिये, क्योकि वासना का आश्रय ही भोग का आश्रय भी होता है, ऐसा नियम है। किन्तु चित्त स्वय ही मिलजुल कर कार्य करने वाला होने से दूसरे के अर्थ है। तात्पर्य यह है कि चित्त स्वय ही अपने लिये नही, वरन् पुरुष के भोग एव मोक्ष के सम्पादनार्थ है। अतः जिसके लिये भोग एव मोक्ष का सम्पादन होगा, वह पुरूष ही भोक्ता होगा, न कि स्वय चित्त। चित्त दूसरे के लिये ही है इस बात का प्रमाण उसका सघातकारित्व है। जितने भी सघात है अथवा जितने भी पदार्थ मिल-जुल

---

१. पौरूष प्रत्यय के स्पष्टीकरण हेतु "विविध सयमो का ज्ञान" शीर्षक मे सू० ३/३५ की व्याख्या देखना चाहिये।

२ "तदसख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं सहत्यकारित्वात्" (यो० सू० ४-२४)

कर कार्य करने वाले है, वे सब परार्थ होते है[1]। जैसे गृह, शैय्या आसनादि सहत्यकारी होने से अपने लिये नही, वरन् असहत्यकारी पुरूष या गृहस्वामी के उपभोग-हेतु होते है। चित्त भी त्रिगुण-सघातस्वरूप होने अथवा विषय तथा इन्द्रियादि के साथ मिलजुल कर कार्य करने वाला होने से परार्थ है।

आपति की जा सकती है कि सघात-परार्थत्व मे जिन शैय्या, आसनादि का दृष्टान्त दिया गया है, वे भी तो तत्वो एव अवयवसघातरूप शरीर के ही उपभोग हेतु है, त्रिगुणादि से भिन्न शुद्ध, चेतन पुरुष के लिये तो नही। इस विषय मे यही कहना है कि "चित्ताहकारादयः परार्थाः सघातत्वात् शयनासानादिवत",[2] इत्यादि अनुमान मे "सघातत्व" का साहचर्य या अन्वय-व्याप्ति "परार्थत्व" मात्र के साथ है। चित्त के सहत्यकारी होने से उसकी परार्थता मात्र का अनुमान होता है, 'सहत पर-पुरुष के लिये होने" का नही। किसी दृष्टान्त मे प्राप्त होने वाले प्रत्येक धर्म का दार्ष्टान्तिक (प्रस्तुत विषय या पक्ष) मे अनुमान लगाने से तो अनुमान किसी प्रकार ठीक हो ही नही सकता है[3]।

इस प्रकार मिल-जुलकर कार्य करने वाला चित्त अपने ही लिये भोग एव मोक्षरूप अर्थ का सम्पादन करने योग्य नही है। सुख-दुःखरूप भोगात्मक चित्त सुख दुःख रूप भोगात्मक चित्त के लिये नही होता है। इसी प्रकार ज्ञान अर्थात अपवर्ग चित्त ज्ञानार्थ अर्थात चित्त के अपवर्गार्थ नही होता है। तात्पर्य यह है कि चित्त अपने ही लिये भोग एव मोक्ष का सम्पादन नही करता है। प्रवृत्तिशील चित्त भोग एव निवृतिशील चित्त मोक्ष कहलाता है। अतः भोग एव मोक्ष स्वरूप

---

१. "सघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपययादधिष्ठानात्।
पुरूषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यर्थं 'प्रवृत्तेश्च॥' (ईश्वरकृष्णसांख्यकारिका न० १७)

२ सा० त० कौ० (का० १७)

३. 'Because there can scarcely be found any two occurrences in nature which could be quite idential. Even in the stock example of the Laiyayikas—'Fiery, because smoking, as the culinary hearth"—we have a dissimilarity between the subject-matter of the syllogism and the instance cited. Thus, in the culinary hearth, the fire is for cooking food, and proceeding from a house made by men, etc. ete., whereas such is not the case with the fire in the mountain".
द्रष्टव्य—डा० झा कृत अनुवाद, पृ० ४८, (भूमिका खण्ड) फुटनोट २।

चित्त अपने ही लिये भोग एव मोक्ष का सम्पादन करता है, ऐसा कहने से अपनी ही वृत्ति से विरोध प्राप्त होने पर आत्माश्रय दोष प्रसक्त होगा।

इन सब युक्तियो के आधार पर चित्त से अन्य, चेतन पुरुष के लिये ही भोग एव अपवर्ग की सिद्धि होती है। साथ ही जो चेतन पुरुष भोग एव मोक्षरूप प्रयोजन वाला है, वही "पर" है, कोई सामान्यमात्र अर्थात् चित्त की ही भाँति दूसरा सहत्यकारी चित्तरूप पदार्थ नही है।

वैनाशिक मत मे चित्त ही आत्मा है। अतः वे सहत्यकारी चित्तान्तर को ही पूर्वचित्त से भोगापवर्ग द्वारा प्रयोजनवान् स्वीकार करते है। इस प्रकार एक सघात को दूसरे सघात के प्रति प्रयोजन-युक्त मानने पर तो इस परम्परा का कभी अन्त न होगा, क्योकि सघात परार्थ ही होता है, यह प्रतिपादित किया जा चुका है। अतः सघातपरार्थत्व की अविश्रान्त परम्परा माननी पडेगी, जिससे अनवस्था दोष प्राप्त होगा। साथ ही जिसके हेतु चित्त, भोग, एव मोक्ष का सम्पादन करता है, वह यदि पुरुष माना जायगा तो उक्त दोष का भी प्रसग नही आयेगा। कारण पुरुष असंहत्यकारी है। अतः यह अन्य किसी के प्रति प्रयोजनयुक्त नही है। फिर साख्य-योग के मत मे चित्त जड है। अतः उसके द्वारा सम्पादित भोग एव मोक्ष का फल-भोक्ता, चित्त से अन्य चेतन पुरुष ही सिद्ध होता है। वही एकमात्र निरवयव भी है।

---

उक्त आत्मभाव-विषयिणी जिज्ञासा जिसके अन्दर विद्यमान है, वही आस्तिक है। वही योगसाधना के द्वारा विवेकख्याति एव कैवल्य-प्राप्ति का अधिकारी होता है। जिस मनुष्य मे उक्त तत्वज्ञान विषयक जिज्ञासा नही होती है, वह नास्तिक है और विवेकज्ञान तथा कैवल्य का अनधिकारी है[1]। ऐसे अनधिकारी व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार नही कर सकते। अतः उनकी आत्मानुसन्धान विषयक जिज्ञासा भी कभी निवृत्त नही होती है। आत्मभाव के जिज्ञासु को पहिचानने के लिये भाष्यकार व्यास ने निम्न लक्षण बतलाए है :—

जिस प्रकार वर्षा ऋतु मे तृण के अकुरो की उत्पत्ति से, भूमि मे उसके बीज की सत्ता अनुमित होती है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग की चर्चा सुनते ही किसी व्यक्ति के रोमाच तथा अश्रुपात को देख कर, उसके अन्दर विशेष दर्शन के बीज का अनुमान होता है।

भाव यह है कि उस व्यक्ति ने पूर्व जन्म मे मोक्ष के हेतुभूत विवेकज्ञान के लिये थोडा-बहुत साधन-अनुष्ठान किया है, यह अनुमान होता है।

ऐसे व्यक्तियो मे आगे स्वाभावतः आत्मानुसधान की प्रवृत्ति जागृत होती है, जिससे वे तत्वज्ञान के हेतु योग साधना मे अग्रसर होते हुए, अन्त मे विवेकज्ञानो-परान्त कैवल्य प्राप्त करते है।

विशेष सत्य को देखने वाले विवेकज्ञानी की आत्मभाव की भावना इसलिये निवृत्त हो जाती है, क्योकि उसे आत्मा की सत्ता का पृथक्रूप से ज्ञान हो जाता है। इससे उसे शरीर, चित्तादि मे आत्मतत्व का भ्रम नही रहता हैं। अतः उसकी स्वरूप-विषयक जिज्ञासा भी निवृत्त हो जाती है। विशेष दर्शन-द्वारा समस्त अनात्म पदार्थो से योगी की आत्म-भावना निवृत्त हो जाती है। अतः वह अवस्था भी अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञान एव आनन्द की अवस्था है।

आत्मिक स्तर की चेतना मे अन्तर्निहित इस सर्वोत्तम आनन्द एव ज्ञान की इच्छा निम्नस्तरीय इच्छाओ को नष्ट एव बहिष्कृत कर देती है और योगी को प्रकृति के क्षेत्र मे सम्भावित आत्मप्रकाश से उच्चतम स्तर पर ले आती है, किन्तु अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति मे इन ज्ञान और आशीः की प्राप्ति भी बन्धन का कारण हो सकती है, अतः चरम लक्ष्य की उपलब्धि से पूर्व उन्हे छोड ही देना पडता है।

---

१. द्रष्टव्य—तत्ववैशारदी—सू०- ४/२५।

उच्चतर स्तर की प्राप्ति के लिये निम्नस्तर के परित्याग की अनिवार्यता जीवन का एक मौलिक आधारभूत नियम है[1]।

विशेष-दर्शन से विवेक-ज्ञान-निष्ठ योगी का चित्त विवेकप्रवण एव कैवल्याभिमुख हो जाता है[2]। विवेक-ज्ञाननिष्ठ चित्त सतत विवेक प्रत्ययो मे ही सचारशील रहता है तथा कैवल्य के आसन्न होता जाता है। प्रकृतसूत्र मे चित्त को "विवेक-निम्न" तथा "कैवल्यप्राग्भार" बतलाया गया है विवेक निम्न का अर्थ है विवेक की ओर झुका हुआ या विवेक की ओर ढाल।

किसी ढाल के बाद जिस उच्च प्रदेश मे जल का प्रवाह अवरुद्ध हो जाय, उस प्रदेश को प्राग्भार कहते है। अतः जलप्रवाह की अन्तिम सीमा उक्त प्रकार का प्राग्भार है। यहाँ पर विवेकनिष्ठ चित्त को ढाल पर प्रवाहशील जल की उपमा दी गई है, जिसकी अन्तिम सीमा कैवल्य होती है। जिस प्रकार ढाल भूमि पर बहता हुआ पानी का प्रवाह किसी प्राग्भार मे जाकर सूख कर समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार योगी का चित्त जो पहले बहिर्मुखतया अज्ञानमार्ग का सचारी था विवेक-ज्ञानोपरान्त निम्नाभिमुख जल की भाँति निरन्तर विवेकख्याति मे प्रवाहित होता हुआ, उस कैवल्य की ओर अग्रसर होता है, जो उसका प्राग्भारस्वरूप है। कैवल्यप्राग्भार मे पहुँच कर विवेक प्रत्ययात्मिका वृत्ति भी विलीन हो जायगी। बात यह है कि कैवल्य के पूर्व चित्त की अन्तिम वृत्ति विवेकख्याति ही होनी है।

वाचस्पति मिश्र ने इस सूत्र की विशेष व्याख्या नही की है। विवेकदर्शी का चित्त किस प्रकार का होता है, यह इस सूत्र मे बतलाया गया है। इतना बतला कर 'निगदव्याख्यातम्" लिख कर इस सूत्र को उन्होने छोड दिया है। स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने "भास्वती" मे इससे अग्रिम सू० (२७) को "सुगममन्यत्" कह कर उसकी व्याख्या नही की है।

इस सूत्र के व्याख्यान मे श्री टैमनी लिखते है—'अनुभव-द्वारा योगी को जब आत्मभाव की अपर्याप्तता का अनुभव होता है, तो वह आत्मिक स्तरीय आनन्द एव ज्ञान के परित्याग-द्वारा, इस अन्तिम बेडी को भी तोडने का दृढ निश्चय कर लेता है। तदुपरान्त उसके सभी प्रयत्न अविद्या के उस अन्तिम आवरण के एकमात्र भेदक, तीव्र विवेकज्ञान के दृढ अभ्यास-द्वारा कैवल्य-प्राप्ति हेतु ही होते है।

---

१ साइन्स आफ योग—आई० के० टैमनी—पृष्ठ ४२७।

२ "तदाविवेकनिम्न कैवल्यप्राग्भार चित्तम्" (यो० सू० ४/२६)

मुक्ति के इस अन्तिम सघर्ष मे प्रयुक्त शस्त्र विवेक और वैराग्य है, जिनसे योगी को आत्मा की झलक प्राप्त हो गई है। दृढ अभ्यास-द्वारा योगी को अविच्छिन्न विवेक-प्रवाह-रूप धर्म से समाधि प्राप्त करनी है और उन्ही विवेक और वैराग्य के द्वारा इस वृत्तिमार्ग को छोड देना है[1]।

विवेकज्ञानी का चित्त समाहित होकर सतत् विवेकप्रवाही हो जाता है। फिर विवेकी पुरुष के द्वारा भी भिक्षाटन, स्नान-शौचादि का व्यवहार देखा जाता है, वह किस प्रकार सम्भव होता है, क्योकि विवेकेतर-व्युत्थानप्रत्ययोत्पत्ति बिना उक्त व्यापार असम्भव है।

इस विषय मे यह स्मरणीय है कि विवेकनिष्ठ चित्त अधिकाश मे विवेक-मार्ग-सचारी रहने पर भी जब तक पूर्वानुभूत सस्कारो का पूर्णतः क्षय नही हो जाता, तब तक उसमे प्रत्यान्तरो की उत्पत्ति यदा-कदा होती ही रहती है। विवेक-ज्ञान हो जाने पर भी समस्त सचित सस्कार एक साथ ही नष्ट नही हो जाते है। उनका सम्यक् नाश विवेक-सस्कारो के सचय के क्रमानुसार ही होता है। अतः विवेक-प्रवाही चित्त के अन्तरालो मे भी व्युत्थानसस्कारो की उत्पत्ति पूर्वसस्कारो से होती रहती है[2]। समाधि के अन्तरालवर्ती व्युत्थान-सस्कारो-द्वारा पूर्वोक्त व्यापार भी जब-तब होते रहते है। जब तक योगी पूर्व सस्कारो को सर्वथा क्षीण करके मुक्त नही हो जाता, तब तक समाधि से व्युत्थित अवस्था मे उक्त अनात्म प्रत्यय अवश्य ही उत्पन्न होते रहते है। इन प्रत्ययान्तरो से योगी को "मै हूँ", "मै जानता हूँ", अथवा "यह वस्तु मेरी है"—इस प्रकार का अविवेकात्मक ज्ञान उत्पन्न होता रहता है[3]।

उक्त अनात्म सस्कार विवेक ख्याति की अपरिपक्वावस्था मे उत्पन्न होते है, क्योकि अनादि जन्मो-द्वारा सचित क्लेश-वासना के सस्कार अभी अधिक प्रबल है। अतः उनकी अपेक्षा अल्पकाल मे सम्पादित विवेक-सस्कार दुर्बल होने से वे कभी-कभी व्युत्थान सस्कारो से आक्रान्त हो जाते है। विवेक-ख्याति की "सप्तधा प्रान्तभूमिप्रज्ञा" प्राप्त हो जाने पर अन्य अनात्म सस्कार विवेकाग्नि के द्वारा दग्ध बीजतुल्य हो जाते है। अतः विवेक की परिपूर्णावस्था मे प्रत्ययान्तरो की उत्पत्ति नही होती है।

---

१ साइन्स आफ योग—पृ० ४२८-४२९।

२. "तच्छिद्रेषु प्रत्यान्तराणि सस्कारेभ्य" (यो० सू० ४/२७)

३. द्रष्टव्य—व्या० भा०, तत्व०, वार्तिक आदि (सू० ४/२७)

विवेकप्रत्यय के मध्य उत्पन्न होने वाले उन व्युत्थानसस्कारों की निवृत्ति (हान) क्लेशो की निवृत्ति के तुल्य करनी चाहिये[1]। अर्थात् जिन उपायो से क्लेशो को नष्ट किया जाता है,[2] उन्ही उपायो से इन व्युत्थान-सस्कारो को भी नष्ट करना चाहिये।

विवेकख्याति के द्वारा समस्त क्लेश क्षीण होकर, दग्ध बीजतुल्य होने पर, पुनः अप्ररोहसमर्थ बनते है। इसी प्रकार-विवेक जन्य सस्कारो-द्वारा व्युत्थान-सस्कारो का क्षय होता है और दृढतर अभ्यास एव वैराग्य-द्वारा परिपुष्ट विवेक सस्कार सचित होते है। उस प्रबल विवेकाग्नि मे अन्तन्त समस्त व्युत्थान-सस्कार भी दग्ध-भावापन्न हो कर, पुनरुत्थान मे अशक्त हो जाते है। विवेकख्याति वृत्ति है। यह परम सात्विक वृत्ति है। अतः इसके अभ्यास एव इतर वृत्तियो से वैराग्य-द्वारा रजोगुणी, तमोगुणी क्लिष्टा वृत्तियो का नाश किया जाता है। इस वृत्ति से विवेक के सस्कार बनते है। उन सस्कारो के सचय से व्युत्थानावस्था की वृत्तियो के सस्कार क्षीण किये जाते है। विवेक के सस्कार जब इतनी मात्रा मे संचित हो जाते है कि व्युत्थान-सस्कारो को पूर्ण अभिभूत कर सके, तब वे ( व्युत्थान-सस्कार ) भी दग्धभावापन्न हो जाते है। इससे उन दग्धभावसस्कारो द्वारा पुनः अविवेकात्मक वृत्तियो का उत्थान नही हो सकना है। अत॰ इस अवस्था मे विवेक-निम्न चित्त के मध्य व्युत्थान-प्रत्ययो का आविर्भाव नही होता है। अर्थात् अविच्छिन्नविवेक-स्रोत प्रवाहित रहता है। पुनः विवेकज्ञान के सस्कार, चित्ताधिकार की समाप्ति पर्यन्त, वर्तमान रहते है। चित्तलय के साथ वे स्वत॰ विलीन हो जाते है। अतः विवेक-सस्कारो के क्षय हेतु किसी ध्यान-चिन्तन की आवश्यकता नही है।

हाँ, विवेक ख्याति स्वय वृत्ति है। जब तक चित्त की वृत्ति ( व्यापार ) वर्तमान है, तब तक उसका विलय नही हा सकता है। विवेक-वृत्ति के नाश हेतु उससे वैराग्य का अभ्यास यत्नपूर्वक करणीय है। उस पर वैराग्य के अभ्यास से निरोध-सस्कार सचित हागे। निरोध-सस्कारो से विवेकख्याति भी निरुद्ध होकर चित्तलय के साथ-साथ विवेकसस्कारो का स्वतः विलय हो जायगा।

—ooo—

---

१ "हानमेषा क्लेशवदुक्तम्" (यो० सू० ४/२८)

२ द्रष्टव्य–योगसूत्र, २/१०-११।

## (१०) धर्ममेघ समाधि की उपलब्धि क्लेश-कर्मों की निवृत्ति।

व्युत्थान-सस्कार समाधि के विरोधी है। उन्हे तीव्र विवेक-ज्ञान की अग्नि से दग्ध किया जाता है। परन्तु विवेकज्ञान ही योगी का अन्तिम लक्ष्य नही है, चरम लक्ष्य तो कैवल्य है, जिसकी प्राप्ति के हेतु विवेक-ख्याति के अभ्यास से विरक्त होना अनिवार्य है। विवेक-ज्ञान भी उसी योगी के चित्त मे निरन्तर प्रवाहित होता है, जो उससे विरक्त होकर आगे बढने के लिये प्रयत्नशील है। उसी अवस्था मे धर्ममेघ समाधि की उपलब्धि होती है। अतः प्रसख्यान अर्थात् विवेक-ज्ञानाभ्यास (तथा तज्जन्य सर्वज्ञातृत्वादि सिद्धियो) से भी सर्वथा लिप्साशून्य योगी को अविच्छिन्न विवेकख्याति होने से-धर्ममेघ समाधि की सिद्धि होती है[1]।

### प्रसख्यान—

परस्पर विलक्षण-स्वभाव छब्बीसो तत्वो का यथा साक्षात्कार, प्रसख्यान कहलाता है। सत्व एव पुरुष का भेद-ज्ञान उसकी चरम सीमा है। जिस अवस्था मे प्रत्ययान्तरो की उत्पत्ति न होने से, "अविप्लवा विवेकख्याति" का उदय होता है, वह परम-प्रसख्यान कहलाता है[2]। वही धर्ममेघसमाधि है। प्रस्तुत स्थल मे "प्रसख्यान" शब्द से स्खलनशून्य सत्वपुरुषान्यथाख्याति का अर्थ ही ग्राह्य है, क्योकि धर्ममेघ समाधि मे सत्वपुरुषान्यताख्याति मात्र का निरन्तर आभास होता है। यह विवेक ज्ञान तथा सम्प्रज्ञातसमाधि की चरमावस्था है। जब सत्व-पुरुषान्यता-ख्याति से ही वैराग्य हो जाएगा, तो प्रारभिक प्रसख्यान से वैराग्य का कथन तो स्वतः ही आक्षिप्त हो जाएगा। यही अर्थ वाचस्पति, विवरणकार शकर, विज्ञानभिक्षु, नागोजीभट्ट, सदाशिवेन्द्र सरस्वती प्रभृति विद्वानो को अभिप्रेत प्रतीत होता है[3]।

भोज, रामानन्दयति एव अनन्त पडित ने "प्रसख्यान" पद से साधारण तौर पर क्रमिक तत्वसाक्षात्कार का अर्थ ग्रहण किया है[4], किन्तु यहाँ पर सामान्य

---

१ "प्रसख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथाविवेकख्यातेर्धर्मेघ समाधि।" (यो० सू० ४-२९)

२ द्रष्टव्य—व्या० भा० १-२।

३ द्रष्टव्य-तत्व०, भा० विव०, यो० वा०, नागो० वृ०, यो० सु० आदि (सू० ४/२९)

४ द्रष्टव्य भो० वृ०, मणिप्रभा, यो० च० (४/२९)

प्रसख्यान नही, "परम प्रसख्यान" का अर्थ ग्रहण करना अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है। यह ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है। भास्वतीकार श्री हरिहरानन्द आरण्य ने यहाँ पर सूत्रस्थ प्रसख्यान शब्द का, विवेकख्याति-जन्य सार्वज्ञ सिद्धि (३५४) अर्थ किया है[1], उससे भी यहाँ पर परम प्रसख्यान की ही अभिव्यञ्जना होती है।

**अकुसीद :—**

"कुसे रू" इत्यादि, उणादि ४/सू० ११३ के अनुसार "कुसीद" शब्द का अर्थ सलग्नतारूप मनोभाव है। अतः श्लेषणार्थक "कुस्" धातु से निष्पन्न "कुसीद" शब्द का अर्थ हुआ राग। वैसे राग के अर्थ मे "कुसीद" का प्रयोग प्रसिद्ध नही है। "कुत्सितेषु विषयेषु सीदतीति कुसीदो राग,२" तद्रहितः अकुसीदः, विरक्तः[2], इस व्युत्पत्ति के अनुसार "अकुसीद" का अर्थ है विरक्त। अतः प्रसख्यान मे विरक्त व्यक्ति को धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है। सूत्र मे विरक्त शब्द का प्रयोग न कर, "अकुसीद" शब्द का प्रयोग क्यो किया गया इसमे भी एक विशेष प्रयोजन निहित है। ऋण देकर धनवृद्धि की लिप्सा से मूलधन पर प्रतिमास व्याज लेने वाले व्यक्ति को तथा व्याज (सूद) का भी कुसीद कहते है। इसी प्रकार प्रकृत स्थल मे विवेक के व्याज से सर्वभावाधिष्ठातृत्व एव सर्वज्ञातृत्वरूप सिद्धियो मे रागवान के लिये कुसीदत्व की कल्पना की गई है। विवेकजा सिद्धि की फलस्वरूपा इन सिद्धियो से लिप्साशून्य या विरक्तयोगी को अकुसीद सज्ञा दी गयी है। अत जो योगी परम प्रसख्यान-स्वरूपा विवेकख्याति से भी, उक्त सिद्ध्यादि रूप फल की आकाक्षा नही करता प्रत्युत, परिणाम रूप दोषदर्शन पूर्वक, उस विवेकख्याति से भी विरक्त होता है, उसको विप्लव-शून्य विवेक-साक्षात्कार होने से धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है, यह सूत्रार्थ हुआ।

धर्ममेघ समाधि की अवस्था मे प्रत्ययान्तर की उत्पत्ति किंचिनमात्र भी नही होती है। विवेकनिम्न चित्त की अवस्था से धर्ममेघ समाधि की अवस्था मे यही भेद है। विवेकख्याति की चरम अवस्था मे जब व्युत्थान-बीजो का सर्वथा दाह हो जाता है, अन्य प्रत्ययो की उत्पत्ति की सम्भावना ही नही रहती, तभी अविरल विवेकप्रवाहरूप धर्ममेघ समाधि का आविर्भाव होता है।

विवेकख्याति द्वारा आत्मस्वरूप को उपलब्धि होती है। यह अत्युत्कृष्ट

---

१ भास्वती (४-२९) पात० यो० द०, सो० हरिहरानन्द आरण्य (पृ० २९५-३३७)

२ द्रष्टव्य—भास्वती, मणिप्रभा आदि टीकाएँ (४-२९)

अवस्था है, फिर इससे वैराग्य क्यो आवश्यक है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि योगी का अन्तिम लक्ष्य है—चित्तलय द्वारा कैवल्य की प्राप्ति। योगी को केवल आत्मदर्शन की उपलब्धि नही आत्मस्वरूप मे नित्य स्थिति प्राप्त करनी है। विवेक-वृत्ति कितनी ही सात्विक क्यो न हो, है तो वृत्ति ही। जब तक उस वृत्ति मे राग वर्त्तमान है, वृत्ति नष्ट नही हो सकती। जब तक चित्त की वृत्ति वर्तमान है चित्त का लय नही हो सकता। जब तक चित्त का लय नही होता, कैवल्य की उपलब्धि नही हो सकती। कैवल्य प्राप्ति हेतु विवेकख्याति रूप परम प्रसख्यान से भी वैराग्य होना अनिवार्य है।

इस अविरत विवेक प्रत्यय-प्रवाहिनी-समाधि मे निरन्तर विवेक धर्म की वृष्टि होती है। अतः इस समाधि को धर्ममेघ समाधि कहते है।

"मिह सेचने" धातु से निष्पन्न "मेघ" शब्द का अर्थ होता है—"सिचन करने वाला"। आकाशस्थ वारिद वृष्टि द्वारा जल का सिचन करता है, अत मेघ कहलाता है। एतत् सूत्रीय समाधि समस्त क्लेश कर्मनासिका विवेक-ख्याति से चित्त को सीचती है, या आप्लावित करती है, अतः मेघ पदवाच्य है। "अय तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्"[1]। योगी याज्ञवल्क्य की इस उक्ति के अनुसार योग द्वारा आत्मसाक्षात्कार रूप विवेक ख्याति ही परम धर्म है। अतः "धर्मं विवेकख्याति मेहति वर्षतीति धर्ममेघः" अर्थात् विवेकख्याति रूप धर्म का अभि-वर्षण करने वाली समाधि "धर्ममेघ" कहलाती है।

इस सूत्र मे "धर्ममेघ" शब्द की व्याख्या करते हुए, श्री वाचस्पति एव विवरणकार शकर ने, सर्वथा विवेकख्याति प्रवाहित रहने से, इस समाधि को "धर्ममेघ" कहा है। इसका तात्पर्य यही है कि विवेकख्याति रूप धर्म का मेहन करने से वह समाधि धर्ममेघ कहलाती है। राघवानन्द सरस्वती "धर्ममेघ" शब्द का अर्थ परवैराग्य करते है। सम्प्रज्ञात की पूर्णावस्था मे परवैराग्य का उदय होता है। विवेकख्याति मे भी वैराग्य होना ही परवैराग्य है[2]। वही ज्ञानप्रसाद या ज्ञान की पराकाष्ठा भी है। धर्म-मेघ समाधि मे सत्व-पुरुष ख्याति से वैराग्य का अभ्यास सतत चलता रहता है। अतः निरन्तर परवैराग्य की वृष्टि का अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है।

---

१ १/८।

२. द्र०—"तत्पर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्" का० व्या० भा०—(सू० १-१६)।

वार्तिककार श्री भिक्षु ने, क्लेशकर्मादि के निःशेष उन्मूलक धर्म की वर्षा करने वाली है—अत यह समाधि धर्ममेघ कहलाती है—ऐसा अर्थ किया है। क्लेश कर्मो का अशेष उन्मूलन करनेवाला धर्म, विवेकख्याति ही है, यह अग्रिम सूत्र (४/२०) की व्याख्या से भी स्पष्ट हो जायेगा।

भोज ने धर्ममेघ समाधि को, प्रकृष्ट एव परम पुरुषार्थ साधक अशुक्ल अकृष्ण धर्म का सिचन करनेवाली बतलाया है। वह धर्म-विवेक ख्याति ही है, यह भी उनके व्याख्यागत शब्दो से स्पष्ट हो जाता है। शका हो सकती है कि पहले विवेकख्याति से वैराग्य की आवश्यकता के प्रसग मे विवेकख्याति मे परिणामदोष-दर्शन-पूर्वक वैराग्य बतलाया गया है। जो परिणाम-दोष से दूषित हो, वह धर्म अशुक्ल-अकृष्ण कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि विवेकख्याति के रागसहित अभ्यास से विवेक-प्रत्यय और पुण्य कर्माशय का सचय होता है, जिससे वह विवेकवृत्ति निरुद्ध नही होती। अतः चित्तलय एव कैवल्योपलब्धि मे बाधक सिद्ध होती है। इसी मे उस विवेक वृत्ति से भी वैराग्य उक्त हुआ है। जब विवेकख्याति से वैराग्य हो जाता है, तो उससे किसी फल की कामना भी नही रहती। निष्काम कर्म द्वारा कर्माशय सचित नही होता है। धर्ममेघ समाधि का उदय विवेकख्याति से विरक्त चित्त मे ही होता है। अतः उस अवस्था मे प्रवाहित होनेवाला विवेक-धर्म भी अशुक्ल - अकृष्ण होता है, अर्थात् कर्माशय का सचयकारी नही होता।

भोज के अतिरिक्त श्री भावागणेश, नागोजीभट्ट एव अनन्त पण्डित ने स्पष्ट रूप से अथवा प्रकारान्तर से श्री भोज के मत का ही अनुसरण किया है।

भास्वतीकार श्री हरिहरानन्द अरण्य ने धर्ममेघ को "कैवल्य धर्म को बरसाने वाली" समाधि कहा है। उनका कथन है कि वर्षा से लब्ध वारि की भाँति धर्ममेघ के द्वारा कैवल्य अप्रयत्नसाध्य हो जाता है। जिस प्रकार बिना किसी प्रयत्न के वर्षा का जल सबको सुलभ होता है, उसी प्रकार धर्ममेघ समाधि के बाद कैवल्य भी सुगमतापूर्वक स्वतः प्राप्त हो जाता है। उसके लिये प्रयत्न की आवश्यकता नही रहती है[1]।

मणि प्रभाकार रामानन्द यति तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती की व्याख्याएं भी भास्वतीकार-सम्मत मत को ही बलप्रदान करती है।

---

१ "य समाधि धर्ममेघ इत्याख्यायते योगिभि कैवल्यधर्म स वर्षति, वर्षालब्ध वारीव धर्ममेघादप्रयत्नलभ्य कैवल्य" भवतीति सूत्रार्थ' —भास्वती (सू० ४/२९)

धर्ममेघ समाधि के विषय मे श्री टैमनी लिखते है कि—"जब विवेकख्याति और परवैराग्य का युगपद् दीर्घकालीन सतत अभ्यास क्रमशः एक दूसरे को दृढ करता हुआ, अत्यन्त तीव्र अवस्था प्राप्त करता है, तब उसकी चरम सीमा धर्ममेघ समाधि मे पहुँच जाता है। इस धर्ममेघ की अवस्था मे पहुचने पर सस्कारो के समस्त बीज भस्मसात् हो जाते है और उस शाश्वत सत्य का ताला खुल जाता है, जिसमे पुरुष नित्य निवास करता है"[1]।

उपर्युक्त धर्ममेघ समाधि से क्लेश-कर्मो की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है[2]। धर्ममेघ समाधि-लाभ के उपरान्त योगी के समस्त अविद्या, अस्मिता आदि क्लेश वासनामूल सहित नष्ट हो जाते है। साथ ही पुण्यापुण्यात्मक कर्माशय भी समूल विनष्ट हो जाते है। अतः क्लेश एव कर्मो की निवृत्ति होने पर विद्वान् योगी जीवित रहता हुआ भी मुक्त हो जाता है। इस विषय मे श्रुति की—"जीवन्नेवविद्वान्मुक्तो भवति" यह उक्ति भी प्रमाण है। यही जीवन्मुक्तावस्था है। विपर्यय-ज्ञानात्मिका अविद्या ही ससार का कारण है। अविद्याक्षीण हो जाने पर, किसी भी विद्वान् का, कही भी, कभी भी पुनर्जन्म नही देखा जाता। "गौतमसूत्र" मे भी वीतराग के पुनर्जन्मका निषेध किया गया है-"वीतरागजन्मादर्शनात्" (न्यायसूत्र ३/१/२५) विवेक-ख्याति प्राप्त कर लेने पर भी, सम्यक निरोध के अभिलाषी साधक भी जीवन्मुक्त कहलाते है, क्योकि चित्तलयार्थ इस(विवेकवृत्ति) वृत्ति का लय भी चरमलक्ष्य होता है। शरीर धारणोपयोगी सस्कार मात्र उनके जीवन के चरम साधन रह जाते है। नवीन कर्मो के परित्यागोपरान्त वे सस्कार-समाप्ति मात्र की प्रतीक्षा करते है। स्नेह हीन दीपक की भांति, सस्कार-निवृत्ति के उपरान्त उन्हे कैवल्य प्राप्त होता है।

---

१ साइन्स आफ योग-पृ० ४३२।

२. "ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः" (यो० सू० ४/३०)

## (११) ज्ञेय की अल्पता तथा गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति ।

धर्ममेघ समाधिनिष्ठ जीवन्मुक्त योगी के क्लेशकर्मो की निवृत्ति हो जाती है। अत: उसका चित्त अनन्त ज्ञान के स्फीत प्रकाश से परिपूर्ण हो जाता है। उसके सब आवरण नष्ट हो चुकते है। तमोगुण-रजोगुण-प्रयुक्त क्लेशकर्म ही चित्त सत्त्वके-आवरण है। उन आवरणो के निवृत्त होने पर चित्त अपने विभु स्वरूप की उपलब्धि करता है। इतर मनुष्यो के चित्तो मे शरीरेन्द्रियादि का अभिमान रहने से, उनकी ज्ञानशक्ति सकुचित हो जाती है। शरीर एव इन्द्रियो के अभिमान से ज्ञानशक्ति मे जडभाव उत्पन्न होता है तथा रजोगुण-प्रयुक्त चाचल्य चित्त अस्थिर होता है। इसलिये किसी ज्ञेय विषय का शान्तभाव से सम्यक् अवधारण करने मे असमर्थता होती है। अस्थिरता एव जडभाव ज्ञान के सम्यक् विकास के बाधक है। यही कारण है कि रजोगुण एव तमोगुण से व्याप्त जन समान्य के चित्तो की ज्ञानशक्ति भी सीमित होती है।

धर्ममेघावस्था से रजोगुण एव तमोगुण-प्रयुक्त, उक्त सीमाएँ बाधित हो जाती है। अतः साधारण प्राणियो की भाँति जीवन्मुक्त योगी की ज्ञानशक्ति सीमित नही रहती है। क्लेशकर्मो की निवृत्ति होने से चित्त के समस्त आवरण हट जाते है। अतः ज्ञान की या चित्त-प्रकाश की अनन्तता के कारण ज्ञेय (विषय) अत्यन्त अल्प रह जाता है[1]। तमोगुण जडता को उत्पन्न करने वाला तथा आवरक होता है। अतः तम से आक्रान्त चित्त (का अनन्त भाव) आवृत होकर सीमित हो जाता है। तमावृत चित्त कभी ही कभी क्रियाशील रजोगुण द्वारा अनावृत होकर प्रवृत होता हुआ, किसी सीमित विषय को ग्रहण करने मे समर्थ होता है। स्वभावतः प्रकाशशील चित्तसत्त्व को सीमित करने वाले रजतम का अपगम होते ही, चित्त अपने विभु एव प्रकाशशील स्वभाव को उपलब्ध करता है। अतः धर्ममेघ समाधिकालीन, सर्वथा अनावृत चित्तसत्त्व मे सीमाशून्य (अनन्त) ज्ञान का स्फुरण होता है। इस समय चित्त प्रचार के समस्त मार्ग खुल जाने से वह अनन्त पदार्थो का युगपत् ग्रहण करने मे समर्थ होता है। उस अपरिमित चित्त के असीम ज्ञान-प्रकाश की तुलना मे अल्प-परिमाण ज्ञेय विषय इतना सीमित प्रतीत होता है, जैसा अनन्त-विस्तृत आकाश मे क्षुद्र खद्योत मालूम पड़ता है। ज्ञान-

---

१ "तदासर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयाल्पम्" (यो० सू० ४/३१)

निर्विषयक नही होता। अतः ज्ञान के आनन्त्य के साथ-साथ विषयो की भी अनन्तता होनी चाहिए। पर सूत्रकार कहते है—"ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयल्पम्"। वस्तुतः ज्ञान शक्ति यदि इतनी विकसित हो जाय कि सर्वविध ज्ञेय के साथ उस के सम्बन्ध का सामर्थ्य हो जाय, तो ज्ञेय के प्रति हेयता का बोध उत्पन्न होता है और ज्ञेय को जानने की इच्छा समाप्त हो जाती है। यह मनोभाव धर्ममेघ समाधि मे होता है। उस काल मे ज्ञेय की नवीनता नही रह जाती। समस्त ज्ञेय को वह गुणत्रय का विकार मात्र समझ लेता है। अतः उस पर ज्ञातव्य बुद्धि क्षीण हो जाती है। यह मनोभाव ही ज्ञानानन्त्य से ज्ञेय की अल्पता का द्योतक है।

ज्ञान की अनन्तावस्था के विषय मे श्री आई० के० टैमनी लिखते है कि आत्मिक स्तर का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान, जो अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे मस्तिष्क की उन्नतम पहुँच का प्रतीक है, वह भी कैवल्य की अवस्था मे आने वाले विवेकज ज्ञान की तुलना मे नगण्य सा है। अर्बुद और खर्बुद एक की तुलना मे विशाल और विशालतर सख्याएँ है, परन्तु जब वे अनन्त के समकक्ष लाई जाती है, तो नगण्यत्व मे विलीन हो जाती है। जैसा कि गणित के निम्नाकित दृष्टान्त से भी स्पष्ट होगा —

$$\frac{१}{\propto}=०,\qquad \frac{१,०००,०००,०००}{\propto}=०,\qquad \frac{१,०००,०००,०००,००}{\propto}=०$$

जब हम अनन्त की परिधि मे पहुँचते है, तो विशालता की समस्त परिधियो से परे पहुच जाते है। अतः यह द्रष्टव्य है कि जीवन्मुक्त वस्तुतः ज्ञान के क्षेत्र मे नही रहता, अपितु ज्ञान की कोटि से ऊपर उठ कर विशुद्धतम विवेक की कोटि को पा लेता है। विशुद्ध चेतनता पर बौद्धिक सीमाओ के आरोप द्वारा ज्ञान का उदय होता है। अतः शुद्ध चैतन्य के क्षेत्रगत, सीमामुक्त आत्मप्रकाश से उच्चतम ज्ञान की भी तुलना नही की जा सकती है। ज्ञान एव आत्मप्रकाश का सम्बन्ध, काल एव नित्यताके सम्बन्धके सदृश्य है। "शाश्वतता" ( नित्यता ) अनन्त विस्तृत काल नही, वरन् सर्वथा कालातीत अवस्था है। ये दोनो अवस्थाये किसी एक ही श्रेणी मे नही आती है।

यहाँ पर यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि जीवन के समस्त वास्तविक रहस्य, जिन्हे हम बुद्धि की सहायता से सुलझाने मे प्रयत्नशील रहते है, उनके मूल वस्तुतः उस नित्य मे ही निहित है, जिसके अन्तर्गत वास्तविकताओ का प्रकाशन समय एव अवकाश की मर्यादाओ मे सीमित है। यही कारण है कि जब तब हमारी चेतनता अविद्या के क्षेत्र मे किंचित्मात्र भी बुद्धि की परिमित एव सकीर्ण परिधियो

टिप्पणी— उर्पयुक्त समीकरण (equation) $\propto$ =अनन्त।

से सीमित है, तब तक जीवन की किसी भी समस्या को सुलझाना सम्भव नही है। हमारी समस्याओ के नामपात्र के बौद्धिक समाधान, जिन्हे विद्वज्जन खोज निकालते है कोई समाधान नही, प्रत्युत विभिन्न सीमापर्यन्त उन्ही समस्याओ के पुनः कथनमात्र है, जो वस्तुतः उन समस्याओ को गम्भीरतर स्तर मे ढकेल देते है। इन सब समस्याओं को सुलझाने तथा आत्मप्रकाशन को आवृत्त करने वाली सीमाओ से चैतन्य को मुक्त करने के लिये एकमात्र उपाय, योग दर्शन-द्वारा निर्दिष्ट विधि की सहायता से अपनी चेतनता मे गोता (डुबकी) लगाना ही है[1]।

जहाँ तक ज्ञान के आनन्त्य का प्रश्न है, श्री डैमनी ने उसे अत्यन्त सुचारु ढङ्ग से समझाया है, परन्तु उन्होने ज्ञान की इस अनन्तावस्था को ही विवेकज ज्ञान तथा कैवल्य कहा है, यह बात अवश्य खटकती है। वस्तुतः ग्रथकार की इस त्रुटि का आधार, विवेकज-ज्ञान, जीवन्मुक्ति एव कैवल्य के अभेद का भ्रम ही है। जिस विवेकज ज्ञान को वे ज्ञान का आनन्त्य एव कैवल्य कहते है, वे तीनो ज्ञान की परस्पर भिन्न एव क्रमिक अवस्थाए है। विवेकज ज्ञान से वैराग्य होने पर धर्ममेघ समाधि होती है। धर्ममेघ समाधि से क्लेश कर्मक्षय होने पर, प्रसगगत ज्ञान का आनन्त्य होता है जो जीवन्मुक्त को होता है। पुनः जीवन्मुक्ति एव कैवल्य, ये मुक्ति की दो भिन्न श्रेणियाँ है। जीवन्मुक्त प्रारब्ध सस्कारमात्र शेष चित्त से शरीर धारण करने वाला साधक होता है और कैवल्य तो इससे भी परे की अवस्था है। उसमे गुणो का परिणाम क्रम समाप्त हो चुकता है। अतः कैवल्य देहपात के बाद की अवस्था है।

ज्ञेय की स्वल्पशेषता और ज्ञान का आनन्त्य ही परमज्ञान का लाभ है। इनकी प्राप्ति से पुनर्जन्म नही होता है। जीवन्मुक्त का पुनः जन्म नही होता, इस विषय मे भाष्यकार श्री व्यास ने लौकिक आभाणक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि—"अन्ध पुरुष ने मणिवेध किया अगुली रहित ने उसमे धागा पिराया, ग्रीवारहित ने उसे गले मे पहिना और जिह्वाहीन ने उसकी प्रशसा की।" साराश यह है कि जिस प्रकार अन्धादि के द्वारा मणिवेधादि करना असम्भव है उसी प्रकार जन्म

१ साइस आफ योग—आई० के टमिनी—पृ० ४३६।

२ "अन्धो मणिमविध्यत्तमनगुलिरावयत्।
अग्रीवस्त प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत्॥ (व्या० भा० सू० ४—३१)

**आभाणक**—असम्भव अर्थ का उपपादक तथा हास्यजनक लौकिक कथन आभाणक कहलाता है। उक्त श्लोक भी इसी कोटि की उक्ति है। यह श्लोक तै० आ० मे है। (आरण्यक का पाठ है)

परम्परा के मूलभूत क्लेशकर्मो का अत्यन्त उच्छेद हो जाने पर जीवन्मुक्त का पुनर्जन्म भी असभव है ।

"तदासर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्," प्रसगगत इस सूत्र की व्याख्या मे भाष्यकार ने उपर्युक्त आभाणक का उद्धरण दिया है । इसकी व्याख्या मे श्री विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि यह श्लोक किसी नास्तिक ग्रन्थ का है और योग तथा उसके फलस्वरूप मोक्ष के विषय मे आक्षेप करता है । इसका अर्थ यह होगा कि जिस प्रकार अन्धादि के द्वारा मणिबेधन आदि कार्य असभव है, उसी प्रकार ज्ञान-विहीन अन्ध के द्वारा साख्यादि सम्मत ज्ञान का अधिगम एव विवेकज्ञान की प्राप्ति असम्भव है ।

परन्तु भिक्षु जी का मत समीचीन नही प्रतीत होता है । यदि यह श्लोक उपहासपरक ही होता तो भाष्यकार व्यास उसके उत्तर मे अवश्य लेखनी उठाते । किन्तु उन्होने तो इसके विपरीत, विज्ञानभिक्षु के मतानुसार किये गए आक्षेपस्वरूप इस श्लोक को स्वमतस्थापन के रूप मे उद्धृत किया है । इससे वह आक्षेप-परक नही, प्रत्युत् समाधानस्वरूप सिद्ध होता है । अन्यथा किसी सम्भ्रान्त का अपने ऊपर उछाले गए कीचड को स्वच्छ किये बिना ही भरी सभा मे जाकर बैठ जाना तो सगत नही प्रतीत होता ।

पुनश्च चारो वेदो के मन्त्रभाग एव ब्राह्मणभाग के भाष्यकार, स्वामी श्री विद्यारण्य ने "सर्वदर्शन सग्रह" मे उक्त श्लोक को श्रुतिवाक्य बतलाया है[1] । यह सम्भव हो सकता है कि अपने किसी अर्थ की पूर्ति-हेतु किसी नास्तिक ने भी इसे स्वग्रन्थ मे उद्धृत किया हो जहाँ इसे श्री भिक्षु ने देखा हो वाचस्पति मिश्र एव विवरणकार शकर की व्याख्यानुसार भी यह श्लोक यहाँ आक्षेपपरक नही, प्रत्युत् योगमत का पोषक ही सिद्ध होता है । राघवानन्द सरस्वती ने "पातञ्जल रहस्य" मे तत्व-वैशारदीकार का अनुसरण किया है । स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने भी इस श्लोक द्वारा धर्ममेघ समाधि से नष्ट-क्लेश योगी के पुनः ससरण की अलीकता का ही प्रति-पादन किया है । उनके अनुसार "विज्ञानभिक्षु ने इसकी बौद्धो के उपहास रूप मे व्याख्या करके, केवल व्याख्यान-कौशल ही दिखाया है । परन्तु वास्तव मे उनकी व्याख्या श्रद्धेय नही है[2] ।"

नागोजीभट्ट अपनी "वृत्ति" मे लिखते है, "यदि विवेकी योगी का पुनर्जन्म

---

१ द्रष्टव्य—यो० भा० विवृ०-पृ० ८६१ ।

२ "पातञ्जल योग दर्शन" हरिहरानन्द आरण्य—पृ० ३४०

सम्भव होगा तो अन्ध का मणिवेध अनगुली-द्वारा ग्रन्थन, अग्रीव का परिधान और अजिह्वा का स्तुति करना भी सत्य होगा। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार यह सब असम्भव है, उसी प्रकार उक्त योगी का पुनर्जन्म। एतावता उनकी भी व्याख्या से यह आभाणक यहाँ पर आक्षेपपरक नही सिद्ध होता है।

भोज, भावा गणेश, रामानन्द, अनन्तपण्डित एव सदा शिवेन्दु सरस्वती ने इस श्लोक को अस्पृष्ट ही छोड दिया है, क्योकि वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, विवरणकार शकर एव हरिहरानन्द आरण्य ने 'व्यासभष्य की" टीकाएँ की है तथा राघवानन्द सरस्वती का पातजलरहस्य स्वय 'तत्ववैशारदी' की ही टीका है। नागोजी भट्ट की वृत्ति का आधार भिक्षु का "योग-वार्तिक" है। अतः इन सब ने व्यास-भाष्यान्तर्गत उक्त श्लोक की व्याख्या की है। भोज, भावागणेश, रामानन्द यति, अनन्त पडित और सदाशिवेन्दु सरस्वती, इन सबकी व्याख्याएँ साक्षात् योगसूत्रो की ही टीकाएँ है। अतः इन्होने इस श्लोक की व्याख्या नही की है।

धर्ममेघ समाधि-द्वारा पर वैराग्य का अभ्यास किया जाता है[१]। परवैराग्य के द्वारा ही उसकी परिपक्वावस्था रूप ज्ञानप्रसाद से क्लेश-कर्मो की सम्यक् निवृत्ति होने पर जीवन्मुक्ति होती है। अतः धर्ममेघ समाधि की चरमावस्था मे निवृत्तक्लेश योगी के चित्त मे, एक साथ उत्कृष्ट परवैराग्य रूप ज्ञानप्रसाद से अनन्त ज्ञान तथा निरोधप्रत्ययात्मिका असम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। उस अवस्था मे कोई भी वृत्ति चित्त मे वर्तमान नही रहती है। एक बार असम्प्रज्ञात समाधि होने पर ही साधक जीवन्मुक्त पदवाच्य होता है और बारम्बार "विरामप्रत्यय' के अभ्यास से यह समाधि पक्व होती है। सम्प्रज्ञात समाधिमान् का पतन सम्भावित है, असम्प्रज्ञात समाधि मान् का नही। निरोध-समाधि के अभ्यास से निरन्तर विवेकजन्य सस्कारो का निरोध होता है। इसके साथ ही साथ प्रारब्धवश योगी मुक्त होकर भी शरीर-धारण किये हुए सस्कारो के क्षय की प्रतीक्षा करता है। सस्कारो के सम्यक् नाशोपरान्त शरीरपात के साथ-साथ उसे परम मुक्ति कैवल्य की प्राप्ति होती है। उस स्थिति मे योगी स्वरूप मे नित्य-स्थिति उपलब्ध करता है।

---

१ विवेकख्याति मे वैराग्य का अभ्यास ही परवैराग्य का प्राथमिक रूप है।

२ "सम्यग् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारण प्राप्तौ।
तिष्ठति सस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीर ॥'
"प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभय कैवल्यमाप्नोति ॥ (ईश्वरकृष्णकृत साख्यकारिका—६७ ६८)

शका होती है कि गुणस्वभाव स्वत विकारशील है, फिर धर्ममेघ समाधि-निष्ठ क्षीणक्लेश योगी के प्रति, वे (गुण) पुनः शरीरेन्द्रियादि के आरम्भक क्यो नही होते ? अन्य शब्दो मे क्षीण क्लेश योगी का पुनर्जन्म क्यो नही होता है ? इस विषय मे सूत्रकार महर्षि पतजलि का कथन है कि उक्त क्षीणक्लेश योगी के भोगापवर्ग रूप अर्थ को सिद्ध किये हुए गुणो के (कार्योत्पत्ति रूप) परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है[1]।

क्लेशकर्मो की निवृत्ति ज्ञान प्रसाद या ज्ञान का चरम उत्कर्ष और गुणाधिकार ( परिणामक्रम ) की समाप्ति—ये सब धर्ममेघ समाधि के फलस्वरूप प्राप्त होते है। सत्वादि गुण त्रय का प्रयोजन पुरुष का भोग एव अपवर्ग का सम्पादन करना है। भोग का सम्पादन तो पहले से ही चल रहा है। भोग निवृत्ति के लिये ही अपवर्ग की आवश्यकता होती है। क्लेशकर्मो के सम्यक् निवृत्त होने पर तथा पर-वैराग्य-द्वारा निरोधाभ्यास करते हुए पुरुष के नित्यमुक्त स्वरूप मे स्थित प्राप्त करने से अपवर्ग का सम्पादन होता है। गुणो का परिणामक्रम ही भोग एव अपवर्ग का स्वरूप है[2]। अतः भोग के उपरान्त मोक्ष के सम्पादन-पर्यन्त ही गुणो का अधिकार होता है। गुणाधिकार की समाप्ति होने पर – जिस पुरुष के अर्थद्वय का सम्पादन गुणो ने किया है, उसके प्रति वे क्षण भर भी स्थित नही रह सकते है। इसीलिये कृतार्थ गुणो के परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है और वे योगी के शरीरादि के पुनः आरम्भक नही होते। त्रिगुण साम्यावस्था प्रकृति नित्य है, अतः उसका विनाश नही होता। गुणो के परिणामक्रम की समाप्ति का अर्थ है, बुद्धि आदि प्रकृति की विकार परम्परा का नाश– अर्थात् जिस पुरुष के प्रति गुणाधिकार की समाप्ति हो गई है, उसके प्रति प्रकृति की बुद्धयादि—परम्परा प्रवृत्त नही होती।

× × ×

क्षीण क्लेश योगी के गुणाधिकार की समाप्ति से परिणामो के जिस क्रम की समाप्ति होती है, उसके क्रम का क्या स्वरूप है ? इस शका का उत्थान करते हुए भाष्यकर श्री व्यास ने सूत्रकार की इस उक्ति का अवतरण किया है—"क्षण प्रतियोगी परिणामापरान्तनिग्राह्य क्रम"[3] अर्थात् ( क्षण-प्रवाहगत प्रत्येक ) क्षण

---

१ "तत कृतार्थाना परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्" (यो० सू० ४/३२)

२. "पातञ्जल योग दर्शन"—हरिहरानन्द आरण्य—पृ० ३४० ।

३. यो० सू० ४/३३ ।

(क्षण एव तत्क्रम के विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य "कैवल्य प्राप्ति का साधन" शीर्षक गत सू० ३/५२ तथा 'चित का समाधि" परिणाम, एकाग्रता-परिणाम तथा निरोध-परिणाम-शीर्षक मे परिणामो को ऐक्य प्रतीति ।

सम्बन्धी तथा परिणाम के अवसान से ग्रहण करने या जानने योग्य (अवस्था विशेष) क्रम है। क्रम कोई एक क्षणवर्ती वस्तु नही है। वह अनेक क्षणो के नैरन्तर्य या अविरल प्रवाह को आश्रय करने वाली परिणाम-परम्परा है[1]। अतः किसी वस्तु के परिणाम का क्रम उसके परिणाम का अन्तिम दशा से अनुमित होता है। उदाहरणार्थ कितने ही यत्नपूर्वक रखे गये वस्त्र मे अनेक वर्षोपरान्त अत्यन्त जीर्णता देखी जाती है। यहा तक कि वह (वस्त्र) हाथ लगाने से ही विशीर्ण होने लगता है। वस्त्रगत यह जीर्णता किसी एक क्षण मे ही नही होती, यह सर्वानुभव सिद्ध है। अत वस्त्र प्रतिक्षण पुराना होता जाता है। फिर भी उसके उक्त प्रतिक्षणवर्ती परिणाम का आभास उन क्षणो मे नही होता। अन्त मे वस्त्र की उक्त पुराणता देखकर ही अनुमान-द्वारा प्रतिक्षण होने वाले परिणामक्रम का अनुमान होता है। अतः सूत्रकार ने क्षणान्तर्वर्ती परिणाम क्रम को उसके अवसान से निर्ग्राह्य बतलाया है। प्रतिक्षण होने वाला अलक्ष्य परिणाम, जब स्थूल दृष्टि से बोधगम्य होता है, तभी उसका जन-सामान्य को ज्ञान होता है।

यह भी स्मरणीय है कि शुद्ध कालागभत क्षण का क्रम नही होता, क्योकि वह वस्तु नही है। इसीलिये भाष्यकार व्यास ने (सू० ३-५२ की व्याख्या मे) इसे 'वस्तुपतित' कहा है। वह अवस्तु होने पर भी वस्तु मे समारूढ होकर, उसके परिणाम-क्रम के साथ वस्तु इव अवभासित होता है। किसी धर्म का अन्यथात्व या परिणाम देखकर ही पूर्व क्षण और उत्तर क्षण, इस प्रकार के भेद का स्थापन करता है। अत. क्रम परिणाम का ही होता है, क्षण का नही।

शंका होती है कि गुणो को नित्य कहा गया है फिर उनमे परिणाम से जिस (परिणाम-क्रम) की समाप्ति बतलाई गई है। इसका उत्तर यह है कि नित्यता-सामान्य का लक्षण अपरिणामित्व नही अपितु अतीतावस्था का राहित्य है। त्रिगुण परिणमित होने पर भी कभी अतीतभावापन्न नही होते। जिस वस्तु का परिणाम होने पर भी तत्वान्तर नही होता वही नित्य है। यह लक्षण त्रिगुण साम्यावस्था मूल-प्रकृति मे अनुगत होता है। यह नित्यता पुन. दो प्रकार की है। कूटस्थ-नित्यता तथा परिणामिनित्यता।

### (१) कूटस्थनित्यता :—

किसी प्रकार के परिणाम से शून्य, स्वरूपत: सर्वदा एक-रस बना रहना

---

१ क्षण एव तत्क्रम के विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य "कैवल्यप्राप्ति का साधन' शीर्षक गत सू० ३ ५१ तथा "चित्त का समाधि-परिणाम एकाग्रता-परिणाम तथा निरोध-परिणाम शीर्षक मे परिणामो की ऐक्य प्रतीति।

ही कूटस्थनित्यता है। पुरुष सर्वदा एकरस परिणाम शून्य है। अतः वही कूटस्थ नित्य है।

## (२) परिणामि नित्यताः—

परिणामी नित्य पदार्थ सर्वदा परिणत होते हुए भी अपने तात्विक स्वरूप से प्रच्युत नही होता अर्थात् उसका तत्वान्तर नही होता है। त्रिगुण परिवर्तित होते रहने पर भी कभी स्वरूपच्युत नही होते अर्थात् उनका तत्वान्तर नही होता है। अतः वे परिणामी नित्य है।

यह स्मरणीय है कि सूत्रस्थ 'क्षणप्रतियोगी' यह अंश लक्षण परक तथा 'परिणामापरान्त निर्ग्राह्यः' यह अंश प्रमाण प्रदर्शन मात्र के लिये है। वह लौकिक प्रत्यक्ष मे ही पूर्णत घटित होता है, क्योकि नित्य धर्मीतत्व के क्रम का कभी अन्त नही होता है। परिणामी नित्य गुण समूह कभी भी पर्यवसान-लाभ नही करते है। त्रिगुण परिणामरूप बुद्धि आदि का पर्यवसान देखा जाता है, किन्तु वे नित्य एव मूल धर्मी नही है। त्रिगुण ही मूल धर्मी है। बुद्ध्यादि का धर्मीत्व काल्पनिक एव तन्मात्रादि से आपेक्षिक नित्यत्व होता है। अत बुद्ध्यादि का परिणामक्रम लब्धपर्यवसान तथा नित्य त्रिगुणो मे परिणाम-क्रम अलब्ध पर्यवसान होता है। इसी प्रकार कूटस्थ नित्य अपरिणामी पुरुष मे भी परिणामक्रम अलब्ध पर्यवसान है, क्योकि उसका भी कभी अभाव नही होता है। पुरुष के स्वरूप का परिणाम-क्रम सर्वदा अस्तित्व रूपा क्रिया से ही अनुभूत होता है। 'अस्तीति ब्रुवतो न्यत्र कथन्तदुपलभ्यते (कठ-उप) इस उक्ति के अनुसार 'पुरुष है' 'आगे भी रहेगा'—इस प्रकार के परिणाम की कल्पना मुक्त पुरुष के विषय मे करनी पडती है, किन्तु यह ज्ञान भी शब्द ज्ञानानुपाती मात्र अर्थात् विकल्पार्थक है। उक्त वैकल्पिक व्यवहार के बिना पुरुष के विषय मे कुछ भी बतलाया नही जा सकता है। इस वैकल्पिक व्यवहार के अनुसार ही कूटस्थ नित्य पुरुष मे वैकल्पिक परिणामक्रम सिद्ध होता है। मुक्त पुरुष के विषय मे तत्राप्यलब्ध पर्यवसानः शब्द पृष्ठे नास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति'-इन शब्दो द्वारा भाष्यकार व्यास ने इसी भाव की अभिव्यञ्जना की है।

बद्ध पुरुष के विषय मे चित्तवर्ती परिणाम का अध्यास अवगन्तव्य है, क्योकि बद्ध आत्मा चित्त को ही आत्मस्वरूप समझता है।

गुणो मे अलब्ध पर्यवसान परिणामक्रम के कथन से शका होती है कि गुणो मे वर्तमान-सृष्टि और प्रलय-प्रवाह रूप ससारक्रम की समाप्ति होती है अथवा नही?

यदि इस क्रम की समाप्ति मानी जाती है, तो 'गुण अलब्ध पर्यवसान परिणामक्रम युक्त है अर्थात् गुणो के परिणामक्रम का अन्त नही होता' इस उक्ति का खडन होता है। यदि समाप्ति नही मानी जाती है तो सूत्रकार का 'ततः कृतार्थाना परिणाम क्रम समाप्तिर्गुणानाम्' यह कथन अयुक्त सिद्ध होता है। इस द्विविधा का निवारण करते हुए भाष्यकार व्यास ने लिखा है कि उक्त ससारक्रम-विषयक प्रश्न अनिर्वचनीय है। उसका उत्तर एक बार ही 'हाँ' अथवा 'नही' मे नही दिया जा सकता है। प्रश्न तीन प्रकार के होते है।

### (१) एकान्तवचनीय—

जिन प्रश्नो का नियमपूर्वक एक ही समाधान-द्वारा उत्तर दिया जा सकता है 'वे एकान्तवचनीय कहलाते है। जैसे जिन्होने भी जन्म ग्रहण किया है वे सब मरगे' 'इसका उत्तर' हाँ अवश्य मरेंगे' इस एक ही समाधान-द्वारा दिया जा सकता है।

### (२) विभज्य वचनीय—

जो प्रश्न विभागपर्वक उत्तर देने योग्य है, वे विभज्य वचनीय कहलाते है। क्या प्रत्येक मृत मनुष्य जन्म ग्रहण करेगा ? इसका उत्तर है कि 'जिस जिसने विवेक ख्याति मे परवैराग्य-द्वारा मुक्ति प्राप्त की है-वह-वह जन्म ग्रहण नही करेगा। तथा शेष प्रत्येक व्यक्ति अवश्य जन्म लेगा।

### (३) अवचनीय—

अवचनीय प्रश्न का उत्तर एकान्तरूप से अर्थात् किसी एक प्रकार से कथनीय नही होता है। उदाहरणार्थ मानव जाति श्रेष्ठ है या नही ? इसके उत्तर मे मनुष्य जाति को न तो केवल उत्तम बनाया जा सकता है न ही निकृष्टा पशु-पक्षी कीटपतंगादि की अपेक्षा मनुष्य जाति उत्तम है और देवताओ की अपेक्षा निम्नकोटि की है। इस प्रकार ससारक्रम के अवसान का प्रश्न भी अवचनीय एव विभज्यवचनीय है, क्योकि आगम-प्रमाण आधार पर, अज्ञानी पुरुषो के ससार-क्रम का अवसान नही होता है और विवेकी ज्ञानी कुशल पुरुषो के ससारक्रम का उच्छेद होता है, जिससे वे कैवल्य प्राप्त करते है।

श्री वाचस्पति मिश्र श्री भिक्षु प्रभृति विद्वानो ने व्याख्या के अन्त मे प्रतिवाद के पक्ष से यह शका की है कि मुक्त पुरुष के प्रति गुणो के परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है, तब तो क्रमश मुक्त होते-होते किसी दिन सभी पुरुष मुक्त हो जायेगे।

अतः सबके प्रति गुणो के परिणामक्रम समाप्ति हो जाने से ससारोच्छेद हो जायेगा । इससे प्रधान प्रकृति भी अनित्य सिद्ध होगी । इसका उत्तर यह है कि जीव असख्य है, उन सब का युगपद् मोक्ष असम्भव है । फिर प्रत्येक जीव मनुष्य नही है । पशु, पक्षी-कीट-पतग, सरीसृपादि अनन्त चराचर प्राणी है, जिनके लिये विवेकख्याति भी असख्य जन्मसाध्य है । अत' ससारक्रम का सर्वथा उच्छेद नही हो सकता है ।

इस विषय मे हरिहरानन्द आरण्य तो लिखते है कि दो-चार नपुसको को देख कर कोई व्यक्ति यदि शका करे कि जिस कारण से ये व्यक्ति क्लैव्य को प्राप्त हुए है, इसीसे सारा ससार नपुँसक हो जायगा, तो जगत् सृष्टि-हीन हो जायगा । समस्त जगत बद्ध-पुरुष रहित हो सकता है—यह शका भी उसी ढग की है क्योकि शास्त्र मे कहा गया है-"अतएव हि[1] विद्वत्सु मुच्यमानेषु सर्वदा । ब्रह्माण्डजीवलोकाना मनन्त-त्वादशून्यता ।' अतः प्राणियो के निवासस्थान, अनन्त लोको मे असख्य पुरुष प्रति-मुहूर्त मुक्त होते रहने पर भी ससार कभी भी बद्ध पुरुष-हीन नहीं होता है । असख्य का अधिक अथवा न्यून सब असख्य ही होता है । असख्य सत्ता का गणित तत्व है—

असख्य + असख्य = असख्य, असख्य − असख्य=असख्य, असख्य × असख्य असख्य = असख्य तथा असख्य ÷ असख्य = असख्य । अतः जगत् बद्ध पुरुष-हीन नही हो सकता है, क्योकि श्रुति कहती है—

पूर्णमद, पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते—
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावविष्यते ॥

---

१. 'पातजलयोगदर्शन' (हरिहरानन्द आरण्य) पृ० ३४४ । अतएव • श्लोक वार्तिककार के नाम से नामकन्द ली (पृ०) मे उद्धृत हुए है । सम्भवत यह वार्तिककार सुकेश्वर है ।

## कैवल्य का स्वरूप

गुणो के परिणामक्रम की समाप्ति होने पर, पुरुष को कैवल्य ( केवलीभाव या शुद्धात्म तत्व मे नित्य प्रतिष्ठा ) प्राप्त होता है। कैवल्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुए, महर्षि पतजलि ने इस सूत्र का उल्लेख किया है—"पुरुषार्थ शून्यान्या प्रतिप्रसवः कैवल्य स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति"[1] अर्थात् पुरुष के प्रयोजन से शून्य गुणो का स्वकारण मे विलय अथवा चितिशक्ति ( पुरुष ) की अपने स्वरूप मे ( नित्य ) अवस्थिति ही कैवल्य है।

गुण पुरुष के भोग एव मोक्ष रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये ही प्रवृत्त होते है, यह पहले भी अनेक बार बतलाया जा चुका है। पुरुष के भोगापवर्गार्थ ही वे शरीर, इन्द्रियगण एव बुद्धि आदि के रूप मे परिणाम प्राप्त करते है। भोगापवर्ग सिद्ध हो जाने पर यह परिणाम क्रम समाप्त हो जाता है। अत उन बुद्धि, अहकार आदि प्रकृति-विकृति स्वरूप गुणो का प्रतिलोम गति से अपने कारणो मे प्रलय हो जाता है। अन्य शब्दो मे विकार परम्परा सर्वदा के लिये अपने-अपने कारणो म विलीन हो जाती है। सूत्रकार ने इस कार्य-कारणात्मक परम्परा के प्रलय के लिये 'प्रतिप्रसव शब्द का प्रयोग किया है। "प्रतिप्रसव" हे सृष्टि। प्रतिप्रसव" का अर्थ है सृष्टि-क्रम का विपरीत धर्म। अतः प्रतिप्रसव का अर्थ होगा प्रलय। पुरुषार्थ-शून्य त्रिगुण कृतकार्य होते है। अतः वे अपने कारण मूल प्रकृति मे चिरकाल के लिये प्रलीन हो जाते है। यहाँ पर सूत्रोक्त प्रतिप्रसव शब्द मे निहित अर्थ का विशेप स्पष्टीकरण इस प्रकार है। कार्यकारणात्मक गुणो के व्युत्थान सस्कार, समाधि सस्कार और निरोध-सस्कार—उक्त तीनो प्रकार के सस्कार मन मे लीन हो जाते है, मन अहकार मे विलीन होता है, अहकार स्वकारण बुद्धि मे और बुद्धि त्रिगुण साम्य स्वरूपा प्रधान प्रकृति मे प्रलयभाव प्राप्त करती है।

गुणो का पूर्वोक्त प्रतिप्रसव या प्रलय ही कैवल्य का स्वरूप है। त्रिगुण का कार्य समाप्त हो जाने से पुरुष ( त्रिगुण के कार्य ) चित्त की उपाधि से रहित हो जाता है।

---

१ यो० सू० ४-३४। भोज ने चितिशक्तिरिति ऐसा पाठ माना है। अन्यत्र चितिशक्ति रिति ऐसा पाठ मिलता है।

उपाधिभूत चित्त न रहने से पुरुष का शुद्ध चैतन्य स्वरूप मात्र रहता है। अतः गुणो के प्रतिप्रसव को कैवल्य ( पुरुष का केवलीभाव या अकेलापन ) कहा गया है। कैवल्य की यह व्याख्या गुणो की दृष्टि से की गई है। चितिशक्ति ( पुरुष ) की दृष्टि से चितिशक्ति की असग स्वस्वरूप मे प्रतिष्ठा ही कैवल्य है, ऐसा कहना होगा। इसका भी वही सार है कि गुणो के सम्बन्ध से शून्य शुद्ध, चैतन्य स्वरूप पुरुष का स्वरूप मे अवस्थित रहना बुद्धि का नित्य लय सिद्ध होने पर पुरुष भी उससे सदा असग रहेगा ही यही कैवल्य है।

कैवल्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुए श्री भोज ने मोक्ष काल मे आत्मा के स्वरूप के विषय मे वेदान्त, न्याय काश्मीर शैव दर्शनादि मतो का स्पष्टतः खण्डन किया है। यथा वेदान्तियो के अनुसार मोक्षकालिक आत्मा के आनन्दमयत्व का खण्डन। चेतना के योग से आत्मा के चेतनत्व के विषय मे न्यायमत का खण्डन इत्यादि। सामान्यत भोजवृत्ति मे परमत खण्डन की प्रवृत्ति नही दिखाई देती है। किन्तु प्रस्तुत प्रसग मे श्री भोज का झुकाव परमत खण्डन, के प्रति मालूम पडता है। इसीलिये अन्तिम सूत्र की व्याख्या मे भोज—वृत्ति मे अनावश्यक विस्तार भी हो गया है।

प्रस्तुत स्थल पर व्याख्या के प्रारम्भ मे भोज का कथन है कि केवल हमारे दर्शन मे ही आत्मा के क्षेत्रज्ञ ( आत्मा या पुरुष ) कैवल्यावस्था मे चिद्रूप नही होता—"न केवलमस्म द्दर्शने क्षेत्रज्ञः कैवल्यावस्थायामेवविधश्चिद्रूपः यावद्दर्शनान्तरेष्वपि विमृष्य माण एव रूपोऽवतिष्ठते"। अतः श्री भोज की इस उक्ति से ऐसा आभासित होता है कि मतान्तरो के प्रदर्शन से, उनका प्रयोजन परमतखण्डन मात्र नही, वरन् योग के साथ समन्वय करना भी है।

पातञ्जलयोगप्र दीपकार स्वामी ओमानन्द ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि—'यहाँ यह न समझना चाहिये कि वृत्तिकार के अन्य दर्शनो का खण्डन किया है। किन्तु अन्य शास्त्रो मे ऐसी ही मुक्ति बन सकती है, यह सिद्ध कर कैवल्य (मुक्ति) के स्वरूप का निरूपण किया है।'[1]

नागोजीभट्ट ने भी इस प्रसग मे विविध दर्शन सम्मत मोक्षस्वरूप का निरूपण किया है। पुनः तद्विषयक शका समाधान पूर्वक योग के साथ मतान्तरो का स्पष्टतः समन्वय स्थापित किया है।

---

१ द्र० पात० योगप्रदीप पृ० ५६५

कैवल्य की अवस्था मे गुणो का प्रतिप्रसव और चितिशक्ति की 'स्वरूप प्रतिष्ठा' ये दोनो कार्य एक साथ ही होते है। इसीलिये सूत्रकार ने दोनो का दिखाते हुए कैवल्य के स्वरूप का अव धारण किया है इस आधार पर श्री वाचस्पति मिश्र एव श्री विज्ञानभिक्षु ने कैवल्य के दो प्रकार माने है[1] मूलप्रकृति मे त्रिगुण के नित्य अवस्थान को, वे बुद्धि अथवा प्रधान प्रकृति का मोक्ष बतलाते है । चितिशक्ति की स्वरूपावस्थिति को वे पुरुष (चितिशक्ति) का कैवल्य कहते है । क्योकि पुरुष जो वृत्ति सारूप्यावस्थावश जपा कुसुम से उपहित स्फटिक की भाति उपाधियुक्त था, अब चित्त प्रलयावस्था मे वृत्ति की उपाधि, से शून्य, शुद्धस्वरूप मे प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार पुरुष का कैवल्य औपचारिक होता है। प्रधान की मुख्यत मुक्ति होती है यह कहते हुए श्री भिक्षु ने प्रमाणस्वरूप साख्य की निम्न कारिका को उद्धृत किया है—

"तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि ससरति पुरुषः।
ससरति बद्ध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ॥"

यह पहिले भी बतलाया जा चुका है कि कैवल्य मे गुण का प्रतिप्रसव और पुरुष की स्वरूपस्थिति ये दोनो कार्य होते है किन्तु इस आधार पर कैवल्य को दो प्रकार का मानना कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है। विवरणकार शकर भी स्पष्ट ही लिखते है कि कैवल्य के स्वरूप निर्धारण मे सूत्रकार द्वारा प्रदर्शित विकल्प क्रिया पदो मे ही है, कारक रूपो मे नही, क्योकि वस्तुस्वरूप मे भेद की उपपत्ति नही होती।

---

१ द्र० तत्व वै० (४ ३३), योग-वा० (४/३४)

२ क्रियाया हि विकल्पो न तु वस्तुनि। वस्तुस्वरूपस्य भेदानुपपत्ते । कैवल्यमपि वस्तु, कथ तद्विकल्प्यत। नैष दोष । निमित्तनैमित्तिकयो रभेदोपपत्ते । निमित्तनैमित्तिक भेदोपचरितोऽपि विकल्पो न वस्तुस्वरूप भेद कृत । या तु गुणाना परिणामिना पुरुषस्य विमिश्रिता वृत्तिमत्ता, सा कार्य कारणात्मकाना पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिससर्ग निमित्तादपगच्छतीति निमित्तमेव प्रतिप्रसवाख्य कैवल्य शब्देनोपचरितम् ।'
(पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य विवरणमे) (शकर) सू० ४, ३४, ।

## उपसंहार

### (१) विविध आचार्यों के मतो का निष्कर्ष

पातजल-योग पर विविध आचार्यों का ग्रन्थानुशीलन इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि योगसूत्रो के अर्थ के विषय मे विभिन्न व्याख्याकार अधिकाश स्थलो मे एकमत है। उनके व्याख्यानो का ढग अलग-अलग होने पर भी उनमे प्रायः समन्वयात्मक दृष्टि लक्षित होती है। 'योगसूत्र' के प्रत्येक व्याख्याकार ने, स्पष्टतः अथवा प्रकारान्तर से प्रायः भाष्यकार व्यास का अवलम्ब ग्रहण किया है। सामूहिक रूप से प्रायः इस आन्तरैक्य के होते हुए भी, विविध व्याख्याकारो मे कुछ न कुछ मतभेद होना स्वाभाविक ही है। ये मतान्तर प्रायः वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु की व्याख्याओ मे दृष्टिगत होते है। अन्य व्याख्याकारो मे से, भावागणेश एव नागोजी भट्ट ने अधिकाश स्थलो मे श्री विज्ञानभिक्षु का अनुकरण किया है। शेष व्याख्या-कारो ने प्राय॰ वाचस्पति मिश्र का अनुगमन किया है। एक-दो स्थलो पर भोजराज एव विवरणकार शकर का मत—वाचस्पति एव भिक्षु दोनो ही आचार्यो से भिन्न प्रकार का है।

अर्वाचीन विद्वानो मे से भास्वतीकार हरिहरानन्द आरण्य एव हिन्दी—व्याख्याकार ओमानन्द ने, पूर्वाचार्य परम्परागत मान्यताओ का निर्वाह करते हुए साथ मे एक-दो स्थलो पर विषय का आधुनिक विज्ञान से समन्वय दिखलाने की चेष्टा की है। अंग्रेजी व्याख्याकार श्री आई० के० टैमनी की व्याख्या-पद्धति नितांत वैज्ञानिक, सबसे निराली और अपने ढग की अद्वितीय है। इनके व्याख्यानो से यही निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक विज्ञान एवं योग विज्ञान के अनेक सिद्धान्तो मे—वाह्य दृष्टि से अन्तर लक्षित होने पर भी आन्तरैक्य है, यद्यपि जड-विज्ञान अभी तक सृष्टि के उन अन्तिम रहस्यो से अनभिज्ञ है, जिनका सन्धान योगज दृष्टि-सम्पन्न पूवाचार्य कर चुके है। श्री टैमनी की व्याख्या नितान्त वैज्ञानिक (आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से) होने के कारण, प्राचीन आँचार्यो से उनका अनेक स्थलो पर मतभेद स्वाभाविक ही है। यद्यपि योग की परम्परागत मान्यताओ के प्रति भी उनका दृष्टिकोण आदरपूर्ण है।

जिन-जिन सूत्रो की व्याख्याओ मे विविध व्याख्याकारो मे पारस्परिक मतभेद अथवा मतान्तर है, उनका यथास्थान सविशेष विवरण दिया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसे स्थलो मे से विशिष्ट स्थलो की सूत्र-सख्या का निर्देश, भूमिका के अन्तर्गत—'तुलनात्मक आलोचना का सार' शीर्षक मे कर दिया गया है।



## प्रथम-ग्रन्थावली

( अकारादि वर्णक्रम से )

| क्रम सख्या | पुस्तक का नाम | लेखक/सपादक/प्रकाशक | सस्करण |
|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ |
| १ | अहिबुध्न्यसहिता | — | — |
| २ | इन्डियन फिलॉसफी ( प्रथम खण्ड ) | ले०—डा० राधाकृष्णन् | द्वितीय ( भारतीय ) |
| ३ | इण्डियन फिलॉसफी ( द्वितीय खण्ड ) | ले०—डा० राधाकृष्णन् | द्वितीय ( भारतीय ) |
| ४. | इन्ट्रोडक्शन् टु फिलॉसफी | ले०—कुल्पे | — |
| ५ | ईशावास्योपनिषद् | स०—कण्ठमणि शास्त्री | वि०स० २०१० |
| ६ | ए-सोर्स बुक इन इन्डियन-फिलॉसफी | ले०—डा० राधाकृष्णन् एण्ड मूर | १९५७ |
| ७. | ऐतरेय आरण्यक | — | — |
| ८. | कठउपनिषद् | — | — |
| ९. | कूर्मपुराणम् ( ब्राह्मी सहिता समेतम् ) | मु०—गोपाल प्रिंटिग वर्क्स, कलकत्ता ६ | प्रथम |
| १०. | गरुडपुराण | स०—डा० रामशंकर - भट्टाचार्य | प्रथम |
| ११. | गोरक्षसंहिता | — | — |
| १२. | गौतमप्रणीतधर्मसूत्राणि | प्र०—आनन्दाश्रम मुद्रणालय अडियर | १९५९ ई० |
| १३. | घेरण्ड सहिता | | |
| १४. | छान्दोग्य उपनिषद् | प्र०—आनन्दाश्रम मुद्रणालय | १९३० ई० |
| १५. | जयाख्यसहिता | प्र०—ओरियेन्टल इन्स्टीट्यूट बडौदा | १९६१ ई० |

| क्रम संख्या | पुस्तक का नाम | लेखक/सपादक/प्रकाशक | सस्करण |
|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ |
| १६ | तत्ववैशारदी | ले०—वाचस्पति मिश्र<br>स०—गोस्वामी दामोदर-शास्त्री | १६३५ ई० |
| १७ | तन्मात्रतथा विश्व का मनोमय मूल | डा० रामशकर भट्टाचार्य | |
| १८. | तैत्तिरीय ब्राह्मण | — | — |
| १६. | दि पाजिटिव साइन्स ऑफ दि एन्शेन्ट हिन्दूज | ले०—ब्रजेन्द्रनाथ<br>प्र०—सुन्दरलाल जैन | १६५८ ई० |
| २०. | दि कम्प्लीट इलस्ट्रेटेड बुक आफ योग | ले० —विष्णुदेवानन्द<br>प्र०—मार्क्स बाच (लन्दन) | १६५६ ई० |
| २१. | दि स्टडी ऑफ पतजलि | ले०—एन० एन० दास गुप्त | १६२० ई० |
| २२. | दि सर्पेन्ट पावर | ले०—आर्थर एवलान | छठा |
| २३. | दि साइन्स ऑफ योग | ले०—आई० के० टैमनी | १६६१ |
| २४ | देवी-भागवत | सर्वाधिकार सुरक्षित<br>श्री वेंकटेश्वर (स्टीम्) यन्त्रालयाधीश | सम्वत् १६६४ |
| २५. | नागोजीभट्टवृत्ति | स० - ढुण्ढिराज शास्त्री | १६३० |
| २६. | नाइट साइड आफ नेचर | | |
| २७. | न्यायसूत्र | ले० —अक्षपाद गौतम | |
| २८. | नारदीय शिक्षा | — | — |
| २६ | निरुक्तम् | प्र०—पूना भण्डारकर ओरियेन्टल रिसर्चइन्स्टीट्यूट | १६४० |
| ३०. | न्यायभाष्य | | |
| ३१. | पद्मपुराण | प्र०—आनन्दाश्रम मुद्रणालय | १८६३ ई० |
| ३२ | पातजल-योगदर्शनम् 'पर योगभाष्य-विवृति' | ले०—स्वामी ब्रह्मलीन मुनि | प्रथम |

| क्रम | पुस्तक का नाम | लेखक, सपादक/प्रकाशक | सस्करण |
|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ |
| ३३ | पातजल-योगसूत्र ( व्यासभाष्य सहित ) ( हिन्दी सस्करण ) | ले० — बगाली बाबा<br>प्र०—एन० आर० भार्गव | १९४८ ई० |
| ३४. | पातजलयोगदर्शनम् ( तत्ववैशारदी सहितम् ) | स० —श्री रामशकर - भट्टाचार्य | १९६३ |
| ३५. | पातजल योगसूत्रभाष्य विवरणम् | प्र०—मद्रासराज्य सरकार | प्रथम |
| ३६ | पातजलयोगदर्शनम् ( हिन्दी रूपान्तर ) | ले०—हरिहरानन्द आरण्य<br>प्र०—लखनऊ विश्वविद्यालय | प्रथम |
| ३७. | पातजलयोगदर्शनम् ( योगसूत्र ) | प्र०—गीता प्रेस गोरखपुर | |
| ३८. | पातजलयोगप्रदीप | ले० - स्वामी ओमानद तीर्थ | चतुर्थ |
| ३९. | पातंजलरहस्यम् | स०—गोस्वामी दामोदर-शास्त्री । | १९३५ |
| ४०. | पातजल महाभाष्य | | |
| ४१. | प्रदीपिका | स० —प० ढुण्ढिराजशास्त्री | १९३० |
| ४२. | प्रश्नोपनिषद् ( आनन्द गिरि-विरचितटीका सवलितशाकर भाष्यसमेता ) | प्र०—आनन्दाश्रम मुद्रणालय | १९२२ |
| ४३ | ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य ( स्वामी सत्यानन्दसरस्वती विर-चित भाषानुवाद तथा सत्यानन्दी दोपिका सहित ) | प्र०—गोविन्दमठ टेढीनीम वाराणसी । | २०२२ |
| ४४ | बृहदारण्यकोपनिषद् | स०—राम स्वरूप शर्मा | सम्वत् १९६७ |
| ४५ | बृहद्योगीयाज्ञवल्क्य | — | — |
| ४६. | भारतीय दर्शन | ले०—डा० उमेश मिश्र | प्रथम |
| ४७. | भारतीय दर्शन | ले०—सतीशचन्द्र चट्टो-पाध्याय एव धीरेन्द्रमोहन दत्त | द्वितीय |
| ४८. | भारतीय दर्शन | ले०—प० बलदेव उपाध्याय | पचम |

| क्रम सं० | पुस्तक का नाम | लेखक/संपादक/प्रकाशक | संस्करण |
|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ |
| ४९. | भारतीय संस्कृति और साधना ( प्रथम खण्ड ) | ले०—गोपीनाथ कविराज | प्रथम |
| ५०. | भारतीय संस्कृति और साधना ( द्वितीय खण्ड ) | ले०—गोपीनाथ कविराज | प्रथम |
| ५१. | भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास | ले०—सत्यकेतु विद्यालंकार | द्वितीय |
| ५२ | भास्वती | सं०—गोस्वामी दामोदर शास्त्री | (१९३५) |
| ५३ | भोजवृत्ति | सं०—पं० ढुण्ढिराज शास्त्री | (१९३०) |
| ५४ | भोजवृत्ति | सं०—रामशंकर भट्टाचार्य | प्रथम |
| ५५ | मणिप्रभा | सं०—पं ढुण्ढिराज शास्त्री | १९३० |
| ५६ | मत्स्यपुराण | मु०—हिन्दी साहित्य प्रेस प्रयाग | प्रथम |
| ५७ | मनुस्मृति | — | — |
| ५८ | मनुस्मृति ( कुल्लूकरचित व्याख्या सहित ) | — | — |
| ५९ | महाभारत ( अनुशासन पर्व ) | प्र०—प्रतापचन्द्रराय | द्वितीय |
| ६० | ,, ( अश्वमेधपर्व ) | ,, | ,, |
| ६१ | ,, ( आदिपर्व ) | ,, | , |
| ६२ | महाभारत | कुम्भकोण संस्करण | – |
| ६३ | ,, ( वनपर्व ) | प्रो०—प्रतापचन्द्रराय | तृतीय |
| ६४ | मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य | डा०—शिवशंकर अवस्थी | १९६६ |
| ६५ | महाभारत ( शान्तिपर्व ) | प्र०—प्रतापचन्द्रराय | तृतीय |
| ६६ | मीमांसा दर्शन | ले०—मण्डन मिश्र शास्त्री | द्वितीय |
| ६७ | मीमांसा दर्शन | सं०—रतनगोपाल भट्ट | १९१६ |
| ६८. | मुण्डकोपनिषद् | प्र०—आनन्दाश्रममुद्रणालय | १९१८ |
| ६९. | याज्ञवल्क्य स्मृति | प्र०—जयकृष्णदास हरिदास-गुप्त, चौखम्भा संस्कृत सीरीज बनारस | १९३६ |

| क्रम स० | पुस्तक का नाम | लेखक/सपादक/प्रकाशक | सस्करण |
|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ |
| ७० | योग एण्ड वेस्टर्न साइकोलॉजी | ले०—जी० कोस्टर | षष्ठ |
| ७१. | योग-चन्द्रिका | स०—प० ढुण्ढिराज शास्त्री | १९३० |
| ७२. | योगदर्शन-समीक्षा | ले०—कृष्णमणि त्रिपाठी | |
| ७३ | योग फिलॉसफी | ले०—एस० एन० दास गुप्ता | प्रथम |
| ७४. | योगभाष्य | ले०—व्यास | |
| ७५. | योगभाष्य का अध्ययन ( पत्रिका ) | ले०—रामशकर भट्टाचार्य | |
| ७६ | योगवार्तिक | स० गोस्वामी दामोदर शास्त्री | १९३५ |
| ७७. | योगवसिष्ठ<br>— | प्र०—अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय काशी। | |
| ७८. | योगसार सग्रह ( स्वामी सनातन देवकृत हिन्दी अनुवाद सहित ) | प्र०—मोतीलाल बनारसीदास | स० २०१४ वि० |
| ७९. | योगसुधाकर | स०—ढुण्ढिराजशास्त्री | १९३० |
| ८०. | योगीयाज्ञवल्क्य | — | — |
| ८१. | युक्तिदीपिका | — | — |
| ८२. | राजयोग | ले०—स्वामी विवेकानन्द | — |
| ८३ | वाक्यपदीयम् (हेलाराजकृत प्रकाश टीका साहित) | स०—गोस्वामी दामोदर शास्त्री | षष्ठ |
| ८४. | वायुपुराण | प्र०—गीताप्रेस गोरखपुर | |
| ८५. | विभूतेरुत्पत्ति प्राकृतनियमानुसारिणी ( पत्रिका ) | ले०—डा० रामशंकर भट्टाचार्य | |
| ८६ | विष्णुपुराण | प्र०—गीता प्रेस गोरखपुर· | तृतीय |
| ८७ | वेदान्त एण्ड दि वेस्ट ( पत्रिका ) | इग्लैण्ड से प्रकाशित | |
| ८८. | वेदान्तसार ( भावबोधिनी सहित ) | उदयवीर शास्त्री | |
| ८९. | वेदान्त दर्शन का इतिहास | ले० –श्री सदानन्द | |
| ९० | वेदान्त फॉर दि ईस्ट एण्ड वेस्ट | प्र० –रामकृष्ण वेदान्त आश्रम लन्दन | ८९ (सीरीज १९६६ |
| ९१. | वैदिक साहित्य और सस्कृति | ले०—बलदेव उपाध्याय | १९५५ |
| ९२ | वैशेपिक सूत्र | ले०—महर्षि कणाद | |
| ९३ | श्लोकवार्तिक ( पार्थसारथि मिश्र प्रणीतन्याय-रत्नाकर व्याख्या सहितम् ) | ले०—कुमारिल भट्ट | चतुर्थ |

| क्रम सं० | पुस्तक का नाम | लेखक/सपादक/प्रकाशक | सस्करण |
|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ |
| ९४. | श्वताश्वतरे उपनिषद् | — | — |
| ९५. | शतपथ ब्राह्मण | स०—वशीधर शास्त्री | स० १९९२ |
| ९६. | शास्त्रदीपिका | ले०—पार्थसारथि मिश्र | द्वितीय |
| ९७ | शिवसार तन्त्र | स०—प० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड | |
| ९८. | श्रीमद्भागवत ( प्रथम खण्ड ) | प्र०—गीता प्रेस गोरखपुर | तृतीय |
| ९९. | श्रीमद्भागवत ( द्वितीय खण्ड ) | — | — |
| १००. | श्रीमद्भागवद् गीता | प्र०—गीता प्रेस गोरखपुर | स० २००९ |
| १०१. | सघर्ष और शान्ति | ले०—स्वामी करपात्री जी | प्रथम |
| १०२ | सरल रसायन-शास्त्र | ले०—डा० एच० सी० सारस्वत एव डा० के० एस० तिवारी | प्रथम |
| १०३ | स्कन्द पुराण | | |
| १०४ | सर्वदर्शन सग्रह | ले०—माधवाचार्य | |
| १०५ | साख्यकारिका | ले० ईश्वरकृष्ण | |
| १०६ | साख्यतत्व कौमुदी ( आद्याप्रसाद मिश्र कृत हिन्दी अनुवाद सहित) | स०—सत्यनारायण पाडेय<br>ले—वाचस्पति मिश्र | १९५६ |
| १०७ | साख्यतत्व कौमुदी ( रामशकर भट्टाचार्यकृत ज्योतिष्मती टीका ) | — | — |
| १०८ | साख्यदर्शन का इतिहास | ले०—उदयवीर शास्त्री | प्रथम |
| १०९ | साख्य-प्रवचन-भाष्य | ले०—विज्ञानभिक्षु | — |
| ११० | साख्यसूत्रम् (अनिरुद्धकृतवृत्ति-सहित ) | प्र०—श्री आशुबोध विद्याभूषण तथा नित्य बोध विद्यारत्न । | चतुर्थ |
| १११ | साहित्य ( पत्रिका ) | पटना वर्ष ७ अङ्क २ | |
| ११२ | सौन्दर्यलहरी ( लक्ष्मीधरकृत टीका सहितम् ) | प्र०—मैसूर विश्वविद्यालय | तृतीय |
| ११३ | सूर्योदय पत्रिका | भारत धर्ममडल वाराणसी | |
| ११४ | हठयोगप्रदीपिका ( ज्योत्स्ना टीका सहित ) | ले०—स्वात्माराम | शक सवत् १९०४ |
| ११५ | हिन्दू सभ्यता | ले०—राधाकुमुदमुकर्जी | द्वितीय |
| ११६ | हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी ( द्वितीय भाग ) | ले०—एस० एन० दास गुप्त | प्रथम |
| ११७ | योगभाष्य- | ले० स्वामी ज्ञानानन्द | |

उपरिलिखित ग्रन्थो मे से कुछ ऐसे भी है, जिनके मुखपृष्ठ उपलब्ध नही हो सके। अत उनके प्रकाशनादि का विवरण नही दिया जा सका है।

# APPENDIX

## A LIST OF SOME IMPORTANT WORKS ON THE YOGA SYSTEM


1. Yoga Sutras of Patanjali (Tr with Sanskrit Text) — Ballantyne and Deva
2 Yoga Sutras (Patanjali) — Tr Johnstons
3 Yoga Aphorisms of (Patanjali) — Faber
4. Patanjali's Yoga Aphorisms — Jwdge, William
5 Patanjali for Western Readers — Stephen
6 Science of Yoga (with Sanskrit Text of Patanjali) — I K Temni
7 Yoga and Western Psychology (with Sanskrit Text of Patanjali) — G Coster
8 Yoga for Modern World — Bharati
9 A Source Book in Indian Philosophy (only Yoga portion) — Radhakrishnan and Moore
10 Yoga for you — Devi
11 About Yoga — Day
12- Yoga Method of Re-integration — Danielou
13 Yoga of Light — Hudson
14 Yoga Philosophy — Sharpe
15, Manual of Yoga — Dunne
16 Study and ractice of Yoga — Day, Harvey
17 Yoga, Tibetan — Bromage
18 Yoga, Practical — Wood, E E
19 Yoga — Behanan
20 About Yoga — Day, Harvey
21 Renew your life Through Yoga — Devi, Indra
22 Rajyoga — Vivekananda
23 Yoga The Way to Long Life and happiness — Dunne, Desmond
24 Yoga immortality and freedom — Eliade, Mircea
25 Yoga for Americans — Devi, Indra
26 Tibetan Yoga and Secret Doctrine — Evanswentz, W Y
27. Synthesis of Yoga — Aurobindo
28. How to be a Yogi — Swami Abhedanand
29. A Study of Yoga — Dr J Ghosh
30 Hatha Yoga — Yogi Rama Caraka
31. Yogic Power and God-realization — V M. Bhat
31 Introduction to Patanjali Yoga — Clara M Codd

32 Fruits of Silence — Fausset, Hugh
33 Yoga Life Science — Francis, P G
34. Yoga the amazing life Science — Francis, P G
35 The Serpent Power — Sir Arthur Avolon
36 Concentration and Meditation — Shivananda
37 Fundamentals of Yoga — Rammurti Misra, M D
38 Garland of Letters — Arthur Avalon
39 Kundalini Yoga — Swami Sivanand
40. Life Divine — Arbindo
41 Mind its mysteries and control — Swami Sivanand
42 The Practice of Yoga — Swami Sivanand
43 The complete Illustrated book of Yoga — Swami Vishudhanand
44 The Yoga Sutra of Patanjali — Manilal Nabhubhai Dwivedi
45 An Introduction to Yoga — Claude Bragdon
46, The Secret of Golden flower — Wilhelm and Jung
47 Diagnosis of Man — Kenneth Walker
48 Modern Man in Search of a Soul — Carl Jung
49 A New Model of the Universe — P D Ouspensky
50 The Message of Asia — Paul Cohen-Portheim
51 The Occult Training of the Hindus — Ernest Wood
52 Thought Power its Control and culture — Annie Besant


---

## ग्रन्थ के अन्तर्गत प्रयुक्त संक्षिप्त शब्दों का विवरण

| संक्षिप्त शब्द | विवरण | |
|---|---|---|
| सू० सं० | सूत्रसंख्या | |
| अ० | अध्याय | |
| यो० भा० | योगभाष्य | ये दो एक ही ग्रंथ है। |
| व्या० भा० | व्यासभाष्य | |
| पात० द० | पातञ्जल योग दर्शन | |
| स० पा० | समाधिपाद | |
| सा० पा० | साधनपाद | |
| वि० पा० | विभूतिपाद | |
| कै० पा० | कैवल्यपाद | |
| तत्व० | तत्ववैशारदी | |
| वाच० | वाचस्पति | |
| यो० वा० | योगवार्त्तिक | |
| यो० सा० सं० | योगसारसंग्रह | |
| वि० भि० | विज्ञानभिक्षु | |
| भोज० | भोजवृत्ति | |
| भो० वृ० | भोजवृत्ति | (एक ही ग्रन्थ के नामान्तर है। |
| राज० मा० | राजमार्तण्डवृत्ति | |
| राघ० स० | राघवानन्द सरस्वती | |
| पा० रह० | पाताञ्जल रहस्य | |
| हरि० आ० | हरिहरानन्द आरण्य | |
| पात० यो० द० | पातञ्जल योगदर्शन | |
| भावा० | भावागणेश | |
| भा० वृ० | भावागणेशवृत्ति | |
| पा० यो० विव० | पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यविवरणम् | (दोनों |
| भा० वि० | भाष्य विवरण | एक ही ग्रन्थ के नाम है) |
| वृ० | वृत्ति | |

| संक्षिप्त शब्द | विवरण |
|---|---|
| वा० का० | वार्त्तिककारिका |
| योग० विवृ० | योगभाष्यविवृत्ति |
| ब्रह्म० | ब्रह्मलीनमुनि |
| नागो० | नागोजीभट्ट |
| नागो० वृ० | नागोजीभट्टवृत्ति |
| रामा० | रामानन्दयति |
| मणि० | मणिप्रभा टीका |
| अन० | अनन्तपण्डित |
| यो० च० | योगचन्द्रिका |
| सदा० शि० सर० | सदाशिवेन्द्र सरस्वती |
| योग० सु० | योगसुधाकर |
| स्वा० ओमा० | स्वामी ओमानन्द तीर्थ |
| भा० का० | भास्वतीकार |
| श्रीमद्भा० | श्रीमद्भागवत |
| भाग० | भागवत |
| भ० गी० | भगवद्गीता |
| गी० | गीता |
| टी०[1] | टीका |
| मनु० | मनुस्मृति |
| याज्ञ० | याज्ञवल्क्यस्मृति |
| योगीया० | योगीयाज्ञवल्क्य |
| वि० पु० | विष्णुपुराण |
| वायु० | वायुपुराण |
| व्या० | व्याख्या |
| शान्ति० | शान्तिपर्व ( महाभारत ) |
| वन० | वनपर्व ( महाभारत ) |
| आदि० | आदिपर्व ( महाभारत ) |
| अश्व० | अश्वमेधपर्व ( महाभारत ) |
| मोक्ष० | मोक्षधर्म ( शान्तिपर्व का अंग विशेष ) |
| भू० | भूमिका |

| संक्षिप्त शब्द | विवरण |
|---|---|
| भा० द० | भारतीय दर्शन |
| बल० उ० | बलदेव उपाध्याय |
| शत० ब्रा० | शतपथ ब्राह्मण |
| राज० | राजयोग |
| पात० प्र० | पातञ्जलयोगप्रदीप |
| भा० स० सा० | भारतीय संस्कृति और साधना |
| गोपी० कवि० | गोपीनाथ कविराज |
| है० यो० शा० | हैरण्यगर्भयोगशास्त्र |
| सां० सू० | सांख्यसूत्र |
| छा० | छान्दोग्य उपनिषद् |
| वाक्य० | वाक्यपदीयम् |
| श्लो० वा० | श्लोकवार्तिक |
| हठ० यो० प्रा० | हठयोगप्रदीपिका |
| कठ० | कठ उपनिषद् |
| श्वेता० उप० | श्वेताश्वतर उपनिषद् |
| भा० स० इति० | भारतीयसस्कृति का इतिहास |
| हिन्दू स० | हिन्दू-सभ्यता |
| भू० पा० यो० द० | पातञ्जलयोगदर्शन की सांस्कृतभूमिका रामशाकरभट्टाचार्यकृत |
| द्र० | द्रष्टव्य |
| तुल० | तुलनाकार्या |
| ध० सू० | धर्मसूत्र |
| टि० | टिप्पणी |
| प्र० ख० | प्रथम खण्ड |
| द्वि० ख० | द्वितीय खण्ड |
| न्याय० | न्यायसूत्र |
| वैशे० | वैशेषिकसूत्र |
| ब्र० सू० | ब्रह्मसूत्रं |
| पृ० | पृष्ठ |
| यो० सू० | योगसूत्र |

| संक्षिप्त शब्द | विवरण |
| --- | --- |
| वा० | वाल्यूम |
| एस० एन० दास गुप्त | सुरेन्द्रनाथदासगुप्त |
| स० | सम्पादक |
| भू० पा० यो० द० भो० रा० वृ० स० | भूमिका पातञ्जलयोगदर्शनम् भोजकृत-टीकासहितम् राजमार्तण्ड वृत्तिसमेतम् |
| सम्पा० | सम्पादक |
| प्र० | प्रकाशक |
| ले० | लेखक |
| सं० | सम्पादक |